प्रथम संस्करण की भूमिका

'भारतीय कृषि, उद्योग, व्यापार एव यातायात' नामक यह पुस्तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बी० कॉम० भाग एक के पाठ्यक्रमानुसार लिखी गयी है। इस पुस्तक मे भारतीय अर्थव्यवस्था के विविध पहलुओं का विवेचन केवल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे ही नही अपितु विश्लेषणात्मक ढग से किया गया है। विभिन्न समस्याओ का विश्लेषण नवीनतम प्रकाशित तथा अप्रकाशित आँकडो एव तथ्यों के आधार पर किया गया है। पुस्तक के आकार को अनावश्यक रूप से स्थूलकाय नही होने दिया गया है और इस अनूठे प्रयास मे किसी भी आर्थिक समस्या के अति आवश्यक पहलू की उपेक्षा भी नही की गई है।

पुस्तक को अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य भाषा मे लिखा गया है और यह आशा की जाती है कि पाठक-वर्ग इस नवीन कृति का स्वागत करेगा।

—लेखक द्वय

विषय-सूची

(अ) भारतीय कृषि

(ब) उद्योग व व्यापार

(स) यातायात

भारतीय कृषि तथा इसकी मुख्य समस्याएँ : कृषि उत्पादकता

(Indian Agriculture and its Main Problems Agricultural Productivity)

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्त्व—कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ है। इसीलिए जान रसल ने एक स्थान पर लिखा है कि "यदि भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे सुधार करना है तो वहाँ की कृषि की उन्नति करनी चाहिए।" स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दो मे "कृषि को सर्वाधिक प्राथमिकता देने की जरूरत है। यदि कृषि असफल रहती है तो सरकार और राष्ट्र दोनो असफल रहते है।" निम्नलिखित विवरण से भारतीय कृषि का महत्त्व स्पष्ट हो जायगा—

(1) **राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत**—राष्ट्रीय आय मे कृषि व उससे सम्बद्ध व्यवसायो, जैसे पशुपालन, वानिकी (Forestry) आदि का हिस्सा लगभग 41% है। कोई भी दूसरा ऐसा व्यवसाय नही है जिसके द्वारा राष्ट्रीय आय का इतना बड़ा भाग उत्पन्न होता है। ससार के अन्य उन्नतिशील देशो की राष्ट्रीय आय मे कृषि के अनुपात का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अधिक उन्नतिशील देशो की राष्ट्रीय आय मे कृषि का भाग बहुत कम है। उदाहरणार्थ अमेरिका की राष्ट्रीय आय मे कृषि का भाग 5%, कनाडा मे 7% तथा आस्ट्रेलिया में 13% है, जबकि भारत से यह लगभग 42% से भी अधिक है।

(2) **कृषि जीविका का स्रोत**—भारत मे कृषि जीविका का प्रमुख स्रोत है। प्रति दस मे सात व्यक्ति अर्थात् 70% कृषि पर निर्भर है, जबकि इंगलैण्ड, अमेरिका, कनाडा इत्यादि देशो मे कुल जनसंख्या का 20% से भी कम भाग कृषि पर निर्भर है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत मे कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या का अनुपात स्थिर-सा है, परन्तु इंगलैण्ड व अमेरिका जैसे विकसित देशो में वह घट रहा है, अर्थात् लोग कृषि से अन्य उद्योगो में जा रहे है।

(3) **कृषि विभिन्न उद्योगों के कच्चे माल का प्रमुख स्रोत**—भारत में कृषि के महत्त्व का कारण यह है कि इससे छोटे-बड़े सभी उद्योगो के लिए कच्चे माल की पूर्ति होती है। सूती वस्त्र, चीनी, जूट तथा बागान उद्योग, ये सब कच्चे माल के लिए सीधे कृषि पर निर्भर हैं। बहुत से कुटीर व लघु उद्योग भी इससे चलते है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कृषि का महत्त्व**—भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ, जैसे चाय, तम्बाकू, तिलहन, मसाले आदि कृषि वस्तुएँ ही है। भारत के निर्यात के मूल्य का लगभग 48% प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से कृषि मे ही प्राप्त होता है। आज के युग मे निर्यात का भारत जैसे विकासशील किसी भी देश मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(5) **सरकारी आय-व्ययक की कृषि पर निर्भरता**—अपने देश मे केन्द्रीय और राज्य सरकारो के बजट बहुत कुछ कृषि पर निर्भर करते है, क्योकि देश की अधिकाश जनता की आय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे कृषि से सम्बन्धित रहती है। अत: कर आदि के रूप मे उसकी देय-क्षमता कृषि की स्थिति से प्रभावित होती है। यही कारण है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो का आय-व्ययक (बजट) कृषि की स्थिति का अवलोकन करके ही विधान सभाओ और लोक सभा मे प्रस्तुत किया जाता है।

(6) **खाद्यान्न एवं कच्चे माल की प्राप्ति**—खाद्य पदार्थ किसी भी देश की जनता की प्राथमिक आवश्यकता होती है। इसकी सम्पूर्ण आवश्यकता के 90% से 95% तक की पूर्ति कृषि से होती है, अन्यथा आयात मे अधिक विदेशी विनिमय करना पड़ता। आशा है, अब सम्पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति देश मे ही हो जाएगी।

(7) **आर्थिक विकास के लिए महत्व**—कृषि विकास आर्थिक विकास की कुंजी है। प्रो० काल्डोर ने अपनी पुस्तक 'आर्थिक विकास की विशेषताएँ' में लिखा है कि कृषि-प्रगति, औद्योगिक प्रगति के लिए एक आवश्यक पूर्व शर्त है। इगलैण्ड मे सर्वप्रथम कृषि-क्रान्ति हुई, उसके बाद औद्योगिक क्रान्ति आई। प्रो० फिशर ने अपनी पुस्तक 'आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा' मे इस तथ्य पर जोर दिया है कि आर्थिक विकास की किसी भी योजना मे कृषि विकास को प्रथम स्थान मिलना चाहिए।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया के दौरान कृषि एवं उद्योग के बीच अन्तर्सम्बन्ध काफी घनिष्ठ हो गया है। यह अन्तर्सम्बन्ध और आत्मनिर्भरता निम्न बातो से स्पष्ट होती है—(क) कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र और इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र से कृषि क्षेत्र को कच्चे माल तथा अन्य आगतो की पूर्ति; (ख) ग्रामीण जनसख्या के लिये आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ जैसे—कपड़ा, फर्नीचर आदि की पूर्ति, (ग) औद्योगिक क्षेत्र को मजदूरी वस्तुओ की पूर्ति; (घ) सामाजिक उपरिसेवाओ जैसे मशीनो, नदी-घाटी परियोजनाओ, सडको आदि के विकास के लिए औद्योगिक क्षेत्र द्वारा आवश्यक पदार्थों की पूर्ति।

(8) **उपभोग में कृषि पदार्थों का महत्त्व**—भारत में कुल घरेलू उपभोग का लगभग 60% और घरेलू वस्तु उपभोग का 85% प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कृषि पदार्थ अथवा उनके द्वारा निर्मित वस्तुएँ ही होती हैं।

(9) **अन्य महत्त्व**—

(अ) आर्थिक नियोजन मे कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योकि इसका प्रभाव हमारे उद्योग-धन्धो वाणिज्य और व्यापार तथा यातायात के साधनो पर पड़ता है।

(ब) भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण देश मे वस्तुओ का मूल्य-स्तर विशेष रूप से कृषि उद्योगो से प्रभावित होता है।

(स) कृषि भारत की परिवहन-व्यवस्था का मुख्य अवलम्बन है, क्योकि रेलवे, सडक यातायात का अधिकाश व्यापार कृषि वस्तुओ को लाने ले जाने से ही प्राप्त होता है।

(द) भारतीय अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान होने के कारण सदैव से विकेन्द्रित रही है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण ही डा० **वी० के० आर० वी० राव** ने कहा, 'यदि पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास के पहाड को लाँघना है तो कृषि के लिए निर्धारित लक्ष्यो को पूरा करना आवश्यक है।"

वास्तव मे कृषि हमारे देश मे केवल जीवकोपार्जन का साधन ही नही बल्कि अर्थ-व्यवस्था की रीढ है। राष्ट्र की समृद्धि, योजनाओ की सफलता, राजनैतिक स्थिरता सभी कृषि के विकास पर निर्भर है।

भारत में कृषि की प्रमुख विशेषताएँ

1 **आजीविका का प्रमुख स्रोत**—भारत मे कृषि लोगो की आजीविका का प्रमुख स्रोत है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार कार्यशील जनसख्या का 69% भाग कृषि से आजीविका प्राप्त करता है।

2 **अदृश्य बेरोजगारी**—भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि यहाँ अदृश्य बेरोजगारी गम्भीर रूप से विद्यमान है। इसका कारण यह है कि यहाँ कृषि मे आवश्यकता से अधिक लोग आश्रित है।

3 **श्रम प्रधान कृषि**—भारतीय कृषि श्रम-प्रधान है, क्योकि एक तो यहाँ खेतो का आधार छोटा होने और कृषको की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से पूँजीगत साधनो और कृषि उपकरणो का अधिक प्रयोग संभव नही है और दूसरी ओर जनसख्या की अधिकता के कारण श्रम सरलता से कम मजदूरी पर उपलब्ध हो जाता है।

4 **भारतीय कृषि मानसून का जुआ**—भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि कृषि क्षेत्र का उत्पादन मानसून पर आश्रित रहता है। यदि वर्षा अच्छी हो जाती है तो कृषि मे समृद्धि होती है और यदि वर्षा पर्याप्त नही होती तो अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

5 **कृषि जोतो का छोटा आकार**—भारत मे औसत कृषि जोत न केवल बहुत छोटी है, बल्कि छोटे-छोटे टुकडो मे बँटी है। खेतो का आकार छोटा होने से श्रम और पशु-शक्ति का भारी अपव्यय होता है और कृषि की आधुनिक प्रणाली का उपयोग नही हो पाता।

6. **निम्न कृषि उत्पादकता**—भारतीय कृषि की एक विशेषता यह भी है कि उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा है। प्रति हेक्टेयर उत्पादकता और प्रति श्रमिक उत्पादकता दोनो ही बहुत कम है।

7. उत्पादन की परम्परागत तकनीक—भारत मे कृषि तकनीक परम्परागत है। अतीतकाल से भारतीय कृषक जिन रीतियो का प्रयोग करते आ रहे है उनमे योजना अवधि के प्रथम 15 वर्ष तक विशेष परिवर्तन नही हुए थे। 1964-65 से गेहूँ का उत्पादन करने वाले प्रदेशो मे, जिनमे पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश उल्लेखनीय है, कृषि विधियो मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। परन्तु जब हम कृषि के स्वरूप को समग्र रूप से देखते है तो आज भी कृषि तकनीक परम्परागत ही दृष्टिगोचर होती है।

8. आबटन कुशलता—प्राय: यह समझा जाता है कि भारत मे न केवल कृषि विधियाँ परम्परागत है, बल्कि भारतीय कृषक आबटन कुशलता पर कोई ध्यान नही देता। परन्तु डब्ल्यू० डी० हापर ने इस धारणा का विरोध किया है। उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जिले के सेनापुर गाँव के अपने अध्ययन के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि यद्यपि सेनापुर गाँव गरीब है, परन्तु उपलब्ध तकनीकी साधनो के भीतर आबटन कुशलता का स्तर ऊँचा है।

9 खाद्यान्न फसलो की प्रमुखता—कृषि फसलो की दृष्टि से भारतीय कृषि मे खाद्यान्न फसलो की प्रमुखता रही है। देश के कुल कृषि क्षेत्र के लगभग 75% भाई मे खाद्यान्न फसलो तथा 25% भाग मे व्यापारिक फसलो का उत्पादन किया जाता है।

10 महाजनी पूंजी और ग्रामीण ऋणग्रस्तता—भारतीय कृषि पर महाजनी पूजी का नियन्त्रण काफी प्रबन्ध और ऋणग्रस्तता छोटे कृषको के जीवन का सामान्य लक्षण है। ऋणग्रस्तता से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ऋण का सापेक्ष भाग छोटे किसानो पर अधिक है। आज भी एक-तिहाई कृषि-साख महाजन तथा साहूकार देते हैं। इस वर्ग की अनुचित कार्यवाहियाँ सर्वविदित है। अमित भादुड़ी के अनुसार तो पश्चिमी बगाल मे अर्ध-सामन्ती व्यवस्था का आधार भी महाजनी शोषण है।

11. कृषिक्षेत्र में विविधता—भारत एक विशाल देश है। भौगोलिक दृष्टि से इस देश में मिट्टी, वर्षा, तापमान, सतही पानी की उपलब्धि की दृष्टि से भारत में अन्तर इतने अधिक हैं कि एक ही राज्य के कुछ जिलो के लिए उपयुक्त कार्यक्रम अन्य जिलो की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त हो सकता है।

भारत कृषि क्षेत्र मे विभिन्न विविधताओ के बीच यदि कोई समानता है तो वह यही है कि देश के सभी राज्यो मे ग्रामीण क्षेत्र में 1960-61 के मूल्यो के आधार पर 15 रु० मासिक से कम आय वाले लोगों का प्रतिशत बढ़ रहा है।

भारत में कृषि उत्पादकता
(Agricultural Productivity in India)

भारत मे कृषि उत्पादकता के सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन दल ने अपने प्रतिवेदन मे लिखा है, "भारतीय कृषि के उच्चतम उत्पादकता की किसी देश की उच्चतम उत्पादकता से तुलना की जा सकती है लेकिन भारत की औसत उत्पादकता बहुत

कम है ।"[1]

कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता की समस्या पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है—(अ) प्रति हेक्टर उत्पादकता (भूमि उत्पादकता) और (ब) प्रति-श्रमिक उत्पादकता (श्रम उत्पादकता) । सामान्यतया कृषि क्षेत्र में उत्पादकता से तात्पर्य प्रति हेक्टर उत्पादन की मात्रा से होता है । भारतीय कृषि मे उत्पादकता का स्तर दोनो ही दृष्टियो से नीचा है । जैसा कि निम्न आँकडो से स्पष्ट है :

(किलोग्राम प्रति हेक्टेयर)

फसल	विभिन्न देशो में प्रति एकड़ उत्पादन
गेहूँ	ब्रिटेन 4 100, डेनमार्क 4,000, विश्व 1,420, भारत 1,310
चावल व धान	आस्ट्रेलिया 6,200, सयुक्त अरब गणराज्य 5,440, विश्व 2,000, भारत 1,710
कपास	अमरीका 2 290, सोवियत सघ 850, विश्व 340, भारत 160

सम्पूर्ण भारत के लिए, मूल्य की दृष्टि से, भूमि उत्पादकता 1,037 रुपये प्रति हेक्टेयर है । लेकिन क्षेत्रीय दृष्टि से सम्पूर्ण भारत मे कृषि उत्पादकता मे समानता नही है । जिन स्थानो पर भूमि उपजाऊ है तथा अन्य सुविधाएँ, जैसे सिंचाई आदि उपलब्ध है तथा जहाँ नकद फसल अधिक होती है वहाँ प्रति हेक्टेयर उत्पादन का मूल्य अधिक है, जैसे—केरल मे 2,716 रुपये, पजाब 1,859 रुपये, उत्तर प्रदेश 444 रुपये, हरियाणा 1,467 रुपये, मध्यप्रदेश 539 व राजस्थान 461 रुपये ।

भारतीय कृषि मे अन्य देशो की तुलना मे श्रम उत्पादकता (Labour Productivity) कम है जो डालरों में 162 डालर है जबकि कनाडा में 8,126, अमरीका में 2,408, जापान मे 2,265, ब्रिटेन मे 2,057 है । भूमि उत्पादकता की भाँति श्रम उत्पादकता भी देश के विभिन्न भागो में समान नहीं है । जैसे—यह सम्पूर्ण भारत के लिए 1,213 रुपये है । किन्तु पंजाब मे 3,195 रु०, हरियाणा में 2,922 रु०, गुजरात मे 1,457 रु०, उ० प्र० मे 1,236 रु०, राज० मे 1,129 रु०, महाराष्ट्र मे 949 रु०, म० प्र० मे 856 रु० और बिहार मे 755 रु० है ।

भारत में निम्न कृषि उत्पादकता के कारण

यद्यपि योजना काल मे कृषि उत्पादकता मे कुछ सुधार हुआ है फिर भी भारत मे कृषि उत्पादकता अभी कम है । भारत में कृषि उत्पादकता के कम होने के कारणों को निम्न शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है जैसा कि आगे चार्ट में दर्शाया गया है—

1. निम्न उत्पादकता के कारण ही भारतीय कृषि पिछड़ी हुई है तथा यही कारण भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याओ का भी है ।
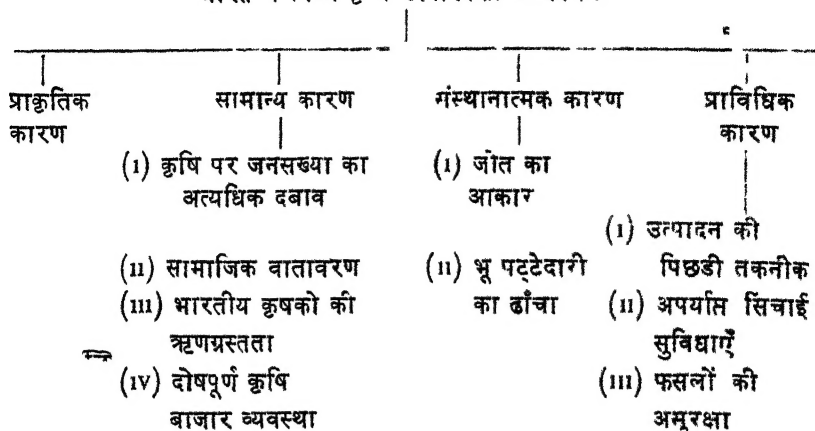
1. प्राकृतिक कारण

जैसा कि हम ऊपर अध्ययन कर चुके है भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। यहाँ वर्षा काफी अनिश्चित रहती है। वर्षा कम होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वर्षा अधिक होने से फसलें नष्ट हो जाती है। इस प्रकार कृषि उत्पादन मे उच्चावचन का प्रमुख कारण भारतीय कृषि की प्रकृति पर अधिक निर्भरता है।

2. सामान्य कारण

(i) **कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव** - भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर है, परन्तु इस 70% कृषि-जनसंख्या द्वारा कुल राष्ट्रीय आय का 40% उत्पन्न किया जाता है। इसका कारण यह है कि कृषि पर आवश्यकता से अधिक लोग आश्रित हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण बहुत से श्रमिक एक ही खेत पर काम करते हैं, जो ऊपर से देखने पर तो कार्यरत लगते हैं किन्तु वास्तव में बेकार होते हैं। वे अदृश्य रूप से बेकार रहते हैं, क्योकि उनके द्वारा सम्पूर्ण उत्पादन मे कोई वृद्धि नही हो पाती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए 5 व्यक्तियो का एक कृषक परिवार भूमि के एक टुकड़े पर कार्य कर रहा है और उससे 30 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। परन्तु यदि 5 व्यक्ति की अपेक्षा 3 व्यक्ति ही इस भूमि के टुकड़े को जोतते हैं, तो भी 30 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहली परिस्थिति में यह प्रतीत होता था कि 5 व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त है, परन्तु वास्तविक परिस्थिति यह है कि केवल 3 व्यक्तियो के लिए ही रोजगार प्राप्त है। प्रो० नर्क्स ने इस स्थिति को अदृश्य बेरोजगारी या अतिरिक्त श्रम का नाम दिया है। जब तक भारतीय कृषि से जनसंख्या के अत्यधिक दबाव को कम नहीं किया जायगा, तब तक श्रम उत्पादिता में वृद्धि की सम्भावना नही है। कृषि पर जनसंख्या का दबाव अधिक होने का तात्पर्य यह हुआ कि एक

निश्चित भूमि की मात्रा पर आवश्यकता से अधिक लोग काम करते है, जो सम्पूर्ण उपार्जित सम्पत्ति खा जाते हैं और बचत कुछ भी नही होती जिसका विनियोग कृषि के आगे के विकास के लिए जा सके।

(ii) **सामाजिक वातावरण**—भारतीय गाँव का सामाजिक वातावरण कृषि विकास मे बाधक है। भारतीय कृषक अशिक्षित, अज्ञानी, अन्धविश्वासी, रूढिवादी एव भाग्यवादी होने के कारण खेती के पुराने तरीको से ही पूर्णतया सन्तुष्ट है और आर्थिक प्रगति का विचार उसे प्रेरित नही करता। ग्रामीण क्षेत्रो मे जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली की अधिक विद्यमानता के कारण कृषकों मे उस प्रेरणा का अभाव है जिससे उत्पादकता वृद्धि को प्रोत्साहन मिल सके, अत: जब तक पिछड़ेपन को स्थायी रखने वाला वर्तमान वातावरण परिवर्तित नही हो जाता तब तक कृषि की प्रगति की कोई संभावना नही है।

यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसी दोषपूर्ण सामाजिक वातावरण के कारण भारत मे कृषि उत्पादकता कम है। **डब्ल्यू डेविड हापर सेनापुर गाँव** के अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भारतीय कृषक अपने भौतिक स्रोतो का कुशलता के साथ पूरा-पूरा उपयोग करते है। **जो०एस० सहोटा** भी भारतीय कृषि में साधनो के आवंटन के विश्लेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकालते है कि 'इस दावे का समर्थन कर पाना कठिन है कि भारतीय कृषक रूढियो से ग्रस्त हैं और उनका आचरण विवेकपूर्ण एव मितव्ययी नही है अथवा श्रम की सीमात उत्पादकता शून्य है अथवा किसी भी प्रकार की पूंजी की सीमात उत्पादकता अधिक है।"

(iii) **भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषक ऋण के बोझ से लदे है। महाजनो की शोषण-नीति के कारण "भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण मे जीवन व्यतीत करता है और ऋण में ही प्राण त्याग देता है।" अत भारतीय कृषकों के सामने वित्तीय कठिनाइयाँ है और वे भूमि-सुधार आदि मे पर्याप्त पूंजी लगाने मे असमर्थ है। इसके कारण भी हमारी कृषि की उपज कम है।

(i) **दोषपूर्ण कृषि बाजार व्यवस्था**—भारत मे कृषि-वस्तुओ के क्रय-विक्रय के लिए सुसंगठित और सुव्यवस्थित बाजार का अभाव रहा है। अत. वे अपनी कृषि से उत्पादित वस्तुओ की बिक्री उचित मूल्य पर नही कर पाते। इस दोषपूर्ण कृषि-बाजार व्यवस्था के कारण कृषको को अपने परिश्रमो का उचित पुरस्कार नहीं मिल पाता। अपने यहाँ उपजो के वैज्ञानिक वर्गीकरण का अभाव है, एवं प्रामाणिक नाप-तोल की व्यवस्था नही है। किसान और उपभोक्ता के बीच अनेक मध्यस्थ हैं जो किसानों का शोषण करते है। इन सबका प्रभाव कृषि पर बुरा पड़ता है। कृषि उत्पादन से जो बचत कृषि और कृषको के लाभ के लिए होनी चाहिए वह कृषकों द्वारा उत्पादक वस्तुएँ सस्ते भाव पर खरीद कर साहूकार, महाजन और मध्यस्थ खा जाते हैं। अत. कृषि एवं कृषको की स्थिति सुधारने के लिए कोई बचत नही हो पाती है।

3. संस्थानात्मक कारण

(i) **जोत का आकार**—भारत मे औसत जोते न केवल बहुत छोटी है, बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ो मे बँटी हुई है। निम्न आँकडो से विदित होता है कि अन्य देशो की तुलना मे भारत में जोत का औसत आकार कितना छोटा है :—

कुछ चुने हुए देशो में जोत का औसत आकार

देश	जोत का औसत आकार	देश	जोत का औसत आकार
अमेरिका	145	बेलजियम	14
इंग्लैण्ड	20	भारत	5 4
फ्रास	20	चीन	35

भूमि का आकार तो छोटा है ही, खेतो का आकार भी छोटा है, जिसका भारतीय कृषि की उत्पादिता पर बहुत ही बुरे प्रभाव पड़ते है। इससे समस्त श्रम और पशुशक्ति का भारी अपव्यय होता है। कृषि की आधुनिक प्रणाली का उपयोग नही हो सकता। सिंचाई मे कठिनाई होती है व किसानो मे झगड़े और मुकदमेबाजी की दुष्प्रवृत्तियाँ पैदा होती है। बहुत-सी भूमि, अति छोटे टुकड़े होने के कारण परती रह जाती है।

(ii) **भू-पट्टेदारी का ढाँचा** (Pattern of Land Tenure)--कृषि की कम उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण जमीन जोतने वालो के लिए उचित प्रोत्साहन का अभाव रहा है। यद्यपि अब जमीदारी प्रथा का अन्त किया जा चुका है और विभिन्न राज्यो में काश्तकारी विधान (Tenancy Legislation) लागू हो चुका है, फिर भी स्थिति संतोषजनक नहीं है, क्योंकि काश्तकार भूमि का स्वामी नहीं है और जमीन पर खेती करने के बदले उसे भारी लगान देना पडता है। परिणामत: किसान कृषि उत्पादिता में कोई विशेष रुचि नही लेता है। जमीदारी, मालगुजारी, रैयतवारी की समाप्ति के पूर्व तो स्थिति और भी बुरी थी।

4. प्राविधिक कारण

(i) **उत्पादन की पिछड़ी तकनीक या प्रविधि**—(अ) निर्धन व परम्परावादी होने के कारण भारतीय कृषक उत्पादन की पुरानी और अक्षम विधियों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं। (ब) उत्पादन में वृद्धि के लिए उपयुक्त और पर्याप्त खाद आवश्यक है, परन्तु भारत मे गोबर की खाद और उर्वरक दोनों की ही बहुत कमी है। (स) कृषि उत्पादिता में वृद्धि के लिये अच्छी किस्म के बीज आवश्यक हैं, परन्तु भारतीय किसान बीजों की किस्म के बारे में उदासीन रहे हैं। कृषि विभाग और बीजगुणन फार्म (Seed Multiplication Farms) सुधरे बीज के प्रयोग को लोकप्रिय बनाने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। 'उपयुक्त मात्रा में अच्छी खाद की

उपलब्धि की भी सुविधाएँ बढ़ाई जा रही है। परम्परागत कृषि-प्रणाली के दोषो को दूर करने के भी प्रयत्न किये जा रहे है। स्पष्ट है कि भारत मे कृषि की कम उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण उत्पादन की पिछडी तकनीक है।

आयर तथा हेडी की जाँच के अनुसार अमरीका मे 1939 से 1961 के मध्य मक्का के प्रति हेक्टर उत्पादन मे जो वृद्धि हुई, उसमे 36% सकरण किस्मो के बीजो के प्रयोग, 31 प्रतिशत उर्वरको के प्रयोग, 18 प्रतिशत क्षेत्रीय विशिष्टीकरण तथा 15 प्रतिशत दूसरे कारणो से हुई थी। इस प्रकार की जाँचो से प्रभावित होकर भारत में भी उर्वरको और अधिक उपज देने वाले बीजो के अधिकाधिक प्रयोग पर जोर देकर हरित क्राति का प्रयास किया गया है जिसमे केवल आशिक सफलता ही मिली है।

(ii) **अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएँ**—कृषि के पिछडेपन का एक मूल कारण यह है कि हमारे देश के अधिकाश कृषको को वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है और कृत्रिम सिचाई सुविधाएँ बहुत ही कम उपलब्ध है। कुल खेती योग्य भूमि के केवल 22% मे ही सिंचाई होती है। इसलिए भारतीय कृषि को वर्षा का जुआ कहते हैं। यदि वर्षा हो जाय, तो अच्छी फसल उत्पन्न हो जाती है अन्यथा नही। यही नही, सिचाई की अपर्याप्त सुविधाओ के कारण भारत मे केवल इकहरी फसल ही पैदा की जाती है। परिणामत प्रति एकड तथा प्रति श्रमिक उत्पादिता का स्तर बहुत कम है।

(iii) **फसलों की असुरक्षा**—यद्यपि नियोजन काल मे फसलो की सुरक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, लेकिन अभी भी फसलो की पूर्ण सुरक्षा नही हो पाती और अनेक प्रकार की बीमारियो से उनकी क्षति होती है, अत. कृषि की उत्पादकता कम रह जाती है। एक अनुमान के अनुसार फसलो की असुरक्षा के कारण भारत मे लगभग 5% की हानि होती है।

कृषि उत्पादकता को बढ़ाने अथवा कृषि विकास हेतु सुझाव

जब तक भारतीय कृषि की उपर्युक्त समस्याओ का समाधान नही किया जायगा तब तक भारतीय कृषि का विकास सम्भव नही है। भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था के जिन कारणो का ऊपर उल्लेख किया गया है उन्हे दूर करने से ही भारतीय कृषि का स्थायी सुधार व विकास सम्भव है। इस सम्बन्ध मे कुछ सुझाव इस प्रकार है :—

(1) **संस्थानात्मक उपाय**—व्यावसायिक ढाँचे मे इस प्रकार का परिवर्तन किया जाना चाहिये कि केवल 50% लोग ही कृषि पर निर्भर रह जायँ। इस हेतु हमे ग्रामीण जनसंख्या के लिये वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध कराने की व्यवस्था चाहिए। इसी प्रकार भूमि-उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या मे चकबन्दी और सहकारी खेती का निर्माण अन्तिम समाधान सिद्ध हो सकता है। भू-पट्टेदारी की समस्या का समाधान काश्तकारी विधान को प्रभावशाली ढंग से लागू करके तथा सहकारी खेती का निर्माण करके किया जा सकता है।

(2) **तकनीकी उपाय**--कृषि उत्पादिता मे वृद्धि करने के लिए सघन कृषि-प्रणाली अपनायी जानी चाहिये। भारतीय सरकार ने इस बात का अहसास करते हुए पहले ही सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम को प्रारम्भ कर दिया है। बढिया किस्म के उपकरणों का प्रयोग, उर्वरक का उपयोग, उन्नत बीजों का प्रयोग तथा कीटनाशकों का उपयोग बढाकर एव सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करके कृषि की उत्पादिता मे वृद्धि करना इस कार्यक्रम के उद्देश्य हैं —

(i) **श्रेष्ठतर तकनीकों और उन्नत औजारो का अपनाना**—उत्पादिता वृद्धि के लिये श्रेष्ठतर तकनीकों और उन्नत औजारो का अपनाया जाना जरूरी है। परन्तु भारत मे किसानो के सकुचित दृष्टिकोण, निर्धनता व अशिक्षा आदि के कारण उन्नत और आधुनिक फार्म-मशीनरी का अधिक उपयोग नही हो रहा है, फिर भी विगत वर्षों में कुछ उद्यमी कृषको ने इस दिशा मे कुछ प्रगति की है।

(ii) **उन्नत बीजों का उपयोग**—उन्नत बीजो के द्वारा उत्पादन को बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है। हर्ष की बात यह है कि भारत मे कृषि विभाग, इण्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च, नेशनल सीड्ज कारपोरेशन आदि अनेक सस्थाओ ने उन्नत बीजो के विकास और उन्हे लोकप्रिय बनाने के लिये बहुत प्रयत्न किए है। कुछ उन्नत किस्मो के नाम इस प्रकार है—सोनारा 64, लर्मा रोजो, शर्बती सोनारा, सोनालिक-सफेद लर्मा, पी० बी० 18, ताई चुग नेटिव आदि। भारतवर्ष मे उन्नत बीजो के अन्तर्गत क्षेत्र मे निरन्तर वृद्धि हो रही है और लोकप्रिय बनाने का भारतीय लक्ष्य बहुत ही उच्चाकाक्षी है।

(iii) **बहुद्देश्यीय फसलों का कार्यक्रम**—कृषि उत्पादिता मे वृद्धि के लिए बहुद्देश्यीय फसल कार्यक्रम की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है।

(iv) **उर्वरक-उपभोग-स्तर बढ़ाना**—भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उर्वरक-उपभोग स्तर के बढ़ जाने से कृषि उत्पादन और उत्पादिता की दर बढ़ेगी। भारतवर्ष मे उर्वरक उपभोग का स्तर बहुत कम है। परन्तु सरकार किसानो का ध्यान इसके महत्त्व की ओर आकर्षित कर रही है और किसानो को इच्छित मात्रा में उर्वरक उपलब्ध करने का प्रबन्ध भी कर रही है।

(v) **कीटनाशक दवाइयों का उपभोग स्तर बढ़ाना**—कुल कृषि उत्पादन का लगभग 20% भाग भारत मे कीटाणुओं के कारण नष्ट हो जाता है। इससे उत्पादिता कम हो जाती है। भारतवर्ष मे कीटनाशक दवाइयों के उपभोग की अभी शुरुआत ही हुई है।

(3) **सिंचाई के साधनों का विकास एवं विस्तार**—चूंकि भारतीय कृषि मानसून पर अधिकाशत: आधारित है और मानसून अनिश्चित है। अपने प्रगाढ़ प्रयत्न से हम कृषि को मानसून के हाथ का जुआ बने नहीं रहने दे सकते हैं। अत: सिंचाई के साधनों को बढाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। उनमें सिंचाई की छोटी, बड़ी और मध्यम

तीनो ही श्रेणियो के साधनो का विकास किया जाना चाहिए और इनका पूरे देश मे आवश्यकतानुसार विस्तार एव विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए । इनके विकास मे छोटी सिंचाई योजनाओ को अधिक महत्ता दी जानी चाहिए क्योकि, ये कम लागत मे ही तैयार हो जाती है और शीघ्र लाभ देने लगतं। है । शासन इस सम्बन्ध मे स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद से ही सतर्क है और प्रत्येक प्रकार के सिंचाई साधनो का विकास कर रहा है । परन्तु इस समय लघु और मध्यम श्रेणी की सिचाई प्रायोजनाओ की अधिक आवश्यकता ह और शासन भी इससे अवगत है । अत वह इस दिशा मे अधिक प्रयत्न कर रहा है ।

(4) **साख की सुविधाओ में सुधार**—कृषको के पास पूंजी का अत्यधिक अभाव है । इन्हे दीर्घकालीन, मध्यकालीन एव अल्पकालीन साख की आवश्यकता पडती है । साहूकारो और महाजनो से प्राप्त साख द्वारा किसानो का शोषण अधिक होता है, लाभ कम । अत साख की सुविधा मे आवश्यक सुधार किये जाने चाहिए । इसके लिए सहकारी साख-सुविधा, भूमिबधक बैङ्क एवं वाणिज्य बैङ्को द्वारा साख सुविधा का विस्तार किया जाना चाहिए । तकावी की सुविधाओ मे सुधार किया जाना चाहिए ।

शासन इस सदर्भ मे प्रयत्नशील है । उपयुक्त साख संस्थानो का विस्तार किया जा रहा है । रिजर्व बैङ्क एव स्टेट बैङ्क इस दिशा मे प्रयत्नशील है । राष्ट्रीयकृत वाणिज्य बैङ्क भी ग्रामाचलो मे अपनी शाखाएँ खोलकर कृषि-साख का विस्तार करने का प्रयत्न कर रहे है ।

(5) **कृषि-विपणन की व्यवस्था का विकास**—कृषको को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओ का उचित मूल्य प्राप्त होना आवश्यक है, तभी उनकी स्थिति मे सुधार हो सकता है और कृषि-उत्पादन बढ़ाने मे उन्हे प्रोत्साहन मिल सकता है । इसके लिए अधिकाधिक विपणन समितिया एवं मडियाँ स्थापित की जानी चाहिए । ग्रामीण कृषि मण्डियो तक यातायात के साधनो एवं मार्गों का विकास किया जाना चाहिए । ग्रामीण क्षेत्रो मे किसानो के अन्न-भण्डार को सुरक्षित रखने के लिए भण्डारागार स्थापित किये जायें और मूल्यो मे स्थायित्व रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । शासन इस दिशा मे भी प्रयत्नशील है । वह कृषि-मण्डियो, विपणन समितियो एवं भण्डारागार की सुविधाओ मे वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है । किन्तु इस क्षेत्र मे अब भी पर्याप्त विकास की आवश्यकता है ।

(6) **पशुओं की स्थिति में सुधार**—पशुधन कृषि की महत्त्वपूर्ण पूंजी है । किन्तु हमारे देश मे इसकी स्थिति बडी दयनीय है । अतः इसमे सुधार करने का प्रयत्न हमे इनके लिए चारा, चिकित्सा एवं नस्ल-सुधार की व्यवस्था करके करना चाहिए ।

(7) **किसानों के व्यापक शिक्षण एव प्रशिक्षण की व्यवस्था**—कृषि की स्थिति सुधारने के लिए कृषको एवं ग्रामीण क्षेत्र की जनता की विचारधाराओ में आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है और भाग्यवाद, रूढ़िवादिता एव अंधविश्वास को समाप्त करना अत्यावश्यक है । ऐसा करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा अत्यधिक

प्रसार करना आवश्यक है। कृषि की नई एव आधुनिक प्रणालियों से हमारे किसान अनभिज्ञ है। कृषि की नई रीतियो का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, योग्य एवं शिक्षित भारतीय कृषको को विदेशो मे प्रशिक्षण हेतु भेजा जाना चाहिए।

(8) **फसल बीमा योजना**—ज्ञात ही है कि भारतीय कृषि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ और अन्य कई आपत्तियो के कारण अनिश्चित-सी रहती है। अतः कृषको की स्थिति भी इस संदर्भ मे अनिश्चित रहती है, जिसका प्रभाव कृषि और कृषक दोनों पर ही बुरा पडता है। अत: कृषि फसलो के लिए बीमा का कार्यक्रम किया जाना चाहिए, ताकि किसी दैवी प्रकोप के बाद किसान, कृषि की अगली फसल के लिए विनियोग करने के योग्य रह सके। इस कार्यक्रम को कृषको और शासन के सम्मिलित योगदान से चलाया जाना चाहिए। इस सदर्भ मे कार्य प्रारम्भ किया जा चुका है। आशा विस्तार तीव्रता से होगा।

(9) **कृषि-अनुसंधान विस्तार**—भारतीय कृषि प्रणाली मे अनेक प्रकार के अनुसंधानो का पर्याप्त क्षेत्र है। अत इसमे अनुसंधान का विस्तार किया जाना चाहिए और किये गये अनुसंधानो को व्यावहारिक रूप से उपयोगी बनाया जाना चाहिए। इससे कृषि मे सर्वाङ्गीण सुधार हो सकता है। इस दिशा मे भी प्रयत्न तीव्र गति से आगे बढ रहा है। कई कृषि अनुसधान संस्थान स्थापित किये जा चुके है।

(10) **भूमि-कटाव पर रोक**—वृक्षारोपण, बाँध और मेड़ों का निर्माण करके भूमि-क्षरण को रोकना अत्यावश्यक है; सूखी खेती भी इसमे उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(11) **सहकारी आन्दोलन का उपयोगी ढंग से विस्तार**—भारत, जो कि गाँवों में निवास करता है और जहाँ पर 70% लोग कृषक है तथा उनमे से अधिकाश की आर्थिक स्थिति दयनीय है, वहाँ सहकारिता की महत्ता के सम्बन्ध मे कितना भी कहा जाय कम है। किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में जो भी विस्तार हुआ है, वह अनेक दृष्टिकोणो से दोषपूर्ण रहा है। अतः इसका विकास सही ढग पर तीव्र गति से किया जाना आवश्यक है।

(12) **बंजर भूमि का सुधार एवं उपयोग**—एक ओर हमारे यहाँ कृषि पर अत्यधिक भार है तथा बहुत से लोग भूमिहीन है, दूसरी ओर हजारो एकड़ बंजर भूमि पड़ी है। हमें चाहिए कि इसे कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न करें। इससे कृषि उत्पादन बढ़ेगा, रोजगार की मात्रा मे वृद्धि होगी और कृषि पर भार कम हो जायगा। केन्द्रीय ट्रैक्टर सस्था इस सम्बन्ध मे प्रयत्नशील है, राज्यो में भी ट्रैक्टर संगठन सक्रिय हो रहा है।

उपसंहार— उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कृषि भारत की अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। फिर भी इसकी स्थिति ठीक नही है। गत बीस वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद भी हमारी कृषि अभी तक समस्याओ से लदी पड़ी है। किन्तु यदि वास्तव में हम अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुधारना चाहते हैं तो पहले कृषि की स्थिति सुधारनी होगी इस दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तनो की आवश्यकता है। किन्त

जो भी परिवर्तन लाये जायँ वे दीर्घकाल को ध्यान मे रखते हुए लाये जाने चाहिए, ताकि कृषि मे मौलिक सुधार हो सके। विकास के लिये किये जा रहे प्रयत्नो में जनता के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है। जब तक जनता, विशेषकर कृषको के मस्तिष्क में कृषि के संदर्भ में मौलिक विचार-परिवर्तन नही होते, कृषि की स्थिति सुधारना आसान कार्य नही होगा। किन्तु इस संदर्भ में जो भी कार्य किये जायँ वे व्यावहारिक एवं वास्तविक होने चाहिए।

कृषि संरचना में सुधार के लिए राष्ट्रीय कृषि आयोग के सुझाव—राष्ट्रीय कृषि आयोग ने अपना प्रतिवेदन मार्च 1976 मे संसद को प्रस्तुत किया जिसमे देश की कृषि सरचना की वर्तमान स्थिति का अध्ययन भावी प्रगति का अनुमान और कृषि संरचना मे सुधार के लिये सुझाव प्रस्तुत किये गये। कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित है :—

(i) कृषि विकास की ऐसी नीति निर्धारित की जानी चाहिए जिससे कृषि उत्पादनो की मांग और पूर्ति के मध्य सन्तुलन आ सके और कृषि उत्पादनों के वितरण की न्याय पूर्ण व्यवस्था स्थापित हो सके।

(ii) कृषि विकास मे प्राथमिकताएँ निर्धारित करने और सरकारी सहायता प्रदान करने की दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रो की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(iii) कृषि मे विनियोग नीति ऐसी होनी चाहिए जिसमे कृषि के विभिन्न क्षेत्रो को पर्याप्त वित्त उपलब्ध हो सके और कृषि मे अधिकतम रोजगार उपलब्ध करते हुए अधिकतम उत्पादन संभव हो सके।

(iv) कृषि के लिए आधारभूत आर्थिक संरचना के विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।

(v) फसल उत्पादन, पशुधन, मुर्गीपालन, मत्स्य पालन और वनों के सम्बन्ध में विकास की समन्वित नीति अपनायी जानी चाहिए जिससे सभी क्षेत्रों में साथ-साथ विकास हो सके।

(vi) कृषि क्षेत्र मे सेवाओ और वस्तुओ की पूर्ति के लिए संगठित कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए।

(vii) श्रम अतिरेक वाले क्षेत्रो में कृषि मे मशीनो के प्रयोग पर उचित नियंत्रण रखा जाना चाहिए जिसमे अधिक रोजगार के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके।

(viii) कृषि जोतों मे स्वामित्व जोतो के साथ ही कार्यात्मक जोतों की सीमा का भी निर्धारण किया जाना चाहिए।

भारतीय कृषि का भविष्य विस्तृत खेती की तुलना में गहन कृषि पर अधिक निर्भर है—कृषि दो प्रकार से की जा सकती है प्रथम विस्तृत खेती और द्वितीय गहन खेती। जब कृषि क्षेत्र में वृद्धि करके कृषि के उत्पादन को बढ़ाया जाता है तो इसे विस्तृत खेती तकनीक कहते हैं। इसके विपरीत जब एक निश्चित भूमि क्षेत्र में श्रम, पूँजी तथा अन्य उपकरणो के प्रयोग को बढाकर कृषि उत्पादन मे वृद्धि की जाती है तो इसे गहन खेती तकनीक कहते है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय कृषि का भविष्य विस्तृत खेती पर निर्भर करता है अथवा गहन खेती पर। जहाँ तक विस्तृत खेती का प्रश्न है इसके लिए कृषि मे प्रयुक्त भूमि के क्षेत्र मे वृद्धि करनी होगी। इस सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकालने से पूर्व देश मे भूमि उपयोग के निम्न आँकडो का अध्ययन करना उपयोगी होगा।

1977-78 में भूमि का प्रयोग

	(करोड हेक्टेयर मे)
1. वन (Forests)	6 71
2 खेती के लिए अनुपलब्ध नयी भूमि (Not available forcultivation)	3·9
3 अन्य बिना खेती की गयी भूमि ऊसर भूमि को छोडकर (Uncultivation Land excluding fallow lands)	3·2
4. ऊसर भूमि (Fallow Lands)	2 28
5 कुल फसली क्षेत्र (Net Area Sown)	17.23
	33 32

उपर्युक्त सारणी के अको से पता चलता है कि फसली क्षेत्र मे वृद्धि की सम्भावनाएँ कम ही है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि परती और बजर भूमि को खेती योग्य बनाया जा सकता है या नही। इस सम्बन्ध मे किये गये विभिन्न सर्वेक्षणो से यह निष्कर्ष निकलता है कि परती भूमि मे कमी करके या बजर भूमि को खेती योग्य बना कर कृषित क्षेत्र मे इस समय बहुत अधिक वृद्धि की प्रत्याशा नही की जा सकती। अधिकाश परती भूमि या तो कम वर्षा वाले प्रदेशो मे उपलब्ध है या पहाडी प्रदेशो मे जहाँ कुछ मात्रा में परती भूमि रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार बजर भूमि को कृषि योग्य बनाने पर होने वाली भारी लागत के कारण ऐसी बहुत अधिक भूमि को सुधारना संभव नही है। खाद्य और कृषि मंत्रालय की बंजर भूमि सर्वेक्षण और भूमि सुधार समिति द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि लगभग केवल 20 लाख एकड बंजर भूमि को ही कृषि योग्य बनाया जा सकता है। साथ ही भूमि के अन्य उपयोगों मे कोई कमी होने की सम्भावना नही है, बल्कि सडको, भवनो और औद्योगिक केन्द्रो के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता होगी। वन क्षेत्र को भी कम करना उपयुक्त नहीं होगा। यही नही जनसख्या वृद्धि के कारण भी विस्तृत खेती द्वारा विकास की संभावनाएँ अधिक नही है। अतः असंदिग्ध रूप में यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषित क्षेत्र मे वृद्धि करने का अवसर अत्यन्त सीमित है। अतः वर्तमान कृषि योग्य क्षेत्र मे ही गहन खेती करने और प्रति हेक्टेयर उत्पादकता में वृद्धि करने का सहारा लेना पड़ेगा। अन्य शब्दों मे वर्तमान कृषि क्षेत्र में ही श्रेष्ठ बीजो, रासायनिक खादों, अच्छे उपकरणों इत्यादि का प्रयोग किया जाय तो कृषि उत्पादन काफी बढ़ सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गहन कृषि के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होगी। अतः

देश मे गहन कृषि विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र के लिये पर्याप्त मात्रा मे पूँजी उपलब्ध की जाय ।

कृषि उत्पादकता बढाने के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न

कृषि उत्पादकता मे वृद्धि करने के लिए सरकार ने विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे काफी प्रयत्न किए है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(i) सिचाई सुविधाओ को बढाने के लिए लघु मध्यम व बडी योजनाएँ क्रियान्वित की है जिनमे भाखडा नागल बाँध जैसी योजनाएँ भी सम्मिलित है ।

(ii) उन्नत बीच उपलब्ध करने के लिए राष्ट्रीय बीज निगम व बडे-बडे फार्मों की स्थापना की गई है ।

(iii) फसलो को कीटाणुओ व रोगो से बचाने के लिए केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय ने अलग से एक 'सैल' की स्थापना की है जो आवश्यकता के समय हेलीकॉप्टर व हवाई जहाज से कीटनाशक दवाइयो को छिडकवाता है ।

(iv) भिन्न-भिन्न स्थानो पर रासायनिक खाद बनाने के कारखाने भारतीय खाद्य निगम व अन्य संस्थाओ ने स्थापित किए है ।

(v) कृषको को नवीन तकनीको को समझाने व उनको कार्य में लाने के लिए प्रशिक्षण सुविधाओ की व्यवस्था की है ।

(vi) एक कृषक के छोटे-छोटे व बिखरे हुए खेतो को एक स्थान पर करने के लिए चकबन्दी कार्यक्रम लागू किए गए है ।

(vii) ग्रामीण साख सुविधाओ मे वृद्धि करने के लिए बैंको को ग्रामीण शाखाएँ खोलने के लिए विवश किया हैं ।

(viii) कृषि के मूल्यो मे स्थायित्व लाने के लिए राष्ट्रीय कृषि आयोग की स्थापना की गई है जो इस सम्बन्ध मे समय-समय पर सरकार को सुझाव देता है ।

(ix) सहकारी खेती को बढावा देने के लिए प्रयत्न किए जा रहे है ।

(x) कृषि अनुसन्धान एवं विकास हेतु कई विश्वविद्यालय खोले गए हैं ।

(xi) विपणन सुविधाएँ देने के लिए लगभग 3,000 बाजारो को नियमित बाजारो मे बदल दिया गया है ।

(xii) जोतों को अधिक छोटे होने मे रोकने से रोकने के लिए सम्बन्धित कानूनो मे परिवर्तन किए गए है ।

कृषि उत्पादकता को बढाने के लिए सरकार द्वारा किये गये उपर्युक्त प्रयत्नो का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि भारत मे कृषि उत्पादकता मे वृद्धि हुई है जो निर्देशाक 1966-70 में समाप्त होने वाली 3 वर्षों की अवधि के लिए 100 था वह 1979-77 मे बढ़कर 118·7 हो गया है ।

परीक्षा प्रश्न

1. कृषि-उद्योग के महत्त्व की विवेचना कीजिये और उसकी प्रमुख विशेषताओ का विवरण दीजिए ।

अथवा

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएँ कौन-सी है ? वे किस प्रकार देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का प्रभावित करती हैं ?

अथवा

भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे कृषि के स्थान की विवेचना कीजिये और इस वक्तव्य की समीक्षा कीजिये—"देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास की किसी भी योजना मे कृषि के पुनस्संगठन और सुधार का आधारभूत महत्त्व है ।"

2. देश में कृषि-उत्पादकता कम क्यो है ? इसकी उन्नति के लिये अल्पकालीन और दीर्घकालीन उपाय बताइये ।

अथवा

आप कृषि भूमि की उत्पादकता वृद्धि के लिये अपने प्रान्त मे किन उपायो का सुझाव देंगे ? अभी तक इस दिशा मे क्या प्रगति रही है ?

अथवा

भारतीय कृषि उत्पादकता वृद्धि के क्षेत्र का वर्तमान फसल पद्धति मे उपयुक्त परिवर्तनो को ध्यान में रखते हुए परीक्षण कीजिये ।

अथवा

भारत में प्रमुख फसलो के प्रति एकड़ उत्पादन की विश्व के प्रगतिशील देशो से तुलना कीजिये और भारत मे अत्यधिक कम उत्पादन के कारण बताइये ।

[संकेत—कृषि उत्पादकता के कम होने के कारण दीजिए तथा कृषि विकास के लिए सुझाव दीजिए ।]

3. "भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन एवं विकास की मुख्य समस्या कृषि पुनर्गठन है ।" विस्तारपूर्वक समझाइये ।

[संकेत—संक्षेप में भारतीय अर्थव्यवस्था मे कृषि के महत्त्व की विवेचना कीजिए जिससे यह स्पष्ट होगा कि भारतीय नियोजन तभी सफल होगा । इसके बाद कृषि के पुनर्गठन के लिये सुझाव दीजिये ।]

4. "आर्थिक विकास की कुजी कृषि विकास मे निहित है ।" इस कथन की विवेचना कीजिए । देश के कृषि विकास के प्रोत्साहन के लिए उपाय बताइए ।

अथवा

[संकेत—इसमें कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था मे महत्त्व बताना है ।]

2

योजना-काल में कृषि-विकास व हरित क्रान्ति

(Development of Agriculture during the Plan-Period and Green Revolution)

या

राज्य एवं कृषि

(State and Agriculture)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश के सुव्यवस्थित आर्थिक विकास के लिये सरकार ने 1 अप्रैल 1951 से पंचवर्षीय योजनाओ का सूत्रपात किया। देश की विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सरकार ने कृषि विकास के लिये जो विभिन्न कार्य किये और जिनके फलस्वरूप कृषि मे जो विकास हुआ उसका सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

1. व्यय—विभाजन के पश्चात देश मे खाद्यान्न तथा कृषि जन्य कच्चे माल की जो समस्या उत्पन्न हो गई थी उसे हल करने के लिए योजनाओ मे कृषि को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। इस तथ्य को निम्न तालिका से स्पष्ट समझा जा सकता है :—

प्रस्तावित राशि एवं वास्तविक व्यय (करोड़ रु०)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	वार्षिकी योजनाएँ	चतुर्थ योजना	पंचम योजना
	1951-56	1956 61	1961-66	1966-69	1969-74	1974-79
1. कृषि पर निर्धारित व्यय	823	1100	1718	—	3815	8200
2 कुल योजना का कृषि पर प्रतिशत	35	23	23	—	24	20.3
3 वास्तविक व्यय	724	950	1754	1578	3498	6205●
4 कुल योजना का व्यय पर प्रतिशत	37	20	21	21	24	16

●1974-78

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि कृषि पर प्रत्येक योजना मे व्यय बढा है तथा पांचवी योजना मे कृषि के लिए जो व्यय निर्धारित किया गया है। वह पहली योजना की निर्धारित राशि के 9 गुने से भी अधिक है।

2. **उत्पादन लक्ष्य एवं उपलब्धियाँ**—निम्नांकित तालिका मे कुछ प्रमुख फसलो के योजनावार उत्पादन लक्ष्य व वास्तविक उत्पादन दिये गये है। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रथम योजना मे कृषि क्षेत्र मे बहुत सफलता मिली किन्तु आगे की योजनाओ मे विशेष रूप से तृतीय योजना के उपरान्त इस क्षेत्र मे असफलताएँ ही हाथ लगी।

योजनाओ में कृषि के उत्पादन लक्ष्य एवं उपलब्धियाँ

योजना	खाद्य पदार्थ (दस लाख टनो मे)	गन्ना (दस लाख टनो मे)	तिलहन (दस लाख टनो मे)	जूट (दस लाख टनो में)	रुई (दस लाख टनो मे)
प्रथम लक्ष्य	62.6	6.4	5 6	5 4	4 1
वास्तविक	66 9	6 1	5.7	4 2	4 9
द्वितीय . लक्ष्य	81.8	7.9	7 7	5 5	6 5
वास्तविक	82.0	11 1	7.0	4.1	5.3
तृतीय : लक्ष्य (1965-66)	100 0	10 2	10.0	6.2	7.0
वास्तविक	72.0	12.2	6.4	4.5	4.8
चतुर्थ : लक्ष्य (1973-74)	129.0	15 0	10.5	7.4	8.0
वास्तविक	104 6	14.4	8.8	6.2	6.3
पचम लक्ष्य : (1978-79)	140.0	17.0	14.0	7.7	8.0
वास्तविक (1977-78)	126 0	16 5	8.9	7.1	7 1

3 **कृषि आदान**—योजनाओ मे कृषि उत्पादन बढाने के लिए विभिन्न कृषि आदानो जैसे—उन्नत बीज, रासायनिक खाद व यन्त्रो आदि का उपयोग बढ़ा है साख की पूर्ति तथा कृषि विपणन सेवाओ की स्थिति में भी पर्याप्त सुधार हुए है।

(i) **सिंचाई का विस्तार**—नियोजन काल में सिंचित मे निरन्तर वृद्धि हुई है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पचम योजना के अन्तिम वर्षों मे क्रमश 2.28, 2.46, 2.64, 4 49, 5.7 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र सींचा गया।

(ii) **अधिक उपज वाले बीजों तथा रासायनिक खाद का प्रयोग**—हरित क्रान्ति के साथ-साथ 1965-66 से अधिक उत्पादकता वाले बीजों के अधिकाधिक प्रयोग पर विशेष बल दिया गया है। उर्वकों के प्रयोग में भी निरंतर वृद्धि हुई है। विगत कुछ वर्षों के रासायनिक खाद के उत्पादन को अग्रलिखित तालिका में बताया गया है।

रासायनिक खाद का उत्पादन (हजार टन)

	1950-51	60-61	70-71	73-74	79-80	82.83
	9	98	830	2013	2223	4100
	9	52	229	670	750	1125

(iii) **साख** -भारत मे कृषक के सामने वित्त की समस्या सदैव बनी रहती है। योजना काल मे इस समस्या को हल करने के सराहनीय प्रयास किये गये है। अल्प एवं मध्यकालीन साख की व्यवस्था प्राथमिक कृषि साख समितियो द्वारा की जाती है। दीर्घकालीन साख की व्यवस्था भूमि विकास बैको द्वारा की जाती है।

कृषि पुनर्वित्त निगम (ARFC) भी कृषि साख प्रदान करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यह कृषि के लिए भूमि विकास बैक, राज्य सहकारी बैंक, तथा अनुसूचित व्यापारिक बैको की दीर्घकालीन साख की माँग की पूर्ति करता है।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि साख सुविधाओ की वृद्धि की दृष्टि से व्यापारिक बैको को ग्रामीण क्षेत्रो में अपनी शाखाएँ खोलने को प्रोत्साहित किया जा रहा है तथा कृषि साख की शर्तों को और अधिक उदार बनाया जा रहा है।

(iv) **कृषि विपणन**—कृषि विपणन के क्षेत्र में सहकारी विपणन समितियाँ महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। 1960-61 मे प्राथमिक कृषि विपणन समितियो की सख्या 3108 थी जबकि वर्तमान मे इनका सख्या बढकर 3592 हो गई है।

4. **प्रति हेक्टेयर कृषि उत्पादन मे वृद्धि**—कृषि क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसकी उत्पादकता मे सुधार हुआ है। कृषि की उत्पादकता मे 1952-65 की अवधि मे 1 21 प्रतिशत वार्षिक दर तथा 1967-79 की अवधि मे 1 63 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई है। विगत 25 वर्षों मे चावल का प्रति हेक्टेयर उत्पादन 6 7 क्विटल से बढकर 13 4 क्विटल तथा गेहूँ का उत्पादन 6.6 से बढ़कर 15.7 क्विटल हो गया। इसी प्रकार कुछ अन्य फसलो के प्रति हेक्टेयर उत्पादन मे निम्न प्रकार वृद्धि हुई है .—

प्रतिहेक्टेयर उत्पादन

(कि० ग्रा०)

कृषि उत्पादन	1955-56	1978-79	1979-80
तिलहन	474	596	532
गन्ना	3289	5141	5000
कपास	88	167	162*
पटसन	1082	1307	1308
दाले	476	517	385

5. **भूमि-सुधार**—कृषि की प्रमुख समस्या भूमि सुधार की है। इस दिशा मे जो प्रगति हुई है वह संतोषजनक नही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश 40% क्षेत्र पर जमीदारो, जागीरदारो, ताल्लुकेदारो आदि का आधिपत्य था। इन्हें समाप्त करके लगभग 2 करोड़ कृषको को भूमिका स्वामित्व सौंप दिया गया है। कृषको के

काश्तकारी अधिकार सुरक्षित करने हेतु तथा लगानों के नियमन की वैधानिक व्यवस्था की गई है। देश में भू जोतो की सीमा-बन्दी के कारगर प्रयास किये जा रहे हैं। सभी राज्यो द्वारा भू जोतो की चकबन्दी सम्बन्धी कानून पास करके चकबन्दी के प्रयास किये गये हैं तथा जोतो के विभाजित होने पर रोक लगा दी गई है।

छठीं पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास

फरवरी 1981 मे राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा स्वीकार किये गये छठी योजना के मसौदे में कृषि और ग्रामीण विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई है और कृषि उत्पादन बढ़ाने, देहातो मे रोजगार तथा आय के अवसरो मे वृद्धि करने और आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए कृषि का आधुनिकीकरण करने के उद्देश्य रखे गए है। विभिन्न विकास कार्यक्रम चलाने के उद्देश्य से छठी योजना के मसौदे मे सार्वजनिक क्षेत्र मे परिव्यय कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रो के लिए 11059 करोड रुपये तथा सिंचाई और बाढ नियन्त्रण के लिए 12160 करोड रुपये निर्धारित किया गया है। इन दो क्षेत्रो पर कुल सरकारी खर्च 23219 करोड रुपये पाँचवी योजना (1974-79) में रखे गये परिव्यय 8200 करोड रुपये से 283 प्रतिशत अधिक है। कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रो और सिंचाई व बाढ नियन्त्रण के लिए उपक्षेत्रवार विवरण सारणी मे नीचे दिया गया है :—

कृषि एवं ग्रामीण विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र में परिव्यय

क्षेत्र	व्यय (करोड रु०)	कुल व्यय का प्रतिशत
(I) कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रो (ग्रामीण विकास कार्यक्रम सहित)		
1. कृषि	1771·7	16·02
2. भू-संरक्षण	433·6	3 92
3. पशु-पालन तथा दुग्ध उद्योग	851·4	7·70
4 मछली पालन	371·4	3·36
5. वन	692.6	6·26
6 कृषि वित्तीय संस्थाओ मे पूँजी निवेश	821 1	7·42
7. सहकारिता	914·2	8·20
8. खाद्य भण्डारण गोदाम तथा विपणन	433·7	3·92
9. भूमि-सुधार	304 6	2·75
10. सामुदायिक विकास और पंचायत	352 6	3.19
11. अन्य	4112·3	37·19
योग	11,058·8	100 00
(II) सिंचाई तथा बाढ नियन्त्रण (इसके अन्तर्गत बडी एवं मध्यम व छोटी सिंचाई योजनाएँ तथा बाढ़ नियन्त्रण और भू-रक्षण सम्मिलित हैं)	12,160 0	100 00
कुल योग (I II का)	23 218 8	—

छठी योजना में कृषि के लक्ष्य

1 **फसल उत्पादन**—वर्ष 1980-81 मे देश मे करीब 1230 लाख टन खाद्यान्नों का उत्पादन हुआ। इस वर्ष चावल की उपज सराहनीय रही है। छठी पचवर्षीय योजना मे 1984-85 तक अनाज के उत्पादन पर जोर दिया जायेगा। इस अवधि मे लगभग 1540 लाख मीटरी टन अनाज उत्पादन करने का लक्ष्य है। वर्ष 1981-82 मे 1385 लाख मीटरी टन अनाज उत्पादन करने का लक्ष्य रखा गया है, जिसका विवरण निम्न तालिका मे प्रदर्शित किया गया है।

खाद्यान्न	उत्पादन (लाख मीटरी टन मे)
चावल	580
गेहूँ	380
मोटे अनाज	300
दालें	125
योग	1385

हमारे देश मे प्रोटीन का एक महत्त्वपूर्ण भाग दालें है, परन्तु चिन्ता का विषय है कि दालो का उत्पादन निरन्तर घटता जा रहा है। दालो के उत्पादन को बढ़ाने वाली योजना मे निम्नलिखित बातो पर जोर दिया जा रहा है—

(i) मूंग, उडद, चना और अरहर की दालो के सिंचित क्षेत्र को बढाना।

(ii) उपलब्ध तकनीको के प्रयोग द्वारा इनके उत्पादन को बढाना।

(iii) मोटे अनाजो, तिलहनो, कपास और गन्ने के साथ दालो की मिली-जुली खेती।

2. **उन्नत बीज**—कृषि उत्पादन बढाने का दूसरा पहलू उच्चकोटि के बीजों का होना भी है। अच्छे किस्म के बीजो को उचित मूल्यो पर उपलब्ध कराने के लिए एक ठोस एव व्यवस्थित प्रयास किया जा रहा है। वर्ष 1980-81 मे 25 लाख क्विंटल अच्छे बीजो का वितरण हुआ है और 1981-82 मे 32 लाख क्विंटल तक पहुँच जाने का अनुमान है। छठी योजना के अन्त तक यानी 1984-85 तक अच्छे बीजो के उत्पादन एवं वितरण को 58 लाख क्विंटल तक पहुँचाने का प्रयास है। राष्ट्रीय बीज निगम आदि ने बीजो के उत्पादन के सम्बन्ध मे छठी योजना मे 41 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की है।

कृषि उत्पादन की दिशा मे अधिक उपज देने वाली किस्मो का कार्यक्रम भी महत्त्वपूर्ण है। वर्ष 1980-81 के दौरान अधिक उपज देने वाली किस्मो के कार्यक्रम के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्र 450 लाख हेक्टेयर अनुमानित है। वर्ष 1984-85 तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 550 लाख हेक्टेयर कृषि क्षेत्रफल आ जायेगा।

3. **रासायनिक उर्वरक**—समग्र कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए रासायनिक उर्वरको का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। भारतीय कृषि की आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि वर्ष 1984-85 तक हमारी रासायनिक

खाद की खपत बढकर 96 लाख मीटरी टन से अधिक हो जायगी, जबकि वर्तमान मे इसकी खपत 54 लाख मीटरी टन के आस-पास है।

4 **फसलो को हानिकारक कीटो व रोगो से संरक्षण**—अधिक उपज देने वाली फसलो को हानिकारण कीटो व रोगो आदि से बचाने के लिए वर्ष 1984-85 तक शुद्ध कीटनाशक औषधियो की खपत 90800 मीटरी टन करने का प्रस्ताव है। कृषि को नुकसान पहुँचाने वाले कीटो की रोकथाम के लिए भारत सरकार ने कुल 213 लाख रुपये की लागत से लगभग 12 लाख हेक्टेयर भूमि मे हवाई व जमीनी छिडकाव करने की योजना को स्वीकृति दे दी है। छठी योजना अवधि मे फसलो के नुकसान को कम करने और उनका उत्पादन बढ़ाने के लिए वनस्पति-रक्षण उपायो को अधिक कारगर बनाया जायेगा।

5. **सिंचित क्षेत्र**-यह क्षेत्र 1979-80 मे 52-6 मिलियन हेक्टेयर था जो बढकर 1984-85 मे 62·2 मिलियन हेक्टेयर हो जायेगा।

6. **अन्य कार्यक्रम**—कृषि उपकरणो का सरल बनाया जायेगा, रोजगार एव उत्पादकता की दृष्टि से उपयोगी मशीनो के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जायेगा। कृषि वित्त का अधिकाधिक सस्थाकरण किया जायेगा और कमजोर वर्गों को पर्याप्त साख उपलब्ध कराई जायेगी।

योजना-काल में कृषि विकास का मूल्यांकन

यद्यपि योजना-काल मे कृषि-विकास मे प्रगति हुई है, परन्तु फिर भी इस क्षेत्र में जो प्रगति हुई है इसे सराहनीय नही कहा जा सकता। संक्षेप में कृषि-क्षेत्र मे असफलता के प्रमुख कारण निम्नलिखित है :—

1. **दोषपूर्ण आर्थिक नियोजन**—यद्यपि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओ मे कृषि उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्य निश्चित किये गये है परन्तु कृषि क्षेत्र मे विकास के लिए जो कार्यक्रम तैयार किये जाते है उनमे कोई समन्वय नही होता है। डॉ० गाडगिल 17 वर्ष पूर्व कहा था कि 'मेरा विचार यह है कि जिसे वास्तव में आर्थिक नियोजन कहा जा सकता है, भारत मे व्यवहार में बहुत थोडा है और कृषि में तो यह और भी कम है।" डॉ० गाडगिल का यह कथन आज भी सत्य है। कृषि क्षेत्र में नियोजन के अभाव का मुख्य कारण यह है कि सरकार की नीति में स्थिरता नही है। उदाहरणार्थ, गेहूँ के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने के कुछ समय बाद उसे समाप्त कर देना सरकारी नीति में अव्यवस्था का प्रमाण है।

2. **दोषपूर्ण भूमि-सुधार**—भारतवर्ष में भूमि-सुधार सम्बन्धी किये गये अनेक उपायों द्वारा देश में एक न्यायपूर्ण और गतिशील भूमि व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु आशातीत सफलता नहीं मिली है। परिणामतः ग्रामीण क्षेत्र मे जो संस्थागत सुधार होने चाहिए थे वे 30 वर्षों के नियोजन द्वारा भी सम्पन्न नहीं हो सके। जापान तथा यूरोप के देशो में जहाँ भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक

होने के बावजूद भी कृषि उत्पादकता अधिक है, वहाँ कृषि मे तकनीकी सुधारों से पहले भूमि-सुधारो को लागू किया गया था।

3 **पूँजीवादी कृषि का विकास**—सरकार की नवीन कृषि नीति से पूँजीवादी कृषि का विकास हो रहा है, क्योकि अधिक उपजाऊ किस्म के बीजो से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरको और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पडता है जो छोटे व मध्यम श्रेणी के किसानो के सामर्थ्य से परे है। भारतवर्ष में 12% बडे किसानो के पास कुल भूमि का 50% है और ये ही 12% बडे किसान नलकूप, पम्पिग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी क रूप मे भारी विनियोग कर रहे है। परिणामतः नवीन कृषि विधि से निर्धन किसानो को लाभ नही हुआ है, बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के उच्चतम 10% भाग के हाथ मे सम्पत्ति का संकेन्द्रण हुआ है।

4. **ग्रामीण ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषि व्यवस्था में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की विष की भाँति व्याप्त है। भारत मे ऋण सम्बन्धी अधिनियम ग्रामीण ऋणग्रस्तता की व्यापक बीमारी के लिए प्राथमिक चिकित्सा के रूप मे ही कार्य कर सके है।

5 **सिंचाई की अपर्याप्त व्यवस्था**—यद्यपि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओ मे सिंचाई कार्यक्रमो पर विशेष ध्यान दिया गया है, परन्तु सिंचाई की व्यवस्था दोषपूर्ण है। सिचाई के कार्यक्रम मे पूर्ण समन्वय नही है। अत्यन्त सोचनीय बात यह है कि सिंचाई की सुविधाओ का पूर्ण उपयोग नही किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त सिंचाई की लागत मे निरन्तर वृद्धि के कारण छोटा किसान सिचाई की व्यवस्था का लाभ उठाने मे असमर्थ है।

6. **लक्ष्यों से तुलना**—यदि हम अपनी उपलब्धियो की तुलना लक्ष्यो से करें तो हमे विदित होगा कि पहली दो पंचवर्षीय योजनाओ के अतिरिक्त अन्य सभी योजनाओ मे हमारी कृषि उत्पादन की उपलब्धियाँ निर्धारित लक्ष्यो की तुलना से कम रही है। अनेक बार तो निर्धारित लक्ष्य तथा वास्तविक उपलब्धि में ताल-मेल बिठाना भी युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। उदाहरणार्थ- चतुर्थ योजना मे कृषि उत्पादन मे 5% वार्षिक वृद्धि लाने की व्यवस्था की गई जबकि वास्तविक उपलब्धि केवल 2·8% वार्षिक ही रही। पंचम योजना के अन्त तक कृषि की वार्षिक वृद्धि दर केवल 2% आँकी गई है। भारत की तुलना मे थाईलैण्ड (4 9), दक्षिण कोरिया (4 1), तुर्की (3·6) तथा मिस्र (3·0) आदि देशो मे वृद्धि की दर अधिक है।

7. **आवश्यकताओ से तुलना**—30 वर्षों के नियोजन के उपरान्त भी कृषि क्षेत्र मे हम आत्मनिर्भर नही है। भारत मे अभी तक विशेष रूप से 1975 के अन्त तक खाद्यान्न अभाव की गम्भीर समस्या बनी थी। खाद्यान्न की तरह दूसरे कृषिजन्य पदार्थों की भी कमी की अवस्था बनी रहती है और यदा-कदा हमे आयात का सहारा लेना होता है। दालो के अभाव की समस्या ने तो गम्भीर रूप धारण कर लिया है। सक्षेप मे, भारत में कृषि का उत्पादन आवश्यकता से कम है।

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते है कि योजना-काल मे कृषि क्षेत्र मे यद्यपि उत्साहजनक प्रगति हुई है। किन्तु हमे अभी बहुत आगे जाना है। हर्ष की बात है कि

सरकार और योजना आयोग ने कृषि और ग्राम विकास को योजना का केन्द्र बिन्दु बनाने का फैसला किया है।

हरित क्रान्ति
(Green Revolution)

क्रान्ति शब्द मे दो बाते सम्मिलित की जाती है- (i) किसी घटना मे तीव्र परिवर्तन होना, यह परिवर्तन इतना तीव्र होता है कि इसका स्पष्ट आभास होता है। (ii) दीर्घकाल तक इस परिवर्तन के प्रभाव को अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा कुछ मौलिक परिवर्तन आते है। जब हम क्रान्ति शब्द के साथ 'हरित' शब्द को जोडकर 'हरित-क्रान्ति' उपसर्ग का शब्द निर्माण करते हैं तो इसका अर्थ होता है—(क) कृषि उत्पादन मे सुस्पष्ट सुधार तथा (ख) एक लम्बी अवधि तक ऊँचे कृषि उत्पादन के स्तर का बने रहना।

भारत मे 1966-67 मे हरित क्रान्ति का समारम्भ हुआ।

सक्षेप मे, सन् 1966-67 व 1968-69 के वर्षों मे कृषि उत्पादन मे जो आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है उसे ही हरित क्राति कहा जाता है। 1966-77 मे खाद्यान्नों का उत्पादन 75 मिलियन टन था, जो 1967-68 मे बढ़कर 96 मिलियन टन हो गया। एक वर्ष में ही खाद्यान्नो के उत्पादन मे 25 प्रतिशत वृद्धि निश्चय ही प्रशसनीय है, भारत के इतिहास मे कृषको को पहले कभी भी इतना अधिक उत्पादन नही मिला था।

हरित क्रान्ति के तत्व अथवा हरित क्रान्ति के लिए उत्तरदायी घटक—हरित क्रान्ति के लिर उत्तरदायी घटक प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं—

1. **भारी उपजदायी बीजों का उपयोग**—कृषि विकास की नवीन व्यूह रचना में उन्नत किस्म के बीजों के प्रयोग को विशेष ध्यान दिया गया है। इस दृष्टि से गेहूँ में सोनार-64, कल्याण हीरा, चावल मे साबरमती, कृष्ण, राना, पद्मा, जय, विजय, जमना, आई० आर० 8, मक्का में गंगा; ज्वार मे सी० एस० एच० तथा बाजरा में एच० बी० 1 मुख्य है। सन् 1966-67 मे 19 लाख हेक्टेयर भूमि मे ऊँची उपज देने वाले बीजो का प्रयोग किया जाता था। जो सन् 1978-80 में लगभग 480 लाख हेक्टेयर हो गया।

2. **उर्वरकों के प्रयोग पर अधिक जोर**—अधिक उपज देने वाले उन्नत बीजों के प्रयोग के लिए अधिकाधिक रासायनिक खाद एवं उर्वरकों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसलिए देश में नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश युक्त खादों का प्रयोग दिनों-दिन बढता जा रहा है। रासायनिक खादों की बढ़ी हुई माँग देश मे उत्पादन वृद्धि एवं आयातों के द्वारा पूरी की जा रही है। रासायनिक खादों के उपभोग की मात्रा भी वर्ष 1979-80 में बढ़कर 60 लाख टन हुई जबकि वर्ष 1966-67 में केवल 11 लाख टन उर्वरकों का प्रयोग किया जाता था।

3 **आधुनिक उपकरण एवं संयंत्र**—कृषि उत्पादन बढाने मे तथा प्रति हेक्टेयर उत्पादन लागत न्यूनतम करने मे आधुनिक कृषि-यन्त्रो, जैसे ट्रैक्टर, बुलडोजर, ट्यूब-वेल्स, डीजल एन्जिन, शक्ति-चालित पम्प आदि का योगदान महत्त्वपूर्ण है। भारतवर्ष मे इन सब उपकरणो व संयंत्रो का प्रयोग बढ रहा है।

4 **कीटनाशक औषधियो का उपयोग**—भारत मे पिछले कुछ वर्षों से कीटाणु व विभिन्न पौध रोगो के नियन्त्रण की दिशा मे **भारतीय कृषि अनुसधान परिषद्** ने काफी कार्य किया है। नयी कृषि योजना मे सरकार कीटाणुनाशक औषधियाँ और पौधो की रक्षा के लिये उपकरण तैयार करने के लिये तेजी से कदम उठा रही है। देश मे पौध सरक्षण निदेशालय के अन्तर्गत 17 केन्द्रीय पौध सरक्षण केन्द्रो द्वारा फसलो से कीडो व रोगो आदि के नियन्त्रण करने के लिये प्राविधिक परामर्श दिया जाता है। राज्य के कृषि विभाग को कीटनाशक औषधियाँ और पौध संरक्षण यन्त्र दिये गये है। निदेशालय के विभाग राज्यो मे फसलो पर कीटनाशक औषधियाँ छिडकते है और टिड्डी दलो के आक्रमण का सामना करते है।

5 **सिंचाई सुविधाओं में विस्तार**—गत दो दशाब्दियो मे सिचाई के साधनो मे वृद्धि हेतु सरकारी एवं निजी दोनो ही क्षेत्रो मे बड़े पैमाने पर विनियोजन किया गया है। 1950-51 मे देश का कुल सिंचित क्षेत्र 2·26 करोड़ हेक्टेयर था जो 1978-79 मे बढकर 5.26 करोड़ हेक्टर हो गया। 1979-80 क अन्त तक लगभग 17.50 करोड हेक्टेयर मे फसलें बोई गई।

6 **भूमि सुधार**—स्वतन्त्रता के बाद से लेकर अब तक भूमि सुधार के विषय मे जो प्रमुख कदम उठाये गये है और जिन पर विशेष बल दिया जा रहा है, वे ये है—(अ) जमीदारो व मध्यस्थो का उन्मूलन, (ब) पट्टेदारी का सुधार, (स) भूमि पर अधिकारो की सुरक्षा, (द) भूमि की चकबन्दी के लिए सन्नियम का निर्माण, (य) विद्यमान व भावी जोतो की सीमा पर प्रतिबन्ध आदि। इन सब भूमि सुधारो का लक्ष्य ग्रामीण-व्यवस्था को न्यायोचित बनाना तथा कृषि उत्पादन की वृद्धि मे बाधाओ को दूर करना है। नई कृषि नीति के अन्तर्गत चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे भूमि-सुधार कार्यक्रम के दोषो को दूर करने के प्रयास किये जायेगे।

7 **मूल्य उत्प्रेरण**—उत्पादको को पैदावार का उचित मूल्य दिलाने हेतु भारत सरकार धान, चावल, गेहूँ, दाल, जौ, बाजरा, मक्का आदि की कीमते प्रत्येक मौसम के लिये घोषित करती है और इन कीमतो पर उपज खरीदने के लिये तत्पर रहती है। अधिकतम कीमते भी विभिन्न स्तरो पर निर्धारित की गई है।

8. **बहुउद्देशीय फसलो का कार्यक्रम**—कृषि उपज मे वृद्धि के लिये बहुउद्देशीय फसल कार्यक्रम की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। आजकल देश के कुल सिंचित क्षेत्र के 20 प्रतिशत भाग मे दोहरी फसलें ली जा रही हैं।

धान, मक्का, ज्वार व बाजरा की अल्पावधि वाली किस्मो के विकास होने से फसलो के बिलकुल नए हेर-फेर (New crop rotation) सम्भव हो सके हैं। फसलो के इस हेर-फेर में जौ, रागी, तिलहन, आलू व सब्जियाँ भी शामिल है।

9 **विधायन, विपणन एवं संग्रहण की सुविधाओ में वृद्धि**—कृषि उत्पादन के विधायन, विपणन एवं संग्रहण की सुविधा मे दिनो-दिन वृद्धि हो रही । इन सुविधाओ की वृद्धि के फलस्वरूप कृषक अपने उत्पादन की अच्छी कीमत प्राप्त करने और उसका अधिक अच्छा उपयोग करने मे सफल हो रहा है । इसका प्रभाव उनकी आर्थिक स्थिति पर पड़ता है, जो कि कृषि की स्थिति को सुधारने मे सहायक होती है ।

10 **पर्याप्त कृषि साख**—उत्पादन बढाने के लिए सरकार किसानो को आसान शर्तों पर पर्याप्त मात्रा मे ऋण उपलब्ध कराने के लिये प्रयत्न कर रही है । सहकारी आन्दोलन के एक अग के रूप मे कृषि-ऋण निगम स्थापित किये जा रहे है ।

11 **सघन कृषि जिला कार्यक्रम**—सन् 1959 में **फोर्ड फाउण्डेशन** दल की सिफारिश एवं सुझावो को मानकर सन् 1961 62 मे सरकार द्वारा 'सघन-कृषि-जिला कार्यक्रम' (Intensive Agricultural District Programme—I. A. D. P.) या पैकेज कार्यक्रम (package Programme) की योजना प्रारम्भ की गई है । इस योजना के उद्देश्य है—(अ) अनाज के वर्तमान अभाव की पूर्ति तथा अधिक शीघ्र आर्थिक विकास हेतु एक आधार बनाने के लिये उत्पादन मे वृद्धि करना, (ब) ऐसी वृद्धि के लिये प्रभावकारी कार्यों का प्रदर्शन करना, (स) सघन-कृषि-कार्यक्रमों को अन्य अनुकूल क्षेत्रो मे विस्तृत करने हेतु एक पैटर्न स्थापित करना ।

सघन कृषि-कार्यक्रम से तात्पर्य यह है कि कृषित भूमि पर ही अच्छी सिचाई, उन्नत खाद, उन्नत बीज, अधिक शक्ति और श्रम लगाकर अधिक उत्पादन किया जाय । इस कार्यक्रम के अन्तर्गत पचायतो का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि देश मे हरित क्रान्ति को सफल बनाने के लिए नवीन कृषि नीति के अन्तर्गत कृषि विकास के उन कार्यक्रमों को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है जिनसे शीघ्र लाभ प्राप्त हो सकते है । नवीन कृषि नीति मे लघु सिंचाई परियोजनाओ का कार्यान्वियन, अधिक उपज देने वाले बीजो तथा रासायनिक खादो का प्रयोग, चुने हुए कृषि क्षेत्रो की उत्पादन क्षमता का अधिक उपयोग, बहुफसल प्रणाली का विस्तार, कृषि क्षेत्र में समन्वित खोज आदि पर अधिक बल दिया गया है ।

हरित क्रान्ति की उपलब्धियाँ या लाभ—हरित क्रान्ति के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं—

1. **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—हरित क्रान्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव बढ़े हुए कृषि उत्पादन से परिलक्षित होता है । कृषि उत्पादन का सूचकांक जो कि 1965-66 में 80·8 था 1978-79 में 138 हो गया है ।

2. **कृषकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन**—नवीन कृषि विधि को लागू करने से भारत में कृषि का परम्परागत स्वरूप बदला है और किसान नयी तकनीक को अपनाने लगे है । **लैजिन्स्की** का मत है "तकनीकी सुधारो के सम्बन्ध में सबसे उत्साहवर्धक बात यह नही है कि इनसे कृषि उत्पादन बढ़ा है, बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसान अब जोखिम उठाने के लिए तत्पर हैं और वे इन्पुटो का उपयोग बढ़ा रहे

है। सक्षेप मे नवीन कृषि विकास विधि के प्रभाववश आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति मिली है।

3. **श्रम की माँग में वृद्धि** —नवीन विधि भूमि की बचत कराने वाली और श्रम का अधिक उपयोग करने वाली है जिससे देश मे रोजगार मे वृद्धि होगी। औजारो और उर्वरको का उत्पादन करने मे अधिक श्रम लगाया जायेगा तथा ट्रैक्टरो और कृषिगत यत्रो की मरम्मत के लिए कुशल कारीगरो की माँग में वृद्धि होगी।

4 **कृषि बचतो मे वृद्धि**—हरित क्रान्ति के कारण उत्पादन मे वृद्धि हुई है जिससे कृषको के पास बचतो की मात्रा मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इस कृषि अतिरेक को देश के विकास के लिए काम में लाया जा सकता है।

5 **विश्वास**—भारत मे हरित क्रान्ति से मुख्य लाभ यह हुआ है कि कृषक, सरकार, व जनता सभी मे यह विश्वास जाग्रत हो गया है कि भारत कृषि पदार्थों के क्षेत्र मे आत्मनिर्भर ही नही हो सकता है बल्कि आवश्यकता पडने पर निर्यात भी कर सकता है।

6 **आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात सम्बर्द्धन मे सहायक**—हरित क्रान्ति के कारण कृषि जन्य पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि होने से इनके आयात पर व्यय होने वाली विदेशी मुद्रा की तो बचत होगी ही, साथ ही साथ आधिक्य को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकेगी।

हरित क्रान्ति कितनी हरी रही है

अथवा •

क्या हम हरित क्रान्ति लाने मे सफल हुए है ?

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है 'कृषि विकास' का नया उपक्रम सन् 1966-67 मे शुरू किया गया। इसके द्वारा किसानो मे नई गतिशीलता पैदा की जा रही है (क) उन्नत बीजो, विशेषकर अधिक पैदावार देने वाले बीजो का उत्पादन बढाया जा रहा है। (ख) किसानो को कृषि उपज और ऋण देने की स्थिति मे उल्लेखनीय सुधार हुआ है। (ग) नई वैज्ञानिक तकनीके किसानो तक पहुँचाई जा रही है। (घ) फसल संग्रह परिवहन और अनाज की बिक्री की समस्याओं पर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसी सम्भावना है कि इन सब कार्यक्रमों का सामूहिक परिणाम कृषि में हरित क्रान्ति ला देगा।

उपर्युक्त चारो प्रयत्न एक दूसरे पर निर्भर है, अतः हरित क्रान्ति के लिए ये सभी आवश्यक है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य ही हुए है, कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

उपर्युक्त विवरण से यह सत्य प्रतीत होता है कि 'हरित क्रान्ति' में प्रारम्भ हो गई है और कृषि विकास की व्यूह रचना उचित दिशाओं में चल रही है। किन्तु निम्नांकित कारणो से यह क्रान्ति पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं रही है :—

1. **पूंजीवादी कृषि का विकास**—नई कृषि उत्पादन-विधि के कारण भारत मे

पूँजीवादी कृषि का विकास हो रहा है क्योकि अधिक उपजाऊ किस्म के बीजो से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिये उर्वरको और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पडता है जो छोटे व मध्यम श्रेणी के किसानो के सामर्थ्य से परे है । भारतवर्ष मे 12% बडे किसानो के पास कुल भूमि का 50% है और ये ही 12% बडे किसान नलकूप, पम्पिग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप मे भारी विनियोग कर रहे है । परिणामत नवीन कृषि विधि से निर्धन किसानो को लाभ हुआ है, बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसख्या के उच्चतम 10% भाग के हाथ मे सम्पत्ति का सकेन्द्रण हुआ है । **अशोक रुद्र, माजिद और तालिब** ने पूँजीवादी खेती का विश्लेषण करने के लिये पजाब के बड़े किसानो का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नई कृषि-उत्पादन-विधि के कारण पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है ।

श्री० जी० आर० सनी ने फिरोजपुर और मुजफ्फरपुर मे हरित क्रान्ति के प्रभावा का अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि दोनो जिलो मे हरित क्रान्ति से धनी और निर्धन किसानो के बीच खाई बढी है ।

क्षेत्रीय असमानताओ मे वृद्धि—भारत मे हरित क्रान्ति से क्षेत्रीय असमानताओ मे वृद्धि हुई हे । अधिक उपज देन वाले बीजो और उर्वरको के प्रयोग से केवल गेहूँ की प्रति हेक्टेयर उपज मे तो वृद्धि हुई है, अन्य किसी फसल पर इस योजना का कोई प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नही होता । अत गेहूँ का उत्पादन करने वाले क्षेत्रो मे और विशेष रूप से पंजाब, हरियाण और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बड़े किसानो की सम्पन्नता बढ़ने से कृषि मे भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज हो चली है, जबकि देश के अन्य सभी भागो मे कृषि का स्वरूप परम्परागत बना हुआ है । अत कहा जाता है कि **"हरित क्रान्ति से निर्धनता के सागर मे सम्पन्नता के द्वीप बन गये है ।"**

3. संस्थागत सुधारों की उपेक्षा—ऐसा प्रतीत होता है कि नई उत्पादन-विधि एक एकमात्र बल तकनीकी परिवर्तनो पर है । इसमे सस्थागत सुधारो जैसे भूमि सुधारो की किसी समय काफी जोरो से चर्चा थी, क्या आज उनको लागू करने की आवश्यकता नही रह गई है ? यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जब तक देश के अधिकाश भागों मे काश्तकारी प्रथा एवं बटाई-प्रथा (Share-cropping) विद्यमान है तब तक नीति को व्यापक क्षेत्रो मे क्रियाशील नही किया जा सकता । अत कृषि-क्षेत्र मे विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए भूमि सुधार के उपाय अति शीघ्रता से अपनाए जाने चाहिए।

यदि बिना संस्थागत परिवर्तन के कृषि क्षेत्र मे तकनीकी उपायों को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है तो इससे परम्परागत कृषि का स्वरूप बदलकर आधुनिक नही हो जाता । **श्री के० एन० राज** का तो मत है कि इससे कृषि क्षेत्र मे द्विविधता पैदा हो जाती है अर्थात् एक ओर तो बड़ी सख्या मे छोटे किसान परम्परागत ढंग से खेती करते हैं और दूसरी ओर कही-कही आधुनिक यंत्रीकृत खेती होती है । इस प्रकार देश मे अन्तर्क्षेत्र कृषि व्यवस्था का विकास होता है ।

4. विभिन्न एजेन्सियों मे ताल-मेल में कमी—नवीन कृषि विधि मे व्यापक आयोजन का अभाव है। इसमे सिंचाई से भी ज्यादा बल उर्वरको पर दिया गया है। **श्री आर० एस० सावले** के फार्म-प्रबन्ध अध्ययनो के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि विकास मे सर्वोच्च स्थान सिंचाई का है। कहने का तात्पर्य यह है कि उर्वरक के साथ-साथ सहयोगी तत्त्वो जैसे समय पर ऋण व बीज का उपलब्ध होना तथा सिंचाई सस्थापको की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। **श्री वी० एस० व्यास** ने नई उत्पादन विधि के असन्तोषजनक कार्यान्वयन के बहुत से कारण बताए है जैसे राजकीय व्यवस्थाओ—कृषि-विभागो, पंचायतों एवं सहकारी समितियो मे तालमेल की कमी, विस्तार सेवाओ द्वारा सूक्ष्म तकनीक के अनुकूल कार्य न कर पाना एवं सहकारी समितियो द्वारा यथोचित समय पर कृषि-आदानो, विशेषकर उर्वरको को वितरित न कर सकना और साथ ही उधार क्रियाओ की व्यवस्था करने मे असफल होना।

5. कृषि-श्रमिक की वास्तविक मजदूरी मे कमी—भारत सरकार द्वारा हाल ही मे दो जिलो फिरोजपुर (पजाब) और मुजफ्फरपुर (उत्तर प्रदेश) मे किये गये फार्म मैनेजमेन्ट सर्वेक्षणो से भी ऐसे ही निष्कर्ष निकलते हैं। फिरोजपुर मे 1956-77 मे पुरुष कृषि श्रमिक की दैनिक मजदूरी 2.46 रुपये थी जो तत्कालीन गेहूँ के मूल्य के आधार पर 7 3 किलो के बराबर थी। परन्तु 1967-68 मे यद्यपि मजदूरी की दर बढकर 5 55 रुपये हो गई, परन्तु तत्कालीन कीमतो पर गेहूँ के रूप मे यह मजदूरी गिरकर 6 कि० ग्रा० ही रह गई। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश मे भी नकद मजदूरी मे वृद्धि 4.8% प्रति वर्ष की दर से हुई परन्तु उपभोक्ता मूल्य निर्देशाक (कृषि श्रमिको के लिए) मे वृद्धि की दर से 47% थी। इस प्रकार इस क्षेत्र मे भी वास्तविक मजदूरी दर प्राय· स्थिर ही बनी रही। अर्थशास्त्री **प्रणव वर्धन** ने भी कृषि श्रमिको पर हरित क्राति के प्रभाव का अध्ययन किया। श्री वर्धन के अनुसार पजाब और हरियाणा के जिलो मे दैनिक आकस्मिक पुरुष श्रम की मजदूरी मे 1967-68 मे 1860-61 की अपेक्षा 89% की वृद्धि हुई। परन्तु इसी अवधि मे कृषि श्रमिको द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओ की कीमत मे 93% की वृद्धि हुई। इस प्रकार पुरुष कृषि श्रमिक की वास्तविक औसत दर में कमी हुई है। स्पष्टत हरित क्राति का लाभ कृषि श्रमिकों को प्राप्त नही हुआ है। **मार्टिन ऐबेल** का कथन है कि हरित क्राति एक बडी सीमा तक कृषि श्रमिको के अथक परिश्रम का फल है, परन्तु यह उसके हाथो से निकलकर बडे किसानो के गोदामो मे चली गयी है।

6. ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि—हरित क्रान्ति के अन्तर्गत गहन कृषि विकास कार्यक्रमो को अपनाया गया है और गहन कृषि के परिणाम स्वरूप पजीकरण मे तेजी से वृद्धि हुई है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी मे वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति के कारण पूंजीवादी कृषि प्रणाली को बल मिला है जिससे यंत्रों के बढते हुए प्रयोग से मानव श्रम की माँग घट रही है। ग्रामीण क्षेत्रो में अतिरिक्त रोजगार

की व्यवस्था न होने पर निराशा को जन्म मिलेगा तथा उसके दूरगामी परिणाम बहुत बुरे होगे। कृषि यन्त्रीकरण की गति को नियन्त्रित किया जाना चाहिए।

7. **ग्रामीण जनसंख्या का शहरो मे पलायन**—ग्रामीण क्षेत्रो में बढती हुई बेरोजगारी के फलस्वरूप ग्रामीण जनसंख्या शहरो की ओर जा रही है, जहाँ पहले से ही अधिक भीड है। इस अतिरिक्त जनसंख्या के शहरो मे जाने से वहाँ स्थानीय यातायात, आवास एवं जनस्वास्थ्य की समस्याएँ अधिक विकट होगी जिनके सामाजिक परिणाम बहुत बुरे होगे।

8 **अन्य समस्याएँ**—हरित क्रान्ति से कृषि पदार्थों के मूल्यो मे गिरावट, कृषि फार्मों की व्यवस्था, जनसख्या वृद्धि की प्रवृत्ति को सरल दृष्टिकोण से लेना, कृषि उपजों के संग्रहण की व्यवस्था, आदि के सम्बन्ध मे अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न हो रही है जिनके तुरन्त हल की आवश्यकता है। जोत की अधिकतम सीमा 17-18 एकड निर्धारित करना हरित क्रान्ति पर एक भारी कुठाराघात सिद्ध होगा।

हरित क्रान्ति की सफलता हेतु सुझाव

देश में हो रही हरित क्रान्ति की गति को, इसके बुरे प्रभावों को देखकर, कम करने या समाप्त करने की आवश्यकता नही है. बल्कि आज आवश्यकता इस बात की है कि नवीन कृषि नीति तथा देश की अर्थव्यवस्था में इस तरह के परिवर्तन किये जायँ, जिससे हरित क्राति के बुरे प्रभावों को कम किया जा सके तथा देश के सभी वर्गों को इसके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। हरित क्रान्ति को अधिक सफल बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है—

1. **हरित क्रान्ति का विस्तार**—हरित क्रान्ति तभी क्रान्ति कही जायेगी। जब कि इसके फल सभी को प्राप्त हो तथा सभी प्रातो तथा सभी फसलो मे यह सफल हो। यदि केवल धनी किसान ही इससे लाभान्वित होगे तो इससे आय की असमानता में वृद्धि होगी। अतः निर्धन किन्तु प्रगतिशील किसानो (जो बहुसंख्यक है) को अधिकाधिक इस नीति को अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

2. **संस्थाओं में समन्वय**—कृषि उत्पादन से सम्बन्धित सरकारी विभागो, पंचायतों, सहकारी समितियो व अन्य इसी प्रकार की संस्थाओ मे समन्वय होना चाहिए और इन्हें नवीन कृषि नीति की सफलता के लिए उत्तरदायी ठहराना चाहिए।

3. **उर्वरकों का यथोचित वितरण**—चूंकि अधिक उपज वाले बीजो की खेती के लिए उर्वरक और अच्छी सिंचाई व्यवस्था का होना सबसे अधिक महत्व रखता है। इसलिए यह आवश्यक है कि उर्वरकों के यथोचित वितरण की व्यवस्था की जाय तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कृषको को समुचित प्रशिक्षण दिया जाए। साथ ही, सिंचाई व्यवस्था का समुचित विस्तार होना चाहिए।

4. **मिट्टी का पर्यवेक्षण**—चूँकि भारत की मिट्टी मे बहुत अधिक विविधता

पाई जाती है, इसलिए कृषि वैज्ञानिकों को मिट्टी का पर्यवेक्षण करना चाहिए और उपयुक्त क्षेत्र के लिए उपयुक्त बीजों के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए।

5. **जमीन की न्यूनतम सीमा**—जिस तरह किसी व्यक्ति के पास अधिकतम जमीन की सीमा निर्धारित कर दी गई है, उसी प्रकार इसकी न्यूनतम सीमा भी निर्धारित की जानी चाहिए। न्यूनतम सीमा से कम भूमि को या तो खरीद लेना चाहिए या किसी बड़े टुकड़े के साथ जोड़ देना चाहिए।

6. **फसल बीमा**—कृषकों के लिए फसल बीमा योजना शीघ्रता एवं व्यापकता से लागू की जानी चाहिए।

7. **कम ब्याज-दर**—कम ब्याज दर पर उचित मात्रा में उचित समय पर ऋण दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

8. **न्यूनतम मूल्यों की गारण्टी**—हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप कुल उत्पादन में वृद्धि होने पर मूल्य गिरना स्वाभाविक है। मूल्य में कमी के कारण कृषक को हानि हो सकती है। इस संभावित हानि से सुरक्षा दिलाने के लिए कृषि जन्य पदार्थों के मूल्यों में स्थिरता लाना तथा न्यूनतम स्तर के मूल्यों के कम होने पर सरकार द्वारा खरीद की गारण्टी आवश्यक है। अतः कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार परमावश्यक है।

9. **लालफीताशाही का उन्मूलन**—कृषि नीति सम्बन्धी निर्णयों को अविलम्ब कार्यान्वित करने के लिए ग्राम पंचायतों, सहकारी संस्थाओं व सरकारी विभागों आदि में समन्वय स्थापित करके लालफीताशाही को कम से कम किया जाना चाहिए।

10. **ग्रामीण-रोजगार अवसरों में वृद्धि**—हरित क्रान्ति से कुछ श्रमिकों के बेरोजगार हो जाने की संभावना है। अतः इस सम्बन्ध में यह सुझाव है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली पहुँचाने की व्यवस्था की जाय जिससे वहाँ ग्रामीण उद्योग धन्धे पुनःस्थापित हो सकें और बेकार श्रमिकों को काम मिल सके।

11. **मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियाँ**—हरित क्रान्ति को अधिक गति देने तथा इसके लाभों को समाज के सभी वर्गों को समान रूप से उपलब्ध कराने हेतु उचित मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियाँ अपनायी जानी चाहिए।

12. **प्रगतिशील किसानों को प्रोत्साहन**—प्रगतिशील किसानों को उत्साहित करने के लिए उन्हें हर सम्भव सहायता व मार्गदर्शन प्रदान किया जाना चाहिए। फसल प्रतियोगिताओं द्वारा उन्हें और अधिक उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

13. **असमानताओं को दूर करने के प्रयत्न**—हरित क्रांति के फलस्वरूप बढ़ रही असमानताओं को दूर करने के लिए नवीन कृषि नीति के अन्तर्गत छोटे कृषकों खेतिहर मजदूरों को लाभ पहुँचाने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाने चाहिए। देश की कर प्रणाली में आवश्यक परिवर्तनों द्वारा बड़े तथा धनी कृषकों से प्रगतिशील दर से

कर वसूल करना चाहिए तथा सार्वजनिक व्यय का अधिकाश लाभ कमजोर एव निर्धन कृषको को प्रदान किया जाना चाहिए ।

परीक्षा प्रश्न

1. भारतीय योजनाओ मे कृषि-विकास के लिए किये गए प्रयत्नो की सक्षिप्त व्याख्या कीजिए । क्या ये प्रयत्न कृषि की समस्याओ के समाधान मे सफल रहे है ?

अथवा

"भारतीय कृषि वर्षा के साथ एक जुआ है ।" क्या यह कथन अभी भी सत्य है ? योजना-काल मे भारत सरकार ने कृषि विकास के लिए जो कदम उठाए है उनकी समीक्षा कीजिए ।

[संकेत—इसमे भारतीय कृषि का पचवर्षीय योजनाओ मे विकास का वर्णन करना है ।]

2. हरित क्रांति से क्या आशय है ? यह किस प्रकार सम्भव हुई और इसके क्या परिणाम रहे हैं ?

अथवा

भारत मे हरित क्राति पर एक विवेचनात्मक लेख लिखिए ।

अथवा

क्या आप इस विचार से सहमत है—"भारत मे हरित क्रान्ति आ चुकी है, लेकिन पूर्ण नही है ।" यदि हाँ तो इसके पूर्ण करने के लिए सुझाव दीजिए ।

[संकेत—इसमे हरित क्रान्ति से आशय, समस्याएँ व समाधान देना है ।]

3

भूमि-व्यवस्था एवं भूमि-सुधार
(Land Tenure and Land Reforms)

भूमि-व्यवस्था तथा भूमि-सुधार का अर्थ—भूमि-व्यवस्था से तात्पर्य उस व्यवस्था से है, जिसमे किसानो के भूमि सम्बन्धी अधिकारो एवं उत्तरदायित्वो की व्यवस्था होती है। अधिक स्पष्ट शब्दो मे, भूमि-व्यवस्था से आशय (i) भूमि के स्वामी (ii) भूमि को जोतने वाले का भूमि के प्रति कर्तव्य, अधिकार एवं दायित्व तथा (iii) माल गुजारी देने के लिए राज्य से सम्बन्ध की व्याख्या से है। इस प्रकार हम कह सकते है कि भूमि व्यवस्था से अर्थ उस व्यवस्था से है, जिसके अनुसार भूमि का स्वामित्व, अधिकार एवं दायित्व निर्धारित किये जाते हैं।

एक आदर्श भूमि व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमे निम्न गुण हो—(i) भूमि मे जोतने वाले का स्वामित्व होना चाहिए (ii) लगान उचित मात्रा मे लिया जाना चाहिए (iii) भूमि के हस्तान्तरण की स्वतंत्र व्यवस्था होनी चाहिए (iv) जोतो की सीमा निर्धारित होनी चाहिए।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत में प्रचलित भूमि-व्यवस्था—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत मे भूमि-व्यवस्था या भू-स्वामित्व प्रणाली की निम्न तीन प्रथायें प्रचलित थी—

1. रैयतवाड़ी प्रथा (Ryotwari System)—**इस प्रथा को थामस मुनरो ने सर्वप्रथम सन् 1792 ई० में मद्रास मे लागू किया जो धीरे-धीरे बम्बई, बरार, कुर्ग** मध्य प्रदेश तथा असम मे प्रचलित हुई। इस प्रथा की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—(i) इसमे किसान का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है तथा बीच में कोई मध्यस्थ नही होता (ii) जब तक भू-स्वामी सरकार को नियमित रूप से लगान देता रहता है तब तक वह भूमि का स्वामी बना रहता है, परन्तु लगान न देने की स्थिति मे भूमि पर राज्य का स्वामित्व हो जाता है। (iii) भूस्वामी को स्वेच्छा से कोई भी भूमि छोडने का या खरीदने का अधिकार होता है। (iv) बन्दोबस्त लगभग 20 या 30 वर्ष के लिए किया जाता है।

2. महलवाड़ी प्रथा (Mahalwari System)—यह प्रथा सन् 1833 के 'रेग्यूलेशन ऐक्ट' के अनुसार सर्वप्रथम आगरा व अवध में शुरू की गई। इसके पश्चात्

पंजाब व मध्य प्रदेश के कुछ भागो मे भी लागू की गयी। इस प्रथा की निम्नलिखित विशेषतायें है—(i) इसके अन्तर्गत गाँव की समस्त भूमि पर गाँव के किसानो का सयुक्त अधिकार रहता है। 'महाल' शब्द का अर्थ है 'गाँव'। (ii) प्रत्येक गाँव का एक नम्बरदार होता है जो मालगुजारी को सरकारी कोष मे जमा करता है। (iii) इस प्रथा मे गाँव की बेकार बंजर भूमि, कुएँ, वृक्ष आदि सभी किसानो की संयुक्त सम्पत्ति होती है। (iv) इसके अन्तर्गत पहले से चले आये अधिकारों को ही प्रमाण मानकर बँटवारा होता है (v) यदि कोई किसान अपनी भूमि छोडता है तो वह सम्पूर्ण गाँव वालो की हो जाती है।

3. **जमींदारी प्रथा** (Zamındari System)—जमीदारी प्रथा ब्रिटिश राज्य की देन है। इसके अन्तर्गत स्थायी बन्दोबस्त वाली जमीदारी तथा अस्थायी बन्दोबस्त वाली जमीदारी प्रथा जैसी दो श्रेणियाँ थी। स्थायी बन्दोबस्त वाली प्रथा मे भूमि पर जमीदारो का पूरा अधिकार होता था और इसमे लगान की मात्रा हमेशा के लिए एक ही बार निश्चित कर दी जाती थी। स्थायी बन्दोबस्त की जमीदारी प्रथा मुख्यत: पश्चिमी बंगाल, बिहार, असम, उडीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास व उत्तर प्रदेश के कुछ भागो मे प्रचलित थी। अस्थायी बन्दोबस्त मे सरकार का हिस्सा अस्थायी रूप से किसी निश्चित समय के लिए निर्धारित किया जाता था। यह प्रथा बंगाल, उडीसा, बम्बई, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कुछ भागो में प्रचलित थी।

निम्न तालिका से 1947-48 मे इन तीनो प्रकार की भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का विभाजन स्पष्ट हो जाता है।

भूमि व्यवस्था के प्रकार	क्षेत्र (लाख हेक्टेयर मे)	कुल योग का प्रतिशत	प्रमुख राज्य जहाँ यह प्रचलित थी
रैयतवारी	6·12	38	मद्रास, बम्बई (महाराष्ट्र व गुजरात) असम, केरल
जमीदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	3·84	24	बंगाल, बिहार और उड़ीसा
जमीदारी तथा महालवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	6·16	38	मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब

भूमि सुधार का अर्थ उद्देश्य एवं महत्त्व
(Meaning, objectives and Importance of Land Reform)

अर्थ—भूमि-सुधार, भूमि व्यवस्था की अपेक्षा अधिक व्यापक शब्द है। सामान्यत: भूमि-सुधार के अन्तर्गत (अ) मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति, (ब) असामी कानून में सुधार, (स) जोत की अधिकतम सीमा का निर्धारण, (द) कृषि का पुनर्संगठन

सम्मिलित किये जाते है। इस प्रकार, भूमि-सुधार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। संक्षेप मे, भूमि-सुधार का तात्पर्य कृषि के ढाँचे तथा संगठन मे प्रगतिशील परिवर्तन करने से है। प्रोफेसर गुन्नार मिरडल के अनुसार "भूमि-सुधार व्यक्ति और भूमि के सम्बन्धों मे नियोजन और संस्थागत पुनर्संगठन है।"

भूमि सुधार के उद्देश्य—भूमि-सुधार निम्न उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया जाता है—

1. **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—भूमि-सुधार का प्रमुख उद्देश्य कृषि उत्पादन को बढाने के लिए उन बाधाओ को दूर करना है जो कि कृषि ढाँचे मे प्राचीन काल से चली आ रही है। इनके द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण होना चाहिये जिससे कि कृषि अर्थव्यवस्था मे शीघ्रातिशीघ्र कुशलता और उत्पादकता के ऊँचे स्तर को प्राप्त किया जा सके।

2. **सामाजिक न्याय**—भूमि-सुधार का दूसरा उद्देश्य जो कि पहले उद्देश्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, यह है कि कृषि पद्धति मे विद्यमान शोषण तथा सामाजिक अन्याय के सभी तत्त्वो को समाप्त किया जाय ताकि किसान को सुरक्षा प्राप्त हो सके और ग्रामीण जनसंख्या के सभी वर्गों को एक समान प्रतिष्ठा और अवसर प्राप्त हो सके।

3 **राजनैतिक उद्देश्य**—भूमि सुधार का तृतीय उद्देश्य राजनीतिक है जिसके अन्तर्गत ग्रामीण जन समूह को अपने पक्ष मे करने के लिए इस प्रकार की योजनाएँ बनायी जाती है और कार्य रूप मे परिणित की जाती है।

विकासशील भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे भूमि-सुधारों का महत्त्व (Importance of Land Reforms in the Developing Indian Economy) भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के आर्थिक विकास मे भूमि सुधारो का विशेष महत्त्व है। क्योंकि अभी तक हमारी भूमि-अधिकार-व्यवस्था, देश के पिछड़ेपन का एक मुख्य कारण रही है। संक्षेप मे भूमि-सुधार कार्यक्रमो का महत्त्व निम्नलिखित है :—

1. **कृषि उद्योग का महत्त्व**—भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे, देश का आर्थिक विकास कृषि-विकास पर निर्भर करता है और कृषि तभी उन्नत हो सकती है और उत्पादन मे तभी पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है जब भूमि-व्यवस्था इसके अनुकूल हो।

भूमि-सुधारो का मुख्य उद्देश्य, भूमि-व्यवस्था मे अनुकूल परिवर्तन करके, कृषि उत्पादन को अधिकतम करना है। कृषि-उत्पादन मुख्यतया दो प्रकार के तत्त्वो पर निर्भर करता है—**तकनीकी और संस्थात्मक**।

तकनीकी तत्त्वो मे अच्छे बीज, उर्वरक तथा अच्छे औजार आदि का समावेश किया जाता है, जिससे उत्पादन बढ़ाने मे सहायता मिलती है, भले ही किसी प्रकार का भूमि-सुधार लागू न किया जाय।

संस्थात्मक सुधारो के अन्तर्गत भू-स्वामित्व का कृषको के हित में पुनर्वितरण, असामी कानूनो मे सुधार, मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति व कृषि का पुनर्संगठन आदि आते हैं।

वस्तुतः कृषि विकास के लिए तकनीकी और संस्थात्मक दोनो सुधारो को एक साथ अपनाया जाना चाहिए। क्योंकि जब तक संस्थात्मक परिवर्तन नही होंगे, तब तक तकनीकी सुविधाओं का समुचित प्रयोग नही हो सकेगा। अतः तकनीकी परिवर्तन तभी अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगे, जब भूमि-व्यवस्था ठीक ढङ्ग की होगी। भूमि-सुधार संस्थात्मक परिवर्तन का ही प्रतीक है। अत. कृषि विकास तथा फलस्वरूप आर्थिक विकास के लिए भूमि-सुधार आवश्यक है।

सामाजिक क्षेत्र में महत्त्व—आर्थिक विकास के साथ साथ सामाजिक न्याय स्थापित करने मे भी भूमि-सुधार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि भूमि-सुधार आय तथा सम्पत्ति के समान वितरण मे ही सहायक होते हैं। जहाँ भूमि के अधिकतर भाग के स्वामी बड़े-बडे जमीदार हो, और बहुत से असामियों (Tenants) द्वारा खेती की जाती हो, वहाँ का सामाजिक ढाँचा न्यायोचित नही हो सकता। हमारे देश मे अनुत्पादक जमीदारो से भूमि-अधिकारों को छुडाकर वास्तविक कृषको को स्थायी अधिकार प्रदान करना, अमीर वर्ग से अतिरिक्त भूमि लेकर भूमिहीनो मे वितरित करना, जमीदारो का उन्मूलन किया जाना इत्यादि ऐसे सुधार हैं, जिन्हें सामाजिक न्याय की स्थापना करने की दिशा मे उचित कदम कहा जा सकता है।

3. **अन्य महत्त्व**—(अ) भूमि-व्यवस्था का आर्थिक महत्त्व भी है, क्योंकि भूमि का लगान राज्य सरकारो की आय का एक प्रमुख साधन है। (ब) भूमि-सुधार कार्य-क्रमो द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि भी होती है, क्योंकि चकबन्दी, भूमि का पुनर्वितरण, वैज्ञानिक ढङ्ग पर जोतो का संगठन इत्यादि ऐसे कार्य हैं, जिनसे कृषि-क्रियाओ का जन्म होता है और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ते हैं।

भूमि सुधार के महत्त्व पर जोर देते हुए **डॉ० राधा कमल मुखर्जी** ने अपनी पुस्तक 'Land problems of India' में लिखा था कि "वैज्ञानिक कृषि अथवा सहकारिता को हम कितना ही अपना लें, पूर्ण सफलता हमें तब तक नहीं मिलेगी जब तक कि हम भूमि व्यवस्था में वांछित सुधार नही कर देते।"

प्रो० सैम्युलसन के मतानुसार—"सफल भूमि सुधार के कार्यक्रमों ने अनेक देशो में (साहित्यिक भाषा में) मिट्टी को सोने मे बदल दिया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में भूमि सुधार
(Land Reforms in India After Independence)

अभी तक भारतवर्ष में भूमि-सुधार के जो कार्य किये गये थे। उनका वर्णन निम्न शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है—(i) मध्यस्थो एवं जमीदारों का उन्मूलन (Abolition of Intermidiaries and Zamindars) (ii) काश्तकारी व्यवस्था मे सुधार (Reform in Tenancy Systems) (iii) जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारण (Ceilings of Holdings) (iv) कृषि का पुनर्संगठन—(अ) चकबन्दी (ब) सहकारी खेती (स) भूदान (v) भू अभिलेखो को आधुनिक बनाना।

I. **मध्यस्थ-वर्ग की समाप्ति**—भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो जमीदार, जागीरदार

व इनामदार आदि कई प्रकार के मध्यस्थ वर्ग पूरे देश के लगभग 40% क्षेत्र मे फैले हुए थे। भारत के विभिन्न राज्यो ने अपने अपने क्षेत्रो मे अधिनियम पारित करके मध्यस्थो को समाप्त कर दिया है। लगभग 2 करोड से अधिक किसानो का अब सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इसके अतिरिक्त, निजी वन-क्षेत्र व कृषि योग्य बंजर भूमि भी सरकार को मिली है। जमीदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए जो कानून पारित किये गये है उनकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—(i) जमीदारो से उनकी भूमि लेने के बदले उन्हे मुआवजा दिया गया है। केवल जम्मू-काश्मीर मे, जहाँ कि भारतीय संविधान लागू नही था, बिना मुआवजा दिये ही मध्यस्थो के अधिकारो का उन्मूलन किया गया। इस मुआवजे का आधार तथा दर भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न थी। उदाहरण के लिये, मुआवजे का आधार उत्तर प्रदेश में शुद्ध सम्पत्ति है, जबकि असम, मध्य प्रदेश व राजस्थान मे शुद्ध आय है। मुआवजे की राशि उत्तर प्रदेश मे शुद्ध सम्पत्ति की 8 गुनी और राजस्थान मे शुद्ध आय की 7 गुनी है। इसके अतिरिक्त, राज्य के सभी जमीदारो को समान दर से मुआवजा नही दिया गया। ज्यो-ज्यो आय बढ़ती जाती है त्यो-त्यो मुआवजे की दर घटती जाती है।

(ii) मुआवजे की यह धनराशि कुछ तो नकद और कुछ बांडो के रूप मे दी गई। छोटे जमीदारो को प्रायः नकद क्षतिपूर्ति मिली है।

(iii) जमीदारो को व्यक्तिगत कृषि करने के लिए भूमि रखने की अनुमति दी गई है, परन्तु अधिकतम भूमि की सीमा निश्चित कर दी गई है।

(iv) जमीदारी उन्मूलन के बाद, काश्तकार या असामी ही सरकार का प्रत्यक्ष रूप से लगान देने के लिए जिम्मेदार हो गया है।

(v) भविष्य मे जमीदारियाँ फिर से विकसित न हो जायें इस हेतु काश्तकार के लिए अपनी भूमि पर स्वयं ही कृषि करना अनिवार्य हो गया है।

कठिनाइयाँ—जमीदारी उन्मूलन का विरोध हजारो व्यक्तियों ने किया और जब तक जमीदारी उन्मूलन नही हो गया था तब तक जमीदारो ने अनेक बाधाये डाली, जैसे—(अ) कानूनी आधार पर उनका विरोध किया, (ब) अधिक क्षतिपूर्ति की माँग की, (स) हर प्रकार का दबाव डालकर असामियो से भूमि खाली कराने का प्रयत्न किया, भूमि का बँटवारा कर लिया, सहकारी कृषि का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त सरकार के सामने भी बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ आयी, जैसे—भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी आँकड़ो का अभाव, जमीदारो के मुआवजों का धन निश्चित करना, भूमि की सारी पैमाइश का हिसाब फिर से तैयार करना, काश्तकारो के नाम और उनकी भूमि आदि का विवरण रखना। परन्तु अब तो इन सब कठिनाइयो का समाधान हो चुका है और लगभग हर जगह मध्यस्थो को समाप्त किया जा चुका है, केवल धार्मिक तथा दातव्य संस्थाओ के पास ही थोड़े अधिकार रह गये हैं। मुआवजे के रूप मे अब तक 461 करोड़ रुपये में से 320 करोड़ रुपये नकद या बांडो के रूप में दिये जा चुके हैं।

जमीदारी उन्मूलन के प्रभाव

जमीदारी उन्मूलन के निम्नलिखित लाभकारी प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रो पर पड़े हैं—

1 **शोषण का अन्त**—जमीदारो द्वारा काश्तकारो का जो शोषण किया जाता था उसका अन्त जमीदारी उन्मूलन से हो गया है।

2. **उत्पादन में वृद्धि**—जमीदारी उन्मूलन प्रथा से करोडो काश्तकारो को भूमि का स्वामित्व प्राप्त हुआ है जिससे वे अब कृषि भूमि मे स्थाई सुधार करने लगे है। भूमि का स्वामित्व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्पादन बढ़ाने को प्रोत्साहित करता है।

3. **सरकारी आय में वृद्धि**—जमीदारी उन्मूलन से सरकारी आय मे भी वृद्धि हुई है क्योकि पहले जो आय मध्यस्थो द्वारा हड़प ली जाती थी वह अब सरकार को प्राप्त होने लगी है।

4. **सामन्तवाद का अन्त**—जमीदारो के अन्त से सामन्तवाद का अन्त हो गया है। अब कृषक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकते हैं और ग्रामीण जनता भी लोक-तन्त्रात्मक समाजवाद की प्रशासन व्यवस्था मे उचित भाग ले सकती है।

5 **कृषको का सरकार से पृथक सम्बन्ध**—जमीदारी उन्मूलन से कृषको का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिससे उन्हे सरकारी सहायता मिलने मे आसानी रहती है।

6. **कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सहायता**—जमीदारी प्रथा समाप्त होने से भूमि सुधार के अन्य कार्यक्रमो का क्रियान्वयन आसान हो गया है। चकबन्दी, सहकारी खेती, अधिकतम जोत नियम आदि को अब आसानी से लागू किया जा सकता है।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है कि जमीदारी उन्मूलन सन्नियमो मे कुछ दुर्बलतायें होने के बावजूद कुल मिलाकर इस कार्य ने क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। परन्तु, जैसे **स्वर्गीय प० जवाहर लाल नेहरू** ने कहा था, "यह तो केवल विकास के मार्ग की एक बड़ी बाधा को हटाना है," यह एक प्रारम्भिक कदम था। अब जब सब बाधाएं दूर हो गई है, हमे देश मे आदर्श भूमि-व्यवस्था स्थापित करने के लिए संयुक्त ग्राम-व्यवस्था व सहकारी कृषि को शीघ्र एवं बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करना चाहिये। कार्य को सम्पन्न करने के लिए कृषको को विभिन्न प्रकार की रियायतें तथा आकर्षण के अतिरिक्त आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

(II) **काश्तकारी व्यवस्था में सुधार**—भू-सुधार का एक पहलू उन किसानो से सम्बन्धित है जो पट्टे पर जमीन लेकर खेती करते है। इनकी स्थिति बहुत कमजोर होती है और इनका शोषण किया जाता है। काश्तकारी सुधार के कार्य-क्रमो को निम्न 4 भागो मे बाँटा जा सकता है—

(i) **लगान का नियमन**—स्वतन्त्रता से पूर्व कृषक अपने उत्पादन का लगभग 50% भाग लगान के रूप में देते थे जो बहुत अधिक था। प्रथम योजना मे इस बात पर बल दिया गया था कि भूमि का लगान उत्पादन के 20 या 25% से अधिक

नही होना चाहिए। अतः प्रत्येक राज्य मे लगान के निर्धारण के सम्बन्ध में नियम पास कर दिये गये हैं। देश के सब राज्यो मे लगान कम करने के उद्देश्य से कानून बनाये गये है। लेकिन लगान की दरें विभिन्न राज्यो मे अलग-अलग तय की गई हैं जैसे पंजाब मे यह फसल का $\frac{1}{3}$ भाग, केरल मे $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{3}$, कर्नाटक, उडीसा, मणिपुर आदि मे $\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{4}$ तय की गई हैं।

(ii) **भूमि के पट्टे की सुरक्षा**—भूमि के पट्टे की सुरक्षा से आशय यह है कि असामियो के भूमि सम्बन्धी अधिकार स्थायी होने चाहिए। जिससे कि उन्हे साधारण बहाने पर छीना न जा सके।

काश्तकारी अथवा पट्टेदारी की सुरक्षा से सम्बन्धित अधिनियमों को बनाते समय तीन आधारभूत उद्देश्यो को ध्यान मे रखा गया है—(अ) बडे पैमाने पर किसानो की बेदखली न हो, (ब) भू-स्वामी को केवल स्वय खेती करने के लिये ही भूमि पुनः प्राप्त करते समय किसान के पास नियत न्यूनतम भूमि रहने दी जाय।

सभी राज्यो मे कानून बनाये गये है जिनसे काश्तकारो को पट्टे की सुरक्षा प्रदान की गई है। काश्तकारो को उनके पट्टे से बेदखल नही किया जा सकता। कुछ एक विशेष परिस्थिति स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दी गई है, केवल इनके अन्तर्गत ही काश्तकारो को भूमि से अलग किया जा सकता है।

(iii) **मुआवजे की व्यवस्था**—यदि कोई काश्तकार किसी पट्टे की भूमि पर किसी तरह का स्थायी सुधार करता है, जैसे कुएँ का प्रबन्ध कृषि प्रसाधन का प्रबन्ध आदि और उसे वहाँ से हटा दिया जाता है तो ऐसी स्थिति मे उससे द्वारा किये गये सुधारो के बदले मे काश्तकार को पूरा मुआवजा दिया जाता है।

(iv) **काश्तकारों के लिये स्वामित्व अधिकार** (Right of ownership for Tenants)—द्वितीय योजना में यह कहा गया था कि पुनर्ग्रहण न किए जाने वाले क्षेत्रो मे काश्तकारो को मालिक बना दिया जाय। यह कार्य तीन प्रकार से किया गया है—(अ) **गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश व राजस्थान** मे काश्तकारो को स्वामी घोषित कर दिया गया और काश्तकारो से भूमि स्वामियो को उचित किश्तो में क्षतिपूर्ति कराने की व्यवस्था की गई। (ब) **दिल्ली** में सरकार ने स्वयं क्षतिपूर्ति करके स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर लिये और काश्तकारो को स्वामित्व प्रदान करके उनसे उचित किश्तो पर क्षतिपूर्ति राशि वसूल करने की व्यवस्था की। (स) **केरल और उत्तर प्रदेश** मे सरकार ने स्वयं भू-स्वामियों के अधिकार प्राप्त कर लिये और काश्तकारो से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। काश्तकारो को छूट दी गयी कि या तो वे सरकार को उचित लगान देकर ऐसे ही चलते रहें अथवा निर्धारित क्षतिपूर्ति की राशि देकर पूरे स्वामी बन जायें।

अब तक लगभग 30 लाख काश्तकारों, उप-काश्तकारों व बटाईदारो को 28 लाख हेक्टेयर भूमि में स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो चुका है।

(III) **जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण**—इसका आशय किसी किसान परिवार द्वारा अपने कब्जे में रखी जाने वाली भूमि की अधिकतम मात्रा निर्धारित

करना है। उस सीमा से अधिक भूमि का सरकार अधिग्रहण कर लेती है तथा इस भूमि को भूमिहीन किसानो मे बाँट दिया जाता है।

सीमा कानूनों की प्रगति—सीमा कानूनो को दो स्पष्ट चरणो मे पास किया तथा क्रियान्वित किया गया है। (अ) पहला चरण जो कि 1972 तक की समयावधि से सम्बन्धित है तथा (ब) बाद का चरण जो कि 1972 के बाद केन्द्र द्वारा तैयार 'National Guide lines' से सम्बन्धित है जिनको कि सभी राज्यों ने समान रूप से स्वीकार किया है। सीमा कानून से सम्बन्धित प्रमुख बातें निम्न हैं—(i) सीमा का स्तर; (ii) सीमा के क्रियान्वयन की इकाई; (iii) सीमा से स्वीकृत छूट (iv) अधिशेष भूमि का वितरण।

(i) **सीमा का स्तर**—जिन क्षेत्रों में पानी की नियमित पूर्ति उपलब्ध है और और वर्ष में कम से कम दो फसलो का उत्पादन किया जाता है, वहाँ भूमि की उत्पादकता तथा अन्य कारको को ध्यान मे रखते हुए उच्चतम सीमा 10 से 18 एकड के बीच निर्धारित की गई है। जहाँ सिंचाई निजी साधनो द्वारा होती है वहाँ सीमा निर्धारण के लिए 1.25 एकड़ भूमि को सार्वजनिक साधनो द्वारा सिंचित क्षेत्र के एक एकड़ के बराबर मानने की व्यवस्था की गई है। लेकिन ऊपरी सीमा दोनो के लिए 18 एकड़ ही होगी। जिन भूमि क्षेत्रों मे केवल एक फसल के लिए सिंचाई की सुविधा है, उनके लिए ऊपरी सीमा 17 एकड़ निश्चित की गई है। शेष सब प्रकार की भूमि के लिए निर्धारित सीमा 54 एकड़ है।

(ii) **सीमा के क्रियान्वयन की इकाई**—उच्चतम सीमा निर्धारण करने के लिए परिवार को आधार बनाया गया है। परिवार का आशय पति, पत्नी और नाबालिक बच्चों से है।

(iii) **सीमा से स्वीकृत छूट**—छूट दी गई भूमि में मुख्य उल्लेखनीय हैं बागान क्षेत्र, पशु प्रजनन फार्म, सहकारी फार्म, धर्मार्थ संस्थाओ की भूमि आदि।

(iv) **अधिशेष भूमि का वितरण**—सीमा से अधिक भूमि का सरकार अधिग्रहण कर लेगी तथा इसे भूमिहीन किसानो मे बाँट देगी। इन कानूनो के अन्तर्गत दिसम्बर 1980 तक लगभग 15.12 लाख हैक्टेयर भूमि अधिशेष घोषित की गई थी, जिसमें से लगभग 9.96 लाख हैक्टेयर सरकारी अधिकार मे ले ली गई और लगभग 6.95 लाख हैक्टेयर पहले ही लगभग 12.16 लाख लाभभोगियों मे बाँट दी गई। इन लाभभोगियों में से आधे से अधिक व्यक्ति अनुसूचित जातियो और जन जातियो के थे।

अधिकतम जोत सीमा के पक्ष में तर्क

(1) **समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे सहायक**—यह नियम केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना में सहायता देते हैं तथा राजनीतिक जागृति की आकांक्षाओ को पूरा करते है।

(2) **कृषि आय का समान वितरण**—इससे कृषि आय का समान वितरण करने मे सुविधा होगी।

(3) **सहकारी कृषि**—बडी जोतो की सम्पत्ति से समानता आयेगी तथा सहकारी कृषि को प्रोत्साहन मिलेगा।

(4) **रोजगार में वृद्धि**—अधिकतम जोत निर्धारण से जोत लघु एव मध्यम आकार की रह जायेगी, जिससे रोजगार मे वृद्धि होगी।

(5) **चकबन्दी को प्रोत्साहन**—अधिकतम जोत निर्धारण के नियमो के कारण जोतो का आकार छोटा हो जाता है जिससे चकबन्दी कार्यक्रम को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) **गहन खेती को प्रोत्साहन**—अधिकतम जोत निर्धारण से गहन खेती को प्रोत्साहन मिलेगा और कृषि उत्पादकता में वृद्धि होगी।

(7) **भूमि के असमान वितरण में कमी**—अधिकतम जोत सीमा निर्धारण से भूमि वितरण की विषमताएँ दूर हो जायेंगी।

अधिकतम जोत सीमा के विपक्ष में तर्क

अधिकतम जोत सीमा निर्धारण के विपक्ष मे निम्नलिखित आपत्तियां उठाई जाती है—

(1) **बड़े पैमाने पर कृषि करने के लाभों से वंचित होना**—अधिकतम जोत निर्धारण अधिनियम बड़े खेतो को छोटे-छोटे खेतो में बदल देता है जिसके कारण समाज बडे पैमाने पर कृषि करने के लाभों से वंचित रहता है।

यह आपत्ति उचित नही है क्योकि खेत प्रबन्धन के अध्ययनो से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि छोटे खेतो की उत्पादकता बड़े खेतों की उत्पादकता की तुलना में अधिक होती है। साथ ही बड़े पैमाने पर कृषि करने से प्राप्त होने वाले लाभों को चकबन्दी व सहकारी खेतो जैसे उपायो को अपना कर प्राप्त किया जा सकता है।

(2) **कृषि एवं गैर कृषि आय में विषमताएँ**—यदि शहरी भूमि पर सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित नही की जाती तो कृषि जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देने से कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्र में विषमताएँ बढ़ जायेंगी।

आजकल जबकि शहरी भूमि और सम्पत्ति की मात्रा को सीमित करने के लिए सरकार आवश्यक कदम उठा रही है, यह आपत्ति भी निरर्थक है।

(3) **सीमा निर्धारण में कठिनाई**—भूमियो की उर्वराशक्ति तथा उन पर सिंचाई सुविधाएँ भिन्न-भिन्न है। साथ ही भूमियों की विभिन्न श्रेणियां भी हैं। अत: एक व्यावहारिक कठिनाई सामने आती है कि सभी क्षेत्रो में कृषि भूमि की एक सी अधिकतम सीमा निर्धारित नही की जा सकती है।

यह कोई विशेष आपत्ति नही है। विभिन्न क्षेत्रो मे सिंचाई सुविधाओं, उर्वराशक्ति तथा कृषि उपज के मूल्यो को ध्यान मे रखते हुए कृषि जोतो की उच्चतम सीमा निर्धारित की जा सकती है और वर्तमान समय मे ऐसा किया भी गया है।

(4) **विपणन योग्य अतिरेक की कमी**—अधिकतम जोत अधिनियम लागू होने

से खेत छोटे-छोटे हो जायेंगे जिससे किसानो के पास विपणन योग्य अतिरेक कम हो जायेगा।

यह तर्क कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है क्योकि पहले जो कृषिहीन किसान बाजार से क्रय करके खाद्य पदार्थ खाते थे वे अब स्वयं उत्पादित करके अपने पास रख लेंगे। इससे विपणन योग्य अतिरेक मे कमी हो जायेगी।

(5) भूमिहीन किसानों की समस्या का समाधान न होना भारत मे भूमिहीन किसानो की सख्या इतनी बड़ी है कि अधिकतम जोत निर्धारण से मिलने वाली अतिरेक भूमि से इनकी समस्या का समाधान नही हो सकता।

यद्यपि यह सत्य है कि अधिकतम जोत निर्धारण से भूमिहीन किसानो की समस्या का पूर्ण समाधान नही हो सकता लेकिन अधिकतम जोत अधिनियमो से कुछ भूमिहीन कृषको की समस्या तो अवश्य हल होगी और इससे आर्थिक विषमताएँ कम करने मे सहायता मिलेगी।

(6) विपक्ष में अन्य तर्क—(i) भारत मे भूमि का अभाव है अत. इस प्रकार के नियमो से कोई विशेष लाभ नही होता। (ii) बड़ी जोतों को छोटी-छोटी जोतो में बाँटने का कार्य सरल नही है। (iii) क्षतिपूर्ति की एक बहुत बड़ी राशि देनी होगी जिसकी व्यवस्था करने मे सरकार को कठिनाई होगी। (iv) जोत की अधिकतम सीमा निम्न स्तर पर रखने से बहुत छोटे खेत हो सकते है जो आधुनिक प्रकार से खेती करने मे कठिनाई प्रस्तुत कर सकते हैं।

यह सभी तर्क ऐसे हैं जिनमे कोई विशेष वजन नही है और उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(IV) कृषि का पुनर्संगठन[1]—इसके अन्तर्गत जो कार्य किये गये हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(अ) चकबन्दी—भारतवर्ष मे महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व दिल्ली आदि राज्यों में चकबन्दी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

(ब) सहकारी खेती—भारतीय कांग्रेस के 1959 के नागपुर अधिवेशन मे सहकारी कृषि सम्बन्धी प्रस्ताव पास किये गये थे।

उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान मे सहकारी खेती की दिशा मे उल्लेखनीय प्रगति हुई और इन राज्यो मे सहकारी खेती सलाहकार परिषदें स्थापित की गयी हैं।

(स) भूदान—यह एक ऐच्छिक भू-सुधार कार्यक्रम है और इसके जन्मदाता आचार्य विनोबा भावे हैं। यहाँ भूदान से आशय, स्वेच्छा से भूमि के दान से है।" इसका उद्देश्य बताते हुए आचार्य विनोबा भावे ने एक बार कहा कि "यह न्याय तथा समानता पर आधारित है कि भूमि में सभी का अधिकार है। इसलिये हम भेंट में

1. इसके अन्तर्गत किए गए कार्यों (चकबन्दी, सहकारी खेती और भूदान आन्दोलन) की विस्तृत चर्चा पृथक् अध्यायो में की गई।

भूमि की भीख नही माँगते बल्कि उस भाग की माँग करते है जिसमे निर्धनो का न्यायपूर्ण हक़ है।"

भूदान आन्दोलन के उद्देश्य एवं गुण—आचार्य भावे ने समय-समय पर अपने भाषणो मे भूदान आन्दोलन के उद्देश्यो एवं गुणो पर प्रकाश डाला है जो निम्न-लिखित विन्दुओ से स्पष्ट है—

(i) आर्थिक विषमता को अहिंसक ढंग से दूर करना (ii) मध्यस्थो की समाप्ति मे सहायता करना (iii) कृषि योग्य बंजर भूमि को अधिक उपयोगी बनाना (iv) भूमि-हीनो को भूमि उपलब्ध करा के ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या के हल मे योग देना (v) स्वालम्बन, सेवा भावना, एवं नैतिकता पर आधारित सर्वोदय समाज की रचना करना (vi) भूमि के पुनर्वितरण के पश्चात छोटे-बडे खेतो की उन्नति के लिए सह-कारी समितियो की स्थापना को बढावा मिलना (vii) भूमि पाने वालो को आय-वृद्धि का अवसर प्रदान कराकर उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठाना (viii) छोटे-बड़े का भेदभाव दूर कर, समाज मे त्याग की भावना जागृत करना।

भूदान आन्दोलन की कमियाँ—भारत मे भूदान आन्दोलन की विगत वर्षों मे जो प्रगति हुई है तथा लोगो ने जिस प्रकार की अकृषियोग्य भूमि को अपने निहित स्वार्थवश दान मे दिया है व भाई-भतीजे वाद के आधार पर जिस प्रकार भूमि का वितरण किया है उससे इस आन्दोलन की प्रगति में लोगो को शंका होने लगी है। इस आन्दोलन की प्रमुख कमियाँ निम्नलिखित है—

(i) भूदान मे प्राप्त भूमि ऊसर व बंजर होती है, पूर्णतः कृषि के लिये अयोग्य होती है अतः देश की कृषि समस्याओ को हल करने मे यह आन्दोलन अधिक सहा-यक नही हो सका है।

(ii) इस कार्यक्रम के माध्यम से भूमिहीनो को भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े तो मिल जाते है किन्तु कृषि कार्य हेतु उनके पास कृषि औजारो का अभाव रहता है।

(iii) भूदान मे पर्याप्त भूमि न मिलने के कारण इसका वितरण छोटे-छोटे टुकडो में ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार भूमि का उपविभाजन व अपखण्डन बढता है।

(iv) भूदान आन्दोलन मे प्रचार की कमी है।

(v) भूदान मे प्राप्त भूमि का वितरण बडा ही दोषपूर्ण है। इसमे व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति को उच्च प्राथमिकता दी जाती है।

प्रगति—इस भूदान आन्दोलन की शुरुआत 18 अप्रैल 1951 तैलंगाना (आन्ध्र-प्रदेश) के पोचमपल्ली नामक गाँव मे हुई थी। इसी समय आचार्य भावे के सुझाव पर एक कृषक श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 70 एकड़ भूमि इस प्रकार के हरिजनों को देने की घोषणा की। अन्तिम रूप मे उपलब्ध आकड़ो के अनुसार विनोबा जी को लगभग 45 लाख एकड़ भूमि तथा 40,000 ग्राम दान मे मिल चुके है। इसमें से लगभग 12 लाख एकड भूमि वितरित की जा चुकी है।

(V) **भू-अभिलेखों को आधुनिक बनाना**—भू-अभिलेखों का आधुनिकीकरण न

केवल भूमि सम्बन्धी सुधारो को लागू करने के लिए आवश्यक है बल्कि कृषि-ऋण के लिए भी है। जिसका मिलना भूमि सम्बन्धी हक पर बहुत अधिक निर्भर होता है। भू-अभिलेखो की स्थिति हर राज्य मे अलग है। कुछ राज्यो मे तो ये अभिलेख काफी संख्या में अद्यतन है, पर अन्यो मे, विशेषत. पूर्वी प्रदेश मे जहाँ जमीदारी प्रथा पुरानी है। अभिलेखों मे दी हुई प्रविष्टियो का वास्तविकता से कम ही सम्बन्ध है। अतः सारे देश मे भू-अभिलेखो के संकलन और संशोधन का एक कार्यक्रम व्यवस्थित ढग से शुरू किया गया है ताकि स्वामित्व और आसामियो, बटाईदारो और अन्य धारकों के अधिकारो के बारे मे अद्यतन स्थिति स्पष्ट हो जाए। काम तो काफी हो चुका है, पर अभी बहुत कुछ करना शेष है।

भूमि-सुधार-नीति का एक लक्ष्य यह रहा है कि ग्रामीण समुदाय के अधिक निर्धन वर्गों के वास भूमि (होमस्टेड) काश्तकारो को स्वामित्व के अधिकार प्रदान कर दिए जाएँ। सभी राज्यो मे वास भूमि काश्तकारो को स्वामित्व के अधिकार दे दिए गये हैं और पट्टे सुरक्षित कर दिए गये हैं। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो के भूमिहीन कामगारो, और कारीगरो को लगभग 78 लाख मकान बनाने की जगह बाँटी गई है।

भूमि-सुधार का मूल्याकन
(Evaluation of Land Reforms)

भूमि-सुधार का मूल्यांकन हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं, (i) भूमि सुधारो का प्रभाव (ii) भूमि सुधार नीति की कमियाँ।

I. भूमि-सुधारों का प्रभाव

भारतवर्ष में भूमि-सुधारो का उद्देश्य आर्थिक कुशलता मे वृद्धि और सामाजिक न्याय रहा है। अतः हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे हम कहाँ तक सफल रहे हैं।

(अ) भूमि-सुधारों का आर्थिक कुशलता पर प्रभाव—भूमि-सुधारो के आर्थिक कुशलता पर पड़ने वाले प्रभावो को कृषि पदार्थों के उत्पादन मे हुई वृद्धि के रूप में प्रकट किया जा सकता है। भूमि-सुधारो के आर्थिक कुशलता पर प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रभाव पड़े हैं—

(i) प्रथम 3 पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि मे भूमि-सुधारों का कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हो सका। क्योंकि इनमें कई वैज्ञानिक कमियाँ रह गई थी। विगत वर्षों में इन कमियों को दूर करने के प्रयास किये जा रहे हैं।

(ii) प्रथम 3 योजनाओ में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए सरकार केवल भूमि-सुधारों तथा अन्य संस्थागत परिवर्तनों पर ही निर्भर रही। फलतः तकनीकी विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सन् 1966-67 के बाद ही सरकार ने तकनीकी विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं।

(iii) तृतीय योजना के अन्त तक कृषि उत्पादन मे प्रायः गतिहीनता की स्थिति बनी रही। कृषि की नई तकनीक के आविर्भाव के बाद ही कृषि उत्पादन और कृषि उत्पादकता मे अभूतपूर्व वृद्धि सम्भव हो सकी है। लेकिन नई तकनीक की सफलता के लिए भी संस्थागत ढाँचे मे पर्याप्त और उपयुक्त सुधार होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भूमि-सुधारो ने कृषि उत्पादकता को बढ़ाने मे कोई सहयोग नही दिया है अथवा कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए केवल संस्थागत परिवर्तन ही उत्तरदायी रहे है।

(ब) भूमि-सुधारों का सामाजिक न्याय पर प्रभाव—भूमि-सुधारो को लागू करने के बाद भारत मे जिस प्रकार की कृषि संरचना का विकास हुआ है। उससे सामाजिक न्याय के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त हो सकती है। अब हम भूमि-सुधारो के सामाजिक न्याय से सम्बन्धित पहलू पर विचार करेंगे—

(i) **कृषि संरचना संक्रान्ति काल की अवस्था में है**—भारतीय कृषि संक्रान्ति काल की अवस्था से गुजर रही है जिसकी प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—(क) प्रमुख रूप से अर्द्ध-सामन्त उन्मुख कृषि मे बडे पैमाने पर भूमि को पट्टे पर दिया जा रहा है (ख) खेती का प्रयोग व्यापारिक खेती तथा बाजार उन्मुख कृषि के लिए किया जा रहा है।

(ii) **बड़े भू-स्वामियो के पास भूमि का संकेन्द्रण**—Agricultural Census Report 1970-71 के अनुसार, भारत मे बडे भू-स्वामियो के पास कुल जोतो का 4% भाग उपलब्ध है, लेकिन वे लगभग 30.5% क्षेत्र पर खेती करते है कि भूमि का केन्द्रीयकरण चन्द बडे भू-स्वामियो के हाथों मे है। ये भूस्वामी भूमि को पट्टे पर देकर खेती कराते हैं।

(iii) **छोटे किसानों का बना रहना**—छोटे किसानों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। छोटे किमान कृषि क्षेत्र की बडी मात्रा मे खेतिहर मजदूरों की पूर्ति करते है। छोटे और सीमान्त किसान मध्यम वर्ग के किसानों के साथ मिल कर भारतीय कृषि को छोटे किसान—मालिक अर्थव्यवस्था का रूप प्रदान करते हैं।

(iv) **बढ़ती हुई भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या**—विभिन्न आर्थिक और गैर आर्थिक प्रभावो के परिणाम स्वरूप छोटे किसानों की भूमि से बेदखली के कारण भूमिहीन कृषि मजदूरो की संख्या मे तेजी से वृद्धि हुई है। भूमि-सुधारों को लागू करने के बाद अर्द्ध-सामंत काश्तकारो तथा बटाईदारो की भूमि से बेदखली के कारण भी भूमिहीन किसानों की संख्या बढी है। इन किसानो के पास अपनी निजी भूमि न होने के कारण ये खेतों पर मजदूर के रूप मे कार्य करने के लिए बाध्य हो गये हैं।

(v) **आधुनिक उपक्रमियों का उद्गम**—गत दो दशको मे कृषि क्षेत्र में आधुनिक उपक्रमियो का विकास हुआ है जिनके पास बड़ी मात्रा मे भूमि है जिस पर वे किराए के मजदूरो तथा नई उत्पादन विधियों की सहायता से कृषि करते हैं।

II. भूमि सुधार नीति की कमियाँ और आलोचनाएँ

भारत में भूमि सुधार नीति की मुख्य कमियाँ और आलोचनाएँ निम्नलिखित है—

1. **दोषपूर्ण काश्तकारी कानून**—यद्यपि काश्तकारी सुधारों के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है लेकिन अब भी काश्तकारी कानून में निम्नलिखित दोष विद्यमान हैं—

(i) **बटाईदार की उपेक्षा**—शब्द 'काश्तकार' की परिभाषा में सामान्यतया बटाई दार को सम्मिलित नही किया जाता फलतः वे काश्तकारी कानून का सरक्षण प्राप्त नही कर पाते ।

(ii) **सामन्तवादी प्रणाली के चिह्न**—अब भी देश के कई भागो में विभिन्न आधारो पर काश्नकारो की बेदखली की जाती है इनमे लगान का भुगतान न करना, समय पर उपज का हिस्सा न देना, निजी खेती के लिए भूमि का स्वामित्व आदि प्रमुख है । इससे सामन्तवादी प्रणाली के प्रभाव में कोई कमी नही हुई है ।

(iii) **दखलकारी का अधिकार** (Occupancy Right)—एक काश्तकार को दखलकारी का अधिकार उसी अवस्था मे प्राप्त होता है जबकि वह सिद्ध कर दे कि वह 12 वर्षों से निरन्तर एक ही भूमि पर खेती कर रहा है । लेकिन भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में जहाँ कि जमीदारों का प्रभाव अभी भी बना हुआ है । इस बात को सिद्ध करना बहुत कठिन है ।

(iv) **मुआवजों की ऊँची दर**—काश्तकारी का प्रमुख उद्देश्य काश्तकार को उस भूमि का स्वामी बनाना था जिस पर कि वह खेती कर रहा था लेकिन अधिकाश काश्तकारो को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सका है कारण यह है कि वे मुआवजो की ऊँची दरों का भुगतान करने मे असमर्थ हैं ।

(v) **शक्ति का उपयोग**—कानून के अन्तर्गत जो ऐच्छिक समर्पण की व्यवस्था की गई है, वास्तव मे कभी ऐच्छिक नही होते । भू-स्वामी अक्सर भूमि को खाली करवाने या बेदखली के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं ।

2. **एकरूपता का अभाव**—भूमि-सुधार कार्यों का दायित्व राज्य सरकारो पर छोड दिया गया है । विभिन्न राज्यों में अधिनियम बनाए गए हैं उनमे काफी भिन्नता है । जैसाकि निम्नलिखित बिन्दुओ से स्पष्ट है—

(i) **विविध प्रकार की छूटें**—अनेक राज्यों मे कुछ छूटें दी गई हैं जिनका अनुचित लाभ उठाकर जमीदारियो और अनावश्यक रूप से बडी जोतें अब भी बनी हुई हैं । उदाहरण के लिए, ट्रस्टो के द्वारा अब भी दूसरो से काश्त कराई जाने के कारण भू-स्वामित्व अन्य व्यक्तियो के हाथों मे ज्यों का त्यों बना हुआ है ।

(ii) **जोत की सीमा**—जोत की सीमा अलग-अलग राज्यो मे अलग-अलग सिद्धान्तो पर निर्धारित की गई हैं । अतः अतिरिक्त भूमि कम उपलब्ध हो पाई है ।

(iii) **समन्वय का अभाव**—विभिन्न कानूनों में समन्वय का अभाव प्रशासनिक समस्याएँ उत्पन्न कर देता है तथा विभिन्न कार्यों मे ताल-मेल भी नही बैठ पाता । परिणाम स्वरूप भूमि-सुधार कार्यक्रम न तो प्रभावी और न शीघ्रगामी हो पाते हैं ।

(iv) **खुद काश्तकार का अधिकार**—जमीदारी उन्मूलन कानून मे कहीं-कही यह व्यवस्था की गई थी कि यदि भूस्वामी चाहे तो खुद काश्त के लिए काश्तकारो से अपनी जमीन ले सकता है। अत बडी संख्या में काश्तकारो को खेतो से बेदखल कर दिया गया।

(v) **चकबन्दी कानून की कमियाँ**—किन्ही-किन्ही राज्यो मे चकबन्दी को स्वेच्छा पर छोड दिया गया है। अतः वहाँ चकबन्दी हो ही नही पाई है। उत्तर प्रदेश मे चार खेतो का एक चक बनाया जाने की छूट के कारण चको को वृत्ताकार बनाकर कठिनाइयाँ पैदा कर दी गई है।

3. **प्रभावशाली क्रियान्वयन का अभाव**—देश मे भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियम तो बहुत अधिक पारित किये गये है लेकिन उनके प्रभावशाली क्रियान्वयन का अभाव रहा है। **प्रो० गुन्नार मिरडल** ने लिखा है, "भूमि-सुधार कानून जिस ढंग से कार्यान्वित किये गये है। उससे सामान्यत उनकी (कानूनो की) भावनाओ और अभिप्राय को हताश होना पडा है।"

इसी प्रकार लेडजिन्स्की का यह निष्कर्ष है कि "भूमि-सुधार के लिए वास्तव मे जितने कानून बनाए गए, चाहे उनका सम्बंध लगानो को नियमित करने, सुरक्षा और कब्जे का स्थायित्व अथवा अधिकतम सीमा का आरोपण और भूमिहीनो के लिए फालतू भूमि का बन्दोबस्त ही क्यो न रहा हो, फिर भी उनका देश भर मे कार्यान्वयन न हो पाया।" यह तथ्य बम्बई और हैदराबाद के कानूनो के कार्यान्वयन से सम्बधित दो रिपोर्टों के अधिकाश भाग में वर्णित है, एक रिपोर्ट वी०एम० दाडेकर और सी० जे० खुदानपुर तथा दूसरी रिपोर्ट ए० एन० खुसुरू ने तैयार की थी।

प्रभावशाली क्रियान्वयन के अभाव के कई कारण हैं—

(i) **कानूनी अड़चनें**—भूमि-सुधार कानून अत्यन्त जटिल रहे है और बड़े-बडे जमीदारो द्वारा उन कानूनो में हमेशा कुछ न कुछ ऐसी कमियाँ निकाल ली गई हैं जिससे वे कानून के प्रभाव मे बच सकें।

(ii) **प्रशासनिक अकुशलता एवं भ्रष्टाचार**—प्रशासनिक मशीनरी मे भ्रष्टाचार के कारण भी भूमि सम्बंधी रिकार्ड मे परिवर्तन किए गए।

(iii) **भू-स्वामियों का राजनैतिक सत्ता में प्रभाव**—भू-स्वामियो का देश की राजनैतिक सत्ता में सदैव महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिसके कारण भूमि-स्वामियो के हितो के समर्थको ने राज्य मे भूमि सुधारों को लागू नही होने दिया।

(iv) **भूमि के नवीनतम रिकार्डों का अभाव**—भूमि-सुधारो को लागू करने के लिए नवीनतम रिकार्ड व आँकड़ों की आवश्यकता होती है। किन्तु देश में इनका सदैव अभाव रहा है। इस कारण भी इनकी प्रगति धीमी रही।

(v) **छोटे किसानों की निष्क्रियता**—जब सरकार किसी कार्य के प्रति उदासीन हो तो कार्य से सम्बद्ध वर्ग का यह दायित्व होता है कि वह सरकार पर जोर डाले और सरकार को उचित काम करने के लिए बाध्य करे। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि वर्ग उचित रूप से संगठित हो। भारत में छोटे किसानों के इस तरह

के संगठन का अभाव रहा है। जिसके कारण भू-सुधार कार्यक्रम के मार्ग मे अनेक बाधाएँ आती हैं।

(vi) **कार्यक्रम की मूलभूत कमियाँ**—भूमि-सुधार कार्यक्रम मे ही अनेक मूलभूत कमियाँ है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित है—(अ) विभिन्न उपायों के लागू करने में एक एकीकृत नीव का अभाव, प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलाप रहा है इससे कार्यक्रम मे शिथिलता आ जाती है। (ब) विभिन्न राज्यो मे पाये जाने वाले भू-सुधार सम्बंधी कानूनों में विविधता तथा जटिलता; (स) कार्यक्रम की सफलता के लिये अनिवार्य है कि पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध हो किन्तु ये अभी तक उपलब्ध नही है।

4. **भूमि सम्बन्धी प्रलेखों की अपूर्णता**—भूमि-सुधार की धीमी प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि भूमि सम्बन्धी आँकड़े और प्रलेख पूर्ण रूप से उपलब्ध नही हैं जिससे स्वामित्व के निर्धारण में कठिनाई होती है।

5. **भूमि के वितरण के परिवर्तन का अभाव**—कई वर्षों के भूमि-सुधार कार्यक्रमो के उपरान्त भी भूमि के स्वामित्व में विशेष परिवर्तन नही आया है। सीमा निर्धारण के अधिनियमो के क्रियान्वित न किये जाने से स्वामित्व की स्थिति पहले जैसे ही बनी है। कार्यशील जोतो के वितरण मे भी विशेष अन्तर नही आया है। एक दशाब्दी से अधिक हो जाने पर भी भारत मे भू-जोतो का वितरण काफी असमान है। यह इस बात का सूचक है कि भूमि-सुधार जोतो के वितरण को परिवर्तित करने में असमर्थ रहे है।

6. **सुसम्बद्ध नीति का अभाव**—भू-सुधार सम्बंधी सभी पहलुओ को एक साथ तो लिया गया परन्तु उन सबको एक दूसरे का परि-पूरक मानकर न तो उन पर विचार विमर्श किया गया और न उस दृष्टि से उनके कार्यान्वयन का प्रयास किया गया। एक सु-सम्बद्ध नीति अपनाने से लागत भी कम बैठती, कमियों का पता लगाना सरल होता तथा भू-सुधार कार्यक्रम को लागू करना सरल रहता है।

7. **अन्यदोष**—(अ) प्रोग्राम मूल्यांकन संस्था (Programme Evaluation Committee) द्वारा भू-सुधार के दो दोषपूर्ण प्रभावो का पता चलता है—प्रथम, पुराने भूमि-स्वामियों, जमीदारो द्वारा पुनः काश्त के बहाने भूमियो पर फिर काश्त अधिकार प्राप्त कर लिया गया, परन्तु फिर भी वे भूमि पर सुधार करने के उपायो के सम्बन्ध मे उदासीन रहे। द्वितीय, उन्होने अपने वित्तीय साधनो को व्यापार और बहुमूल्य धातुओ जैसे सोना-चाँदी आदि खरीदने मे लगा दिया। इन दोनो कारणो ने विनियोग और उत्पादन पर कुप्रभाव डाला है।

(ब) भूमि-सुधार सम्बन्धी नीति ने भू-स्वामियों में अनिश्चितता की भावना पैदा कर दी है, क्योकि भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनों को जल्दी-जल्दी परिवर्तन किया जाता है कि उनके प्रभाव के अध्ययन करने का अवसर नहीं मिलता।

(स) भूमि-सुधार सम्बन्धी नीति देश के लिए काफी महँगी पड़ी, क्योकि राज्य सरकारों को कई सौ करोड़ रुपये मुआवजों के रूप में देने पड़े।

(द) भूमि-सुधार के फलस्वरूप मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है जिसमे बहुत अधिक समय और धन का अपव्यय होता है।

(य) राज्य सरकारों को भू-विधान बनाने का अधिकार संविदा की कार्यविधि है। इस कारण लगान के नियमन और जोत की अधिकतम सीमा के निधारण मे बहुत भिन्नता पायी जाती है।

(र) भूमि-सुधार अधिनियम जोतो पर अधिकतम सीमा लागू करने में असफल रहे हैं।

(ल) सहकारी कृषि समितियाँ भी बडे भू-स्वामियो द्वारा बनायी गयी हैं और सहकारी सुविधाओं व साधनो का अनुचित लाभ उठाया गया है। ऐसी सहकारी कृषि-समितियाँ नगण्य हैं जो भूमिहीन मजदूरो या अनार्थिक जोतो के स्वामियों द्वारा उन्ही के लाभ के लिए बनी हो।

देश की केन्द्रीय सरकार अथवा विभिन्न राज्य सरकार भूमि-सुधार कार्यक्रमो को चलाने मे कितनी सफल हुई है—यह तथ्य विश्व बैंक रिपोर्ट से स्पष्ट होगा जो पेरिस मे 17 और 18 जून 1971 को आयोजित 'भारत-सहायता संघ' (एड-इंडिया कन्सोर्टियम) की बैठक मे प्रस्तुत की गई थी। इस रिपोर्ट मे कहा गया है कि "अभी कानून अधिनियमित किए जाने हैं ताकि असम, तेलंगाना (आन्ध्र) हिमाचल प्रदेश, जम्मू-काश्मीर, महाराष्ट्र मैसूर और तमिलनाडु मे मध्यस्थ पट्टेदारी और निहित स्वार्थों का उन्मूलन किया जा सके। बिहार मे सबसे खराब दशा थी। इस राज्य मे जमीदारी वस्तुतः ज्यो की त्यों बनी रही। आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, जम्मू-काश्मीर, पंजाब तथा तमिलनाडु में काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार उपलब्ध नही है। आन्ध्र प्रदेश बिहार, सौराष्ट्र और तमिलनाडु में काश्तकारो और बटाई पर खेती करने वालो मे असुरक्षा की भावना बनी रही। हरियाण और पंजाब मे काश्तकारो की सुरक्षा इस बात पर निर्भर थी कि जमीदारों को भूमि वापस लेने का सतत अधिकार है। बेदखली को रोकने वाले कानूनो की प्रवंचना व्यापक रूप से देखने को मिली।आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, जम्मू और काश्मीर (छोटे काश्तकारो के सम्बंध मे) और तमिलनाडु मे जमीदारों को दिया जाने वाला कानूनी लगान या फसल का हिस्सा अलग ही था।"

भूमि-सुधार कार्यक्रम की सफलता के लिए सुझाव

1 **कानूनी विधियों को सरल बनाना**—भूमि-सुधार कानूनो की कानूनी विधियो को सरल बनाना चाहिए ताकि कानून अपना कार्य बिना किसी गतिरोध से कर सके।

2. **कार्यक्रमानुसार क्रियान्वयन**—भूमि-सुधार कार्यक्रमो को सफल बनाने के लिए एक निर्धारित कार्यक्रमानुसार क्रियान्वयन किया जाना चाहिए।

3. **कानूनों का प्रचार**—भूमि-सुधार कानूनो का क्षेत्रीय भाषाओ के समाचार

पत्रों और आकाशवाणी के माध्यम से प्रचार किया जाना चाहिए ताकि जनता इन कानूनो को समझकर उससे लाभान्वित हो सके ।

4 **भूमि-सुधार अदालतों की स्थापना**—भूमि-सुधार अदालतें स्थापित की जानी चाहिए । इसके लिए गरीबो से कोई शुल्क नही लिया जाना चाहिए ।

5 **वित्तीय व्यवस्था का प्रबन्ध**—जिन नए कृषको को भूमि दी जाय उन्हें वित्तीय व्यवस्था भी उपलब्ध की जानी चाहिए ताकि वे उस भूमि का समुचित उपयोग कर सकें ।

6 **खेतिहर श्रमिको व बटाई वालों के संघ की स्थापना**—इन खेतिहर श्रमिको व बटाईवालों के संगठन बनाए जायें तथा उनके प्रतिनिधियो को भूमि-सुधार कार्यक्रमो के क्रियान्वयन में सम्मिलित किया जाय ।

7. **कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना**—राज्य जिला, व तहसील स्तर पर कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना की जानी चाहिए लेकिन इसमे पटवारी की भूमिका को नियंत्रित रखा जाना चाहिए ।

8. **नवीन रिकार्ड तैयार करना**—भूमि के सम्बन्ध में नवीन रिकार्ड तैयार किया जाना चाहिए ताकि स्वामित्व के प्रश्न पर मतभेद न हो सके ।

9 **अन्य सुझाव**—(i) भूमि-सुधारो के सम्बन्ध में जो काफी अनिश्चितता व्याप्त है उसे समाप्त किया जाना चाहिए । (ii) कृषको को भूमि-व्यवस्था में रुचि लेने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए । (iii) रोजगार के वैकल्पिक साधन ढूंढे जायें जिससे अतिरिक्त जनसंख्या की आर्थिक दशा में सुधार हो । (iv) भूमि संरक्षण की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए (v) दायित्वों और अधिकारियो मे समन्वय होना चाहिए जिनके लिए कृषि कार्य-कलापों का एक न्यूनतम स्तर निर्धारित किया जाना चाहिए । (vi) भूमि-सुधार में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि सहकारी कृषि के लिए भूमि भी एक न्यूनतम मात्रा में उपलब्ध हो सके । (vii) 20 सूत्रीग कार्यक्रम को सच्चाई व ईमानदारी से कार्यान्विन करने का प्रयास किया जाना चाहिए ।

भूमि-सुधार समीक्षा समिति के सुझाव

केन्द्रीय सरकार ने जून 1978 में योजना आयोग के सदस्य श्री राजकृष्ण की अध्यक्षता में एक भूमि-सुधार समीक्षा समिति की नियुक्ति की जिससे यह कहा गया कि वह देश में भूमि-सुधारो पर अमल की प्रगति की समीक्षा करे और इस सम्बन्ध में सुझाव दे । इस समिति ने अपना प्रतिवेदन नवम्बर 1978 मे प्रस्तुत किया जिसमें निम्नलिखित सुझाव दिए गए—

1. राज्यों द्वारा पारित सभी भूमि-सुधार कानूनों को, जिन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल चुकी है, संविधान की 9वी अनुसूची में शामिल किया जाना चाहिए जिससे कि भूमि-सुधारो को किसी भी अदालत में चुनौती न दी जा सके ।

2. राज्यों को अपने भूमि-सुधार कानून तुरन्त संशोधित करने चाहिए जिससे कि इससे सम्बन्धित मामले मालगुजारी विभाग द्वारा निपटाए जा सकें ।

3. भूमि-सुधारो को चुनौती देने वाली 27155 रिट याचिकाएँ उच्च न्याय-लय में लम्बित पडी है अतः इस कार्य के लिए न्यायाधीशों की संख्या मे वृद्धि की जानी चाहिए तथा यह कार्य एक या दो न्यायाधीशो को सौंप देना चाहिए।

4. राज्यो के मालगुजारी विभाग की मशीनरी का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि विचाराधीन मामलो का तुरन्त निपटारा किया जा सके।

5. यह समिति थोडे-थोडे अन्तर से भूमि-सुधार के विभिन्न पहलुओ पर अलग-अलग रिपोर्ट देगी जिससे कि सम्बद्ध सरकारें उन पर विचार कर प्रमुख विषयों पर तुरत कार्यवाही कर सके।

6. सभी राज्यो के मालगुजारी अधिकारियो को भूमि-सुधार मामलो के निपटारे के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम अपनाना चाहिए जिससे इन अधिकारियो के निर्णय के विरुद्ध एक अपील व एक रिवीजन की व्यवस्था होनी चाहिए।

इस रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने निर्णय लिया है कि भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनो को संविधान की 9वी सूची मे सम्मिलित कर लिया जाय।

छठवीं योजना में भूमि-सुधार नीति

इस योजना में भूमि-सुधार नीति के निम्नलिखित तत्त्व हैं—

1 **भूमि सीमा अधिनियमों का क्रियान्वयन** – भूमिसीमा अधिनियमों मे जो वैधानिक और तकनीकी कमियाँ हैं उन्हे दूर करने के लिए इन अधिनियमो मे आवश्यक परिवर्तन किए जायेंगे।

भूमि के वितरण मे अनुसूचित जाति एव अनुसूचित जनजातियो के भूमिहीनों को प्राथमिकता दी जायेगी।

2. **भूमि आँकड़ो को अद्यतन करना**—भूमि आँकड़ो को निरंतर नवीन रखने की दिशा मे तेजी से प्रयास किए जायेंगे और इस पर जो व्यय होगा उसे एक विनि-योग समझा जायेगा।

3 **चकबन्दी**—आगामी वर्षों मे चकबन्दी को एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम माना जायेगा और सिंचित क्षेत्रो मे इस कार्य को प्राथमिकता दी जायेगी।

4. **कास्तकारी व्यवस्था में सुधार**—कुछ अपवाद जनक स्थितियों को छोड़कर यह व्यवस्था की जायेगी कि भूमि पर स्वामित्व उसी का हो जो कि उसे जोत रहा है। लगान को, जहाँ यह कुल उत्पाद के 20 से 25% तक की सीमा से अधिक है, कम कराने हेतु कानूनी व्यवस्था की जायेगी।

5. **ग्राम समितियों का निर्माण**—भूमि-सुधारो के सुचारु रूप से क्रियान्वयन के लिए ग्राम समितियो का निर्माण किया जायेगा। कुछ राज्यों मे ऐसी समितियाँ पहले से कार्यशील हैं। अन्य राज्यो मे भी इसकी स्थापना करनी होगी। इन समितियों मे लाभ प्राप्त कर्ताओं को भागीदार बनाया जायेगा।

विभिन्न राज्यों में भूमि-सुधार अधिनियम

1. उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन--उत्तर प्रदेश जमीदारी उन्मूलन में अग्रणी प्रदेश है। उत्तर प्रदेश की विधान सभा ने 8 अगस्त 1947 को एक प्रस्ताव पास किया कि जमीदारी का उन्मूलन कर दिया जाय और इस कार्य के लिए एक समिति प० गोविन्द वल्लभ पंत की अध्यक्षता में बना दी गयी जिसने रिपोर्ट अगस्त 1948 मे दे दी। इस समिति की सिफारिशो के आधार पर एक विधेयक 7 जुलाई 1949 को प्रस्तुत किया गया जो 16 जनवरी 1951 को पास हो गया। 24 जनवरी 1951 को राष्ट्रपति ने इस अधिनियम पर अपनी सहमति दे दी और 26 जनवरी 1951 ई० को यह उत्तर प्रदेश गजट (असाधारण) मे प्रकाशित किया गया और इसी दिन से यह अधिनियम भूमि-कानून का भाग बन गया। लेकिन उत्तर प्रदेश के कुछ जमीदारो ने न्यायालय की शरण ले ली। अन्त मे 5 मई 1952 को सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को वैध घोषित कर दिया जिसके फलस्वरूप राज्य सरकार ने 1 जुलाई 1952 से राज्य की कृषि जमीदारियों की भूमियो का स्वामित्व अपने हाथ मे ले लिया।

उत्तर प्रदेश मे 30 जून, 1952 को जमीदारों के पास 4.13 करोड़ एकड़ भूमि थी जिनमे से 3.9 करोड़ एकड भूमि ही सरकार द्वारा लेने का निश्चय किया गया। क्षतिपूर्ति की मात्रा शुद्ध आय का 8 गुना रखी गयी। जमीदारो की कुल संख्या 20 लाख आँकी गयी जिसमे से 90% जमींदार तो केवल नाम मात्र के ही जमीदार थे और वे 25 रुपये वार्षिक से भी कम लगान देते थे। केवल 30,000 जमीदार (अर्थात् कुल जमीदारो की संख्या का 1.5 प्रतिशत) ही 250 रुपये वार्षिक से अधिक लगान देते थे। इस 30,000 की संख्या में 5,000 जमींदार 1,000 रुपये तक लगान देते थे तथा 400 ऐसे थे जो 10,000 रुपये से अधिक लगान देते थे। कुल क्षतिपूर्ति 150 करोड आँकी गई थी।

इस अधिनियम ने 4 प्रकार के कृषकों को जन्म दिया—

(1) **भूमिधर**—जमीदारी उन्मूलन के समय भूमिधरी के अधिकार केवल जमींदारो को उनकी सीर व खुद-काश्त भूमि पर दिये गये थे किन्तु अन्य प्रकार के काश्तकारो के लिए यह व्यवस्था की गई थी कि कोई भी सीरदार अपनी भूमि के लगान का 10 गुना जमा करके भूमिधरी अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं। भूमिधर की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(i) भूमिधर को अपनी भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त है; (ii) भूमिधर अपनी भूमि का उपयोग कृषि के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए भी कर सकता है (iii) भूमिधर अपनी भूमि का मालिक है, उसको इसे बेचने, रहन रखने व अन्य किसी को हस्तान्तरित करने का पूरा अधिकार है। (iv) भूमिधर का लगान सीरदार के लगान से आधा होता है।

(2) **सीरदार**—जो काश्तकार 10 गुना जमा न कराना चाहें वे सीरदार कहलायेंगे और वे सरकार को वही लगान देंगे जो वे जमींदार को देते थे।

(3) **अधिवासी**—वे काश्तकार जो उप-किसान के रूप मे कार्य करते थे, अधि

वासी कहलायेंगे। इनका अपनी खेती की जमीनों को 5 वर्ष तक रखने का अधिकार दिया गया। इसके पश्चात 15 गुना लगान जमा कराकर सीरदार बन सकते थे।

(4) **आसामी**—यह वे व्यक्ति थे जो वन, भूमि, रहन भूमि व बगीचो की भूमि आदि पर खेती करते थे। इनके अधिकार स्थायी नही होते थे।

2 **मध्य प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि-सुधार अधिनियम**— नवम्बर 1956 मे मध्य प्रदेश के गठन के पूर्व मध्य प्रदेश के चार अंग थे—महाकोशल, मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश और भोपाल। (i) महाकोशल क्षेत्र में 31 मार्च 1951 को राज्य शासन द्वारा 43 हजार ग्रामो के स्वामित्व पर अधिकार कर लिया गया तथा इनके द्वारा राज्य एवं कृषको के बीच मध्यस्थ का कार्य करने वाले विभिन्न जमीदारो के मालगुजारी के एवं अन्य अधिकारो को समाप्त कर दिया गया। (ii) जून सन् 1951 मे तत्कालीन मध्य भारत राज्य शासन विधान सभा द्वारा मध्य भारत जमीदारी समाप्ति विधान स्वीकृत किया गया। (iii) सन् 1952 में तत्कालीन विन्ध्य प्रदेश विधान सभा द्वारा विन्ध्य प्रदेश जमीदारी उन्मूलन व भूमि-सुधार विधेयक स्वीकृत किया गया जिसे सन् 1953 मे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई। (iv) भोपाल क्षेत्र मे भी 1951 मे जमीदारी उन्मूलन अधिनियम लागू किया गया और जिन जमीदारो ने क्षतिपूर्ति (मुआवजा) लेना स्वीकार नही किया उन्हें वार्षिक रकम दिया जाना निश्चित किया गया।

नवम्बर 1956 मे नए मध्य प्रदेश के गठन के पश्चात् भूमि कानूनो को एकत्रित तथा संशोधित करने का कार्य हाथ मे लिया और मध्य प्रदेश भू-राजस्व संहिता 1956 बनाई गई। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार है:—

(अ) **व्यवस्था**—अब काश्तकार भू-स्वामी कहलायेंगे और उसके पास जो भूमि होगी उसके वे वास्तविक स्वामी होगे।

(ब) **काश्तकारो के अधिकार**—जमीन को जोतने वाले काश्तकार जो अभी तक उपकाश्तकार अथवा शिकमी पट्टेदारी कहलाते थे वे अब इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत मौसमी काश्तकार कहलायेंगे। ये काश्तकार जिन भू-स्वामियों की जमीन जोतते है उन्हें यह अधिकार दिया गया है कि वे अपनी मौसमी काश्तकारी से अपनी व्यक्तिगत खेती के लिए 25 एकड तक असिंचित भूमि ले सकते हैं, लेकिन शर्त यह रहेगी कि मौसमी काश्तकार के पास कम से कम 10 एकड़ असिंचित भूमि बचनी चाहिए।

(स) **अत्यधिक लगान वसूली पर प्रतिबन्ध**—मौसमी काश्तकार द्वारा दिए जाने वाला अधिकतम लगान सिंचित भूमि के लिए भू-राजस्व के चौगुने से अधिक नही हो सकता।

(द) **सिंचाई के अधिकार**—मध्यस्थों की समाप्ति के दिन जिन तालाबों से ग्रामवासी सिंचाई अथवा अन्य प्रकार के कार्य करते रहे वे तालाब भूतपूर्व मालिक को मुआवजा देने के पश्चात् राज्य सरकार के अधिकार में आ जाएँगे। फिर ग्रामवासियों को अधिकार होगा कि वे इस तालाब का प्रयोग कर सकेंगे।

मध्य प्रदेश के 1961 के भूमि कानून के अधीन एक धारा के अनुसार 12 मासी काम मे आने वाली जमीन 25 एकड से अधिक रखने का अधिकार न होगा। मध्य प्रदेश मे भूमि की चकबन्दी ऐच्छिक ढग से की गई है।

राज्य मे सहकारी कृषि पर अधिक ध्यान दिया गया है। सहकारी कृषि समितियो में से सबसे अधिक उन्नति कृषि समितियों (Farming Societies) की हुई है।

अन्य सुधार– तीसरी योजना मे भूमि सुधार के हेतु ग्राम पंचायत, जनपद सभा एवं जिला परिषदो पर अधिक ध्यान दिया गया है। भूदान आन्दोलन मे लगभग 6 एकड़ भूमि तथा 100 ग्राम दान मे मिल चुके है जिनमे मे कुछ भूमिहीन किसानो को वितरित की जा चुकी है।

परीक्षा प्रश्न

1 भारत की पचवर्षीय योजनाओ मे प्रस्तावित भूमि-सुधार के कार्यक्रमो का सक्षेप मे वर्णन कीजिए। वे अब तक किस सीमा तक लागू किये जा चुके हैं ?

अथवा

भूमि-सुधार प्रयासो की समीक्षा कीजिए और बताइए कि इनका ग्रामीण जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

अथवा

भारत मे भूमि-सुधार के क्या उद्देश्य हैं ? अभी तक जो भूमि-सुधार हुए हैं उनसे आपकी राय में इन उद्देश्यो की पूर्ति कहाँ तक होती है ?

अथवा

स्वाधीनता के पश्चात् भारत में भूमि-सुधार नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

[संकेत—सर्वप्रथम भूमि-सुधार का अर्थ और महत्त्व संक्षेप में लिखिए। इसके बाद पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत भूमि-सुधार कार्यक्रमों का उल्लेख कीजिए। अन्त मे भूमि-सुधार के दोषो को दूर करने के लिए सुझाव दीजिए।]

2. भारतीय कृषि के विकास में संस्थागत परिवर्तनो की आवश्यकता समझाइए। इसी सन्दर्भ में भूमि-सुधार अधिनियमों का मूल्यांकन कीजिए।

4

भारत में कृषि जोतें—भूमि का उपविभाजन एवं अपखण्डन
(Agricultural Holdings, Sub-Division and Fragmentation of Holdings in India)

कृषि जोत का तात्पर्य भूमि की उस सीमा से है, जिस पर एक कृषक वास्तव क खेती करता है। परन्तु किसी को भूमिधर, भू-स्वामी मौरूसी, काश्तकार अथवा पट्टेदार के रूप मे जितनी भूमि पर स्थायी और पैतृक अधिकार मिले हो उसे 'भू-स्वामियो की जोत' (Right holder's holding) कहते है। वह स्वय जिस भूमि पर खेती करता है वह जोत कहलाती है।

कृषि जोत की विभिन्न धारणाएँ (Different concepts of Agricultural Holdings)—कृषि जोत के सम्बन्ध मे निम्नलिखित धारणाओ का उल्लेख किया जाता है—(1) आर्थिक जोत या लाभकारी जोत (Economic Holding) (2) पारिवारिक जोत (Family Holding) (3) बुनियादी जोत (Basic Holding) (4) अनुकूलतम या इष्टतम जोत (Optimum Holding) (5) क्रियात्मक जोत (Operational Holding)।

1. **आर्थिक जोत**—आर्थिक जोत के सम्बन्ध मे विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। जैसे—कीटिंग्स (Keatings) के मतानुसार, "आर्थिक जोत वह है जो एक व्यक्ति को आवश्यक व्यय निकालने के पश्चात उसे तथा उसके परिवार को उचित सुविधा सहित पर्याप्त उत्पादन का अवसर प्रदान करती है।" कीटिंग्स का विचार है 40 एकड से 50 एकड़ तक अच्छी भूमि, जिसकी सिंचाई के लिए, कम से कम एक कुएँ की व्यवस्था हो, को आर्थिक जोत कहा जा सकता है।

डा० मान का विचार है कि "एक आर्थिक जोत वह है जो एक परिवार को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान कर सके।"

इस सम्बन्ध में स्टेनले जेवन्स (Stanley Jevons) के अनुसार "आर्थिक जोत वह है जो एक कृषक को न केवल न्यूनतम स्तर अथवा उचित स्तर प्रदान करती है, अपितु रहन-सहन का उच्च स्तर प्रदान करती है।" उनके अनुसार आर्थिक जोत की सीमा 20 एकड से 30 एकड तक की होती है।

कृषि सुधार समिति ने आर्थिक जोत की जो विशेषताएँ बताई है वे इस

प्रकार है—(i) किसान को रहन-सहन का उचित स्तर प्रदान करती हैं। (ii) एक सामान्य आकार के परिवार को सम्पूर्ण वर्ष के लिए रोजगार प्रदान करती हैं। (iii) सम्बन्धित प्रदेश की कृषि व्यवस्था को बल देती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक जोत एक कृषक द्वारा जोती गयी भूमि का वह क्षेत्र है जिस पर एक औसत आकार के परिवार का श्रम व पूंजी का सर्वोत्तम उपयोग हो सके तथा इसका शुद्ध उत्पादन कृषक के परिवार को एक अच्छा जीवन स्तर प्रदान कर सके।

2. **पारिवारिक जोत**—पारिवारिक जोत का आशय उस जोत से है जिससे किसान के कम से कम इतनी पैदावार अवश्य प्राप्त हो सके जिससे उसे प्रतिवर्ष 1600 रुपये की कुल वार्षिक आय प्राप्त हो सके और उसे मजदूरी एवं आवश्यक खर्चों को निकालकर 1200 रुपये की शुद्ध वार्षिक आय प्राप्त हो सके। साथ ही साथ जोत का क्षेत्रफल एक हल इकाई से कम न हो। इस प्रकार की जोत का आधार आय मानी गई। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्थिक जोत और पारिवारिक जोत को एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाता है।

3. **बुनियादी जोत**—कृषि सुधार समिति के अनुसार, "बुनियादी जोत से अभिप्राय कृषि के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र से है।" दूसरे शब्दो मे बुनियादी जोत के अन्तर्गत भूमि का केवल उतना ही क्षेत्र आता है जिससे जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आर्थिक जोत की अपेक्षा यह जोत छोटी होती है। योजना आयोग के अनुसार, तीन बुनियादी जोतो को मिलाकर एक आर्थिक जोत के रूप में माना जा सकता है।

4. **अनुकूलतम जोत**—यह जोत की वह सीमा कही जा सकती है जिस पर कृषक को अपने साधनो-श्रम व पूंजी को सर्वाधिक कुशल ढंग से प्रयोग करने का उचित अवसर प्राप्त हो ताकि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इसे आदर्श जोत भी कहा जा सकता है क्योकि उस जोत पर ही एक निश्चित कृषि पद्धति के अन्तर्गत श्रम एवं पूंजी का सबसे कुशल प्रयोग सम्भव हो सकता है। भारत में इस जोत का आकार आर्थिक जोत के आकार का तीन गुना से अधिक माना जाता है।

5. **क्रियात्मक जोत**—कृषि संगणना (1970-71) के अनुसार—"क्रियात्मक जोत को उस समस्त भूमि के रूप में परिभाषित किया गया है जो पूर्णतः या आंशिक रूप से कृषि के उत्पादन कार्य में प्रयुक्त होती है और एक व्यक्ति के द्वारा अकेले या अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर (स्वामित्व, कानूनी स्थिति, आकार एवं स्थानीयकरण को दृष्टि में रखे बिना) एक तकनीकी इकाई के रूप में प्रयुक्त होती है।" एक तकनीकी इकाई से अभिप्राय ऐसी इकाई से है जो एक प्रबन्ध के अन्तर्गत हो तथा जिसके एक ही उत्पादन के साधन (Same means of Production) हो।

आर्थिक जोत को निर्धारित करने वाले घटक (Factors responsible for diterminig Economic Holding)—आर्थिक जोत के आकार को स्थान-स्थान

और प्रदेश-प्रदेश के साथ विभिन्न घटक प्रभावित करते है, जिनमे कुछ प्रमुख निम्न हैं—[1]

1. **भूमि की उर्वरा शक्ति**—जो भूमि अधिक उपजाऊ होती है उनसे अपेक्षाकृत अधिक आय व उन पर रोजगार के अधिक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। अत: जिन क्षेत्रो मे भूमि कम उपजाऊ है। वहाँ जोत की इकाई अपेक्षाकृत अधिक होगी।

2 **कृषि पद्धति**— खेती करने का तरीका कृषि जोत के आकार को निर्धारित करता है। यदि खेती पुराने ढंग से की जाती है तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होगा। इसके विपरीत यदि खेती आधुनिक साधनो ट्रैक्टरो, मशीनो आदि से की जाती है तो आर्थिक जोत का आकार बड़ा होगा।

3 **वर्षा व सिंचाई की सुविधाएँ**—जिन भागो मे सिंचाई तथा वर्षा की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, आर्थिक जोत छोटी होती है। इसके विपरीत अनिश्चित वर्षा या सिंचाई की अपर्याप्त सुविधाएँ होने पर आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

4. **फसलो की प्रकृति**—आर्थिक जोत के आकार को फसलो की प्रकृति द्वारा भी प्रभावित किया जाता है। यदि फसलें जैसे सब्जी, फल आदि की है तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होगा लेकिन चावल, गेहूँ आदि के लिए आर्थिक जोत का आकार बड़ा होगा।

5. **बाजार की समीपता**—कृषि जोत से बाजार की दूरी भी आर्थिक जोत के निर्धारण मे एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। उदाहरणार्थ, जो क्षेत्र किसी बड़े शहर के निकट होते है वहाँ पर भूमि की थोड़ी मात्रा भी आर्थिक जोत हो सकती है अपेक्षाकृत उन क्षेत्रो के जो शहर से बहुत दूर हैं तथा वहाँ से आने जाने के पर्याप्त साधन भी नहीं हैं।

6. **वित्तीय सुविधाएँ**—आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले घटको मे वित्तीय सुविधाएँ भी आती हैं। यदि किसी स्थान पर कृषको को पर्याप्त मात्रा मे वित्तीय सुविधाएँ मिल जाती हैं, तो वहाँ पर आर्थिक जोत का आकार छोटा हो सकता है। लेकिन इसकी विपरीत स्थिति मे आर्थिक जोत बड़ी ही होगी।

7. **कृषकों की शिक्षा एवं कार्य कुशलता**—जिन क्षेत्रो के कृषक शिक्षित होते है तथा उनकी कार्य कुशलता का स्तर अपेक्षाकृत अधिक होता है उन क्षेत्रों में भूमि की थोड़ी मात्रा भी आर्थिक जोत हो सकती है अपेक्षाकृत उन क्षेत्रों के जहाँ के कृषक अशिक्षित है तथा जिनकी कार्य कुशलता कम है।

8. **अन्य कारक**—उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त कृषि पदार्थों का कीमत स्तर, कृषि का उद्देश्य, कृषि की सामाजिक दशा इत्यादि आर्थिक जोत को प्रभावित करती हैं।

भारत में कृषि जोतें

भारत की कृषि-संगणना (Agricultural Census) 1970-71 के अनुसार देश में कुल कार्यशील जोतें (Total Operational Holdings) 7.05 करोड़ हैं जो

16.2 करोड हेक्टेयर भूमि मे है। यह भूमि देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 49.4 प्रतिशत है। इस सम्बन्ध मे आँकडे नीचे सारणी मे दर्शाए गए है—

जोतों का आकार	कुल जोतो का प्रतिशत	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
1·0 हेक्टेयर से कम	51	9
1·0—2·0 हेक्टेयर	19	12
2·0—4 0 हेक्टेयर	15	18
4 0—10 0 हेक्टेयर	11	30
100 व अधिक हेक्टेयर	4	31
कुल	100	100

उपर्युक्त सारणी मे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक हेक्टेयर तक की जोतो की संख्या कुल कार्यशील जोतो की 51 प्रतिशत है लेकिन उनके पास भूमि के कुल क्षेत्र का 9 प्रनिशत ही है जबकि 10 हेक्टेयर व अधिक की जोतें कुल जोतो का 4 प्रतिशत हैं लेकिन उनके पास कुल क्षेत्रफल का 31 प्रतिशत भाग है।

भारत मे क्रियात्मक जोतो का औसत आकार 2·30 हेक्टेयर है लेकिन भिन्न-भिन्न राज्यो मे औसत आकार जोत भिन्न-भिन्न है जैसे राजस्थान 5·46 हेक्टेयर, मध्य प्रदेश 4·0 हेक्टेयर, हरियाणा 3·78 हेक्टेयर, पंजाब 2·89 हेक्टेयर, बिहार 1·52 हेक्टेयर व उत्तर प्रदेश 1·16 हेक्टेयर है।[1]

भारत में औसत जोत अन्य विकसित देशों की अपेक्षा कम है—भारत में अधिकांश जोतो का आकार अन्य विकसित देशों की अपेक्षा कम है जैसा कि निम्न सारणी के अंकों से स्पष्ट है—

कुछ चुने हुए देशों में जोत का औसत आकार

देश		हेक्टर मे जोत का औसत आकार	देश		हेक्टर मे जोत का औसत आकार
अमेरिका	(1959)	122 5	बेल्जियम	(1970)	8.4
इंग्लैण्ड	(1960-61)	40.6	भारत	(1970-71)	2.3
नार्वे	(1970)	17.6	जापान	(1960)	1.2

1. इन आँकड़ो में एक हेक्टेयर से कम वाली जोतों को सीमान्त जोत (Marginal holdings), एक हेक्टेयर से 2 हेक्टेयर तक की जोतें लघु जोत (Small holdings), दो से चार हेक्टेयर तक अर्द्ध-मध्यम जोतें (Semi-medium holdings), चार से दस हेक्टेयर तक मध्यम जोतें (Medium holdings) तथा दस हेक्टेयर या उससे अधिक को वृहत् जोतें (Large holdings) बताया गया है। लगभग आधे राज्यो मे कृषि जोतों का औसत आकार देश के औसत आकार से कम है।

उपर्युक्त सारणी मे दिये गए आँकडे पुराने है जब से उक्त देशो मे कृषि जोत का आकार और बढा है क्योकि इन देशो मे कृषि पर लगी जनसंख्या का लक्ष्य उद्योगो पर स्थानान्तरण हुआ है किन्तु भारत मे औसत जोत का आकार घटा है क्योकि कृषि पर जनसख्या का दवाब निरंतर बढ रहा है। इस समय भारत मे औसत जोत का आकार लगभग 5 एकड है।

अलाभकारी जोतों की समस्या (Problem of Uneconomic Holding)—भारत मे जनसंख्या का कृषि पर दबाव निरंतर बढने के कारण कृषि जोतो का आकार ही छोटा नही है बल्कि यहाँ एक कृषक की जोत विभिन्न टुकडो मे विभाजित है अर्थात् कृषक की समस्त कृषि योग्य भूमि किसी एक स्थान पर न होकर गाँव के भिन्न-भिन्न भागो मे विखरी होती है। इसे भूमि का अपखण्डन कहते है। भूमि के उपविभाजन और अपखण्डन के कारण भारतवर्ष मे अनार्थिक जोतो की समस्या गंभीर होती जा रही है। अब हमे यह देखना है कि देश मे अनार्थिक जोतो के क्या कारण है। इनके कृषि अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव है अथवा इनके क्या दोष है तथा अनार्थिक जोतों को किस प्रकार आर्थिक बनाया जा सकता है। इन सभी बातो का उत्तर उप विभाजन व अपखण्डन की समस्याओ के अध्ययन मे मिलता है।

भूमि का उप-विभाजन एवं अपखण्डन
(Sub-division and Fragmentation of Holdings)

अर्थ—जोतो के उपविभाजन का अभिप्राय जोत के कुल आकार मे होने वाली कमी से है। इसके विपरीत जोतो के अपखण्डन का अभिप्राय एक जोत के टुकडो का दूरस्थ स्थानो या क्षेत्रो मे छिटकने या बिखरने से है।

उप-विभाजन तथा अपखण्डन के कारण

डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुमान के अनुसार खेतो के उप-विभाजन तथा अपखण्डन की प्रवृत्ति भारत मे विगत 200 वर्षों से आरम्भ हुई है। भारत मे उप-विभाजन तथा अपखण्डन के कारण मुख्यत परम्परागत, सामाजिक व आर्थिक है। इनमे से कुछ महत्त्वपूर्ण कारण इस प्रकार है—

(i) **उत्तराधिकार नियम**—भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के अन्तर्गत पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति मे पुत्र-पुत्रियो को समान अधिकार दिया गया है। फलस्वरूप, प्रत्येक लडके को पिता के जोत के बिखरे हुए प्रत्येक टुकडे मे से एक-एक हिस्सा मिलता है। इससे दिन-प्रतिदिन उप-विभाजन और अपखण्डन बढ़ता जा रहा है। **प्रो० क्लो** के अनुसार "भारत मे पिता की मृत्यु के बाद जमीन का कहना ही क्या, पेड़ पर लगे शहद और यहाँ तक कि पेड़ की छाया के विभाजन के लिए भी उसके पुत्रो को लड़ते देखा जा सकता है।"

(ii) **कृषि पर जनसंख्या के भार मे वृद्धि**—जनसख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण श्रमिको अथवा रोजगार चाहने वालो की सख्या में वृद्धि हुई है। रोजगार के

अन्य उपयुक्त साधनो के अभाव मे कृषि-भूमि की माँग बढ़ने से भूमि के उपविभाजन और अपखण्डन मे तेजी से वृद्धि हो रही है।

(iii) **व्यक्तिवाद का उदय और संयुक्त कुटुम्ब प्रथा का ह्रास**—पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होकर भारतीय भी अब परिवार से पृथक् रहना ही अधिक पसन्द करते है। इससे जोतो का उप-विभाजन एवं अपखण्डन बढता ही जा रहा है। **डा० राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार विगत वर्षों मे स्वतन्त्र परिवार स्थापित करने की भावना प्रबल हो गयी है। अत सयुक्त परिवार-प्रणाली टूटती जा रही है, जिससे भूमि का उप-विभाजन निरन्तर बढ रहा है, क्योकि परिवार का हर सदस्य खेत मे से अपना हिस्सा अलग कर लेता है। **प्रो० किन्ले** के अनुसार, "जब बँटवारे का निश्चय हो जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि समानाधिकार के कारण सारी सम्पत्ति मे उसको समान रूप से भाग मिले—चाहे वह खेत हो या मकान या बाग या पेड़। जहाँ प्रत्यक्ष विभाजन नही होता वहाँ अप्रत्यक्ष विभाजन पाया जाता है।"

(iv) **कुटीर उद्योगों का पतन**—हमारे देश में कई प्रकार के कुटीर उद्योग विकसित थे। किन्तु ब्रिटिश सरकार की स्वतन्त्र व्यापार नीति और कुटीर उद्योगो की उपेक्षा के कारण लघु तथा कुटीर उद्योगो का अन्त होता चला गया जिससे इन उद्योगों मे लगा हुआ जनसंख्या का एक बडा हिस्सा खेती पर आश्रित हो गया। परिणामस्वरूप कृषि-भूमि की माँग बढने मे कृषि-जोतों के उप-विभाजन और अपखण्डन की समस्या उग्र हो गई।

(v) **कृषकों की ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषक विभिन्न उद्देश्यो से अपनी भूमि को बन्धक रखकर महाजनो से ऋण लेते हैं, किन्तु ऋण को निर्धारित समय पर अदा नही करने के कारण, इन्हें बाध्य होकर अपनी भूमि का एक हिस्सा महाजनों के हाथ बेचना पड़ता है जिससे भूमि का उप-विभाजन होता है। भूमि हस्तान्तरण पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाये जाने पर, अब यह समस्या इतनी जटिल नही रह गई है।

(vi) **भू-सम्पत्ति से विशेष प्रेम**—साधारणत: भारतीयो का भू-सम्पत्ति से विशेष लगाव होता है। वह भूमि को जीविका का साधन ही नही समझता, बल्कि प्रतिष्ठा, सम्मान और सम्पन्नता का आधार भी मानता है। फलस्वरूप, प्रत्येक व्यक्ति पैतृक भूमि में हिस्सा पाने के लिये लालायित रहता है, चाहे उसका हिस्सा कितना भी कम क्यो न हो। पूर्वजो से उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त भू-सम्पत्ति के प्रति किसान की इस अनुरक्ति से भू-सुधार एवं चकबंदी जैसे कार्यक्रमो मे न केवल रुकावट होती है, बल्कि भू-विभाजन बढ़ता ही जाता है।

(vii) **औद्योगीकरण की मंद प्रगति**—भारत में जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में आधुनिक उद्योगों के संगठित विकास की प्रगति मंद है जिससे रोजगार के अवसर मन्द गति से बढ़ रहे हैं। फलत: कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ता ही जाता है और उप-विभाजन तथा अपखण्डन की समस्या बनी हुई है।

(viii) **अन्य कारण**—भारत में कृषि जोतों के उप-विभाजन और अपखण्डन के कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं :—(अ) कृषकों की अज्ञानता एवं अशिक्षा, (ब) खेतो

मे चकबन्दी का न होना, (स) कृषि की दोषपूर्ण पद्धति, (द) भू-स्वामी द्वारा अपनी भूमि को कई व्यक्तियो को 'बटाई' पर उठा देना, (य) नवाबो एवं जमीदारो द्वारा प्रसन्न होकर अपने नौकरो को भूमि के टुकड़े इनाम मे देने की आदत आदि।

भूमि के उप-विभाजन व अपखण्डन के आर्थिक प्रभाव

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोष—**डा० मान** के शब्दो मे, "भू-विभाजन और अपखण्डन साहस और परिश्रम को नष्ट करता है, श्रम की अपार बरबादी करता है। बाडे बनाने के कारण भूमि की अत्यधिक हानि की ओर प्रवृत्ति होती है।" निम्न हानियाँ उनके मत का प्रबल समर्थन करती है—

1. **भूमि का दुरुपयोग**—खेत छोटे-छोटे टुकडो मे उप-विभाजित होने से, खेतो के बीच में मेड एव रास्ते बनाने से बहुत-सी जमीन, जिसमे खेती होनी चाहिये, व्यर्थ ही पडी रहती है।

2. **श्रम व समय का अपव्यय**—खेतो के एक जगह न होकर अनेक स्थानो पर बिखरे होने के कारण किसानो को कृषि-कार्य के लिए इन सभी टुकडो तक स्वयं तथा बैल व औजारो को ले जाना पडता है, जिसमे उनके श्रम तथा समय का अपव्यय होता है और प्रति हेक्टेयर लागत बढ़ जाती है। **प्रो० बी० पी० मिश्र** के मतानुसार 500 मीटर की दूरी पर खेत होने पर लागत मे निम्न प्रकार से वृद्धि होती है :—

कार्य	लागत मे वृद्धि
1. जुताई हेतु श्रम का आवागमन	5·30 प्रतिशत
2. खाद का परिवहन व्यय	20 35 ,,
3. फसल का परिवहन व्यय	15·32 ,,
	40 97 ,,

इसके अतिरिक्त चौकीदार व अन्य व्यवस्था सम्बन्धी व्यय बढने के कारण लागत मे काफी वृद्धि हो जाती है।

3. **अलाभप्रद व्यवसाय**—**सर जान रसल** का कथन है कि "खेतो का अपखण्डन सबसे अधिक हानिप्रद समस्या है। इसके परिणामस्वरूप कृषि एक अलाभकारी व्यवसाय अथवा जीवन-यापन का ढङ्ग मात्र बन गया है।" निरन्तर उप-विभाजन के कारण खेत छोटा होते-होते इतना अनार्थिक हो जाता है कि कृषक को परिवार का निर्वाह करना कठिन हो जाता है।

4. **अदालती झगड़ों को प्रोत्साहन**—खेतो के छोटे-छोटे टुकडे होने से किसानो के बीच चौहद्दी, रास्ता, मेड आदि के लिये प्राय. झगड़े हुआ करते है और गाँवों में मुकदमेबाजी को अनावश्यक प्रोत्साहन मिलता है।

5. **स्थायी सुधारों की असम्भाव्यता**—कृषि मे स्थायी सुधार नही किये जा सकते। क्योकि पहले से ही खेतो का आकार इतना छोटा है कि कभी-कभी पुराने हल

भी भूमि में सरलता से नही घुमाये जा सकने। ऐसी स्थिति में आधुनिक ढङ्ग के कृषि यन्त्र, मशीनें, ट्रैक्टर, विनोवर आदि कार्य मे नही लाये जा सकते।

6. सिचाई में असुविधा—खेतो का छोटे-छोटे टुकड़ो मे बँटे होने से उनकी सिंचाई के लिये न तो कृषक प्रत्येक टुकडे मे कुआँ खुदवा सकता है और न प्रत्येक टुकड़े के पास से होकर नाली निकलवा सकता है, जिससे खेतो को पर्याप्त सिंचाई की सुविधा उपलब्ध नही हो पाती। **प्रो० जथार और बेरी** के शब्दों मे "जब भूमि का अन्यधिक विभाजन हो जाता है तब पर्याप्त जल उपलब्ध होते हुए भी प्राय. सिंचाई करना असम्भव हो जाता है।" **डा० कैंप** के अनुसार छोटे खेतो में सिंचाई कार्य मे कृषक को बहुत घाटा होता है।

7. अन्य दोष—(i) खेतो का आकार छोटा होने से किसान उचित ढङ्ग से उनकी देखभाल नही कर पाता। (ii) छोटे-छोटे खेतो पर लागत व्यय अधिक होने के कारण लाभ कम मिलता है। (iii) खेतो के अपखण्डन के कारण इन पर गहन कृषि भी मुश्किल से हो पाती है।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के लाभ—यद्यपि भूमि का अत्यधिक उप-विभाजन व अपखण्डन अनेक दृष्टिकोणो मे दोषपूर्ण व अवांछनीय है, किन्तु कुछ विद्वानो ने निम्न लाभो के आधार पर इनका समर्थन किया है—

(i) प्रत्येक व्यक्ति को भूमि का कुछ-न-कुछ भाग मिल जाता है, जो न्याय-संगत है।

(ii) सब के पास भूमि होने से सबकी रुचि कृषि मे बनी रहती है।

(iii) अलग-अलग खेतो पर अलग-अलग फसलें बोई जा सकती हैं और यदि एक खेत में एक फसल खराब भी हो जाय तो दूसरे खेत में दूसरी फसल मे लाभ उठाया जा सकता है।

(iv) छोटे-छोटे खेतों पर गहन खेती लाभदायक रहती है।

(v) भूमि का कुछ लोगो के पास केन्द्रीयकरण नही होने पाता।

(vi) फसलों की अदल-बदल (Crop-rotation) की जा सकती है।

(vii) छोटे-छोटे खेत सभी को कुछ-न-कुछ काम प्रदान करते हैं।

(viii) विभिन्न खेतो से विभिन्न फसलें पैदा करके कृषक स्वावलम्बी बन सकता है।

(ix) विभिन्न उर्वरताओं वाले खेतो मे विभिन्न फसलें बोई जा सकती है।

(x) यदि परिस्थितिवश किसी समय बाजार मे एक फसल का मूल्य घट जाय, तब किसान को बहुत हानि नही सहनी पड़ती है, क्योंकि एक फसल की हानि वह अन्य फसलों से पूरी कर लेता है।

(xi) भूमि का समान वितरण होता है और कृषकों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण होता है, जो कि समाज और राज्य को स्थिरता प्रदान करता है।

यद्यपि भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े अनेक दृष्टिकोणों से लाभदायक हैं, परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि कृषि के संगठन की कुशलता की दृष्टि से अनुपयुक्त और

हानिप्रद है। प्रगतिशील कृषि के लिए खेतो का उप-विभाजन तथा अपखण्डन रोकना अत्यन्त आवश्यक है, तभी भारतीय कृषि एक लाभदायक व्यवसाय बन सकेगी।

कृषि-जोतों के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के उपचार

उप-विभाजन तथा अपखण्डन के दोषो को दूर करने के लिये सामान्यत. निम्न सुझाव दिये जाते है—

(1) **आर्थिक जोतों का निर्माण** (Creation of Economic Holdings)—आर्थिक दृष्टि से उचित आकार वाले खेत को आर्थिक जोत कहा जाता है। **कीटिंग** के अनुसार "आर्थिक जोत वह है जो एक व्यक्ति को आवश्यक व्यय घटाने के बाद उसके और उसके परिवार को उचित सुविधाओ सहित भरण-पोषण के लिये पर्याप्त उत्पादन करने का अवसर दे।" किन्तु **डा० मान** के अनुसार 'आर्थिक जोत उसे कहते है जिस पर खेती करके एक औसत परिवार सन्तोषजनक न्यूनतम जीवन-स्तर प्राप्त कर सके।"

इन परिभाषाओ मे 'न्यूनतम स्तर' और 'उचित सुविधायें' अस्पष्ट धारणायें है। वास्तव मे आर्थिक जोत से हमारा अभिप्राय उस जोत से है जो कृषक को अपनी साधन इकाइयो का सबसे कुशल ढङ्ग से प्रयोग करने का उचित अवसर प्रदान करे। अर्थात् आर्थिक दृष्टि से जोत का सर्वोत्तम आकार वह होता है जिस पर खेती करने की लागत कम हो।

भारत मे प्रथम **पंचवर्षीय** योजना के अन्तर्गत योजना आयोग ने आर्थिक जोत के स्थान पर 'पारिवारिक जोत' का विचार प्रस्तुत किया है। इस पारिवारिक जोत की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "पारिवारिक जोत वह क्षेत्रफल है जो स्थानीय दशाओ के अनुसार तथा कृषि की वर्तमान प्रविधि के अन्तर्गत कृषि काल मे उपलब्ध सहयोग सहित कार्य करते हुए औसत परिवार के जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त हो। यह एक 'हल इकाई' या एक 'कार्य इकाई' के बराबर होती है।" इस प्रकार आर्थिक जोत और पारिवारिक जोत मे विशेष अन्तर नही है।

परन्तु आर्थिक जोत का आकार क्या हो, इस सम्बन्ध में सभी विद्वानो के मत अलग-अलग है। **डा० कीटिंग** के अनुसार आर्थिक जोत का आकार 40 एकड़ से 50 एकड़ तक होना चाहिए। **स्टैनले जेवन्स** के अनुसार आर्थिक जोत का आकार लगभग 30 एकड़ होना चाहिए। **प्रो० डार्लिंग** का मत है कि आर्थिक जोत का आकार केवल 10 एकड तक ही होता है। इसी प्रकार **डा० स्टैम्प** ने आर्थिक जोत का आकार केवल 1 एकड अच्छी तरह से जोती हुई भूमि को माना है।

श्री ईस्ट के अनुसार आर्थिक जोत के लिए प्रति व्यक्ति $2\frac{1}{2}$ एकड भूमि चाहिए। परन्तु **श्री स्टैनली जेवन्स** का मत है कि "आर्थिक जोत का आकार 30 एकड़ भूमि होना चाहिए।"

भारत के सन्दर्भ में प्रो० डार्लिङ्ग का मत अधिक सही प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि देश के अनेकं उपजाऊ भागो मे 5 एकड़ भूमि पर एक परिवार का

जीवन निर्वाह सरलता से हो सकता है। इसके साथ ही जहाँ पर भूमि कम उपजाऊ है और सघन कृषि पद्धति की जडे नही जम पाई हैं, वहाँ एक परिवार के निर्वाह के लिए 10 एकड जमीन की आवश्यकता होगी। उप-विभाजन व अपखण्डन के दोषो को दूर करने के लिये आवश्यक है कि आर्थिक इकाइयो का निर्माण किया जाय। आर्थिक जोत स्थापित करने के लिये निम्न उपाय अपनाये जा सकते है—

(अ) जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारण—इस व्यवस्था के अन्तर्गत जिन व्यक्तियो के पास निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक भूमि होती है वह सरकार के पास आ जाती है। इस भूमि को सरकार उन कृषको को दे देती है जिनके खेत अनार्थिक होते है। इससे अनार्थिक जोतें आर्थिक बन जाती हैं।

(ब) वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था—जिन कृषको के पास बहुत ही छोटी जोतें हैं, उन्हे अपनी भूमि छोडने के लिये और ग्रामीण क्षेत्रो मे अन्य धन्धे अपनाने के लिये प्रेरित किया जाना चाहिये। इससे छोटी-छोटी जोतों को मिलाकर आर्थिक जोतें बनाने मे सहायता मिलेगी।

(स) उत्तराधिकार के नियमो में परिवर्तन—वर्तमान उत्तराधिकार प्रणाली के अनुसार पिता की सम्पत्ति मे पुत्र-पुत्रियो को समान हिस्सा मिलता है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जानी चाहिये कि भू-सम्पत्ति तो केवल बडे लडके को ही मिले, किन्तु वह इस सम्पत्ति की आय में से आनुपातिक हिस्सा अपने भाइयो को भी दे।

(द) विभाजन की न्यूनतम सीमा निर्धारण—सरकार को अधिनियम बना कर भूमि के विभाजन की एक ऐसी उचित सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये, जिससे अधिक भूमि का विभाजन न हो सके।

(य) चकबन्दी—चकबन्दी से आशय कई छोटे-छोटे खेतो को, पुनर्व्यवस्था द्वारा एक बडे चक या खेत में परिणत करना, अर्थात् अलाभकारी जोतो को लाभकारी जोतो में परिणत करना है। इस प्रकार, चकबन्दी के द्वारा किसान को कई बिखरे हुए टुकडो के स्थान पर, एक ही जगह मे सारी भूमि प्राप्त हो जाती है। चकबन्दी के दो तरीके हैं—प्रथम, किसानों मे परस्पर स्वेच्छापूर्ण सहयोग की भावना के आधार पर और द्वितीय, कानून द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाकर। सहयोग द्वारा चकबन्दी का कार्य शीघ्रतापूर्वक नही हो पाता। इसलिये, कानून द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाना ही उत्तम तरीका होता है। परन्तु चकबन्दी एक अस्थायी उपचार है। क्योंकि, यदि भूमि-विभाजन या अपखण्डन को बढ़ावा देने वाले कारण भविष्य में बने रहे तो एक दिन जोतें पुनः अनार्थिक हो जायेंगी। अतः चकबन्दी के साथ-साथ अन्य उपायों को भी काम में लाना चाहिये।

(ii) भूमि का राष्ट्रीयकरण—कुछ विद्वानों का मत है कि जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन के दोषों को दूर करने का एक उपाय देश की सम्पूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण करके सहकारी कृषि व्यवस्था प्रचलित की जानी चाहिये। रूस तथा चीन में इसके द्वारा कृषि उपज में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। परन्तु भारत के लिये यह

सुझाव व्यावहारिक नही प्रतीत होता, क्योकि भारतीय कृषको मे भूमि के प्रति गहरा प्रेम है, जिससे भूमि को लेने पर विद्रोह भडकने की सम्भावना है।

(iii) **सहकारी खेती एव सहकारी ग्राम व्यवस्था**—सहकारी खेती द्वारा भी उपविभाजन तथा अपखण्डन की समस्या दूर की जा सकती है। इस व्यवस्था के अन्त-र्गत जिन किसानो के पास छोटे या मध्यम आकार के खेत है वे सहकारी कृषि समिति बनाकर सहकारी ढंग पर कृषि कर सकते है। इससे, इन खेतो के छोटे आकार समाप्त हो जायेंगे और बडे पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त हो सकेंगे। हमारे देश के कुछ भागो मे इस प्रकार की व्यवस्था कायम करने का प्रयास किया गया है। सम्भवत इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओ मे भी सहकारी कृषि व्यवस्था को भारतीय कृषि व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य माना गया है।

योजना आयोग ने उप-विभाजन एवं अपखण्डन से मुक्ति पाने के लिये अन्तिम लक्ष्य 'सहकारी ग्राम-प्रबन्ध' रखा है। सहकारी ग्राम-प्रबन्ध की निम्न विशेषतायें होगी—

(अ) समस्त गाँव को एक इकाई माना जायगा। (ब) भूमि पर स्वामित्व तो व्यक्ति विशेष का ही होगा, किन्तु कृषि-कार्य सामूहिक रूप से किया जायेगा। (स) लाभ को भूमि स्वामित्व के अनुपात मे बाँट दिया जायेगा। (द) गॉव की समस्त भूमि को बडे-बडे हिस्सो या निश्चित ब्लाको मे बॉटा जायेगा, ताकि बडे पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त हो सके।

(iv) **अन्य सुझाव**—खेतो के उप-विभाजन और अपखण्डन की समस्या को दूर करने के लिये कुछ अन्य उपाय भी किये जाने चाहिये जैसे (अ) बडे पैमाने के उद्योगो का विकास किया जाना चाहिए और कुटीर उद्योगो को पुनर्जीवित किया जाय। (ब) जनसख्या-वृद्धि पर रोक लगाने के लिये प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिये (स) शिक्षा का प्रसार करना चाहिये, जिससे लोग उन्नत खेती के महत्त्व को समझने लगे। (द) बंजर व व्यर्थ भूमियो को कृषि योग्य बनाना चाहिये, जिससे कृषि क्षेत्रो का विस्तार हो सके।

सरकार द्वारा उठाये गये कदम—भारतवर्ष मे भूमि के उप विभाजन व अप-खंडन की समस्या को दूर करने के निम्न उपाय किये गये है —

(1) **अधिकतम जोत सीमा निर्धारण**—पजाब को छोडकर भारत के अन्य सभी राज्यों मे, वहाँ की स्थानीय दशाओ को ध्यान मे रखते हुए भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने वाले अधिनियम पारित हो चुके है। ये अधिनियम निर्धारित करते है कि कितनी अधिकतम भूमि कोई रख सकता है। साथ ही, ये अधिनियम भविष्य मे भूमि प्राप्त करने पर भी रोक लगाते है। इस व्यवस्था को लागू करने के कारण राज्य सरकारो को बडी मात्रा मे भूमि प्राप्त हुई।

(2) **भावी उप-विभाजन एवं अपखण्डन पर रोक**—भविष्य में भूमि के और अधिक उप-विभाजन और अपखण्डन न हो सके, इसके लिये विभिन्न राज्य सरकारो द्वारा ऐसी न्यूनतम सीमाये निर्धारित कर दी गई है, जिसके नीचे भूमि का उप विभा-

जन नही हो सकता। कुछ राज्यो में निर्धारित न्यूनतम क्षेत्र इस प्रकार हैं—असम—5 बीघा, उत्तर प्रदेश—3 एकड, मध्य प्रदेश—15 एकड सिंचित क्षेत्र, एव 15 एकड असिंचित क्षेत्र।

(3) **सहकारी कृषि एवं सहकारी ग्राम प्रबन्ध**—सरकार ने कृषि के विकास मे सहकारी कृषि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सहकारी कृषि के विकास की व्यवस्था की है। पहली योजना की अवधि मे प्राय. सभी राज्यो में सहकारी कृषि के लिये आवश्यक नियम बनाये गये। दूसरी योजना मे सहकारी कृषि के विकास के लिये एक उचित एवं ठोस नीव रखने की चेष्टा की गई। तृतीय योजना के अन्त तक 5,500 कृषि समितियाँ बनी हैं। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे 10 हजार और सहकारी कृषि समितियो के बनाये जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अन्ततोगत्वा एक समय आने वाला है, जबकि सम्पूर्ण भूमि और ग्राम प्रबन्ध सहकारी समितियो के हाथ मे आ जायगा।

(4) **भूमि की चकबन्दी**[1] भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत चकबन्दी की व्यवस्था पर पर्याप्त जोर दिया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना मे, विभिन्न राज्यों मे चकबन्दी सम्बन्धी कानून बनाये गये। तृतीय योजना काल मे कुल 113 लाख एकड भूमि मे चकबन्दी का कार्य हुआ। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे लगभग 94·2 लाख हेक्टेयर भूमि मे चकबन्दी का आयोजन है।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में जोत उप-विभाजन और विखण्डन के परिणामो का विवेचन कीजिए। इस समस्या को हल करने मे जोतो की चकबन्दी से क्या मदद मिल सकती है?

[**संकेत**—इसमे उपविभाजन व विखण्डन के गुण-दोष देकर चकबन्दी के गुण देना है।]

2. भारत मे अलाभकारी कृषि जोत की समस्या की विवेचना कीजिए। इसके उपचार के लिए क्या-क्या उपाय किये जा रहे हैं?

[**संकेत**—इसमें उपविभाजन के दोष देकर चकबन्दी के गुणो का वर्णन करना है।]

3. भारत में खेतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन से कृषि प्रगति को कैसे बाधा पहुँचती है? इन कठिनाइयों पर कैसे विजय प्राप्त हो सकती है?

[**संकेत**—इसमे उपविभाजन एवं अपखण्डन के दोष देना है तथा उसे दूर करने के उपाय बताना है।]

4. भारत में कृषि जोतों के विभाजन और अपखण्डन के क्या कारण हैं?

---

1. भारत में सहकारी कृषि व भूमि की चकबन्दी का विस्तृत विवरण पृथक् अध्यायों में दिया गया है।

जोतो की चकबन्दी और सहकारी खेती इस समस्या को कहाँ तक हल कर सकती है ?

[संकेत—इसमे उपविभाजन व अपखण्डन के कारण दीजिए तथा चकबन्दी व सहकारी खेती का वर्णन कीजिए ।]

5. भारत मे कृषि जोतो के उपविभाजन एवं विखण्डन के दुष्परिणामों तथा कारणो पर प्रकाश डालिए । इस समस्या को हल करने के लिए क्या उपाय किये गये है ?

[संकेत—इसमे उपविभाजन के दोष व चकबन्दी का वर्णन कीजिए ।]

5

कृषि जोतों की चकबन्दी
(Consolidation of Agricultural Holdings)

चकबन्दी के आशय—खेतो की चकबन्दी मे हमारा अभिप्राय खेतो के उस पुनस्संगठन से है जिससे भूमि के बहुत छोटे-छोटे अथवा बिखरे हुए टुकडो को एक स्थान पर एकत्रित किया जा सके। स्क्रिटलैंड के अनुसार, "चकबन्दी वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा स्वामित्वधारी काश्तकारो को इस बात के लिए मनाया अथवा बाध्य किया जाता है कि वे इधर-उधर बिखरे हुए टुकडो को त्याग कर उनके बदले मे उसी किस्म के उतने ही आकार के एक या दो चक (खेत) ले ले। इस तरह का विनिमय यूरोप के सभी देशो मे पिछली तीन शताब्दियो मे चालू हुआ है।"

चकबन्दी की प्रणालियाँ

भारत मे चकबन्दी के निम्न दो ढङ्ग प्रयोग किये गये हैं :—

1. **ऐच्छिक चकबन्दी**—इस पद्धति के अन्तर्गत गाँव के कुछ अथवा समस्त किसान स्वेच्छापूर्वक अपने छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतो का आदान-प्रदान करने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐच्छिक ढंग पर चकबन्दी के लिए भारत मे सर्वप्रथम प्रयास सहकारी समितियो द्वारा सन् 1920 मे किया गया था। सहकारी चकबन्दी समितियो का उद्देश्य छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतो के स्थान पर किसान को एक चक मे बडा खेत प्रदान करना है। परन्तु भारत मे (i) कृषको की अशिक्षा और अज्ञानता, (ii) पैतृक भूमि के प्रति प्रेम, (iii) सिचाई के साधनो की तुलनात्मक अनुकूलता, (iv) भूमि सम्बन्धी अधिकारों की विभिन्नता और उनके छीने जाने की आशंका व (v) प्रशिक्षित कर्मचारियो की कमी के कारण वह ढंग अधिक लोकप्रिय नही हुआ है। जैसे कि श्री कौटिंग्ज ने कहा है, "भारत जैसे देश के लिये जहाँ किसानों में घोर अज्ञानता है यह आशा करना कि वे उदारता एवम् बुद्धिमत्ता से अपनी जड़ता छोड़कर चकबन्दी के लिये तैयार होंगे, केवल हठ है।"

2. **अनिवार्य चकबन्दी** (Compulsory Consolidation)—अनिवार्य चकबन्दी दो प्रकार की होती है—

(अ) आंशिक अनिवार्य चकबन्दी—ऐच्छिक चकबन्दी की असफलता के कारण

बात से सतर्क रहने के लिए कहा गया है कि जोतो की चकबन्दी के नाम पर काश्त-कारो तथा बटाईदारो के हितो पर कोई आघात नही पहुँचना चाहिए।

चकबन्दी कार्यक्रम की उपलब्धियाँ या प्रगति

चूँकि सभी राज्यो ने चकबन्दी कार्यक्रमो को एक समान तत्परता से नही अपनाया है इसलिए इस कार्यक्रम की प्रगति विभिन्न राज्यो मे असमान रही है—(अ) पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश मे चकबन्दी कार्यक्रम पूरा कर लिया गया है; (ब) महाराष्ट्र और हिमाचल प्रदेश मे इस दिशा मे काफी प्रगति हुई है; (स) मध्य-प्रदेश, गुजरात और कर्नाटक राज्यो मे भी कुछ काम हुआ है, जब कि आन्ध्र प्रदेश, बिहार और जम्मू-काश्मीर में यह परीक्षण के दौर से गुजर रहा है; (द) असम, उडीसा और पश्चिम बंगाल मे इस दिशा मे कोई प्रगति नही हो सकी है, यद्यपि इन राज्यो में भी इसे लागू करने के लिए वैधानिक व्यवस्था विद्यमान है।

भारत के विभिन्न राज्यो मे कुल चकबन्दी क्षेत्र का विवरण निम्न सारणी मे दिया गया है —

भारत में विभिन्न राज्यों में चकबन्दी किये गये क्षेत्रफल का विवरण

(लाख हेक्टेयर में)

क्र० राज्य	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	तीन वार्षिक योजनाऐं	चौथी योजना	1974-75 से 1977-78
1. आंध्रप्रदेश	—	1.25	2.06	—	—	—
2. आसाम	—	—	—	—	—	—
3. बिहार	0.16	0.60	0.83	0.22	0.27	3.57
4. गुजरात	0.43	0.65	1.15	0.78	3.98	4.17
5. हरियाणा	—	—	—	—	—	—
6. जम्मू और काश्मीर	—	—	0.22	—	—	—
7. मध्यप्रदेश	1.93	3.59	8.02	3.28	7.99	—
8. महाराष्ट्र	1.75	3.55	16.69	21.22	53.35	30.97
9. कर्नाटक	1.09	2 88	3 60	2.40	—	—
10. उडीसा	—	—	—	—	—	—
11. पंजाब	24.72	34.19	31.29	—	—	—
12. राजस्थान	—	5.60	11.27	0.25	—	—
13. उत्तर प्रदेश	0.76	21.06	45.61	21.53	26.38	19.14
14. पश्चिमी बंगाल	—	—	—	—	—	—
15. हिमाचल प्रदेश	0.16	0.49	0.80	अनुपलब्ध	0.40	अनुपलब्ध

चकबन्दी के कार्य की आलोचनात्मक समीक्षा

चकबन्दी कार्यक्रम की जो भी प्रगति हुई हो वह सन्तोषजनक नहीं है। यों तो इसके कारण बहुत से हैं, किन्तु मुख्य कारण यह है कि यह कार्यक्रम सभी राज्यो मे अनिवार्य नही रहा है। दूसरा, कई क्षेत्रो मे चकबन्दी के बाद भी कृषक एक से अधिक खेत के अलग-अलग टुकड़े प्राप्त करते है। तीसरा, वितरित की जाने वाली भूमि को विकसित किये जाने की व्यवस्था नही की गई। अतः बँटवारे मे बड़ी कठिनाई होती है। चौथा, चकबन्दी के साथ या उसके बाद भूमि के विकास के अन्य कार्य नही किये गये। केवल चकबन्दी ही कृषको अथवा कृषि के विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता तो इस बात की है कि व्यवस्था ऐसी की जाय कि चकबन्दी के होते ही किसानो को अपने छोटे-छोटे खेतो को विकसित करने एवम् उन पर अपने उत्पादन बढ़ाने का अवसर मिले।

चकबन्दी में कठिनाइयाँ

भारत मे भूमि की चकबन्दी के कार्य मे बहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडता है जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित है :—

1. **भूमि का मूल्यांकन**—चकबन्दी मे भूमि के मूल्याकन का कार्य अत्यन्त आवश्यक है, ताकि क्षतिपूर्ति का अनुमान लगाया जा सके। इसके लिए कई बातो, जैसे भूमि की उर्वरा शक्ति का, सिंचाई आदि की सुविधाओ और गाँव से दूरी आदि की ओर ध्यान देना पडता है। साथ ही जिन व्यक्तियो के पास अच्छी भूमि है उसे वे छोडना नही चाहते।

2. **भूमि-अधिकार सम्बन्धी दोषयुक्त अभिलेख**—अभी तक देश के कई क्षेत्रो मे भूमि-अधिकार सम्बन्धी अभिलेख अपूर्ण है तथा कई क्षेत्रो मे वे दोषपूर्ण हैं। अतः सही सूचना एकत्रित करने मे बहुत समय लगता है, जिससे चकबन्दी के कार्य मे बाधा पहुँचती है।

3. **प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव**—भारत मे प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव है, जिससे कारण चकबन्दी ठीक नही हो पाती और किसानो मे अत्यधिक असतोष उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप आगे के क्षेत्र मे चकबन्दी का विरोध होना आरम्भ हो जाता है।

4. **किसानो की निरक्षरता व अज्ञानता**—भारत मे अधिकाश किसान अभी अशिक्षित एवं रूढ़िवादी है, जिसके फलस्वरूप वे चकबन्दी के लाभो को ठीक तरह नही समझ पाते। वे प्रत्येक नये सुधार का विरोध करते है। उनका अपने बाप-दादो की भूमि मे अत्यधिक स्नेह है और वे किसी लाभ के लिए उसे त्यागने को तैयार नही होते।

5. **वित्त का अभाव**—चकबन्दी कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त वित्त का अभाव है जिसके कारण चकबन्दी कार्य में शिथिलता आ जाती है।

चकबन्दी के गुण

शाही कृषि कमीशन के शब्दो मे "भारतीय कृषको को भूमि के उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या से छुटकारा दिलाने का एकमात्र साधन चकबन्दी ही है।" संक्षेप मे चकबन्दी के निम्नलिखित लाभ है—

1 **वैज्ञानिक कृषि**--इसमे खेती का आकार बढ़ जाने से वैज्ञानिक कृषि की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

2 **भूमि अपव्यय की बचत**—भिन्न-भिन्न स्थानो के खेतो में बाउन्ड्री लगानी पडती है जिसमे भूमि का खासा अच्छा हिस्सा निकल जाता है लेकिन जब सभी खेत एक चक होते है तो कम भूमि की बाउन्ड्री मे निकलती है। इस प्रकार भूमि का अपव्यय होने से बचत होती है।

3. **भूमि की उचित व्यवस्था**—छोटे-छोटे खेतो की रखवाली करना कठिन होता है लेकिन जब सभी खेत एक चक के रूप मे हो जाते है तो उसकी उचित देख-भाल की जा सकती है।

4 **पारस्परिक विवादों में कमी**—चकबन्दी से पारस्परिक झगडे समाप्त होकर प्रेम और सहयोग की भावना बढती है।

5 **रहन-सहन में सुधार**—चकबन्दी से कृषि उत्पादन मे वृद्धि होती है फलत: कृषको की आय बढती है और उनके जीवन-स्तर मे सुधार होता है।

6. **पूंजीगत उपकरणो का पूर्ण उपयोग**—चकबन्दी के कारण कृषको के द्वारा अपने पूंजीगत उपकरणो हल, बैल, यत्र आदि का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकता है।

7. **श्रम एवं अन्य साधनो की बचत**—चकबन्दी के कारण एक खेत से दूसरे खेत पर जाने मे नष्ट होने वाला श्रम और धन बच जाता है।

8. गाँव मे सड़को, नहरो तथा अन्य सुविधाओ का विकास करना सरल हो जाता है।

परीक्षा प्रश्न

1. चकबन्दी से आप क्या समझते हैं? हमारे देश में कृषि जोतो की चकबन्दी कार्यक्रम कहाँ तक सफल हुए हैं?

2. चकबन्दी की विभिन्न प्रणालियो को बताइए। भारत के सन्दर्भ में कौन-सी प्रणाली अधिक उपयुक्त होगी?

3. हमारे देश में चकबन्दी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा है?

4 "भू-विभाजन और अपखण्डन साहस व परिश्रम को नष्ट करता है, श्रम की अपार बरबादी होती है। बाड़े बनाने के कारण भूमि की अत्यधिक हानि की ओर प्रवृत्ति होती है।"—डा० माने।

"अलग-अलग मिट्टी वाले क्षेत्रो मे भूमि की जोत आवश्यक है, ताकि मौसमो की अनिश्चितता के विपरीत एक निश्चित मात्रा मे सुरक्षा या बीमा मिल सके।"—डा० मुकर्जी।

इन दो वक्तव्यो का सन्तुलन कीजिए और भारत मे भूमि की चकबन्दी के अन्तर्गत सम्पन्न कार्य तथा आवश्यकता बताइये।

[संकेत : उत्तर के प्रथम भाग मे भू-विभाजन व अपखण्डन का अर्थ, हानियाँ व लाभ बताइये व दूसरे भाग मे चकबन्दी की आवश्यकता, चकबन्दी की विभिन्न प्रणालियो व भारत मे चकबन्दी की प्रगति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।]

6

सहकारी कृषि
(Co-operative Farming)

परिभाषा—विभिन्न देशो मे सहकारी कृषि के अलग-अलग रूप अपनाये गये हैं, जिनके कारण सहकारी कृषि की कोई स्पष्ट परिभाषा देना कठिन है। जर्मनी के अर्थशास्त्री डा० ओटो शिलर ने सहकारी कृषि की परिभाषा देते हुए लिखा है—"आधुनिक साहित्य मे सहकारी कृषि का अर्थ, खेतो के ऐसे प्रबन्ध से लगाया जाता है जिसमे भूमि पर किसानो का सयुक्त स्वामित्व होता है। अन्य शब्दो में, भूमि की कृषि मे सहकारिता के सिद्धान्तो का प्रयोग ही सहकारी कृषि कहलाता है।"

सहकारी कृषि की निर्जालगप्पा समिति के अनुसार "सहकारी कृषि समिति कृषको का एक ऐच्छिक संगठन है, जिससे मानव शक्ति व भूमि जैसे साधन एकत्रित किये जाते है, ताकि उनका अधिकतम प्रयोग हो सके। इस संगठन मे अधिकाश सदस्य कृषि कार्यों मे हिस्सा बँटाते है, ताकि कृषि-उत्पादन, रोजगार एवं आय बढ़ सके।"

भारतीय योजना आयोग के शब्दो मे "सहकारी कृषि अनिवार्य रूप से एक ऐसी व्यवस्था है जिससे भूमि को इकट्ठा करके संयुक्त प्रबन्ध द्वारा कृषि कार्य किया जाता है।"

इस प्रकार सहकारी कृषि का सामान्य अर्थ उस व्यवस्था से है जिससे प्रत्येक व्यक्ति का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है, किन्तु खेती संयुक्त रूप से की जाती है। समस्त व्यय एक सम्मिलित कोष मे से किये जाते है और कुल आय में से व्यय घटाने के बाद जो शेष बचता है उसे विभिन्न सदस्यो मे उसकी भूमियो के अनुपात मे बाँट दिया जाता है।

विशेषताएँ—सहकारी कृषि की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. **भूमि का एकत्रीकरण**—सहकारी खेती मे सभी सदस्यो की भूमि को मिलाकर जोत की इकाई बना दी जाती है।

2. **स्वामित्व**—सदस्य अपनी भूमि से स्वामी बने रहते है अर्थात् इससे व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त नहीं होता है।

3. **प्रबन्ध-संगठन**—सहकारी खेती का प्रबन्ध एवं संगठन सयुक्त रूप से किया जाता है।

4. **पारिश्रमिक**—सदस्यों को उनके कार्य के बदले मे पारिश्रमिक दिया जाता है।

5. **पूंजी या भूमि**—जिन व्यक्तियो से पूंजी या भूमि ली जाती है उन व्यक्तियो को ब्याज या लगान दिया जाता है।

6. **लाभ-विभाजन**—सदस्यो को पारिश्रमिक देने के बाद कुल लाभ मे से सुरक्षित कोष का अंश निकालकर शेष सदस्यो के बीच वितरित कर दिया जाता है।

सहकारी खेती के रूप

सामान्यत: सहकारी खेती के रूप इस प्रकार प्रचलित है :—

1 **उच्चतर सहकारी कृषि** (Better Co-operative Farming)—इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक कृषक अपने खेत पर स्वतन्त्र रूप से खेती करता है परन्तु साथ ही वह सहकारी समिति का सदस्य भी होता है। समिति केवल उसके लिए खेती के तरीको मे सुधार के उद्देश्य से अच्छे बीज, अच्छी खाद और आधुनिक औजार तथा सिचाई आदि की व्यवस्था करती है और सदस्यो के उत्पादित मालों को एकत्र कर उसके विक्रय की व्यवस्था भी ये समितियाँ स्वयं करती है। इस प्रकार की समिति द्वारा व्यक्तिगत कृषि को उन्नत किया जा सकता है। भारत मे ऐसी समितियो को सेवा सहकारी समिति का नाम दिया जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सहकारी खेती से, खेती को अच्छा बनाने की दिशा मे सहकारिता के आधार पर सहायता दी जाती है।

लाभ—(i) कृषको की भूमि बनी रहती है, तथा उन्हे अपनी भूमि से लगाव बनाये रखने का अवसर भी मिलता है। इस प्रकार प्रोत्साहन बना रहता है। (ii) यह एक सरल पद्धति है इसमे आपसी संघर्ष होने की कोई सम्भावना नही रहती है। इससे कृषको को सस्ते कृषि साधन मिल जाते है। (iii) किसानो को उपज का उचित मूल्य मिल जाता है।

दोष—(i) इस कृषि से उपविभाजन और अपखण्डन के दोष बने रहते है, (ii) बड़े पैमाने पर खेती नही हो पाती है।

2. **सहकारी संयुक्त कृषि** (Co-operative Joint Farming)—इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न भू-स्वामियो द्वारा कृषि की अपनी भूमि को मिला दिया जाता है और फिर उस पर सयुक्त खेती की जाती है, परन्तु प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व ज्यो-का त्यो बना रहता है। संयुक्त खेती व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है—(i) कृषको द्वारा सहकारी खेती स्वेच्छा से आरम्भ की जाती है। (ii) प्रत्येक सदस्य का अपनी-अपनी भूमि पर स्वामित्व बना रहता है। (iii) खेतो का प्रबन्ध, एक इकाई के रूप मे किया जाता है। (iv) विभिन्न सदस्यों द्वारा प्रबन्ध समिति का चुनाव किया जाता है जिसके निर्देशन मे सब सदस्य कार्य करते हैं। (v) इसके सदस्यो को दो प्रकार से आय प्राप्त होती है—प्रथम तो भूमि के स्वामित्व के अनुपात मे उपज मे भाग मिलता है और द्वितीय, श्रम के लिये मजदूरी मिलती है,

(vi) भूमि से प्राप्त उपज की बिक्री सामूहिक रूप से की जाती है और इस प्रकार की बिक्री से प्राप्त राशि मे से सभी प्रकार के व्यय घटाने के बाद जो शेष बचता है उसे विभिन्न सदस्यो द्वारा उपार्जित मजदूरी के अनुपात मे बाँट दिया जाता है।

लाभ—(i) बडे पैमाने पर कृषि की जाती है जिससे उत्पादन को बढाया जा सकता है। (ii) व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है जिससे लाभांश प्राप्त करने का अधिकार बना रहता है। (iii) कृषि उपज को सहकारी समिति उचित मूल्य पर बाजार मे बेच देती है। (iv) उपविभाजन और अपखण्डन के दोष दूर हो जाते है। (v) रोजगार मे वृद्धि की सम्भावना बढ जाती है एवं सभी व्यक्तियो को लगाये गये श्रम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाता है।

दोष—(i) सामूहिक श्रम से कृषि कार्य अधिक कुशलता से नही हो पाता है। सभी किसान स्वच्छन्द होकर काम करते है, फलत: यथेष्ट लाभ नही मिल पाता है; (ii) अलग होने की स्वतन्त्रता के कारण जब किसान अपनी भूमि को उपजाऊ बना लेता है तब वह इस पद्धति से अलग हो जाता है। (iii) सहकारिता आन्दोलन की कमियाँ भी इस प्रथा मे परिलक्षित होती है।

3. **सहकारी काश्तकारी कृषि** (Co-operative Tenant Farming)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि एक समिति की होती है और कृषि के लिए विभिन्न सदस्यो मे अलग-अलग टुकडों मे बाँट दी जाती है। प्रत्येक किसान समिति द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार खेती करता है। इस समिति द्वारा सदस्यो को बीज, खाद, साख आदि की सुविधाएँ प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त सदस्य उपज को समिति के माध्यम से बेच सकते हैं। सदस्यों द्वारा भूमि के प्रयोग के बदले मे समिति को निश्चित दर के अनुसार लगान दिया जाता है। ये समितियाँ उन्ही स्थानो के लिए अधिक उपयुक्त होती है जहाँ नई भूमि को कृषि योग्य बनाया गया है।

लाभ—(i) व्यक्तिगत कृषि का लाभ स्वयं कार्यकर्ता लेता है। आसानी जो उत्पादन करेगा उसका स्वयं उपयोग कर सकता है; (ii) समिति पूरे जोत की मालिक होती है उसके लिए अपना नियम बनाती है। इस प्रकार कृषि कार्य का संचालन सुचारु रूप से हो जाता है; (iii) कृषकों या असामियों की स्वतन्त्रता बनी रहती है।

दोष—(i) सहकारिता का कोई लाभ नही मिल पाता क्योकि कृषक या आसामी स्वच्छन्द रहते है; (ii) बड़े पैमाने की खेती नही हो पाती।

4. **सहकारी सामूहिक कृषि** (Co-operative Collective Farming)—इस कृषि-व्यवस्था के अन्तगत सदस्यो के सब साधनो को भूमि सहित इकट्ठा कर लिया जाता है तथा इसमे कृषि का स्वामित्व पूर्णतया सामूहिक रूप से सहकारी समिति के हाथ मे रहता है तथा पूरे सामूहिक खेत की भूमि एक इकाई के रूप में जोती जाती है। इस प्रकार सदस्य मजदूरों के रूप मे सामूहिक खेत पर कार्य करते है तथा उन्हें मजदूरी के अतिरिक्त लाभांश भी मिलता है। सोवियत रूस मे इस प्रकार की पद्धति बहुत प्रचलित है। भारत मे इस प्रणाली का प्रयोग नई भूमि पर भूमिहीन श्रमिको

को बसाने के लिए किया गया, परन्तु इस प्रकार की खेती की सम्भावना भारत में बहुत कम है, क्योकि यहाँ के कृषक भूमि पर से अपना स्वामित्व नही समाप्त करना चाहते।

इस प्रकार सहकारी खेती के चारो रूपो को देखने के बाद यह कह सकते है कि भारत की वर्तमान दशाओ को देखते हुए सयुक्त सहकारी कृषि ही उपयुक्त है, क्योकि यह वर्तमान कृषि समस्याओ को दूर करने मे समर्थ है। इसमे गहरी किस्म के बडे पैमाने के उत्पादन के लाभ, कृषि इकाइयो का एकीकरण, व्यक्तिगत स्वामित्व आदि के लाभ प्राप्त होते है। इससे बढती हुई जनसख्या को रोजगार भी मिलेगा।

भारत में सहकारी खेती का महत्त्व

सहकारी कृषि के पक्ष में तर्क—भारत मे सरकारी खेती के पक्ष मे निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

1 **भूमि का सदुपयोग**—सरकारी कृषि मे उपलब्ध भूमि का अच्छा उपयोग किया जा सकता है। भारत मे अधिकाश जोते अनार्थिक है। सहकारी खेती से इन अनार्थिक जोतो को आर्थिक जोतो मे बदला जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सहकारी कृषि के अन्तर्गत प्रत्येक भूखण्ड उस फसल के प्रयोग मे आयेगा जिसके लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त है।

2. **श्रमशक्ति का सदुपयोग**—चूंकि सहकारी कृषि मे सभी कृषक संयुक्त रूप मे कार्य करते है, इसलिए उनमे से प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिल जाता है। सहकारी कृषि मे भूमिहीन श्रमिको को भी कठोर परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है, क्योकि उन्हे अपने श्रम का प्रतिफल मिलने की आशा रहती है।

3 **कृषि भूमि में सुधार**—छोटे किसान साधनो के अभाव मे सघन व उन्नत खेती नही कर सकते। सहकारी फार्मों मे वैज्ञानिक कृषि करना सम्भव हो जाता है, क्योकि उत्तम बीज, खाद आदि की सुविधाये बढ जाती है। साथ ही, आदर्श आकार सयुक्त खेतो मे कृषि से सम्बन्धित पूंजी, जैसे बैल, औजार तथा सिचाई के साधन का भी अच्छे प्रकार से उपयोग किया जा सकता है।

4 **खाद्यान्नो एव कच्चे मालो के एक विशाल अतिरेक का सृजन**—सहकारी कृषि के पक्ष मे एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि बडी-बडी जोतो से खाद्य पदार्थों तथा कृषि से प्राप्त औद्योगिक कच्चे माल का विक्री-योग्य एक विशाल अतिरेक प्राप्त किया जा सकता है। शीघ्र औद्योगीकरण के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक श्रम को भोजन देने के लिये पर्याप्त खाद्यान्न एवं उद्योग के लिये पर्याप्त कच्चा माल मिलता रहे। इस प्रकार, सहकारी कृषि द्वारा औद्योगीकरण के लिए अत्यन्त आवश्यक कृषि अतिरेक को आसानी से बढाया जा सकता है।

5. **सामाजिक लाभ**—सहकारी खेती का एक बहुत बडा सामाजिक लाभ यह है कि कृषको का शोषण बन्द हो जाता है, क्योकि उन्हे जमीदारो पर आश्रित नही

रहना पडता, साहूकारों से रुपया उधार लेने की आवश्यकता नही पडती तथा कृषि पदार्थों का पूरा मूल्य प्राप्त हो जाता है।

6. **भावात्मक एकता**—सहकारी खेती से भावात्मक एकता का भी विकास होता है, क्योकि सभी धर्मों के व्यक्ति एक साथ बैठकर सामूहिक हित के लिए विचार एव कार्य करते है जिससे अपनी समस्या एवं मान्यताओ को समझने का अवसर मिलता है।

7. **बहूद्देशीय नदी घाटी योजना का सदुपयोग**—सहकारी खेती से ऐसी योजनाओ का सदुपयोग होता है, क्योकि ऐसे क्षेत्रो मे सहकारी खेती प्रणाली लागू करके हम इन प्रायोजनाओ का विदाहन अच्छी तरह से कर सकते हैं।

8. **भूमि पुनरुद्धार कार्यक्रम**—इसके लिये सहकारी कृषि बडी उपयोगी व आवश्यक है; क्योकि इस कार्यक्रम के अन्तर्गत व्यर्थ पडी हुई भूमि को खेती में सम्मिलित किया जाता है। अतः व्यय अधिक लगता है। सहकारिता के आधार पर इस कार्यक्रम को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

9 **यांत्रिक कृषि**—सहकारी कृषि विस्तृत रूप मे की जाती है। पूंजी की भी सुविधा रहती है। अन. इनसे यांत्रिक कृषि का उपयोग किया जा सकता है और इसके लाभो को प्राप्त किया जा सकता है।

10. **अन्य लाभ**—(i) सहकारी कृषि द्वारा ही फसलों का आयोजन सम्भव होता है। (ii) सहकारी कृषि द्वारा सरकार और कृषको के मध्य प्रत्यक्ष व घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, क्योंकि सरकार के लिये बडी-बडी जोतो के साथ सम्पर्क रखना आसान होता है। (iii) कृषि सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करने मे भी सुविधा रहती है। (iv) खाद्यान्न में राजकीय व्यापार की नीति को कार्यान्वित करने मे इस पद्धति से सहायता मिल सकती है। (v) सहकारी कृषि में कृषकों की आय बढ़ती, उनकी निर्धनता घटती एवं उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सहकारी कृषि के अधिकांश लाभ इसके बड़े आकार, संयुक्त प्रबन्ध एवं व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण उत्पन्न होते हैं। पाटिल शिष्ट मंडल का भी कथन है "सहकारी कृषि के अन्तर्गत कृषि बडे पैमाने पर की जा सकती है और इससे बडे पैमाने के उत्पादन की सभी मितव्ययितायें, जैसे लगान मे कमी, यन्त्रीकरण व प्रबन्ध कौशल प्राप्त करना सम्भव हो जाता है।

सहकारी कृषि के विरोध में—सहकारी खेती के विपक्ष में भी कई विद्वानों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं।

(i) **सहकारी कृषि के लाभ वास्तविक नहीं है**—आलोचकों का कहना है कि सहकारी कृषि के पक्ष में जो लाभ बताये गये वे वास्तविक नहीं हैं। उनका कहना है कि (अ) सहकारी कृषि से रोजगार मे वृद्धि की आशा नहीं की जानी चाहिए, क्योकि सहकारी खेती से कृषि का यंत्रीकरण बढ़ेगा और खेती पर निर्भर मजदूर बड़ी संख्या में बेकार हो जायेंगे और साथ ही पशुधन की उपेक्षा होने लगेगी। (ब) बड़े पैमाने की कृषि ने थोडे ही वर्षों मे एकत्रित मिट्टी की उर्वरता को समाप्त कर दिया

है। वास्तव में जोतो का आकार जितना कम होता है, मिट्टी की उर्वरता भी उतनी ही अधिक होती है। अत: इस दृष्टि से भी सहकारी कृषि लाभदायक नही है। (स) कृषि से श्रम-विभाजन मितव्ययितायें होती भी हैं तो वे अकुशल प्रबन्ध के कारण समाप्त हो जायेंगी। (द) सहकारी खेती की उपज प्रत्येक सदस्य की भूमि के हिस्से तथा उसके श्रम के अनुसार बाँटी जाती है अर्थात् उपज के वितरण मे असमानता आना स्वाभाविक है। इससे कई सदस्य असतुष्ट रहेगे।

(ii) **भारत में सहकारी कृषि के मार्ग में कठिनाइयाँ व बाधाएँ**—आलोचको का यह भी कहना है कि सहकारी कृषि की सफलता मे सबसे बडी बाधा भारतीय ग्रामो मे व्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक विषमतायें हैं। कुछ प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार है—(i) वर्तमान ग्रामीण समाज मे सहकारिता की भावना का अभाव, (ii) किसानो का अपनी जमीन के प्रति प्रगाढ़ स्नेह, (iii) निरीक्षण एव प्रबन्ध सम्बन्धी कुशलता का अभाव (iv) गाँव मे उचित नेतृत्व का अभाव, (v) जमीदारो एवं साहूकारो का विरोध, (vi) जाति प्रथा एवं सामाजिक विशेषतायें, (vii) आर्थिक असमानताएँ, (viii) कृषको की अशिक्षा एवं अज्ञानता, (ix) सामूहिक जिम्मेदारी की भावना का अभाव, (x) कृषि से सम्बन्धित विभिन्न विभागो मे समन्वय का अभाव।

(iii) **अन्य देशो में सहकारी कृषि की असफलता**—आलोचको का यह भी कहना है कि विश्व के अन्य देशो मे जहाँ कही भी सहकारी कृषि अपनाई गई है सभलता नही मिली है। यदि कही सहकारी कृषि ने कुछ प्रगति दिखाई है तो इसका कारण सरकार का दबाव या सकटकालीन परिस्थितियो का विद्यमान होना रहा है। उदाहरण के लिये, पोलैण्ड मे सहकारी कृषि को प्राय. त्याग दिया गया है और चीन मे सहकारी फार्मों का उत्पादन कम होने लगा है। ऐसी परिस्थिति मे भारत के लिए यह तर्कसंगत नही होगा कि यह सहकारी कृषि को अपनाये। श्री **राजगोपालाचारी के** शब्दो मे, "साम्यवादी देशो को छोड़कर, जहाँ व्यक्ति स्वतंत्रता का अभाव है और लोगो से जबरदस्ती काम कराया जाता है, कही भी सहकारी खेती का प्रयोग नही किया गया। सहकारी खेती बल प्रयोग के बिना सम्भव नही होगी। लोग खुशी से मजदूर बनने के लिये राजी नही होगे और किसान तो और भी कम। हमारे देश मे सहकारी खेती भयंकर रूप से विफल होगी।"

(iv) **सहकारी खेती के विरोध में अन्य तर्क**—सहकारी खेती के विरोध मे कुछ अन्य तर्क इस प्रकार दिये जाते हैं—

1 सहकारी खेती को सामूहिक खेती की प्रथमावस्था के रूप मे देखा जाता है, जिससे अन्त तक समूह की सत्ता सर्वोपरि हो जायेगी और किसानो की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उन्मूलन होकर वह एक वैतनिक मजदूर रह जाएगा। इसीलिए कई विद्वान् सहकारी खेती को साम्यवाद की दिशा में पहला कदम समझते हैं।

2. भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली के विघटन तथा किसानो में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की वृद्धि के कारण संयुक्त खेती बहुत कम किसान स्वेच्छा से अपनायेंगे।

3. सहकारी खेती मे काम का बँटवारा उचित ढग से करना बहुत कठिन है।

अत. काम के असमान विभाजन से कई सदस्य असन्तुष्ट रहेगे जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पडेगा।

4. सहकारी नेतृत्व का अभाव, किसानो की अशिक्षा व अज्ञानता तथा राजनीतिज्ञो के हस्तक्षेप के कारण सहकारी खेती के वास्तविक सचालन मे बहुत-सी कठिनाइयो का उदय होगा। और उसके अनुचित प्रयोग के रूप मे नकली समितियाँ बड़ी सख्या मे संगठित होने का भय है।

5 खेतो के प्रबन्ध कार्य मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न होने से कई किसान प्रेरणाहीन होगे, जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पडेगा, जैसा कि आर्थर लुईस ने बताया, "अर्द्धविकसित देशो मे तीव्र कृषि प्रगति का रहस्य कृषि विस्तार मे, उर्वरको मे, उन्नत बीजो में, कीटनाशक औषधियो मे और जलापूर्ति की व्यवस्था मे निहित है, फार्म का आकार बदलने मे नही।"

निष्कर्ष—इस प्रकार कई समर्थको तथा विरोधियो ने सहकारी खेती के पक्ष व विपक्ष मे तर्क दिये है, किन्तु भारत मे सहकारी खेती पर आर्थिक दृष्टिकोण के कम ही विचार किया गया है। हमारी सम्मति मे भारत के लिए सहकारी खेती लाभदायक ही होगी। सहकारी खेती के विरुद्ध जो अनेक तर्क दिये गये हैं उनका उत्तर दिया जा सकता है। जैसे सहकारी खेती अधिक बेरोजगारी उत्पन्न करेगी ऐसा अनिवार्य नही है, क्योकि देश में औद्योगिक उन्नति से, विशेष कर कृषि से सम्बन्धित लघु उद्योगो के विकास से सहकारी कृषि द्वारा बेकार हुए अधिकाश श्रमिकों को काम मिल जायगा। यह भी आवश्यक नही है कि सहकारी कृषि मे अवश्य ही बड़े पैमाने पर यन्त्रीकरण किया जाय। सच तो यह है कि सहकारी कृषि रोजगार के अनेक नये अवसर उत्पन्न करेगी, जैसे भूमि समतल करना, नालियाँ तथा बाँध आदि बनाना, कुओ की खुदाई करना आदि। इनमें बेरोजगार कृषको को काम मिल सकेगा।

यह भी कहना उचित नही है कि कृषको का अपनी जमीन के प्रति प्रगाढ़ स्नेह होने के कारण सहकारी खेती सफल नही होगी। क्योकि भूमि से प्रेम विश्व के सभी कृषकों मे पाया जाता है, फिर सहकारी संयुक्त-कृषि के अधीन कृषक भूमि नहीं खोते, केवल मिल कर कार्य करते हैं। हमारी सरकार एक लोकतंत्रीय सरकार है। अत. सरकार द्वारा किसी प्रकार के दबाव की आशंका नही की जानी चाहिये। हम दबाव नही अनुरोध का मार्ग अपना रहे हैं। अतः कोई कारण नही है कि भारतीय कृषकों पर सहकारी कृषि मे शामिल होने के लिये दबाव डालना पड़े। यह भी कहना ठीक नहीं है कि निर्वाचित प्रबन्ध-व्यवस्था अकुशल ही रहेगी। क्योकि, यदि समुचित प्रेरणाएँ प्रदान की जायँ तो प्रबन्ध में कुशलता बढ़ायी जा सकती है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि सहकारी कृषि का निर्माण धीरे-धीरे किया जाय न कि एकदम, जिसमे दूसरे कृषको को धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त होता जायगा और वे कुशल प्रबन्धक बन जायेंगे। यह आलोचना भी सही नहीं है कि सहकारी फार्म छोटे फार्मों के समान उत्पादक नहीं होते। भारत के सम्बन्ध में इस बात से सभी भली-भाँति परिचित हैं कि छोटे-छोटे अनार्थिक खेतो के कारण ही यहाँ कृषि अत्यन्त पिछड़ी हुई अवस्था मे है।

फिर यह भी जरूरी नही है कि खेती के प्रबन्ध कार्य मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न होने से किसान प्रेरणाहीन हो जायेंगे, क्योकि अभी भी औसत भारतीय कृषक स्वतन्त्र नही है। यदि वह काश्तकार है तो जमीदार उसका स्वामी है या वह महाजन अथवा साहूकार के चंगुल मे है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे सहकारी खेती के विरोध में दिये गये तर्कों का विशेष महत्त्व नही है, बल्कि सहकारी कृषि का पक्ष अधिक प्रबल प्रतीत होता है। वस्तुत. भारत मे सहकारी खेनी का उद्देश्य बड़े पैमाने पर यान्त्रिक खेती करना ही नही है, बल्कि असख्य अनार्थिक इकाइयो को मिलाकर किसानो की अर्थ-व्यवस्था को सुधारना है। भारत मे सहकारी कृषि को सफल व लोकप्रिय बनाने के लिये सैद्धान्तिक कट्टरता के स्थान पर, व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है। क्योकि इसी के द्वारा न केवल भारतीय कृषि को, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय अर्थ-व्यवस्था को उन्नत किया जा सकता है। हमे कृषको को यह विश्वास दिलाना होगा कि उनके व्यक्तिगत स्वामित्व एव स्वतन्त्रता को किसी प्रकार का खतरा नही है। कृषि से सम्बन्धित विभिन्न विभागो मे समन्वय स्थापित करना ही प्रधान लक्ष्य है।

भारत में सहकारी कृषि की प्रगति (Progress of Co-operative Farming in India)—वैसे तो योजनाकाल के पूर्व ही भारत मे सहकारी खेती की दिशा में प्रयत्न किये गये थे, किन्तु व्यवस्थित रूप से सहकारी कृषि के प्रचलन के सम्बन्ध मे प्रयास पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत ही किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना से सहकारी कृषि को प्रोत्साहित करने के लिए सुझाव दिये गए और यह कहा गया कि छोटे-छोटे कृषको को स्वेच्छा से सहकारी समितियाँ बनाने के लिए प्रेरित किया जाय। इस योजना मे सहकारिता के लिए 50 लाख रुपये का प्रावधान किया गया। 1956 तक देश में 1000 सहकारी कृषि समितियाँ कार्य कर रही थी। इस योजना मे पंजाब, उत्तर प्रदेश, तथा बम्बई मे सहकारिता का विशेष प्रचलन हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना मे उत्पादन बढाने के लिए सहकारी कृषि समिति की स्थापना पर विशेष बल दिया गया। इस योजना मे 140 लाख रुपये का प्रावधान किया गया। 1960-61 तक 6325 सहकारी कृषि समितियाँ थी।

तृतीय पचवर्षीय योजना—इस योजना मे 1100 लाख रुपये व्यय करने का प्रावधान था। सहकारी खेती के विकास के लिए सहकारी सलाहकार मण्डल की स्थापना हुई।

चतुर्थ एवं पंचम पंचवर्षीय योजनाएँ—चतुर्थ एव पंचम पंचवर्षीय योजनाओ मे भी सहकारी कृषि पर तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे सहकारी कृषि के विकास के लिए 18 करोड रुपये की व्यवस्था की गई।

वर्तमान स्थिति—नवीन आँकडो के अनुसार देश मे 9,772 संयुक्त सहकारी समितियाँ है इनके अधीन कृषि भूमि का लगभग 6.3 लाख हैक्टेयर क्षेत्र है तथा इनके सदस्यो की संख्या 2.7 लाख है।

सहकारी खेती की धीमी प्रगति के कारण

भारत मे सहकारी खेती की प्रगति सन्तोषजनक नही रही है। इसके लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं—

1. **राज्य सरकारों की उपेक्षापूर्ण नीति**—राज्य सरकारो द्वारा सहकारी खेती को उतना महत्त्व नही दिया गया जितना आवश्यक था। उदाहरण के लिए आन्ध्र प्रदेश में सन् 1962 तक पथ-प्रदर्शक योजनाओ को शुरू नही किया गया था।

2. **समन्वय का अभाव**—अधिकाश दशाओ मे सहकारी कृषि समितियो तथा अन्य समितियो जैसे साख समितियो, सिंचाई समितियो इत्यादि मे उचित समन्वय का सर्वथा अभाव रहा है।

3. **निकृष्ट भूमि**—देश मे सहकारी कृषि की अधिकाश प्रगति मध्यस्थो की समाप्ति से प्राप्त भूमि और भूमिहीन किसानो को दी जाने वाली भूमि के सम्बन्ध में हुई है। ऐसी भूमि का अधिकाश भाग निकृष्ट किस्म का है जिससे समितियो के विकास में कठिनाई रही है।

4. **भूमि सुधार कानूनों से बचाव**—अनेक सहकारी समितियो का निर्माण एक ही परिवार के सदस्यो द्वारा मिलकर भूमि की उच्चतम सीमा के अधिनियमो से बचने के लिए किया गया है। इस प्रकार वे सहकारिता के उद्देश्यो की ओर कोई विशिष्ट ध्यान नही देते।

5. **सदस्यों की अनुपस्थिति**—अधिकांश समितियाँ ऐसी हैं जिनके सदस्य समिति की भूमि पर श्रम नहीं करते जिससे बाहरी श्रमिकों से कार्य कराना पडता है। सदस्यो की अनुपस्थिति के कारण सहकारी खेती का उद्देश्य ही पूर्ण नही हो पाता।

6. **अन्य कारण**—

(1) ग्रामीण जनता एवं दूसरे लोग इस अभियान की महत्ता को ठीक-ठीक समझ नही सके।

(2) निर्मित नियम, अधिनियम एवं वित्तीय व्यवस्थायें समन्वित, व्यवस्थित एवं सुसंगठित नही रही। प्रशासनिक व्यक्ति भी पूर्ण सहायक नही सिद्ध हो सके।

(3) भूमि के प्रति अपनी प्रगाढ़ प्रेम की नीद से कृषक को इस अभियान के दौरान जगाया नही जा सका।

(4) हमारे कृषको को यह विदेशी चीज प्रतीत होती है और इससे उनकी इस अभियान के प्रति व्यक्तिगत उत्प्रेरणा मारी जाती है।

(5) कृषकों के बीच योग्य कर्मचारियों एवं नेतृत्व का अभाव रहा है।

(6) सहकारी समितियों के लिए योग्य प्रबन्ध का अभाव रहा है। सदस्यों में आपसी झगड़े और व्यक्तिगत स्वार्थों की प्रधानता रही है।

भारत में सहकारी कृषि को लोकप्रिय और सफल बनाने का सुझाव

भारत मे सहकारी कृषि की प्रगति सन्तोषजनक नही कही जा सकती। परन्तु सभी विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि सहकारी कृषि व्यवस्था द्वारा ही भारतीय

कृषि का समुचित विकास हो सकता है। अत. इसे सफल और लोकप्रिय बनाने के लिए विभिन्न विद्वानो और कार्यकारी दलो, समितियो एवं विशेषज्ञो द्वारा समय-समय पर सुझाव दिये जाते रहे हैं, जिनका सारांश नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. **न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप** आजकल गाँव मे न्यूनतम सहकारी समितियो में सरकारी अधिकारियो का अधिक हस्तक्षेप है जो कार्य की मंदगति व अनुपयुक्तता के लिए उत्तरदायी है। अत: सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम करना चाहिए।

2. **ग्रामीण उद्योगो की स्थापना**—सहकारी कृषि समितियो का आर्थिक आकार विस्तृत करने के लिए ग्रामीण उद्योगो की स्थापना की जानी चाहिए जिससे कि समिति के सदस्यो को और काम मिल सके। अत. समिति ने इन उद्योगो की स्थापना की सिफारिश की है।

3 **ऋण सुविधाएँ**—गाडगिल समिति ने सुझाव दिया है कि सहकारी बैंको द्वारा इन सहकारी कृषि समितियो को अधिक उदार रूप से ऋण देने चाहिए।

4. **छोटे तथा मध्यमवर्गीय किसानो को प्राथमिकता**—सहकारी समिति की रजिस्ट्री करते समय छोटे तथा मध्यमवर्गीय किसानो की समिति को प्राथमिकता देनी चाहिए।

5 **समिति को सहायता** सहकारी कृषि समिति को सहायता उसके रूप, कर्म का आकार, सदस्यो के साधन एवं विकास कार्यक्रमो को देखकर दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे कोई कठोर रूप नही अपनाना चाहिए।

6. **प्रशिक्षण केन्द्र**—किसानो को सहकारी खेती के प्रशिक्षण के लिए देश के विभिन्न भागो मे प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिए।

7. **तकनीकी सहायता**—गाडगिल समिति के विचार मे तकनीकी सहायता का अभाव भी सहकारी समितियों के विकास मे बाधक रहा है अत· उसने सिफारिश की कि इन समितियो की तकनीकी सहायता प्रदान की जाय।

8. **निर्बल सहकारी कृषि समितियों का पुनर्गठन**—उन सहकारी कृषि समितियो का पुनर्गठन किया जाना चारिए जो निर्बल या निष्क्रिय है।

9 **अन्य सुझाव**—(i) गाँव स्तर पर सहकारी कृषि के विकास के कुछ उत्तरदायित्व गाँव पंचायतो पर सौपा जाना चाहिए।

(ii) भूमि सुधार कार्यक्रमो से मिलने वाली आधिक्य भूमि पर सहकारी कृषि के अन्तर्गत ही कृषि की जानी चाहिए।

(iii) सहकारी कृषि को प्रोत्साहन करने मे सरकार बफर स्टाक के लिए खाद्यान्न इत्यादि खरीदने मे सहकारी कृषि समितियो को प्राथमिकता दे सकती है।

(iv) यदि किसी गाँव मे अधिकतम कृषक सहकारी कृषि अपनाना चाहते हो तो थोडे से किसानो के लिए सहकारी कृषि अपनाना अनिवार्य होना चाहिए।

सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि का तुलनात्मक अध्ययन

यद्यपि सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि-व्यवस्था मे कई समानताएं हैं, फिर भी

सहकारी कृषि व्यवस्था अनेक दृष्टियो से सामूहिक कृषि व्यवस्था से भिन्न है, जैसे—

(i) **आधार**—सहकारी कृषि व्यवस्था ऐच्छिकता के आधार पर सगठित की जाती है, जबकि सामूहिक कृषि व्यवस्था मे दबाव व अनिवार्यता से काम लिया जाता है।

(ii) **सम्बन्ध-विच्छेद**—चूंकि सहकारी कृषि व्यवस्था का मूल आधार ऐच्छिक होता है, इसलिए कोई भी सदस्य किसी भी समय समिति से अपना सम्बन्ध कर सकता है। परन्तु सामूहिक कृषि मे दबाव का अंश होने के कारण सदस्य को सामान्यतया समिति से सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार प्राप्त नही होता।

(iii) **स्वामित्व**—सहकारी कृषि व्यवस्था मे भूमि सदस्य कृषको के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधीन रहती है, परन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था मे व्यक्तिगत स्वामित्व का अस्तित्व नहीं रहता।

(iv) **खेती का आकार**—सामूहिक कृषि व्यवस्था में सहकारी कृषि-व्यवस्था की अपेक्षा खेतो का आकार बड़ा होता है, क्योकि वहाँ अनिवार्यता का अश रहता है।

(v) **सहकारिता की शिक्षा**—सहकारी कृषि व्यवस्था मे सदस्यो को सहकारिता की शिक्षा दी जाती है और उनको व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर दिया जाता है। परन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था मे इसका प्रायः अभाव पाया जाता है।

(vi) **हस्तक्षेप**—सहकारी कृषि व्यवस्था मे सदस्यो को प्रबन्ध-समिति की कार्यवाहियो मे हस्तक्षेप का पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यो को निर्वाचित सदस्यो की कार्य प्रणाली मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं।

(vii) **सदस्यों की संख्या**—सामूहिक कृषि में सदस्यो की संख्या अधिक होती है जबकि सहकारी कृषि मे सदस्यो की संख्या कम होती है।

(viii) **भूमि का समाजीकरण**—सामूहिक कृषि मे भूमि का समाजीकरण कर दिया जाता है जबकि सहकारी कृषि मे ऐसा नही होता।

(ix) **पारिश्रमिक**—सामूहिक कृषि में पारिश्रमिक श्रम के आधार पर मजदूरी के रूप में दिया जाता है जबकि सहकारी कृषि में पारिश्रमिक भूमि के अनुपात मे दिया जाता है।

भारत के लिए सामूहिक कृषि और सहकारी कृषि में कौन श्रेष्ठ रहेगा

अधिकांश विद्वानो का मत है कि भारत के लिए सहकारी कृषि ही श्रेष्ठ है और वे इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं--

(अ) **भूमि से लगाव**—भारतीय किसान किसी भी परिस्थिति में भूमि के स्वामित्व से अलग नहीं होना चाहते क्योंकि अपनी पैतृक भूमि से भारी लगाव है और वे भूमि के स्वामित्व को सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक मानते हैं। ऐसी स्थिति में भारतीय कृषको को सहकारी कृषि के लिए ही तैयार किया जा सकता है।

(ब) **प्रोत्साहन**—भारतीय किसान आलसी होता है लेकिन जब उसको सहकारी कृषि में मजदूरी मिलती है और भूमि के अनुपात में उत्पादन मे हिस्सा मिलता

है तो वह कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होता है। लेकिन जब उसको सामूहिक खेती मे केवल मजदूरी मिलेगी तो वह कार्य करने मे आलसी ही रहेगा। फलतः कृषि उत्पादन मे वृद्धि नही होगी।

(स) सरकारी हस्तक्षेप—सामूहिक खेती मे अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप रहता है जिससे नौकरशाही, लालफीताशाही, निर्णय मे देरी आदि समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है।

(द) प्रजातन्त्रीय-प्रणाली--भारत मे प्रजातंत्रीय पद्धतियो पर अधिक जोर दिया जाता है इस दृष्टि से सहकारी कृषि ही श्रेष्ठ है।

(इ) राजनैतिक समर्थन—सामूहिक कृषि साम्यवादी सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु भारत की वर्तमान सरकार उसमे विश्वास कही करती है इसके अतिरिक्त अधिकाश राजनीतिक दल भी इसका समर्थन नही देते है। हाँ, समाजवाद मे अधिकाश दलो का विश्वास है ऐसी स्थिति मे सहकारी कृषि ही उत्तम है।

उपर्युक्त बातो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामूहिक कृषि की तुलना मे सहकारी कृषि ही भारत के लिए श्रेष्ठ है लेकिन सहकारी कृषि को भी सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यो मे सहकारिता की भावना का विकास किया जाय तथा सहकारी विपणन व सहकारी वित्त की उचित व्यवस्था की जाय।

परीक्षा प्रश्न

1. "सहकारी कृषि केवल सामूहिक कृषि की ओर एक अस्थायी मार्ग होगा तथा इससे ग्रामीण जीवन मे निश्चय ही सकट की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।" मीमासा कीजिए।

अथवा

सहकारी और सामूहिक कृषि मे अन्तर बताइए। आपके विचार मे इनमे से कृषि-व्यवस्था के लिए कौन उपयुक्त है और उसे आप किस प्रकार अपनायेगे ?

अथवा

सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि—इन दो पद्धतियो में से आप किसका अपने राज्य मे समर्थन करेगे ? अपने उत्तर के लिए तर्क प्रस्तुत कीजिए। क्या सहकारी कृषि एक ओर सामूहिक कृषि और दूसरी ओर व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था की अपेक्षा श्रेष्ठ है ? सकारण उत्तर दीजिए।

अथवा

'व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था' और 'सहकारी कृषि' का दोनो की सापेक्षित उत्पादन क्षमताओ मे उपयुक्त परिवर्तनो को ध्यान मे रखकर मूल्याकन कीजिए। दोनो प्रकार की खेती मे प्रत्येक मे सामुदायिक योजनाओ का क्या योगदान हो सकेगा ?

[**संकेत**—सहकारी कृषि की परिभाषा दीजिए तथा सामूहिक कृषि से इसका अन्तर बताइए तथा सहकारी कृषि के गुण-दोषो की विवेचना कीजिए।]

2 "भारत मे सहकारी खेती सफल नहीं होगी।" इस कथन की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

[संकेत—सहकारी कृषि के दोष दीजिए।]

3. 'भारत मे सहकारी खेती को आंशिक सफलता मिली है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण दीजिए।

[संकेत—सहकारी कृषि के गुण व दोष का वर्णन करते हुए बताइए कि भारत मे यह विदेशो की भाँति पूर्णरूप से सफल नही हो पाई है।]

7

कृषि में सहकारिता
(Co-operation in Agriculture)

सहकारिता की परिभाषा—साधारणत. 'सहकारिता' शब्द का अर्थ होता है 'मिल-जुलकर काम करना'। अर्थशास्त्र मे सहकारिता का अर्थ व्यक्तियो के उस समूह से है जिसका उद्देश्य ईमानदारी से सामान्य आर्थिक हितो को प्राप्त करना है। **श्री कल्वर्ट** (Calvert) के शब्दो मे, "सहकारिता एक ऐसा सगठन है, जिससे व्यक्ति स्वेच्छा से और समान-स्तर पर अपने आर्थिक उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए संगठित होते हैं।" **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन** के अनुसार "एक सहकारी समिति आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियो का एक संगठन है जिसके अन्तर्गत समान अधिकार व समान उत्तरदायित्व के आधार पर सदस्य लोग स्वेच्छा से कार्य करते है।" **प्रो० सैलिगमैन** के शब्दो मे "सहकारिता का अर्थ उत्पादन और वितरण मे प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थो की आवश्यकता को समाप्त करना है।"

सहकारिता के सिद्धान्त अथवा तत्त्व

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि सहकारिता ऐसे व्यक्तियो का ऐच्छिक संगठन है, जो समानता, आत्म सहायता तथा प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के आधार पर निजी तथा सामुदायिक हित के लिए कार्य करता है।

किसी भी संगठन के सहकारी संगठन होने के लिए निम्न तत्त्वो का होना आवश्यक है—

(i) **स्वैच्छिक सङ्घ**—सहकारी सस्था की सदस्यता पूर्णरूपेण ऐच्छिक होती है अर्थात् प्रत्येक सदस्य को संस्था की सदस्यता स्वीकार करने और छोडने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

(ii) **लोकतंत्रीय**—सहकारी समिति का प्रशासन लोकतन्त्रीय ढङ्ग से चलता है अर्थात् प्रत्येक सदस्य को एक मत प्रदान करने का अधिकार होता है चाहे उसने कितने ही अंश क्यो न खरीदे हो। 'एक व्यक्ति एक मत' वाला सिद्धान्त ही लागू होता है।

(iii) **पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म सहायता**—चूंकि सदस्यो के पास आर्थिक साधनो का अभाव होता है, अतः वे सभी मिलकर और अपने साधनो को एकत्रित

कर अपने उद्देश्यो की पूर्ति करते है। अर्थात् एक सबके लिए और सब एक के लिए मुख्य सिद्धान्त है।

(iv) सामान्य हित—सहकारी सङ्घ सभी सदस्यों के कल्याण मे वृद्धि का लक्ष्य लेकर बनाये जाते है। उनमे परस्पर प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है।

(v) **नैतिक गुणों का विकास**—श्री तालमकी के शब्दों मे, "सहकारिता सदस्यो मे स्वामिभक्ति, मित्रता और सहकारिता की भावना का विकास करती है।"

(vi) सहकारिता का उद्देश्य मध्यस्थो का लोप करना और स्पर्द्धा की इतिश्री करना है।

भारत में सहकारिता आन्दोलन का उद्‌भव और विकास

भारत मे सहकारिता का प्रारम्भ 1904 से ही माना जाता है तथापि इसका वास्तविक इतिहास बहुत पुराना है। 1895 से पूर्व सर **विलियम वेडरबर्न व जस्टिस रानाडे** ने भारत मे ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिए सरकार को कृषि बैङ्को की स्थापना का सुझाव दिया था। परन्तु इस सुझाव की उपेक्षा कर दी गई। 1895 में मद्रास सरकार ने **श्री फ्रेडरिक निकलसन** को कृषि-साख के विषय मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा। उन्होने सुझाव दिया कि कृषि विकास हेतु 'जनता के बैङ्क' बनाए जायँ। परन्तु मद्रास सरकार ने इस सुझाव पर कोई विशेष ध्यान नही दिया। इसी समय उत्तर प्रदेश मे **श्री डूपर्नेक्स** तथा पजाब में **एडवर्ड मैकलेगन** ग्रामीण ऋण-समितियो की स्थापना कर रहे थे। इधर बंगाल मे भी ग्रामीण साख समितियो की स्थापना के विषय मे काफी चर्चा थी। इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि भारत के लोग सहकारिता मे सर्वथा अपरिचित नही थे।

सन् 1901 मे द्वितीय अकाल आयोग ने भी कृषि साख समितियो की स्थापना पर बहुत अधिक बल दिया। समिति की रिपोर्ट तथा अन्य सुझावों के परिणामस्वरूप सरकार ने 1904 का **सहकारी साख समिति अधिनियम** पास किया। इस प्रकार भारत मे सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। बस अधिनियम की कुछ कमियो को दूर करने की दृष्टि मे सन् 1912 मे **'सहकारी समिति अधिनियम'** पारित किया गया। इस अधिनियम ने साख समितियो के अतिरिक्त गैर-साख समितियो को भी मान्यता प्रदान की।

1912 के बाद सहकारी आन्दोलन को नवीन चेतना प्राप्त हुई और न केवल साख समितियों अपितु गैर-साख समितियों का भी तेजी से विकास प्रारम्भ हो गया। 1912 के अधिनियम के बाद दो वर्ष में ही सहकारी समितियों की संख्या 15,000 तथा सदस्यों की संख्या 9 लाख 95 हजार हो गई (1911-12 में यह संख्या क्रमश: 8,177 एवं 4 लाख थी)। सरकार ने सहकारी आन्दोलन की प्रगति पर विचार करने के लिए 1915 में **मैकलेगन समिति** नियुक्त की। समिति के मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—(1) अनियमित समितियों को शीघ्र समाप्त किया जाय, (2) ऋण के ठीक समय पर भुगतान

पर बल दिया जाय, (3) सहकारी समितियो का पुनर्गठन हो तथा (4) सहकारी आन्दोलन को एक प्रान्तीय विषय बनाया जाय।

दुर्भाग्य से इस समय प्रथम महायुद्ध चल रहा था और इसलिए समिति के महत्त्वपूर्ण सुझावो की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सन् 1919 मे मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो के फलस्वरूप सहकारिता का विषय प्रान्तीय सरकारो को दे दिया गया। सन् 1935 मे रिजर्व बैंक की स्थापना से सहकारी साख आन्दोलन को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय साख समितियो के अतिरिक्त गैर-साख समितियो का भी अच्छा विकास हुआ।

सन् 1945 मे नियुक्त **सरैया समिति एवं रिजर्व बैंक** ने सरकार को एक-उद्देशीय समितियो के स्थान पर बहुत-उद्देशीय समितियो की स्थापना का परामर्श दिया जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अब सहकारी आन्दोलन का क्षेत्र और विस्तृत हो गया।

योजनावधि से पूर्व तक भारत मे सहकारिता आन्दोलन की प्रगति नीचे तालिका मे दर्शायी गई है

भारत में नियोजन पूर्व सहकारिता का विकास

	1906-07	1950-51
सहकारी समितियो की सख्या	843	1,86,000
सदस्य सख्या (प्राथमिक समितियाँ)	90,844	1,37,92,000
कार्यकारी पूँजी	23 लाख रुपये	276 करोड

स्वतन्त्रता के पूव सहकारी आन्दोलन की समीक्षा करने मे हमे यह विदित होता है कि सहकारी आन्दोलन मे प्रगति के बावजूद भी सहकारी आन्दोलन जन-साधारण को प्रभावित करने मे असफल रहा। महाजनो का प्रभुत्व किसी प्रकार कम नही था।

योजनाकाल में सहकारिता की प्रगति

भारत मे योजनाबद्ध विकास 1951 से आरम्भ हुआ, और सरकार ने अपनी सभी योजनाओ मे सहकारिता को प्राथमिकता दी है और इसे आर्थिक तथा सामाजिक विकास का आधार माना है।

प्रथम पचवर्षीय योजना—इस योजना के अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए 7 करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी। प्रथम योजना के अन्त मे (i) सहकारी समितियो की सख्या 1,80,000 से बढकर 2,40,000 (ii) सदस्यो की सख्या 138 लाख से बढकर 176 लाख तथा (iii) कार्यशील पूँजी 276 करोड़ रुपये से बढ़कर 469 करोड़ रुपये हो गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना काल मे समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण मे सहकारी संस्थाओ के योगदान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। उस योजना मे वृहत् स्तर पर सहकारी कृषि, उपभोक्ता सहकारिता, सहकारी भवन निर्माण तथा औद्योगिक सहकारिता को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया था। इस योजना मे सहकारिता के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए जिन्हें 1960-61 तक प्राप्त करना था—(अ) सहकारिता समितियो के माध्यम से 225 करोड़ रुपये की कृषि-साख की उपलब्धि, (ब) कृषि साख समितियो की सदस्य-सख्या 150 लाख तथा (स) सहकारि समितियो के माध्यम से अतिरिक्त कृषि उपज के 10% भाग की बिक्री।

इन लक्ष्यो की पूर्ति के लिए द्वितीय योजना मे प्राथमिक समितियो, विक्रय समितियो, सहकारी भण्डारागारो आदि के स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित किए गए। इस योजनावधि में सहकारी आन्दोलन पर 34 करोड़ रुपये और रिजर्व बैंक ने 20 करोड रुपये व्यय किए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना मे सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र की सहकारिता के अन्तर्गत लाने का लक्ष्य रखा गया। वास्तव मे 82 प्रतिशत गाँव सहकारिता के प्रभाव क्षेत्र मे आ गये। इसी अवधि मे श्री आर० एन० सिन्धी समिति व प्रो० एम० दान्तवाला समिति भी बनायी गयी। योजना में प्रस्तावित 80 करोड़ रु० की तुलना मे 76 करोड रु० वास्तव में खर्च हुए। इस योजना के अन्त मे समितियो की संख्या वही बनी रही जो द्वितीय योजना के अन्त में थी लेकिन इन समितियों की सदस्यता बढ़कर 585 लाख, अश पूँजी 663 करोड़ रुपये व कार्यशील पूँजी 4,473 करोड रुपये हो गयी।

तीन वार्षिक योजनाओं (Three Annual Plans) के अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन के विकास पर 63.9 करोड़ रुपये व्यय किया गया। 1968-69 तक 48 प्रतिशत ग्रामीण कृषक परिवारो को सहकारिता के अन्तर्गत लाया गया था तथा चतुर्थ योजना में सहकारी आन्दोलन के लिए 177.28 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी। इस योजना मे सहकारी आन्दोलन के विकास को सुदृढ करने के साथ ही समन्वित करने तथा सहकारी कृषि समितियो, उपभोक्ता सहकारी समितियो तथा सहकारी साख सेवाओ के विकास पर विशेष जोर दिया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ करने, उपभोक्ता सहकारी समितियो, सहकारी कृषि समितियो व सहकारी साख समितियों के विकास पर जोर दिया गया। सहकारी आन्दोलन के लिए योजना में 77·28 करोड़ रु० की व्यवस्था थी। इसी योजना काल में सहकारी शिक्षा तथा प्रशिक्षण के कार्यक्रम का विस्तार किया गया। बैकुण्ठनाथ मेहता राष्ट्रीय सहकारी प्रबन्ध संस्थान का शीर्ष संस्था के रूप में विकास किया गया। इस योजना के अन्त में समितियों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और वह 3·3 लाख बनी रही लेकिन सदस्यता, अंश पूँजी व कार्यशील पूँजी में कुछ वृद्धि हुई जो क्रमश: 692 लाख, 1226 करोड़ रुपये व 9.648 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना मे सहकारिता के विकास के चार उद्देश्य रखे गये–(i) सहकारी कृषि समितियो को ऋण, आपूर्ति, विपणन व प्रक्रियन (processing) को सुदृढ़ करना; (ii) उपभोक्ता सहकारी प्रवृत्ति का निर्माण करना, (iii) सहकारी विकास के स्तर मे विशेष रूप से कृषि ऋण के क्षेत्र मे क्षेत्रीय असन्तुलनो मे सुधार करना, व (iv) सहकारी समितियो के पुनर्गठन के प्रयास किए गए है। इन उद्देश्यो के लिए इस योजना मे 376 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई थी।

छठवीं योजना में (i) कृषि-व्यापार, विपणन और प्रक्रियन के लिए एक प्रावैगिक एव एकीकृत कार्यक्रम अपनाया जायेगा, (ii) उर्वरको के सहकारी उत्पादन को प्रोत्साहित किया जायेगा, (iii) उपभोक्ता सहकारी समितियो को सार्वजनिक वितरण प्रणाली का एक प्रमुख आधार बनाया जायेगा और 50,000 की आबादी वाले कस्बो एवं नगरो मे कम से कम सहकारी विभागीय भण्डार स्थापित किया जायेगा, (iv) प्राथमिक कृषि साख समितियो को कृषक सेवा समितियो या बडे आकार की बहुउद्देशीय इकाइयो के रूप मे पुनर्गठित किया जायेगा।

भारत मे योजना काल मे सहकारिता की प्रगति निम्न प्रकार हुई है.

सहकारी समितियों की प्रगति

क्र०	विवरण वर्ष	1960-61	1970-71	1975-76	1977-78
1	समितियो की सख्या (लाखो मे)	3.3	3.2	3 1	3 0
2.	प्राथमिक सदस्यो की सदस्य सख्या (लाखो मे)	342	591	848	931
3	हिस्सा पूंजी (करोड़ रु० मे)	222	851	1529	1812
4	कार्य पूंजी (करोड रु० मे)	1312	6,810	12,432	16,691

भारत में सहकारिता आन्दोलन का ढाँचा

(Structure of Co-operative movement in India)

भारत मे सहकारी आन्दोलन को दो भागो मे बाँटा गया है—

(1) साख समितियाँ (2) गैर-साख समितियाँ।

साख समितियाँ साख प्रदान करती है। साख समिति को भी दो भागो मे बाँटा गया है—
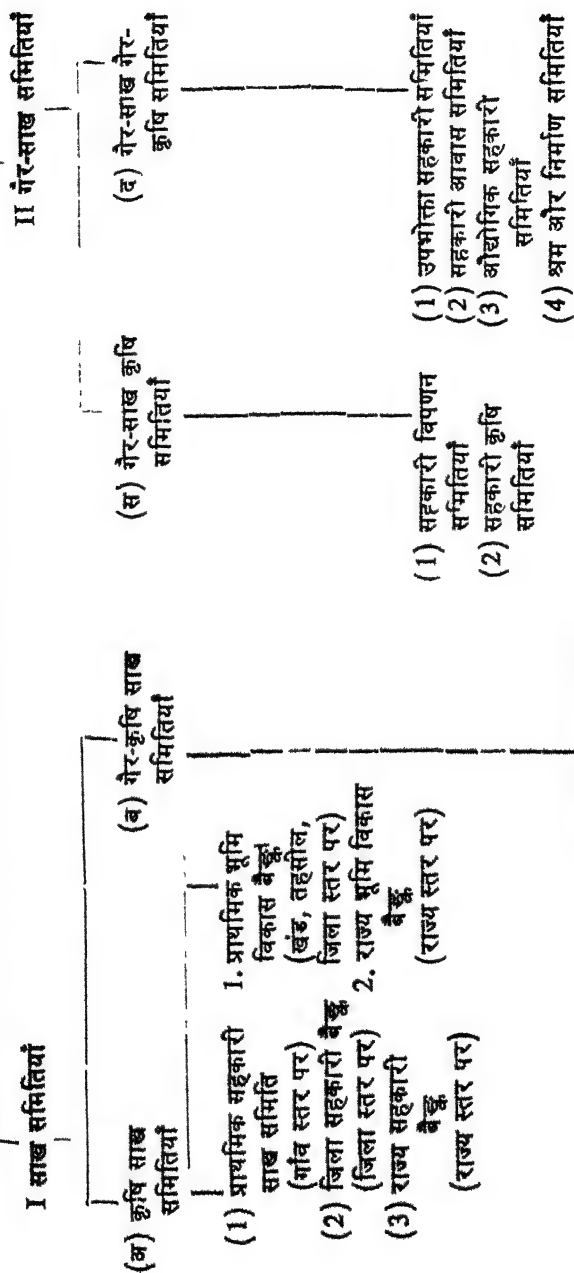
सहकारी आन्दोलन
I साख समितियाँ
II गैर-साख समितियाँ
(अ) कृषि साख समितियाँ
(ब) गैर-कृषि साख समितियाँ
(स) गैर-साख कृषि समितियाँ
(द) गैर-साख गैर-कृषि समितियाँ
(1) प्राथमिक सहकारी साख समिति (गाँव स्तर पर)
(2) जिला सहकारी बैङ्क (जिला स्तर पर)
(3) राज्य सहकारी बैङ्क (राज्य स्तर पर)
1. प्राथमिक भूमि विकास बैङ्क (खंड, तहसील, जिला स्तर पर)
2. राज्य भूमि विकास बैङ्क (राज्य स्तर पर)
नगरों में सहकारी बैंक और जनता बैंक इसके अन्तर्गत आते हैं।
(1) सहकारी विपणन समितियाँ
(2) सहकारी कृषि समितियाँ
(1) उपभोक्ता सहकारी समितियाँ
(2) सहकारी आवास समितियाँ
(3) औद्योगिक सहकारी समितियाँ
(4) श्रम और निर्माण समितियाँ

I. साख समितियाँ
(Credit Societies)

कृषि साख समितियों का ढाँचा (Structure of Agricultural Credit Societies)—भारत के सहकारी आन्दोलन मे कृषि साख समितियो का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर कृषि सहकारी साख सस्थाएँ दो प्रकार की हैं, जैसा कि नीचे चार्ट मे दर्शाया गया है—

कृषि साख समितियाँ

(अ) अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्रदान करने वाली सहकारी संस्थाएँ—	(ब) दीर्घकालीन साख प्रदान करने वाली संस्थाएँ—
1 प्राथमिक कृषि साख समिति (गाँव स्तर पर)	1. प्राथमिक भूमि विकास बैङ्क (खण्ड, तहसील, सब डिवीजन व जिला स्तर पर)
2 जिला सहकारी बैङ्क (जिला स्तर पर)	
3 राज्य सहकारी बैङ्क (राज्य स्तर पर)	2 राज्य भूमि विकास बैङ्क (राज्य स्तर पर)
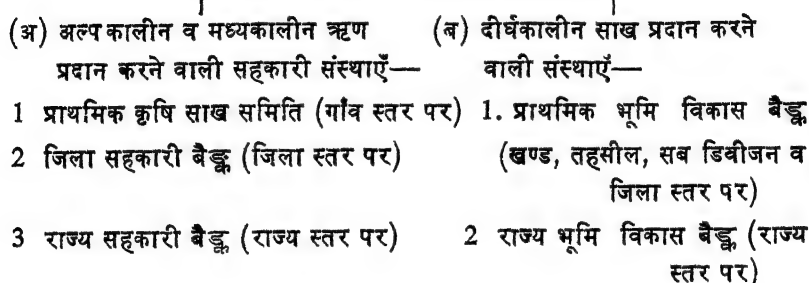
उपर्युक्त चाट से स्पष्ट है कि अल्पकालीन व मध्यकालीन साख सुविधाएँ प्रदान करने वाली समितियो का ढांचा त्रिस्तरीय है जिसमे गाँव स्तर पर प्राथमिक कृषि साख समितियाँ, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैङ्क या जिला सहकारी बैङ्क राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैङ्क है। ये सभी संस्थाएँ छोटी व मध्यम अवधि के ऋण देती हैं।

लम्बी अवधि के ऋण देने वाली सहकारी साख संस्थाएँ द्विस्तरीय है। खण्ड तहसील, सब डिवीजन और जिला स्तर पर भूमि विकास बैङ्क तथा राज्य स्तर पर केन्द्रीय भूमि विकास अथवा राज्य भूमि विकास बैङ्क है।

(अ) अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण प्रदान करने वाली सहकारी संस्थाएँ—

1. प्राथमिक कृषि साख समिति (गाँव स्तर पर)—

इन्हे कृषि-साख समितियाँ भी कहते है। ये समितियाँ गाँवो में पायी जाती हैं। हमारे देश मे कृषि साख समितियो की स्थापना किसानो की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए सन् 1904 मे **'सहकारी समितियों का संगठन'** के अन्तर्गत की गई है।

प्राथमिक कृषि साख समितियो का संगठन—देश मे प्राथमिक कृषि-साख समितियो का सविधान एवं संगठन इस प्रकार है :—

(1) **सदस्यता**—कोई भी दस व्यक्ति जिनकी आयु 18 वर्ष से अधिक हो मिलकर सहकारी साख समितियाँ खोल सकते हैं। सदस्यो की संख्या सौ से अधिक नही हो सकती।

(2) **पंजीयन**—प्रत्येक सहकारी साख समिति का पंजीयन प्रांतीय सहकारिता विधान के अन्तर्गत करना अनिवार्य है। पंजीयन नि:शुल्क होता है।

(3) **कार्यक्षेत्र**—प्राय: एक गाँव में एक समिति होती है। इससे सदस्यो मे आपसी सहयोग एवं सम्पर्क रहता है।

(4) **प्रजातन्त्रीय प्रबन्ध**—समिति का प्रबन्ध प्रजातंत्रीय प्रणाली के आधार पर सदस्यो द्वारा ही होना है जो अवैतनिक होते है। प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है, चाहे उसके पास सहकारी समिति के कितने ही शेयर्स क्यो न हो। प्रबन्ध के लिए दो समितियाँ हैं—

(अ) **साधारण सभा**—इसमें समिति के सभी सदस्य होते है। इस सभा के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—प्रबन्ध समिति को चुनना, सेक्रेटरी की नियुक्ति करना, बजट पास करना, रजिस्ट्रार और आय-व्यय निरीक्षक की रिपोर्ट पर विचार करना, ऋण सम्बन्धी नियम बनाना, समिति के नियमो मे आवश्यकतानुसार संशोधन करना आदि।

(ब) **प्रबन्ध सभा**—इसमे समिति के सदस्यो द्वारा चुने हुए 5 से लेकर 9 तक सदस्य होते हैं। यह सभा दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन करती है।

(5) **पूंजी प्राप्ति के साधन**—ये समितियाँ निम्नलिखित दो साधनो से पूंजी एकत्रित करती हैं—

(क) **आंतरिक साधनों से**—इनमें अंश पूँजी, नए सदस्यो से प्राप्त प्रवेश शुल्क, सदस्यों के निक्षेप तथा सुरक्षित कोष सम्मिलित होते हैं।

(ख) **बाह्य साधनों से**—इनमें सहकारी ऋणो, गैर-सदस्यों के निक्षेपों तथा केन्द्रीय और सहकारी बैंको के प्राप्त ऋणो को सम्मिलित किया जाता है।

(6) **दायित्व**—इन समितियों के सदस्यो का दायित्व असीमित होता है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक ऋण के लिए उत्तरदायी होता है।

(7) **केवल सदस्यों को ऋण**—ये समितियाँ केवल अपने सदस्यो को ही ऋण देती हैं। ये ऋण मुख्यत: तीन प्रकार के कार्यों के लिए दिए जाते हैं—

(अ) उत्पादन कार्यों के लिए (ब) पुराने ऋणो को चुकाने के लिए, (स) अन्य कार्यों के लिए जैसे विवाह आदि के लिए। ऋण अधिकतर उत्पादन कार्यों के लिए दिए जाते हैं। ऋण देते समय कम-से-कम दो सदस्यों की जमानत भी ली जाती है। कुछ राज्यों में ऋण लेने वाले सदस्यों को अपनी भूमि जमानत के रूप में रखनी पड़ती है।

सहकारी समितियाँ मुख्यतः अल्पकालीन (एक वर्ष तक) ऋण देती हैं परन्तु विशेष परिस्थितियो में उसकी अवधि तीन वर्ष तक के लिए बढ़ाई जा सकती है। सभी प्रकार के ऋणों को किस्तों में चुकाने की सुविधा दी जाती है।

ऋणो पर ब्याज की दर विभिन्न राज्यो मे अलग-अलग (5 प्रतिशत से 12 प्रतिशत तक) है।

(8) **हिसाब-किताब की जाँच**—सभी समितियों को एक निश्चित रूप मे लेखो को रखना पडता है और इन लेखो का अकेक्षण (Auditing) सहकारी विभाग के आडिटर द्वारा किया जाता है।

(9) **लाभ का वितरण**—प्रारम्भिक साख समितियाँ अपने लाभ का एक अश अनिवार्य रूप से प्रति वर्ष सुरक्षित कोष (Reserve Fund) मे डालती है और शेष लाभाश के रूप में अंशधारियो को बाँट देती है। समितियो द्वारा दिये जाने वाले लाभाश की अधिकतम सीमा किसी भी राज्य मे 10 प्रतिशत से अधिक नही है जो इस बात को स्पष्ट करती है कि सहकारी समितियो को लाभार्जन का माध्यम नही बनाया जा सकता है।

(10) **पंचायत**—समिति व उसके सदस्यो के मध्य झगडो का निपटारा पचायत द्वारा किया जाता है। इस व्यवस्था से मुकदमेबाजी कम हो जाती है और समय, शक्ति तथा व्यय बच जाते हैं।

(11) **रजिस्ट्रार के आदेशों का पालन**—प्रत्येक समिति 'सहकारी समिति अधिनियम' के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होती है, इसलिए प्रत्येक समिति को रजिस्ट्रार द्वारा भेजे गए आदेशो का पालन करना अनिवार्य होता है। रजिस्ट्रार ऐसी समितियो को बन्द कर सकता है, जो अकुशल है, जिनका प्रबन्धक ईमानदार नही है अथवा जिन्हे घाटा होता रहता है।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—प्राथमिक साख समितियो की प्रगति एव वर्तमान स्थिति नीचे तालिका मे दर्शायी गई है—

क्र०	विवरण	1950-51	1960-61	1970-71	1978-79
1	समितियो की संख्या (हजार मे)	105	212	161	102
2	सदस्य संख्या (लाखो मे)	44	170	310	516
3.	दिये गये ऋण (करोड रु० मे)	23	202	578	1395
4.	बकाया ऋण (करोड रु० मे)	6	44	322	895

2. केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंक (जिला स्तर पर)

केन्द्रीय सहकारी बैक प्रत्येक जिले मे होता है अतः इसे जिला केन्द्रीय सहकारी बैक कहते हैं। जिला सहकारी बैको की स्थापना 1952 के सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत की गई थी। सामान्यत: प्रत्येक जिले के लिए एक सहकारी बैक होता है किन्तु कुछ राज्यो मे अनेक जिलो के लिए एक ही सहकारी बैक है।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों की विशेषताएँ

इन बैको की अग्रलिखित विशेषताएँ है :—

(1) **कार्यक्षेत्र**—अलग-अलग प्रान्तो मे इन बैंको के कार्यक्षेत्र अलग अलग होते है। जिस जिले, तहसील मे यह बैंक होता है उसका कार्यक्षेत्र वही जिला होता है।

(2) **केन्द्रीय सहकारी बैंक के अंशधारी** बैंक की साधारण सभा के सदस्य होते हैं। हर एक सदस्य को एक मत देने का अधिकार होता है। साधारण सभा अपने कुछ सदस्यो को संचालक मण्डल के लिए मनोनीत करती है। यही मण्डल बैंक के दैनिक कार्यों का संचालन करता है।

(3) **सहकारी बैंक के पदाधिकारी** सहकारी बैको का चेयरमैन उत्तर प्रदेश मे प्रायः जिलाधिकारी होता है किन्तु दूसरे प्रान्तो मे चेयरमैन सरकारी कर्मचारी नही होता। साधारण सभा का एक अवैतनिक मत्री होता है। अन्य पदाधिकारियो मे एक सचालक तथा एक प्रबन्धक होता है। ये पदाधिकारी वैज्ञानिक होते है तथा बैंको के दैनिक कार्यों का संचालन करते हैं।

(4) **पूंजी**—इन बैको के पूंजी के निम्नलिखित स्रोत है :—

(क) **जमा राशियाँ**—ये बैंक अपनी पूँजी का अधिकाश भाग अपने सदस्य बैको एवं अन्य व्यक्तियो से प्राप्त करते है। यह पूँजी अल्पकालीन और दीर्घकालीन, दोनो समयावधियो के लिये प्राप्त की जाती है।

(ख) **अंश पूंजी**—यह पूँजी सदस्य बैंकों से उनके ऋण की मात्रा के अनुसार हिस्सा खरीदने मे प्राप्त होती है।

(ग) **सुरक्षित कोष**—प्रत्येक केन्द्रीय सहकारी बैंक का कानून के अंतर्गत एक सुरक्षित कोष रखना पड़ता है जो वार्षिक लाभ का 25% होता है।

(घ) **ऋण लेकर**—यह राज्य सहकारी बैंक तथा अन्य बैंको से आवश्यकता पड़ने पर ऋण ले सकता है।

(5) **ऋण नीति**—केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रारम्भिक बैंको से 7% ब्याज लेते हैं तथा उनकी जमाओं पर 5% ब्याज देते हैं। परन्तु यह ब्याज की दरें अलग अलग प्रान्त में अलग-अलग हैं।

(6) **लाभ का वितरण**—वार्षिक लाभ का 25% सुरक्षित कोष मे जमा करने के पश्चात् शेष का 6 से 10% भाग सदस्यों मे वितरित कर दिया जाता है। शेष धनराशि अन्य खातो मे जमा कर दी जाती है।

(7) **निरीक्षण व अंकेक्षण**—केन्द्रीय सहकारी बैंक के हिसाब-किताब का निरीक्षण रजिस्ट्रार तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा होता है। आय-व्यय की जाँच लेखा-परीक्षकों द्वारा की जाती है, जिनकी नियुक्ति रजिस्ट्रार करता है।

सहकारी बैंक के कार्य

सहकारी बैकों के निम्नलिखित कार्य हैं :—

(1) ये बैंक प्राथमिक समितियों के कार्यों की देखभाल करते हैं।

(2) सहकारी समितियों को ऋण प्रदान करते हैं।

(3) कुछ बैंक बाहरी व्यक्तियो को भी ऋण प्रदान करते है ।

(4) कुछ समय पूर्व ये बैंक भूमि क्रय करने को ऋण दिया करते थे ।

(5) रजिस्ट्रार की अनुमति से ये बैंक दूसरे बैंको को ऋण देते है ।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंको की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति निम्न तालिका मे दर्शायी गई है—

क्र०	विवरण	1950-51	1960-61	1970-71	1978-79
1.	बैंको की संख्या	505	390	341	338
2	अश पूंजी (करोड रु० मे)	4	39	141	—
3	दिये गये ऋण (करोड रु० मे)	83	350	894	2407

(3) राज्य सहकारी बैंक (राज्य स्तर पर)
(State Co-operative Banks)

प्रत्येक प्रान्त मे, एक राज्य सहकारी बैंक की स्थापना की गई है जो जिला-सहकारी बैंको की देख-रेख एव उन्हे नियन्त्रित करने हैं । सन् 1925 मे मैकलेगन समिति ने इन बैंको की स्थापना की सिफारिश की थी । उत्तर प्रदेश मे सबसे पहले 1945 मे इस प्रकार की स्थापना की गई ।

(1) **संगठन**—केन्द्रीय सहकारी बैंकों की भाँति ही इन बैंको का संगठन होता है । इन बैंको का प्रबन्ध सामान्यतया संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है । संचालक मण्डल का पदाधिकारी रजिस्ट्रार होता है । वह कुछ संचालको की नियुक्ति करता है ।

(2) **राज्य सहकारी बैंको की पूंजी**—इन बैंको की पूंजी (i) अंश बेचकर, (ii) जनता से जमा प्राप्त करके, (iii) रिजर्व बैंक, अन्य बैंकों या सरकार से ऋण लेकर प्राप्त होती है ।

(3) **कार्य क्षेत्र**—इन बैंको का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य होता है । इनके सदस्य (i) सहकारी साख समितियाँ, (ii) केन्द्रीय सहकारी बैंक और (iii) अन्य बाहरी व्यक्ति होते हैं ।

(4) **राज्य सहकारी बैंकों के कार्य**—इनके निम्नलिखित कार्य हैं :—

(i) केन्द्रीय बैंक सहकारी बैंको को आर्थिक सहायता प्रदान करते है ।

(ii) यह बैंक सहकारी बैंको, सहकारी साख समितियो पर नियन्त्रण रखते है ।

(iii) यह बैंक राज्य के मुद्रा बाजार तथा सहकारिता आन्दोलन मे समन्वय स्थापित करता है ।

(iv) सभी प्रकार के जमा सदस्य बैंको, व्यक्तियो एवं सस्थाओ से प्राप्त करते हैं ।

(v) **व्यापारिक बैंकों के अन्य कार्य**—जैसे चेको का भुगतान, रुपये की वसूली, धन का स्थानान्तरण आदि कार्य भी यह बैंक करता है ।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—राज्य सहकारी बैंको की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति निम्न तालिका मे दर्शायी गई है—

क्र०	विवरण	1950-51	1960-61	1970-71	1978-79
1.	बैंको की संख्या	15	21	25	26
2.	निक्षेप (करोड रु० मे)	22	72	279	1206
3.	ऋण (करोड रु० मे)	42	258	749	2237

(ब) दीर्घकालीन साख प्रदान करने वाली संस्थाएँ—

1 **प्राथमिक भूमि विकास बैंक (खण्ड, तहसील, सब-डिवीजन, व जिला स्तर पर)**– प्राथमिक भूमि बन्धक या विकास बैंको का कार्यक्षेत्र एक जिला या तहसील होता है। सामान्यतया ये बैंक लिखित कार्यों के लिये ऋण प्रदान करते हैं। (i) ये बैंक पुराने ऋणो को चुकाने के लिये दीर्घकालीन साख प्रदान करते है। (ii) ये कृषको को भूमि पर स्थायी सुधार करने, भूमि खरीदने व मशीनें खरीदने के लिये दीर्घकालीन साख प्रदान करते हैं (iii) ये कृषि भूमि पर मकान बनाने व जोतो की चकबन्दी कराने के लिये भी ऋण प्रदान करते हैं।

कार्यशील पूंजी—प्राथमिक भूमि विकास बैङ्क कृषको को ऋण प्रदान करने के लिए अधिकांश पूँजी केन्द्रीय भूमि विकास बैङ्क से प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त यह बैङ्क अपने अंशो तथा ऋण पत्रों को बेचकर भी पूँजी प्राप्त करते हैं।

2. **राज्य भूमि विकास बैंक (राज्य स्तर पर)**—ये बैङ्क सामान्यतया प्रत्यक्ष रूप से किसानों को ऋण नहीं देते, बल्कि प्राथमिक भूमि बन्धक बैङ्कों को वित्तीय सहायता देते हैं, उनके कार्यों का निरीक्षण करते हैं तथा उनके ऋण-पत्रों को बेचने मे सहायता करते हैं। स्पष्ट है कि केन्द्रीय भूमि बन्धक बैङ्क प्राथमिक भूमि बन्धक बैङ्क की वित्तीय सहायता करते हैं और प्राथमिक भूमि बन्धक बैङ्क किसानो को भूमि की जमानत पर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं।

भारत के सभी राज्यो में एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैङ्क की स्थापना की गई है और सभी महत्त्वपूर्ण कृषि क्षेत्रों में एक-एक प्राथमिक भूमि बन्धक बैङ्क निर्मित किया गया है।

कार्य—राज्य भूमि विकास अथवा केन्द्रीय भूमि विकास बैङ्क का प्रमुख कार्य अपने राज्य के प्राथमिक बैङ्कों के कार्य में ताल मेल करना है। इसके यह प्राथमिक बैंकों को अपने कोष में से पूँजी प्रदान करता है तथा उनका उपयुक्त निर्देशन करता है।

पूँजी—राज्य भूमि विकास बैङ्क प्रमुख रूप से ऋण-पत्रों और अंशों को बेचकर अपनी पूँजी एकत्र करता है। सामान्यतया प्राथमिक भूमि विकास बैङ्क तथा अन्य सहकारी संस्थाएँ इनके अंशों का क्रय करती हैं और जीवन बीमा निगम, रिजर्व बैङ्क

तथा स्टेट बैङ्क इसके ऋण-पत्रो को खरीदते है। राज्य सरकारें स्वयं भी इनके ऋण-पत्र व अंशो को क्रय कर इनकी वित्तीय सहायता करती हैं। कृषि पुनर्वित्त निगम भी राज्य भूमि विकास बैको को पर्याप्त मात्रा मे दीर्घकालीन साख प्रदान करती हैं।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—राज्य भूमि विकास बैङ्क बैङ्को की संख्या 1950-51 मे 5 थी वह 1979-80 मे बढकर 19 हो गई। 1979-80 मे राज्य विकास बैङ्को द्वारा दिये गये कुल ऋणो की मात्रा 300 करोड़ रुपये थी और बक़ाया ऋणों की राशि 1400 करोड रुपये थी।

(ब) गैर-कृषि या नगर सहकारी समितियाँ

इस प्रकार की सहकारी समितियाँ साधारणतया कस्बो एवं नगरो में पायी जाती हैं। इन समितियो की सख्या अभी हमारे देश मे कम है क्योकि देश के आर्थिक जीवन में अभी भी कृषि की ही प्रधानता है। इसका वर्तमान कलेवर इस प्रकार है—

(1) **संगठन**—इन समितियो का संगठन सम्मिलित दायित्वो के आधार पर होता है। कोई भी 10 सदस्य मिलकर इस प्रकार की समिति की स्थापना कर सकते हैं, परन्तु कुल सदस्य संख्या 2 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए।

(2) **पूंजी**—ये समितियाँ अपनी पूंजी का अधिकाश भाग अंश बेचकर प्राप्त करती है। प्रत्येक अंशधारी को एक वोट देने का अधिकार होता है।

(3) **ऋण नीति**—ये समितियाँ साधारणतया उत्पादन कार्यों के लिए ऋण देती है। ऋण सामान्यतया दो वर्षों के लिए अथवा विशेष परिस्थितियो मे 3 या 5 वर्षों के लिए दिये जाते है। ऋण व्यक्तिगत जमानत तथा सोना-चाँदी की जमानत पर दिये जाते है।

(4) **प्रबन्ध**—समिति के प्रबन्धन के लिए एक साधारण सभा, प्रबन्ध सभा व वैतनिक कर्मचारी होते है।

(5) **लाभ वितरण**—समिति सभा का कम से कम 25% सचित कोष में रखा जाता है। शेष लाभ मे कुछ भाग सदस्यो के सामान्य हितो पर व्यय करके बाकी समस्त लाभ सदस्यो मे बाँट दिया जाता है।

(6) **रजिस्ट्रार का नियंत्रण**—रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अकेक्षक इनके हिसाब-किताब की जाँच प्रतिवर्ष करता है।

II गैर-साख समितियाँ
(Non-Credit Societies)

इसके पूर्व ही हम अध्ययन कर चुके है कि भारत में गैर-साख समितियो का संगठन दो प्रकार का है—

(1) कृषि गैर-साख समितियाँ।

(2) गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ।

(1) **कृषि और साख समितियाँ**—कृषि गैर-साख समितियो का कार्य किसानो

की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को सुधारना है। ये समितियाँ मध्यस्थो को समाप्त करके अपने सदस्यो को लाभ पहुँचाती हैं। कृषि गैर-साख समितियो के प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) **सहकारी कृषि विपणन समितियाँ**—भारत मे कृषि-उपज विपणन के बीच अनेक मध्यस्थ पाए जाते है जिसके कारण किसानो को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं प्राप्त होता। अत: इन दोषो को दूर करने के लिए विभिन्न स्तर पर सहकारी विपणन समितियो का गठन किया गया है।

(ब) **कृषि उपज के सहकारी विपणन का ढांचा**—देश मे राष्ट्रीय स्तर पर, एक राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन सघ (National Agricultural Co operative Federation) है। इस समय इनकी संख्या 20 है। मण्डियो के स्तर पर प्राथमिक विपणन समितियाँ हैं। जून 1975 में इनकी संख्या 2,800 थी। इस सम्बन्ध में एक पृथक् अध्याय 'कृषि-उपज का विपणन' मे विस्तृत अध्ययन किया गया है।

(2) **सहकारी कृषि उत्पादन समितियाँ**—कृषि क्षेत्र मे उत्पादन करने वाली सहकारी समितियाँ बडी और छोटी दोनो रूपो मे स्थापित की गई है। उदाहरणार्थ—सहकारिता के आधार पर चीनी मिल व कताई की स्थापना। ये बडे आकार की समितियाँ हैं। दूसरी श्रेणी में मध्यम व छोटे आकार की समितियाँ आती हैं। इसके अन्तर्गत चावल मिल, जूट मिल, तेल मिल तैयार करने वाली समितियाँ स्थापित की गई है।

(3) **सहकारी उन्नत-कृषि समिति**—ऐसी समितियो को कृषि के तरीके मे सुधार करने के लिए गठित किया जाता है। कृषि औजारो का निर्माण और वितरण, कृषि सेवा केन्द्रो की सहकारिता के आधार पर स्थापना की गई है। ये समितियाँ उत्तम खाद, उत्तम बीज, अच्छे औजारो की व्यवस्था करती हैं।

(4) **सहकारी कृषि समितियाँ**—भारत मे जोत का आकार बहुत ही छोटा होने के कारण वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि करना असम्भव होता है। अत: जोत के आकार में सुधार करने के लिए तथा कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए सहकारी कृषि समितियो की स्थापना की गई है। ये समितियाँ जोत से आकार को बड़ा करने के लिए चकबदी जैसी नीतियाँ अपनाती हैं।

(5) **सहकारी सिंचाई समितियाँ** -ये समितियाँ अपने सदस्यो को सिंचाई की व्यवस्था करती हैं। ये समितियाँ सिंचाई के साधनो का विकास करती हैं।

गैर-साख गैर-कृषि सहकारी समितियाँ

1. **सहकारी आवास समितियाँ**—आज के युग में बड़े-बड़े शहरों में आवास की समस्या दिनो-दिन जटिल होती जा रही। इस समस्या के समाधान के लिए 'सहकारी आवास समितियो' की स्थापना की गई है। वे समितियाँ नागरिकों व श्रमिकों के लिए सस्ते दामों पर भवन निर्माण का कार्य करती हैं, सड़क नालियों की व्यवस्था

कराती है। इन समितियो को सरकार से भी अनेक प्रकार की सहायता मिलती है जैसे कम ब्याज दर पर ऋण, भवन निर्माण सामग्री की सुगम उपलब्धि आदि।

2. **उपभोक्ता सहकारी समिति**—आवश्यक वस्तुओ के उचित और न्यायपूर्ण वितरण के लिए उपभोक्ता सहकारी समितियाँ गठित की गई है। ये समितियाँ अपने सदस्यो एवं जनता को उचित मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध कराती है। इन समितियो का देश भर मे एक जाल सा बिछा है।

30 जून, 1978 को 493 केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी भण्डार (3480 शाखाएँ), 16,152 सहकारी समितियाँ, 14 राज्यस्तरीय उपभोक्ता सघ व एक राष्ट्रीय सहकारिता उपभोक्ता संघ का कार्य करते थे। इस प्रकार कुल 23,000 सहकारी फुटकर सस्थान उन दिन भारत मे कार्य कर रहे थे। इन सहकारी समितियो व संघो ने 1977-78 मे 650 करोड के मूल्य की बिक्री की जबकि 1960-61 मे इन्होने केवल 60 करोड के मूल्य की बिक्री की थी।

3. **श्रम ठेका और निर्माण सहकारी समितियाँ**—ये समितियाँ देश मे अपने सदस्यो को उचित मजदूरी और रोजगार दिलाने का कार्य करती है। ये समितियाँ ठेकेदारो द्वारा श्रमिको के शोषण से भी बचाती है। इन समितियो के सदस्य श्रमिक होते है।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ

सहकारी साख समितियो की स्थापना किसी एक उद्देश्य को लेकर ही की जाती थी। यद्यपि विभिन्न प्रकार की समितियाँ विभिन्न उद्देश्यो के लिए संगठित की गई थी किन्तु एक विशिष्ट समिति केवल विशेष उद्देश्यो की पूर्ति ही कर पाती थी। जैसे गृह निर्माण समिति केवल अपने सदस्यो की गृहसमस्या को ही हल करती है। विगत वर्षों मे सहकारी समितियो मे कार्यक्षेत्र मे विस्तार हुआ है। अब सहकारी समितियो को सम्पूर्ण आर्थिक जीवन के प्रबन्ध का भार सौपा गया है। गाँव की सहकारी समितियो का कार्यक्षेत्र केवल साख तक ही सीमित न रहकर किसानो की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। जैसे बीज, खाद, सिंचाई, चकबन्दी, पशुपालन आदि का भी सहकारी समितियो को करना चाहिए।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की परिभाषा

ऐसी सहकारी समितियाँ जिनके द्वारा अनेक कार्य किए जाते है, बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ कहलाती है। स्वर्गीय कैलाश नाथ काटजू ने इसकी निम्नलिखित परिभाषा दी है :—

"बहुउद्देशीय शब्द का अर्थ उन कार्यों से लेना चाहिए जिनमे समिति के सभी सदस्य रुचि ले सकते है।" अत. बहुउद्देशीय सहकारी समिति एक ऐसी सहकारी समिति होती है जिसके द्वारा अनेक कार्य सचालित होते है।

बहुउद्देशीय सहकारी समिति के कार्य—सहकारी समितियो के प्रमुख कार्य इस प्रकार है—

(1) **कृषि सम्बन्धी कार्य**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ कृषि से सम्बन्धित अनेक कार्य करती हैं। जैसे (i) मशीनो द्वारा भूमि की सफाई करती हैं, (ii) उन्नत बीज की व्यवस्था करती है, (iii) ये समितियाँ सिचाई सुविधाओ का विस्तार करती हैं (iv) अच्छे कृषि यन्त्रो की भी व्यवस्था करती हैं।

(2) **कृषि उपज का विपणन**—ये समितियाँ कृषि उपज के विपणन का कार्य भी करती हैं। कृषि उपज की बिक्री करके अपने सदस्यो को अच्छी कीमतें तय करती हैं।

(3) **कुटीर उद्योगो का विकास**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ अपने सदस्यो की आय को बढाने के लिए तथा रोजगार प्रदान करने के लिए अनेक कुटीर एवं ग्राम उद्योगो को विकसित करती हैं।

(4) **बचत को प्रोत्साहन**—ये समितियाँ अपने सदस्यो मे बचत की भावना को जागृत करती हैं।

(5) **चकबन्दी आदि भूमि सुधार के कार्य**—सहकारी समितियाँ चकबन्दी आदि भूमि सुधार कार्य करती हैं।

(6) **सस्ती दर पर ऋण**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियो के द्वारा सस्ती दर पर पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान किये जाते हैं। ये समितियाँ कृषको को दो प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऋण प्रदान करती हैं—

(i) **चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए**—इसमे मजदूरी का भुगतान खाद व बीज को खरीदने के लिए ऋण प्रदान किए जाते है।

(ii) **पुराने ऋणों के भुगतान के लिए**—समितियाँ पुराने ऋणो के भुगतान के लिए भी ऋण प्रदान करती हैं।

(7) **समाज कल्याण के कार्य**—बहुउद्देशीय समिति ग्रामीण अशिक्षा की समस्या को हल कर सकती हैं। इसके साथ ही मनोरंजन और बाल कल्याण के कार्य करती हैं। इसी प्रकार सहकारी समितियाँ स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए चिकित्सा सुविधाओ को भी उपलब्ध कराती हैं।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों से लाभ

(i) **ग्रामीण विकास**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी प्रकार के कार्यों में भाग लेती हैं। ग्राम में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं का विकास करती हैं। इस प्रकार ये समितियाँ ग्रामीण-जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने मे काफी मदद देती हैं।

(ii) **महाजनों से मुक्ति**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ कृषको को सस्ते ब्याज की दर पर ऋण प्रदान कर, साहूकारो के पंजों से निकालने का प्रयत्न करती है।

(iii) **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ उत्तम प्रकार के बीज, खाद, कृषि यन्त्रो को उपलब्ध कराकर कृषि-उत्पादन को बढ़ाने में सहायक हैं।

(iv) **ऊँचा जीवन-स्तर**—ये समितियाँ ग्रामीण जन-जीवन के स्तर को शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओ के विकास द्वारा ऊपर उठाती है।

(v) **कुटीर उद्योगों का विकास**—सहकारी समितियाँ कुटीर उद्योगो का संचालन स्वय ही कर सकती है अथवा सदस्यो को कच्चे माल की पूर्ति, साख, तैयार माल का वितरण आदि सुविधाएँ प्रदान कर उन्हे कुटीर उद्योगो की ओर प्रेरित करती है।

(vi) **आपसी प्रेम एवं सहयोग में वृद्धि**—सहकारी समितियो से आपसी प्रेम और सहयोग मे वृद्धि होती है।

(vii) **प्रबन्ध की सुविधा**—एक उद्देशीय सहकारी समितियो के प्रबन्ध के लिए भिन्न-भिन्न कर्मचारियो की आवश्यकता पडती है किन्तु बहुउद्देशीय सहकारी समिति मे विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक ही प्रशिक्षित व्यक्ति की नियुक्त की जाती है। इस प्रकार प्रबन्ध मे सरलता और मितव्ययिता होती है।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के दोष

(1) **कार्य प्रणाली की जटिलता**—बहुउद्देशीय समितियाँ विभिन्न कार्यों को करती है, इनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत होता है। इसलिये इन समितियो की कार्य-प्रणाली सामान्य आदमी नही समझ सकता।

(2) **प्रबन्ध की जटिलता**—इन समितियो का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक हो जाता है इसलिए प्रबन्ध करने मे कठिनाई होती है।

(3) **किसी कार्य की सफलता, असफलता के ज्ञान का न होना**—समिति के बहुत से कार्य होते है, इसलिये उनकी सफलता, असफलता का ज्ञान ठीक तरह से नही हो पाता।

(4) **सहकारिता के वास्तविक उद्देश्य की समाप्ति**—सहकारी समितियो का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत होता है जिसके कारण समिति के सदस्यो मे पारस्परिक सहयोग का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार बहुउद्देशीय समितियो की स्थापना से सहकारिता के उद्देश्य समाप्त हो जाते है।

सहकारिता आन्दोलन के लाभ

सहकारिता आन्दोलन के लाभो का हम निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है :—

(1) आर्थिक लाभ

(1) **कम ब्याज पर रुपया मिलना**—सेठ, साहूकारो से रुपया बहुत अधिक ब्याज पर मिलता है किन्तु सहकारी समिति के सदस्यो को कम ब्याज पर रुपया मिल जाता है।

(2) **खेती के उन्नत तरीको का प्रयोग**—सहकारी समितियो ने खेती मे उन्नत

तरीको—जैसे उन्नत बीजो व खादा आदि का प्रयोग करना सिखाया है । सहकारिता से मध्यस्थ और दलालो का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, अत. सहकारी सदस्यो को बिक्री के क्षेत्र मे अधिक लाभ हुआ ।

(3) **सदस्यों की आर्थिक स्थिति में सहायता**—उपभोक्ता समितियाँ, आवास समितियाँ आदि गैर-साख सहकारी समितियाँ सदस्यो की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायक सिद्ध हुई है ।

(4) **उत्पादक कार्यों के लिए साख पर जोर**—उत्पादन ऋण का भुगतान, अनुत्पादक ऋणो की अपेक्षा सरल होता है । ग्रामीण साहूकार सभी उद्देश्यो के लिए ऋण प्रदान करते है किन्तु साख समितियाँ अधिकतर उत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्रदान करती हैं ।

(5) **बचत विनियोग में लाभ**—सहकारी समितियो ने ग्रामीण अपव्ययिता एवं सामाजिक उत्सवो पर व्यय को दूर करने मे सहायता दी है । अब ग्रामीण अपने धन को जमीन में न गाड़ कर उसे बैंक या डाकखानो मे जमा करते है । इस प्रकार बचत विनियोग को प्रोत्साहन मिला है ।

(6) **भूमि बन्धक बैंक द्वारा आर्थिक सहायता**—सहकारिता आन्दोलन ने तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, गुजरात आदि राज्यो में भूमि बन्धक बैंको द्वारा दीर्घकालीन ऋण की सुविधा प्रदान की आर्थिक सहायता की है ।

(7) **अच्छी भण्डार सुविधाएं** - सहकारी समितियो ने अच्छे भडार की सुविधायें प्रदान कर सहायता की है ।

(8) **श्रम का उचित पुरस्कार**—सहकारी समितियाँ कृषको और मजदूरो को उनके श्रम का उचित पुरस्कार दिलाने में सहायता करती हैं ।

(9) **श्रमिकों या कृषकों की कार्यकुशलता में वृद्धि** - सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों की आवास की व्यवस्था करती हैं, तथा उन्हें प्रशिक्षित करती हैं, जिससे कार्यकुशलता में वृद्धि होती है ।

(2) सामाजिक लाभ

(1) **ग्राम जीवन की उन्नति में सहायक**—सहकारी समितियों ने ग्रामीण जन-जीवन की विभिन्न सामाजिक कुरीतियो को दूर करके उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन दिया है । सहकारी समितियाँ ग्रामो में शिक्षा के प्रसार द्वारा सामाजिक और धार्मिक अवसरो पर फिजूलखर्ची को रोकने में सहायक सिद्ध हुई हैं ।

(2) **मितव्ययिता और आत्मनिर्भरता का विकास**—सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों में मितव्ययिता तथा आत्मनिर्भरता की प्रवृत्तियो को जन्म देती हैं । सहकारी समितियों के प्रयास से किसानों ने जन्म, मृत्यु तथा विवाह आदि सामाजिक अवसरों पर होने वाले अपव्ययों पर रोक लगा दी है ।

(3) नैतिक लाभ

सहकारी समितियो की सदस्यता के लिए नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का होना

अनिवार्य है। चरित्रहीन, जुआरी, शराबी व्यक्ति को समिति का सदस्य नही बनाया जा सकता। इस प्रकार सदस्यो का नैतिक स्तर ऊँचा करने मे समितियो का योगदान प्राप्त होता है। **सर माल्कोम डार्लिंग के शब्दों मे** "एक अच्छी सहकारी समिति मे मुकदमेबाजी और फिजूलखर्ची, शराबखोरी, और जुआबाजी, सब कम हो जाती है और उनके स्थान पर परिश्रम, स्वावलम्बन, ईमानदारी, शिक्षा, बचत, स्व-सहायता और परस्पर सहायता पायी जाती है।" 'सब एक के लिए और सब के लिए' इस भावना से काम होता है।

(4) राजनैतिक लाभ

सहकारी समितियो ने ग्रामीण जनता को उचित प्रकार से अपने मत का प्रयोग करना भी सिखाया है। सहकारी समितियाँ मानव समाज के कल्याण के लिये समानता एव स्वतन्त्रता की भावनाओ का विकास कर जनतंत्रात्मक प्रणाली को सफल बनाती है। इस प्रकार राजनैतिक जागरूकता मे भी सहकारी समितियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

(5) शैक्षणिक लाभ

एक उपयुक्त सहकारी समिति के द्वारा शैक्षणिक विकास भी किया जा रहा है। समितियो की बैठक मे भाग लेने, उसकी कार्यवाहियो और हिसाब-किताब समझने से अक्षर ज्ञान एवं मानसिक और बौद्धिक विकास होते हैं। सहकारी समितियो के लोकतन्त्र की प्रणाली पर चलने के कारण लोकतन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा मिलती है।

उपर्युक्त लाभो के होते हुए भी सहकारी आन्दोलन की प्रगति संतोषप्रद नही कही जा सकती।

सहकारी आन्दोलन की कमियाँ और मन्द विकास के कारण

1 **सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप**—भारत मे सहकारी आन्दोलन का प्रारंभ एवं संगठन सरकारी अफसरो द्वारा किया गया है, इसलिए अधिकाश जनता 'अपनी नही' वरन् सरकारी सस्थाये समझती है। परिणामस्वरूप जनता मे सहकारी आन्दोलन के प्रति उत्साह बहुत कम है।

2. **सहकारिता के सिद्धान्तो की अनभिज्ञता**—समितियो के अधिकाश सदस्य सहकारिता के सिद्धातो से अनभिज्ञ है। यही कारण है कि इनमे आपस मे झगड़े चलते रहते है।

3. **अपर्याप्त विकास**—देश की विशालता को देखते हुए सहकारी बैंको की सख्या बहुत कम है, इसलिए अभी तक इस आन्दोलन ने ग्रामीणो की ऋण समस्या का आशिक उपचार किया है

4. **प्रबन्ध कुशलता**—भारत मे सुयोग्य संचालकों और प्रबन्धको का अभाव होने से सहकारी संस्था का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक नही होता।

5. **ब्याज की ऊंची दर**—भारत मे सहकारी साख समितियो द्वारा दिये गये ऋणों पर प्राय: 8 से 15 प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता है।

6. **हिसाब-किताब रखने का दोषपूर्ण ढग**—समितियो के हिसाब-किताब अनियमित ढग से रखे जाते है जिससे उनका ठीक अकेक्षण व निरीक्षण नही हो पाता। इससे बैंक के धन का दुरुपयोग होता है और बहुत ऋण डूब जाते है।

7. **लम्बी अवधि के लिए ऋण देते हैं**—सहकारी बैंक दीर्घकाल के लिए भी ऋण देते है, जबकि उसका उद्देश्य केवल अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण देना है और इस प्रकार उन्हे इन दीर्घकालीन ऋणो का भुगतान करने मे असुविधाओ का सामना करना पड़ता है।

8. **ऋण की स्वीकृति एव वसूली**—सहकारी समितियो द्वारा ऋण स्वीकृत करने मे प्राय: तीन-चार महीने लग जाते हैं क्योकि ऋण देने से पूर्व समितियो को भी बहुत-सी कागजी कार्यवाही करनी पडती है। ऋण देने से उपरात बहुत-सी समितियाँ ऋण की वसूली मे अत्यधिक कड़ाई करती हैं जिसके फलस्वरूप ऋणियो को साहूकारो से ऋण लेना पड़ता है।

9. **अल्प सहायता**—सहकारी बैंक का मुख्य उद्देश्य कृषक वर्ग के लिए सस्ते ऋण सुलभ कर उसे शोषण से बचाना था। उसे निर्धन पीड़ित जनता के लिये आशा की एकमात्र किरण माना गया था, परन्तु सहकारी साख की सबसे महत्त्वपूर्ण कमी यह है कि वह आवश्यकता के एक अल्प भाग की पूर्ति करता है।

10. **मितव्ययिता का अभाव**—सहकारी आन्दोलन के सदस्यों में बचत की आदत नहीं होती फलतः सहकारिता का पूर्ण लाभ नही मिल पाता।

11. **बाह्य दिखावा**—केवल दिखावे के लिये समितियो के बहुत से कार्य होते हैं। सरकारी सहायता प्राप्त करने के लिये कई बार केवल घर के सदस्य ही समिति बनाने का बहाना कर लेते हैं और इस प्रकार की समिति कागजो मे ही रहती है।

12. **भ्रष्टाचार**—समितियो का संचालन ठीक प्रकार से नहीं होता। भ्रष्ट और अयोग्य लोगो के हाथ मे होने के कारण ऋण देने मे पक्षपात, बेईमानी, ऋण के भुगतान मे अनियमितता व भ्रष्टाचार चलता है।

13. **नैतिकता की ओर कम ध्यान**—सहकारिता मे नैतिकता की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

14. **अत्यधिक संचालन व्यय**—समितियों का संचालन व्यय अधिक होने के कारण ये टिक नहीं पातीं और न ही व्यापारियों के मुकाबले में टिकती हैं।

15. **गैर-साख समितियों की अवहेलना**—गैर-साख समितियों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। वास्तव में गैर-साख समितियों का भी साख समितियो के समान ही महत्त्व है।

सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए सुझाव

1. सहकारी सिद्धान्तो की शिक्षा व प्रचार—सहकारी विभाग के कर्मचारियो को सहकारिता की शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिये ताकि वे कर्मचारी सदस्यो को सहकारिता के सिद्धान्त समझा सके।

2. सरकारी नियन्त्रण मे कमी—सरकारी नियन्त्रण को कम कर देना चाहिये जिससे सदस्यो के ऊपर जिम्मेदारी डाली जा सके। इससे सदस्यो का विश्वास सस्था के प्रति बढ़ेगा।

3. ऋणो की अवधि—सरकारी बैको को अल्पकालीन या अधिक से अधिक मध्यकालीन (3 वर्ष) ऋण ही देने चाहिये।

4 सावधानी—ऋण देने मे अधिक सावधानी से काम लेना चाहिये और ऋणो की स्वीकृति मे कम-से-कम समय लगाना चाहिए।

5 ऋणो का भुगतान—जब तक पुराने ऋणो का भुगतान न हो जाये, और ऋण नही दिया जाना चाहिये।

6. ब्याज की दर—समितियो को ब्याज की दर मे कमी करनी चाहिये। इसके लिये प्राथमिक समितियो को शहरो तथा गाँवो से धन प्राप्त करना चाहिये। केन्द्रीय सहकारी बैको को भी इन बैको को कम ब्याज पर ऋण देना चाहिए।

7. बहुउद्देशीय समितियाँ—प्राथमिक समि तियो को बहुउद्देशीय समितियो मे बदल देना चाहिये अर्थात् प्रत्येक प्रारम्भिक समिति को साख की सुविधा देने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी जैसे कृषि औजार देना, फसलो का सहकारी विक्रय करना व कुटीर उद्योगो को बढावा देना आदि शामिल कर लेना चाहिए।

8. अंकेक्षण व निरीक्षण—इन सस्थाओ के निरीक्षण व अकेक्षण के लिये जिला संघ होना चाहिए।

9 अन्य सुझाव—(अ) प्रशिक्षण, अनुभवी व सहकारी दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियो को ही महत्त्वपूर्ण पदो पर रखना चाहिये।

(ब) प्राथमिक समितियो को अपने संचित कोषो मे अधिकाधिक वृद्धि करनी चाहिये।

(स) सरकार को आयकर, रजिस्ट्रेशन, फीस, स्टाम्प ड्यूटी तथा अतिरिक्त न्यायालय फीस से इन समितियो को मुक्त कर देना चाहिए।

(द) साख समितियो तथा रिजर्व बैक के कृषि विभाग मे पूर्ण समन्वय होना चाहिये।

(य) देशी बैकरो को सहकारी समितियो का सदस्य बनने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

(र) बैको को ठीक समय पर एव ठीक मात्रा मे ऋण देना चाहिये जिससे किसान महाजनो के पास न जा सके।

सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के लिए सरकारी प्रयास

केन्द्रीय सरकार सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ करने एवं इसकी कमियो को दूर करने के लिए निम्नलिखित कार्य करने जा रही है—

1 **सहकारिता प्रशिक्षण विश्वविद्यालय की स्थापना**—भारतीय राष्ट्रीय सहकारिता संघ के इस सुझाव पर केन्द्रीय सरकार सक्रिय रूप से विचार कर रही है कि पूना स्थित बैकुण्ठलाल मेहता राष्ट्रीय सहकारिता संस्थान को विश्वविद्यालय मे बदल दिया जाय। यह देश का पहला विश्वविद्यालय है जो सहकारिता की डिगरी प्रदान करेगा।

2. **प्रशिक्षण कार्यक्रम**—अगले तीन वर्षों मे 30 हजार स्नातक युवक-युवतियो को सहकारिता मे प्रशिक्षण दिया जायेगा तथा उनको प्रशिक्षण काल मे 200 रु० माहवार दिया जायेगा। बाद मे इन प्रशिक्षितो को सहकारिता सेवा मे नियुक्त कर लिया जायेगा।

3. **आयोग की स्थापना**- केन्द्रीय सरकार ने सिद्धान्त रूप मे यह स्वीकार कर लिया है कि सहकारिता आन्दोलन के विभिन्न पहलुओ पर विचार करने के लिए एक आयोग का गठन किया जाय। यह आयोग विभिन्न राज्यो मे सहकारी संगठनो के असंतुलित विकास एव राजनीतिक हस्तक्षेप को रोकने के सम्बन्ध मे भी विचार करेगा।

4. **राष्ट्रीय प्रस्ताव**—सहकारिता आन्दोलन की उचित प्रगति की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार ने सहकारिता नीति पर पहली बार राष्ट्रीय प्रस्ताव तैयार किया है। यह प्रस्ताव 12 सूत्रीय है और उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) छोटे और सीमान्त कृषकों, कृषि श्रमिको ग्रामीण दस्तकारो और मध्यम तथा निम्न आय वर्ग के सामान्य उपभोक्ताओ को सहकारिता कार्यक्रम मे अधिक से अधिक भाग लेने का अवसर प्रदान किया जायेगा।

(2) प्रत्येक स्तर पर सहकारिता आन्दोलन आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के लिए नियोजन की प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहेगा।

(3) सहकारिता के विकास को राष्ट्रीय स्तर पर प्रोत्साहित किया जायेगा तथा इसके विकास मे विद्यमान क्षेत्रीय विषमताओ को प्रगतिशील रूप मे कम किया जायेगा।

(4) सहकारिता को देश के विकेन्द्रित श्रम प्रधान और ग्रामीण प्रधान आर्थिक विकास के एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप मे निर्मित किया जायेगा।

(5) निहित स्वार्थों के प्रभुत्व से मुक्त और विस्तृत सदस्यो की समझदारी पूर्ण भागिता पर आधारित सहकारी प्रजातंत्र का निर्माण किया जायेगा।

(6) ग्रामीण क्षेत्रों में एक सुदृढ़ कार्ययोग्य और समन्वित सहकारी व्यवस्था का निर्माण किया जायेगा, जिससे पूर्ण और विस्तृत ग्रामीण विकास को प्रोत्साहित किया जा सके।

(7) उत्पादक और उपभोक्ताओ के मध्य मितव्ययी और लाभप्रद सम्बन्ध बनाने के लिए सहकारी कृषि प्रक्रियन और औद्योगिक इकाइयो का विस्तार किया जायेगा।

(8) सहकारी आन्दोलन को भ्रष्टाचार और कुरीतियो से मुक्त किया जायेगा।

(9) सहकारी समितियो की स्वायत्तता उनके अधिकाधिक आन्तरिक साधनो के सृजन, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो मे बचतो के एकत्रीकरण तथा सरकार और बाहरी वित्तीय संस्थाओं पर घटती हुई वित्तीय निर्भरता पर आधारित होगी।

(10) सहकारिता आन्दोलन को अनावश्यक बाहरी हस्तक्षेप, अत्यधिक नियन्त्रण तथा राजनीति से मुक्त एक स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर आन्दोलन के रूप मे विकसित किया जायेगा।

(11) उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को सुदृढ़ करने की दृष्टि से विकसित किया जायेगा।

(12) सहकारी समितियो को सरल और विवेकीकृत प्रक्रिया और सुगठित संगठन के साथ कुशल संस्थाओ के रूप मे प्रोत्साहित किया जायेगा।

परीक्षा प्रश्न

1 भारत मे सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रकृति के क्या कारण हैं ? भारत मे सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के सुझाव दीजिए।

2. विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ मे सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए क्या उपाय किये गये है ?

3. भारतवर्ष मे ग्रामीण वित्त-व्यवस्था के लिए कौन-कौन सी एजेन्सियाँ है ? सहकारी आन्दोलन ग्रामीण महाजन को कहाँ तक दूर करने मे सफल हुआ है ?

4. भारत मे सहकारिता आन्दोलन के विकास का सक्षिप्त इतिहास बताइये और इसकी मन्द गति के कारणो पर प्रकाश डालिए।

5. उपभोक्ता सहकारी समितियो व औद्योगिक सहकारी समितियो पर टिप्पणी लिखिए।

6. अभी तक सहकारिता की उन्नति की दिशा में एक अकेला और अपूर्ण कदम माना जाता रहा है। अब सहकारिता आन्दोलन को राष्ट्रीय आर्थिक योजना का एक भाग होना चाहिये। भारत मे 1949 मे सरकार द्वारा अपनी नीति की घोषणा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने मे कहाँ तक प्रगति हुई है ?

7. "सहकारिता असफल रही है, तथापि इसे सफल बनाना है।" भारत मे सहकारिता आन्दोलन के संदर्भ मे इस वक्तव्य की समीक्षा कीजिए।

[**सकेत**—सहकारिता के दोष दीजिए, व सफलता हेतु सुझाव दीजिए।]

8. "भारत मे सहकारी आन्दोलन अधिकाशतः साख आन्दोलन है।" विवेचना कीजिए।

[**संकेत**—कृषि सहकारी साख संस्थाओ का विकास दीजिए।]

8

कृषि में यंत्रीकरण अथवा कृषि में मशीन का उपयोग

(Mechanisation of Agriculture or Introduction of Machinery in Agriculture)

कृषि में यन्त्रीकरण के अभिप्राय—कृषि के यन्त्रीकरण से अभिप्राय, कुछ कार्यों को जो कि प्राय: पशुओ या दोनो के ही द्वारा किये जाते है, उपयुक्त मशीनो की सहायता से करने की विधि मे है । प्रो० भट्टाचार्य के अनुसार "कृषि कार्यों मे यन्त्रीकरण का आशय भूमि सम्बन्धी कार्यों मे जिन्हे प्राय: बैलो, घोडो व अन्य पशुओ या मानवीय श्रम द्वारा किया जाता है, यांत्रिक शक्ति के प्रयोग करने से है ।"[1]

इन क्रियाओं मे भूमि की सफाई से लेकर फसल की बिक्री तक की क्रियाएँ शामिल है । इन क्रियाओ को हम 3 प्रमुख भागो में वर्गीकृत कर सकते हैं : (i) भूमि की तैयारी (ii) उत्पादन विनियोग (iii) आगतो का प्रयोग । भूमि की तैयारी में इसकी जुताई, बँधाई, समतलना, निराई और पलटने की क्रियाएँ शामिल हैं । उत्पादन के विनियोग मे फसल की कटाई, गहाई (दाना निकालना) फटकना, सफाई तथा संग्रह एवं बिक्री के लिए परिवहन की व्यवस्था आदि क्रियाएँ शामिल हैं । इसी तरह, आगतो के उपयोग मे सिचाई उर्वरण बीजारोपण, बुवाई, दवाई छिड़कना आदि प्रमुख क्रियाएँ सम्मिलित हैं ।

यन्त्रीकरण के प्रकार—कृषि के यन्त्रीकरण के दो स्वरूप हो सकते हैं : (अ) पूर्ण (Complete) और (ब) आंशिक (Partial) । पूर्ण यन्त्रीकरण में फार्म सम्बन्धी समस्त कार्य प्राय: मशीनो द्वारा ही किये जाते है, परन्तु आंशिक यन्त्रीकरण में फार्म सम्बन्धी कार्यों का आंशिक भाग ही मशीनो द्वारा किया जाता है । पश्चिमी देशो में फार्म-श्रम के अभाव के कारण और रूस से भूमि का अधिकतम विदोहन तथा उत्पादन

---

1. "Mechanisation of agriculture and farming process connotes application of machine power to work on land usually performed by bullocks, horses and other draught animals or by human labour."
—J. P. Bhattacharjee Mechanisation of Agriculture in India.

मे वृद्धि के लिए पूर्ण यन्त्रीकरण अपनाया गया है । ब्रिटेन मे भी द्वितीय महायुद्ध काल मे मानव-शक्ति की कमी के कारण आशिक यन्त्रीकरण हुआ ।

प्रमुख कृषि यन्त्र—कुछ प्रमुख कृषि यन्त्र इस प्रकार हैं—(1) **ट्रैक्टर** जिसके द्वारा भूमि की जुताई होती है । (11) **कम्बाइन्ड ड्रिल** जिसके द्वारा खाद और बीज एक साथ डाले जा सकते हैं । (111) **कम्बाइन्ड हारवेस्टर** जो फसलो की कटाई मे सहायक होते हैं । (1V) **प्लाण्टर** जो भूमि कुदेरता है और बीज बोता है ।

गाँवो का जैसे-जैसे विद्युतीकरण होता जा रहा है वैसे वैसे यन्त्रो के उपयोग की सम्भावनाये बढती जा रही है । कृषि के यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन टेकनीकल एवं ग्रामीण इजीनियरिंग स्कूलो मे यन्त्रो के प्रयोग की शिक्षा आरम्भ कर देने से भी मिला है ।

कृषि में यत्रीकरण के लाभ

विश्व के प्रगतिशील देशो मे कृषि सम्बन्धी समस्त कार्य यन्त्रो की सहायता से किये जाने लगे हैं । कृषि के यन्त्रीकरण का समर्थन मुख्यत: मशीन द्वारा सम्भव बनाये गये बडे पैमानो के लाभो के आधार पर किया जाता है, जो कि निम्नलिखित है :—

1. **कार्य की गति मे वृद्धि**—कृषि मे यन्त्रो के प्रयोग से कार्य की गति में वृद्धि हो जाती है । एक मशीन एक निश्चित समय मे बहुत से श्रमिको का काम अकेले कर देती है । फलत खेती मे श्रम की बहुत बचत होती है और प्रति श्रमिक खेती की उपज बढ जाती है ।

2 **उत्पादन लागत मे कमी**—कृषि मे यन्त्रो का उपयोग करने से उत्पादन लागत मे कमी आ जाती है । एक अनुमान के अनुसार 40 हार्स पावर के ट्रैक्टर द्वारा कृषि करने की लागत 14,520 रुपये है, जबकि 40 हार्स पावर के बराबर बैलो की शक्ति का प्रयोग पर कृषि की लागत व्यय 65,200 रुपये होती है । स्पष्ट है कि यान्त्रिक कृषि के अन्तर्गत व्यय कम होता है ।

3. **पशु सम्बन्धी व्ययों में कमी**—कृषि मे यन्त्रो के प्रयोग के कारण भूमि की जुताई, पानी की सिंचाई, यातायात आदि के लिए पशुओ की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है । जब मशीनो से काम नही लिया जाता, तब उन पर अधिक व्यय नही किया जाता । किन्तु पशुओ के व्यय मे कोई कमी नही आती चाहे उनसे काम लिया जाय या नही, क्योकि उन्हे चारा आदि देना ही पडता है । अत. मशीनो के प्रयोग से पशु सम्बन्धी व्यय में कमी होती है ।

4. **बड़े पैमाने पर खेती सम्भव**—मशीनो के प्रयोग के कारण बडे पैमाने पर खेती करना सम्भव हो जाता है। भूमि के बडे-बडे खेत जोते जा सकते हैं । भारी मात्रा से फसले काटी जा सकती है । बडी मात्रा मे उत्पादन मण्डी तक पहुँचाया जा सकता है । इन सब कार्यों को थोडे समय मे करने के लिये कृषि यन्त्रो का प्रयोग होता है ।

5. **विशिष्ट कार्यों के उपयुक्त**—विशिष्ट कार्यों, जैसे ऊसर भूमि को तोड कर

कृषि के योग्य बनाना, सडको, नालियो और सिंचाई के लिये नहरो को बनाना आदि विशिष्ट कार्यों के लिये मशीनो का प्रयोग आवश्यक है।

6. **व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहन**—यान्त्रिक कृषि के अन्तर्गत खाद्यान्नो की अपेक्षा औद्योगिक फसलो को महत्त्व दिया जाता है तथा कृषि उपज की बिक्री के हेतु विदेशी बाजार खोजे जाते हैं। किसान न केवल जीवन निर्वाह के लिए कृषि करने लगता है, बल्कि कृषि उपज को बेचकर लाभ कमाने हेतु भी कृषि करने लगता है।

7. **उत्पादकता मे वृद्धि**—यंत्रीकरण से उत्पादकता मे वृद्धि होती है। यह पाया गया है कि यंत्रीकृत तथा गैर यंत्रीकृत फार्म की उत्पादकता मे लगभग 25 से 30% का अन्तर होता है। मशीनो के प्रयोग से कृषि की विभिन्न क्रियाओ जैसे जुताई, उर्वरण, बुआई; सिंचाई व कटाई आदि का कार्य अधिक कुशलता के साथ होने के कारण कृषि की उत्पादकता बढ़ जाती है।

8. **बहु-फसलो का सम्भव होना**—मशीनो की सहायता मे फसलो की शीघ्र कटाई के कारण खेत जल्दी ही अगली फसल के लिये तैयार किया जा सकता है जिससे बहु फसलो की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं उदाहरण के लिये एक मिश्रित हार्वेस्टर की सहायता से एक हेक्टेयर भूमि पर गेहूँ की फसल को केवल 1.25 घण्टे मे काटा जा सकता है और संग्रह के लिये साफ अनाज उपलब्ध हो जाता है और यदि इसी क्रिया को पशु शक्ति की सहायता से किया जाय तो इसके लिये 36 श्रम दिवसों तथा 7 जोडी बैल दिनो की आवश्यकता होती है।

9. **रोजगार मे वृद्धि**—यंत्रीकरण से रोजगार मे वृद्धि होती है परन्तु सामान्य धारणा यह है कि यंत्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ती है क्योकि मशीनें तेजी और कुशलता से कार्य करती हैं और मानव शक्ति को प्रतिस्थापित कर देती हैं। प्रो० राजकृष्ण ने 1968-69 और 1973-74 मे गेहूँ के फार्मों पर किये गये अध्ययनों के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि मशीनो के प्रयोगो के कारण उपरोक्त अवधि में श्रम का आयोग प्रति हेक्टेयर 557.7 घंटो से घटकर 464 1 घंटे रह गया है अर्थात् श्रम के इस्तेमाल मे लगभग 16.5% की कमी हुई है। इस अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि मशीनो के उपयोग से फार्म की क्रियाओ के लिये श्रम घंटो में कमी होती है। परन्तु इस अध्ययन में यंत्रीकरण के रोजगार पर पडने वाले परोक्ष प्रभावों को ध्यान में नहीं रखा गया है। यंत्रीकरण के परोक्ष प्रभाव महत्वपूर्ण हैं जो कि निम्नलिखित हैं—

(अ) **उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि**—यंत्रीकरण से उत्पादन और उत्पादकता दोनों मे वृद्धि होती है। उत्पादकता में होनेवाली वृद्धि का प्रभाव यंत्रीकरण के कारण श्रमिकों की संख्या में कमी के कारण प्रति संतुलित हो जाता है।

(ब) **व्यापक निर्धनता**—कई अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिक इतने अधिक निर्धन हैं कि वे अपने जीवन निर्वाह के लिये किसी भी रोजगार को स्वीकार करने के लिये तत्पर रहते हैं। जिसके कारण अति रोजगार की अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे ही श्रमिकों के आय के स्तर मे वृद्धि

होती है, महिलाएँ और बच्चे कार्य पर आना बन्द कर देते है फलत: रोजगार के इच्छुक लोगो की पूर्ति कम हो जाती है। यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि ग्रामीण जनसंख्या का 57% भाग 15 वर्ष से कम अथवा 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगो से सम्बन्धित है और 15 वर्ष से 60 वर्ष तक के आयु वर्ग मे युवक केवल 23% है तो भारत मे ग्रामीण श्रमिको का कुल अनुपात 34% होना, एक बड़ी उपलब्धि लगता है। यदि उत्तर काशी की जनसंख्या 64% भाग कार्यशील जनसंख्या कहा जाता है तो इसका अर्थ यह है कि वहाँ गरीबी के कारण लोग किसी भी रोजगार के अवसर को प्राप्त करने के लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार का अति रोजगार सामाजिक रूप से अनुचित है। मशीनो के प्रयोग से इस स्थिति मे संतुलन लाने का प्रयत्न किया जाता है।

(स) बाह्य-रोजगार अवसरों में वृद्धि—यंत्रीकरण के कारण कृषि से बाहर भी रोजगार के अवसरो का विस्तार होता है। उदाहरणार्थ—मशीनो का निर्माण, उपकरणो की मरम्मत, अतिरिक्त हिस्सो के वितरण, ईंधन तथा चिकनाई आदि मे काफी लोगो को रोजगार मिलता है। इस प्रकार यदि यंत्रीकरण के प्रत्यक्ष प्रभावो के कारण श्रम मे बेरोजगारी उत्पन्न होती है तो इसकी क्षतिपूर्ति से कृषि से बाहर अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न होने से हो जाती है ?

(द) मशीनो की श्रेष्ठता—कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमे श्रम की पूर्ति को देखते हुए मशीनो का प्रयोग ही अधिक श्रेष्ठकर होता है। हार्वेस्टरो के गुण एवं दोषो का विश्लेषण करते हुए N C A E R* (National Council of Applied Economic Research) के एक अध्ययन मे कहा गया है कि "कृषि क्रियाओ में फसल काटना सबसे अंतिम क्रिया है। कुशल कटाई के अभाव मे उत्पादित फसल का एक बहुत बडा भाग उपभोग के लिये उपलब्ध नही होगा। प्रत्येक फसल की कटाई के लिये एक आदर्श समय होता है, कटाई कार्य उसी समय पूरा हो जाना चाहिये। यदि कटाई कार्य के लिये पर्याप्त मात्रा मे श्रमशक्ति उपलब्ध नही है तो मशीन के प्रयोग के अलावा कोई विकल्प नही है। फसलो की बुवाई, और कटाई के समय श्रम की घोर कमी एक वास्तविकता है इन कार्यों को मशीन के प्रयोग के द्वारा आसानी से सम्पन्न किया जा सकता है।"

10. सामाजिक और आर्थिक प्रभाव—यंत्रीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो मे सामाजिक सुधार होने लगता है। कृषक खेती के भारी काम से मुक्त हो जाता है, उसकी आर्थिक स्थिति मे सुधार होता है और उसका जीवन-स्तर उठने लगता है। जब-जब एक ट्रैक्टर गाँव मे जाता है वह तकनीकी क्रान्ति उत्पन्न कर देता है। इससे गाँवो के तकनीकी ज्ञान की मात्रा मे अभिवृद्धि होती है और ग्रामीण औद्योगीकरण के लिये आधार तैयार होता है।

11. मूल्यों में स्थायित्व की स्थापना—मशीनीकरण से उत्पादन में वृद्धि होगी और अनिश्चितता की भी समाप्ति हो जायेगी। अत: मूल्यो में स्थायित्व आ जायेगा।

12. अन्य लाभ—

(i) खेती में छिड़कने के यंत्रो के प्रयोग से पौधो का उचित समय पर रोगो से बचाव किया जा सकता है।

(ii) कृषि का यंत्रीकरण होने से ट्रैक्टर पानी के पम्प आदि की मरम्मत के लिए व उनके छोटे-मोटे पुरजे बनाने के लिए सहायक धन्धो का विकास होता है।

(iii) कृषि-यंत्रीकरण के कारण ग्रामीण क्षेत्रो में यातायात की सुविधाओ का भी विस्तार होता है, क्योकि यंत्रो के प्रयोग मे कृषि-उत्पादन काफी बढ़ता है, जिसे शीघ्रता से मण्डी तक पहुँचाना आवश्यक है।

भारतीय कृषि के यंत्रीकरण की समस्या

यह सर्वविदित तथ्य है कि कृषि के यंत्रीकरण द्वारा भारत मे कृषि के उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। जैसा कि, पाश्चात्य देशो का अनुभव बतलाता है कि कृषि कार्यों में यंत्रों के प्रयोग द्वारा कृषि की उत्पादन-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। इसी आधार पर कुछ कृषि शास्त्रियो ने सुझाव दिया है कि भारत मे कृषि का यंत्रीकरण किया जाय। किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या भारत मे पूर्णतया कृषि का यंत्रीकरण किया जा सकता है? प्रायः यह कहा जा सकता है कि भारत मे कृषि का यंत्रीकरण (अ) न तो बहुत वाछनीय है और (ब) न ही सम्भव है। अब हम दोनों बातो पर विचार करेंगे।

(अ) भारत में कृषि के यन्त्रीकरण की अवांछनीयता—भारत में कृषि का यन्त्रीकरण वांछनीय नहीं है क्योकि—(1) महात्मा गांधी के अनुसार, "यन्त्रीकरण अच्छा उस समय है जब कि सम्पादित किये जाने वाले कार्य के लिये अत्यन्त कम व्यक्ति हो। यह एक बुराई है, जबकि कार्य के लिये आवश्यकता से अधिक व्यक्ति हो, जैसा कि भारत मे है।"

(2) यन्त्रीकरण इसलिये वांछनीय नही है कि वह पशुधन को बेकार कर देगा।

(3) यन्त्रीकरण की वांछनीयता के प्रति इसलिये भी सन्देह है कि कृषि यंत्रीकरण की दशा में यन्त्रों को विदेशों से मँगाना पड़ेगा। फलतः विदेशी विनिमय की समस्या खड़ी हो जायेगी और औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक पूँजी कम हो जायेगी।

(ब) भारत में कृषि का यन्त्रीकरण संभव भी नहीं है—इसके निम्न कारण हैं :—

1. खेतों का छोटा व बिखरा होना—भारत में अधिकांश किसानों के खेतों के बहुत ही छोटे होने के कारण यन्त्रीकरण के लिये कोई जगह नहीं है। फिर, ये छोटे खेत भी ग्राम के विभिन्न भागो में बिखरे हुए हैं। विशाल फार्मों की उपस्थिति यन्त्रीकरण की एक विशेष शर्त है।

2. कृषकों की निर्धनता—यंत्रीकरण के लिये मशीन व खाद की व्यवस्था

करने के लिये पर्याप्त पैसे की आवश्यकता होती है, जो भारतीय कृषकों के पास इस समय नही है।

3. **कृषकों की अशिक्षा, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता**—भारत मे शिक्षा का निम्न स्तर होने के कारण किसानो द्वारा बडे पैमाने पर मशीनो का प्रयोग सम्भव नही है। औसत भारतीय किसान द्वारा जटिल कृषि मशीनो की कार्यविधि को समझना कठिन है। रूढिवादी होने के कारण वे खेती के अपने पुराने औजारो को छोडकर नई मशीनो को अपनाने के लिए आसानी से तैयार भी नही होगे।

4. **सस्ते ईंधन की कमी**—यन्त्रो के संचालन के लिये पेट्रोल, डीजल और मिट्टी के तेल की आवश्यकता होती है, किन्तु इन चीजो का भारत मे अभाव है।

5. **यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—भारत मे अभी भी गाँव में ऐसी सडके नही बनी हैं, जिन पर ट्रैक्टर या ट्रक चलाये जा सकें। अत गाँव के अन्दर गलियो को चौडा करने की समस्या उठती है।

6 **सस्ती बिजली और सिचाई की सुविधाओं का अभाव**—यंत्रीकरण से पहले, विद्युत्-शक्ति का प्रसार होना आवश्यक है। परन्तु भारत मे बिजली का अभी पर्याप्त विकास नही हुआ है। इसी तरह देश मे सिचाई की सुविधाओ की बहुत कमी है। जब तक ये सुविधायें उपलब्ध नही होगी, कृषि का यन्त्रीकरण सम्भव नही है।

7. **निर्वाह-प्रधान कृषि व्यवस्था**—भारतवर्ष की कृषि अभी निर्वाह-प्रधान कृषि ही है और उसका समुचित वाणिज्यीकरण तथा विशिष्टीकरण नही हो पाया है। किन्तु यन्त्रीकरण वही पर सफल हो सकता है जहाँ पर कृषि निर्वाह-प्रधान अवस्था से उठकर विशिष्टीकरण और पूँजीवादी हो गई हो।

8. **सुधार व्यवस्था एवं स्पेयर्स का अभाव**—भारत में मशीनो के सुधार और मरम्मत के लिये उचित सस्थान नही है। अलग से पुर्जों की उपलब्धि भी कम है। यदि वे उपलब्ध हो भी जाने है तो कीमत बहुत हो जाती है।

9. **ऊँची कीमत**—छोटे किसान अपनी सूक्ष्म बचतो से ऊँची कीमत वाली मशीनें खरीदने की क्षमता नही रखते हैं। इसलिये, भारतीय सन्दर्भ मे किसानो की दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण मशीनो का उपयोग सम्भव नही हो सकेगा।

10. **तकनीकी ज्ञान का अभाव**—यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि भारत मे कृषि मशीनरी के निर्माण की पर्याप्त क्षमता विद्यमान नही है तथा तकनीकी ज्ञान का भी अभाव है।

यन्त्रीकरण के विरोध में दिये तर्कों का मूल्यांकन—हमारे विचार से कृषि के यन्त्रीकरण के विरोध मे जो तर्क प्रस्तुत किये जाते है वे अधिक प्रभावशाली नही है तथा उनका उत्तर दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए —

(1) **जोत का छोटा आकार एक वास्तविक बाधा** नही है, क्योकि सरकार की भावी नीति सहकारी संयुक्त कृषि अपनाने की है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नही है कि खेती का आकार बहुत बड़ा ही हो। वर्तमान समय मे 20 से 25 एकड

खेती के लिए भी उचित कृषि-मशीनरी मिल सकती है। अतः छोटे खेतो पर भी यन्त्रीकरण किया जा सकता है।

(ii) पशु-शक्ति के फालतू होने का तर्क भी ठीक नहीं है, क्योकि हम तो स्वयं ही उसमे कमी करना चाहते है। क्योकि इनके भोजन व चारे की समस्या भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बहुत भारस्वरूप है।

(iii) यह आपत्ति कि यन्त्रीकरण के कारण विदेशों से भारी मात्रा मे मशीनों का आयात करना पड़ेगा, ठीक नही है, क्योकि कृषि मशीनरी का उत्पादन देश मे ही किया जा सकता है।

(iv) इसी प्रकार, पेट्रोल, तेल आदि के आयात का जहाँ तक प्रश्न है, भारत में इन खनिज तेलो के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है तथा विद्युत् शक्ति का विस्तार किया जा सकता है।

(v) यदि हम इस तर्क को स्वीकार कर लें कि किसानो की आर्थिक स्थिति दुर्बल होने के कारण मशीनो का उपयोग सम्भव नही है तो इसका अर्थ यह होगा कि हम नई तकनीक के लाभों को प्राप्त करने के लिए इच्छुक नही है। नई तकनीक की सफलता बहुत बड़ी सीमा तक उन्नत कृषि आगतो के प्रयोग पर निर्भर करती है।

(vi) तकनीकी ज्ञान के अभाव का भी तर्क ठीक नही है क्योकि योजना काल में देश ने औद्योगीकरण के क्षेत्र में काफी प्रगति की है और तकनीकी ज्ञान का भी समुचित विकास हुआ है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि यन्त्रीकरण एक अच्छी नीति है, क्योकि इससे कृषि-उत्पादन में वृद्धि होती है। परन्तु हो सकता है कि भारत की वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में यह नीति उचित न हो। परन्तु, यदि कृषि का यन्त्रीकरण धीरे-धीरे किया जाय तो निश्चय ही भारत के लिए यह उपयोगी होगा।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि यदि भारत कृषि उत्पादन और उत्पादकता को बढ़ाना चाहता है तो उसे आंशिक यंत्रीकरण की नीति अपनानी चाहिए ताकि भविष्य में पूर्ण यंत्रीकरण के लिए आधारभूत ढाँचे का सृजन हो सके। "भारत के समक्ष यन्त्रीकरण का कोई विकल्प नहीं है। सन् 2001 में कृषि के अन्तर्गत अनुमानित 150 मिलियन हेक्टेयर शुद्ध बोये गए क्षेत्र के लिए 100 मिलियन h. p. शक्ति की आवश्यकता होगी। भारत में इस समय 48·3 मिलियन h. p. शक्ति उपलब्ध है। इस शताब्दी के अन्त तक फार्म श्रमिको की संख्या में 20 मिलियन की वृद्धि से 2 मिलियन h. p. शक्ति मे वृद्धि होगी। शक्ति के शेष अन्तर को पशु शक्ति की सहायता से पूरा नहीं किया जा सकता। सन् 2000 में खाद्यान्नों की सम्भावित 198·26 मिलियन टन की माँग को पूरा करने के लिए यंत्रीकरण की नीति पर पुनर्विचार आवश्यक है।"

भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के लिए वर्तमान क्षेत्र—हमारे दृष्टिकोण से भारत में निम्नलिखित कार्यों के लिए, जिनमें मानवीय या पशु-श्रम महँगा या अपर्याप्त पड़ता है, यन्त्रों का प्रयोग करना उचित है, जैसे—

(अ) ट्रैक्टरो का प्रयोग, जंगलो को साफ करने व व्यर्थ पडी भूमियो को कृषि योग्य बनाने हेतु; (ब) पम्पिग सेट्स, भूमि के अन्दर के पानी को सिंचाई के काम मे लाने के हेतु; (स) बिजली के मोटर और डीजल इंजन, गन्ने या तिलहन की पेराई के लिये; (द) बाँध और जल भण्डार बनाने, सडको का निर्माण करने, ऊँची-नीची भूमि को समतल करने तथा पौधो की रक्षा करने के लिए कृषि यंत्रो का प्रयोग किया जा सकता है, (य) दलदली या जल-सिंचित भूमि से जल निकास के लिये; (र) कृषि-उपज तथा कृषि आवश्यकताओ के लिए यातायात मे; (ल) इसी प्रकार दुग्ध-व्यवसाय तथा दूध से मक्खन आदि के लिए यत्रो का प्रयोग अत्यधिक लाभप्रद होगा।

भारत मे यन्त्रीकरण की प्रगति—भारत सरकार ने केन्द्रीय **ट्रैक्टर संस्था** स्थापित की है, जिसका उद्देश्य, उत्तरप्रदेश तथा मध्य प्रदेश में व्यर्थ पडी भूमि का सुधार करना है। इस कार्य के लिए विश्व बैङ्क की सहायता से 240 ट्रैक्टर खरीदे गये है। राजकीय संस्थाओ ने भी अपना-अपना ट्रैक्टर संगठन बना लिया है। इनका उद्देश्य व्यर्थ भूमियो का सुधार करना, जंगल साफ करना तथा कृषको को किराये पर ट्रैक्टर देना है।

भारत मे आधुनिक कृषि उपकरणो के प्रयोग के सन्दर्भ मे हमे यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि इनके प्रयोग मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। सन् 1956 मे देश मे 21,000 ट्रैक्टर थे, जिनकी संख्या सन् 1980 मे 4 लाख हो गयी। इसी अवधि मे शक्तिचालित सिंचाई पम्प सेटो की संख्या 47 हजार से बढकर 40 लाख हो गयी। यह उल्लेखनीय है कि पंजाब मे कृषि उपकरणो के प्रयोग मे महत्त्व-पूर्ण वृद्धि हुई है।

चौथी योजना के अन्तर्गत कृषि उपकरणो मे सुधार के लिए अनेक उपाय किये गये थे जिन्हे केवल आशिक सफलता ही मिल सकी। भारतीय परिस्थितियो के अनु-कूल डिजाइन के औजारो की खोज न हो पाना, उत्पादन-लागत अधिक होने से अनेक उपकरणो का सीमित प्रयोग, मरम्मत की सुविधा न होना तथा बिक्री की उपयुक्त व्यवस्था का अभाव कुछ ऐसे कारण थे कि श्रेष्ठ औजारो का उपयोग अधिक नही बढ़ पाया।

पाँचवीं योजना के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी समस्याओ के समाधान की ओर ध्यान दिया गया है। कृषि इंजीनियरिंग मे अनुसन्धान कार्य की प्राथमिकता क्रम मे ऊँचा स्थान प्रदान किया गया।

छठवीं योजना मे चुनीदा यन्त्रीकरण की नीति अपनायी जायेगी जिससे कि ग्रामीण बेरोजगारी न फैले। इसके लिए प्राथमिकता मानवीय श्रम व बैल को दी जायेगी जिसके लिए हाथ से चलने वाले यन्त्रो का विकास किया जायेगा। कम वर्षा वाले या ऐसे स्थान जहाँ भूमि पहली बार कृषि के लिए तैयार की जा रही है ट्रैक्टर का उपयोग उचित माना जायेगा। पम्प सेटो के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जायेगा।

भारत में यन्त्रीकरण लोकप्रिय एव सफल बनाने के सुझाव—भारत मे कृषि के यन्त्रीकरण को लोकप्रिय एव सफल बनाने के मुख्य सुझाव अग्रलिखित है :—

(i) देश की परिस्थिति को देखते हुए छोटे छोटे खेतो में प्रयुक्त करने के हेतु उपयुक्त कृषि-यन्त्रो का निर्माण किया जाना चाहिये।

(ii) चकबदी और सहकारी खेती द्वारा कृषि जोतो का आकार बढ़ाया जाना चाहिये, जिससे कि इनमे यन्त्रो का प्रयोग सम्भव हो सके।

(iii) इन यन्त्रों को खरीदने के लिए किसानो को आवश्यक वित्त प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिये ।

(iv) बेकार होने वाले श्रमिको के लिए रोजगार के नये साधनो का विकास किया जाना चाहिये ।

(v) कृषि-यन्त्रो के सचालन के लिये देश मे सस्ती जल-विद्युत्-शक्ति को शीघ्रता से विकसित करना चाहिये ।

(vi) कृषि-यन्त्रो के संचालन के लिए किसानो को उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये ।

(vii) सर्विसिंग आदि के लिए उपयुक्त स्थानो मे मशीन-ट्रैक्टर-स्टेशन बनाये जाने चाहिये ।

(viii) यन्त्रीकरण की नीति मे बड़े पैमाने पर एक ही बार नही अपनानी चाहिये, बल्कि इसे समय तक फैलाकर अपनाते जाना चाहिये ।

श्री बर्गमैन[1] थियोडोर ने भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण के सम्बन्ध मे निम्न-लिखित सुझाव दिये हैं :—

(i) शुरू में भारतीय कृषि का आंशिक यन्त्रीकरण करना चाहिए ।

(ii) अधिक-से-अधिक ट्रैक्टर भारत मे ही निर्माण करने के प्रयत्न को सरकार द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिये ।

(iii) अधिक-से-अधिक किसानों को, एक ट्रैक्टर के उपयोग के लिये सहकारी समिति बनानी चाहिये ।

(iv) ट्रैक्टर-सेवा के लिये पैसे फसल कटने के बाद कृषि उपज के रूप मे लेने चाहिए ।

परीक्षा प्रश्न

1 भारतीय अर्थ-व्यवस्था में यांत्रिक कृषि की आवश्यकता और क्षेत्र का विवेचन कीजिये ।

2. भारत में यांत्रिक कृषि की सम्भावनाओं और सीमाओं का उल्लेख कीजिए इस दिशा में योजना काल में क्या कदम उठाये गये हैं ?

3. यांत्रिक कृषि से आप क्या समझते हैं ? भारत में यांत्रिक कृषि पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।

---

1. Bergman, Theodor : 'Problem of Mechanisation in Indian Agriculture' in Indian Journal of Agricultural Economics, 1963.

4 "भारत मे कृषि की एक परमावश्यक कृषि-कार्यकलापो मे संलग्न अनगिनत बैलो की सख्या मे कमी करना है। बैलो का यान्त्रिक, शक्ति द्वारा प्रतिस्थापन, कृषि के लिये उचित अवसर प्रदान करना है।" इस कथन की विवेचना करते हुए भारत मे कृषि के यन्त्रीकरण के महत्त्व पर प्रकाश डालिये।

5. भारत मे यान्त्रिक कृषि की तत्कालीन और दूरस्थ सम्भावनाएँ क्या-क्या है ? क्या कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए कृषि का यन्त्रीकरण करना आवश्यक है ?

6. भारत मे यान्त्रिक कृषि क्षेत्र का परीक्षण कीजिए और देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उसके सम्भावित प्रभावो को बताइए ।

7 देश मे यान्त्रिक कृषि और बड़े परिमाण की खेती की क्या संभावनाएँ है ? कृषि मे इस प्रकार की प्राविधिक व्यवस्था को अपनाने के लिए कौन से संगठनात्मक परिवर्तन आवश्यक है ?

[संकेत—प्रश्न के उत्तर मे सर्वप्रथम यन्त्रीकरण का आशय, भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण की समस्या व वर्तमान क्षेत्र पर प्रकाश डालिए तत्पश्चात् लिखिए कि यान्त्रिक कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए कृषि संगठन की व्यवस्था मे निम्न परिवर्तन आवश्यक है—(अ) उपयुक्त कृषि यन्त्रो का निर्माण, (ब) इन यन्त्रो को खरीदने के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था (स) यन्त्रो की मरम्मत की व्यवस्था आदि ।]

9

कृषि उत्पादन की बिक्री-व्यवस्था
(Marketing of Agricultural Produce)

कृषि विपणन का आशय एवं कार्य—'विपणन' वह सम्पूर्ण क्रिया है जिसके द्वारा क्रेता व विक्रेता को निकट लाया जा सके, इसके अन्तर्गत उन सभी क्रियाओ का समावेश किया जाता है जो वस्तुओ को उचित समय पर तथा उचित मात्रा मे उपभोक्ताओ के आवश्यकतानुसार उनके पास पहुँचा कर वस्तुओ की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति को बढ़ाती हैं।

कृषि विपणन मे कृषि उपज को किसानो से लेकर अन्तिम उपभोक्ताओ तक पहुँचाने में मध्यस्थों द्वारा की गई सेवाएँ सम्मिलित की जाती है। संक्षेप में, कृषि विपणन में आशय कृषको द्वारा उत्पादित उपज की बिक्री व्यवस्था से।

कृषि विपणन कार्य के अन्तर्गत सामान्यतः निम्न कार्य सम्मिलित किये जाते है—(i) कृषि उपज का एकत्रीकरण (Assembling), (ii) कृषि वस्तुओं का विभाजन (Grading), (iii) कृषि वस्तुओ का विधायन (Processing), (iv) कृषि वस्तुओं का संग्रहण (Storing), (v) कृषि उपज का परिवहन (Transportation), (vi) कृषि वस्तुओं को अन्तिम उपभोक्ताओं तक पहुँचाना (Retailing), (vii) कृषि वस्तुओ की बिक्री के लिये वित्त प्रदान करना (Financing), (viii) कृषि विपणन में होने वाली जोखिम उठाना (Risk-bearing), आदि।

विपणन योग्य अतिरेक
(Marketable Surplus)

विपणन योग्य अतिरेक से आशय कृषि उत्पादन की उस अतिरिक्त मात्रा से है जो किसानों के पारिवारिक उपभोग की आवश्यकता को पूरा करने, वस्तु रूप में मजदूरी का भुगतान करने, बीज एवं पशुओं के खाद के रूप में उपयोग होने तथा नष्ट होने से बची हुई कृषि वस्तुओं को विपणन हेतु बाजार में प्रस्तुत की जाती है। दूसरे शब्दों में यह उपज की वह मात्रा है जो बाजर में विक्रय के लिये ले जायी जाती है।

विपणन योग्य अतिरेक का महत्त्व
(Importance of Marketable Surplus)

भारत जैसे विकासशील देशो मे कृषि उपज के विपणन योग्य अतिरेक का विशेष महत्त्व है क्योकि इसके ऊपर कृषि एवं औद्योकि विकास निर्भर करते है। यदि कृषि क्षेत्र उद्योगो के लिए कच्चा माल उपलब्ध नही करता तथा औद्योगिक क्षेत्र की वस्तुओ की मांग कृषि क्षेत्र मे नही होती तो देश की औद्योगिक प्रगति रुक जायेगी। कृषि खेत्र का भी विकास तब तक सभव नही है जब तक कि किसान के पास पर्याप्त मात्रा मे विपणन योग्य अतिरेक न हो। कारण यह है कि विपणन योग्य अतिरेक की मात्रा पर कृषि विनियोग की मात्रा निर्भर करती है। अत स्पष्ट है कि देश के आर्थिक विकास के लिए कृषि उपज के विपणन अतिरेक का पर्याप्त मात्रा मे होना आवश्यक है। प्रो० लेविस का भी मत है कि आर्थिक विकास के लिए एव औद्योगिक विकास के लिए कृषि वस्तुओ के विपणन योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है। देश के आर्थिक विकास हेतु कृषि क्षेत्र मे विपणन योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है। देश के आर्थिक विकास से स्पष्ट है—

1. **उद्योगो के लिए कच्चा माल**—अर्द्धविकसित देश मे उपभोक्ता उद्योगो, जैसे—सूती वस्त्र, जूट, शक्कर आदि का आधिक्य होना है। यदि किसान के पास इन वस्तुओ का विपणन योग्य अतिरेक नही है तो इन उद्योगो की कच्चे माल सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी न हो सकेंगी तथा औद्योगिक विकास रुक जायेगा। अत. औद्योगिक विकास के लिए कृषि मे विपणन योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है।

2 **पूंजी निर्माण का आधार**—अर्द्धविकसित देश मे पूंजी निर्माण की समस्या व्यापक रूप से होती है। ये देश कृषि-प्रधान होने के कारण इस समस्या का समाधान भी पहले कृषि उत्पादकता और विपणन योग्य अतिरेक मे वृद्धि करने पर निर्भर करता है।

3. **गैर-कृषि जनसंख्या के लिए खाद्यान पूर्ति**—यदि कृषि क्षेत्र मे विपणन योग्य अतिरेक की कमी रही तो गैर-कृषि क्षेत्र की जनसंख्या के लिए खाद्य सामग्री का अभाव रहेगा। देश की खाद्य समस्या को दूर करने के लिए इन वस्तुओ का विदेशो से आयात करना पड़ेगा। फलस्वरूप जिस विदेशी मुद्रा का प्रयोग देश के आर्थिक विकास के लिए हो सकता था अब उसका प्रयोग उपभोग के लिए होगा। अत कृषि क्षेत्र मे विपणन योग्य अतिरेक के अभाव का देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

4. **विदेशी मुद्रा के अर्जन मे सहायक**—भारत जैसे राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए विदेशी मुद्रा की बहुत आवश्यकता होती है, कारण यह है कि इन्हे विदेशो से पूंजीगत वस्तुओ (Capital Goods) का आयात करना होता है, परन्तु पूंजीगत वस्तुओ का आयात तब ही हो सकता है जब देश ने निर्यात के द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित की हो। विकासशील देशो मे निर्यात मुख्यत. कृषि वस्तुओ का होता है। अतः

निर्यात को बढाने के लिए तथा पूंजीगत वस्तुओ के आयात हेतु कृषि क्षेत्र मे विपणन योग्य अतिरेक का होना अनिवार्य है ।

5 **कृषको की आय व जीवन-स्तर मे वृद्धि तथा आंतरिक बाजार का विस्तार**–कृषि क्षेत्र मे विपणन योग्य अतिरेक अधिक होने पर कृषकों की आय बढेगी जिससे किसान गैर-कृषि क्षेत्र की वस्तुओं को अधिकाधिक मात्रा मे खरीदेंगे । इसका प्रथम प्रभाव यह है कि किसानो का जीवन-स्तर उच्च होगा तथा द्वितीय औद्योगिक क्षेत्र का विकास होता है । फलतः सम्पूर्ण देश मे कृषि तथा गैर-कृषि वस्तुओ के बाजार का विस्तार है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश के आर्थिक विकास मे विपणन योग्य आधिक्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

आदर्श कृषि विपणन के तत्त्व

आदर्श कृषि विपणन के तत्त्वो पर किसानो का अधिकतम लाभ निर्भर होता है । एक आदर्श कृषि विपणन मे निम्नलिखित तत्त्वो का समावेश होना चाहिए—

1. **गोदामो की सुविधा**- कृषि उपज के उचित विपणन के लिए यह अनिवार्य है कि बाजार में भण्डार गृहो की समुचित व्यवस्था हो । फलतः किसान अपनी उपज को सुरक्षित ढंग से इन गोदामो मे एकत्र कर सकें और अपने उपज का उचित समय पर विक्रय कर सकें ।

2. **उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों के हितों की सुरक्षा**—कृषि उपज की आदर्श विपणन व्यवस्था में मात्र यह अनिवार्य नही है कि किसानो को उनके उपज की यथोचित कीमत प्राप्त हो वरन् उपभोक्ताओ को भी अनिवार्य कृषि वस्तुएँ उचित कीमत पर मिलनी चाहिए तथा वस्तु गुणात्मक दृष्टि से भी श्रेष्ठ होनी चाहिए । उत्पादन के बाद भी कृषि वस्तुओं के गुणो मे श्रेष्ठता लाने का प्रयास करना चाहिए ।

4. **मध्यस्थों का अभाव**—कृषि उपज के विपणन हेतु यह अनिवार्य है कि मध्यस्थों की संख्या कृषको और उपभोक्ताओ के मध्य कम-से-कम हो । फलतः कृषक और उपभोक्ता दोनो को लाभ होगा । इसके बीच के मध्यस्थों को जो लाभ होता है वह किसानो और उपभोक्ताओं को प्राप्त होने लगेगा ।

4. **यातायात व परिवहन सुविधाओं का पर्याप्त विकास**—कृषक को पर्याप्त एवं मितव्ययी परिवहन सुविधाओं की उपलब्धि होनी चाहिये जिससे कृषक उपज को गाँव में ही साहूकारी को न बेचकर बाजारों में विक्रय हेतु ले जायें ।

5. **पूर्णतः संगठित बाजार**—कृषि उपज की उचित विक्रय व्यवस्था हेतु यह भी अनिवार्य है कि बाजार पूर्ण रूप से संगठित हों जिससे वस्तुओं के कीमत में गिरावट अथवा तेजी का संकेत किसानो को समय-समय पर मिलता रहे ।

6. **पूर्ण-नियन्त्रित बाजार की उपस्थिति**—कृषि उपज की समुचित विपणन व्यवस्था हेतु यह भी अनिवार्य है कि कृषि उपज के विपणन होने वाले बाजार पूर्णरूपेण नियन्त्रित हों, जिससे किसानो की पैदावार बाजार में उचित कीमत पर बेची

जा सके और दलालो तथा अढतियो अथवा अन्य प्रकार की सेवाओ से सम्बन्धित कटौतियो को रोका जा सके। इसके अलावा बाजारो का नियन्त्रित होना इस कारण से भी आवश्यक है कि जिससे बाजारो मे कृषक की उपज को ठीक प्रकार से मापा जा सके।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि "उपर्युक्त विपणन हेतु आवश्यक तत्त्व, गुण, कीमत, भुगतान, खराब वस्तु की मात्रा, बँधाई और सुपुर्दगी है।" इसीलिए कृषि वस्तुओ के उपयुक्त विपणन हेतु यह आवश्यक है कि इन तत्त्वो पर अधिकाधिक जोर दिया जाय। उचित विपणन व्यवस्था की स्थापना हेतु कुछ क्रियाओ एव सेवाओ का समावेश होना चाहिए जैसे (i) कृषि उपज का सग्रह, (ii) अनुकूलतम लागत पर यातायात व्यवस्था, (iii) जोखिम उठाना, (iv) श्रेणीकरण और प्रमाणीकरण द्वारा विक्रय को सरल बनाना, (v) विक्रत वस्तुओ को उचित प्रकार से बांधना, (vi) बिक्री बढ़ाने के लिए बिक्री लागत लगाना, (vii) बाजार मे अथवा उपभोक्ताओ को विपणन समाचार देना।

भारत में कृषि उपज की बिक्री की व्यवस्था—भारत मे कृषि वस्तुओ के विपणन की वर्तमान व्यवस्था निम्न प्रकार है —

1 **ग्रामों मे बिक्री**—भारतवर्ष मे किसान अपनी उपज का अधिकाश भाग ग्रामो मे ही बेच देता है। एक अनुमान के अनुसार पंजाब मे 60% गेहूँ, 25% कपास और 70% तिलहन तथा उत्तर प्रदेश में 80% गेहूँ, 40% कपास और 75% तिलहन ग्राम मे ही बेच दिये जाते है। गांवो मे बेची जाने वाली उपज को गांवो के साहूकार या महाजन, गाँव के बनिये या शहर के व्यापारी अथवा उनके आढतिये खरीद लेते है। किसान प्राय. ग्रामो मे ही उपज बेचने के लिए विवश हो जाता है, क्योकि वह साहूकारो से ऋण लिये रहता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि उधार देते समय महाजन किसान से यह तय कर लेता है कि फसल उसे ही बेची जायगी। **डा० राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार भारत के जिन क्षेत्रो मे किसान बहुत अधिक ऋणग्रस्त है वहाँ कृषि उपज का अधिकाश भाग गांवो मे ही महाजनो को बेच दिया जाता है। किसान द्वारा अपनी उपज को ग्राम मे ही बेच देने का एक अन्य कारण परिवहन साधनो का अभाव तथा उनके अच्छे ढङ्ग का न होना भी है। किसान अपनी उपज बाजार में न ले जाकर गाँव मे ही बेचता है तो उसे बहुत ही कम मूल्य मिल पाता है।

2. **मण्डियों मे बिक्री**—कुछ उपज की बिक्री पास की मंडियो मे भी होती है। ये मडियाँ दो प्रकार की होती है (क) अनियमित मण्डियाँ (Unregulated Markets), (ख) नियमित मण्डियाँ (Regulated Markets)।

(क) **अनियमित मण्डियाँ**—इन मण्डियो मे क्रय-विक्रय प्रायः प्राचीन व्यवस्था के अनुसार होता है। इन मण्डियों में कोई निश्चित व्यापारिक नियम नही होते है। इसमे बहुत बड़ी संख्या मे मध्यस्थ पाये जाते है, जैसे, दलाल, कच्चे आढतिये व पक्के आढ़तिये आदि। इन मंडियो मे कमीशन, दलाली, तौलाई, धर्मादा आदि के रूप मे

बहुत कटौती होती है। वस्तुओ के मूल्य प्राय दलाल और आढ़तिये अपने हाथो पर कपडा डालकर, एक दूसरे की अँगुली छूकर गुप्त रूप से तय करते हैं जिसका अनपढ़ किसान को कुछ पता नही चलता।

(ख) **नियमित मंडियाँ**—इन मण्डियो मे नियमानुसार क्रय-विक्रय होता है। इसका नियमन राज्य कृषि उपज (बाजार) अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है। इनमे कार्य करने वालो को लाइसेन्स लेना पडता है। इन मण्डियो मे, कमीशन तथा अन्य कटौतियाँ आदि निर्धारित कर दी गई है और सौदा खुली बोली के अनुसार होता है। भारतवर्ष मे गेहूँ, कपास, गन्ना, जूट आदि की नियमित मण्डियाँ पाई जाती हैं। इन मण्डियो मे किसान के साथ कोई धोखा नही होता और उन्हे अपनी उपज का उचित मूल्य उपलब्ध हो जाता है।

3 **सहकारी विपणन समितियाँ**—सहकारी समितियों ने कृषि वस्तुओ के विपणन मे भाग लेना आरम्भ कर दिया है। ये समितियाँ अपने सदस्यो की उपज को इकट्ठे बेचकर पर्याप्त मूल्य प्राप्त करती है।

4 **राज्य व्यापार**—भारत मे राज्य द्वारा कृषि पदार्थों का विपणन भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए है। राज्य की एजेन्सियाँ जैसे-भारतीय खाद्य निगम फसल तैयार होने के समय ग्रामीण क्षेत्रो या मण्डियो के निकट अपने विशेष केन्द्र स्थापित करता है, जहाँ सरकार द्वारा निर्धारित कीमतो पर उपज को खरीदा जाता है।

भारत में कृषि विपणन की समस्याएँ

भारत मे कृषि विपणन की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **कीमतों में अत्यधिक अन्तर**—जिस कीमत पर किसान अपनी उपज का विक्रय करता है, और जो कीमत वह अन्तिम उपभोक्ता से लेता है उसके अन्तर पर ही एक सुदृढ़ विपणन प्रणाली निर्भर करती है। कीमत के इस अन्तर को '**विपणन मार्जिन**' कहते हैं। यदि कीमत मे बहुत अधिक अन्तर है तो उत्पादक को उपभोक्ता के द्वारा खर्च की गई मुद्रा का बहुत थोडा भाग ही प्राप्त हो पाता है। **श्री एम० सी० मुंशी** ने विभिन्न कृषि पदार्थों के सम्बन्ध मे कीमत अन्तर के सर्वेक्षण किए। श्री मुशी ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपभोक्ता जो रुपया व्यय करता है उसमे से लगभग 40 पैसे थोक विक्रेता और फुटकर विक्रेता के पास चले जाते हैं। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि विपणन की लागत कितनी अधिक है, लाभो का मार्जिन कितना है तथा बिचौलिये कितना लाभ प्राप्त करते हैं। विपणन की ऊँची लागत भारत में अकुशल विपणन प्रणाली के स्वरूप को व्यक्त करती है।

(2) **अपर्याप्त विक्रय अतिरेक**—कृषि विपणन की एक जटिल समस्या कृषि पदार्थों के अतिरेक मे वृद्धि करना है। विक्रय अतिरेक की मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है—जैसे यह उत्पादन की मात्रा गुण, तथा उपज की कीमतों पर निर्भर करती

है। बाजार के नियमो, नियन्त्रणो, विपणन पर कर आदि का प्रभाव भी विक्रय अतिरेक पर पडता है।

(3) **प्रतियोगिता की प्रकृति**—विपणन के क्षेत्र मे कृषक को मुद्रा, साख, बाजार, यातायात, तकनीकी ज्ञान आदि के लिए किसी न किसी मध्यस्थ पर निर्भर रहना पडता है। इस मध्यस्थ को प्राप्त करने के लिए किसानो को प्रतियोगिता करनी पडती है और इस प्रतियोगिता का लाभ मध्यस्थ को प्राप्त होता है। विगत वर्षों में भारतवर्ष मे तेजी की स्थिति रही है, क्योकि इसका लाभ बडे व्यापारियो तथा मध्यस्थो को ही प्राप्त हुआ है।

सक्षेप मे भारत मे विद्यमान कृषि विपणन की पद्धति मे अन्तर्निहित कई समस्याएँ है और इसमे सुधार के लिए बहुत क्षेत्र है।

कृषि विपणन के दोष

भारत मे विद्यमान कृषि विपणन प्रणाली मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष पाए जाते है—

1. **विक्रय की बाध्यता**—प्राय· भारतीय कृषक स्वेच्छा से अपनी उपज को नही बेचता, बल्कि दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण उसे अपनी उपज फसल काटने के तुरन्त बाद गाँव मे ही बेचनी पडती है। उसे फसल तुरन्त इसलिए बेचना पडता है क्योकि उसने विभिन्न कार्यों के लिए ऋण लिए होते है, और उनका भुगतान करना आवश्यक होता है। **श्री एस० एस० शिवकुमार** ने • मद्रास के दो गाँवो मे ऋणों का अध्ययन करके इसके निम्न कारणो पर प्रकाश डाला है : (i) उपभोग के लिए ऋण (ii) किराये के श्रमिको की मजदूरी के भुगतान के लिए प्राप्त किए गए ऋण (iv) रासायनिक उर्वरको के वाधितक्रम के लिए (iv) पहले वर्षों मे शादी ब्याह उपभोग तथा पशु खरीदने के लिए ऋण आदि। कृषक इन ऋणो के बोझ से इतने अधिक दबे होते हैं कि विक्रय अतिरेक न होने पर भी उनको अपनी फसल का एक बडा भाग तत्काल किसी भी कीमत पर बेचना पडता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन मे बताया है कि सामान्यतया उत्पादक अपनी उपज को प्रतिकूल स्थानो, और प्रतिकूल समय पर बेचते है और सामान्यतया उनको प्रतिकूल शर्तों पर सौदे करने पडते है।

2 **परिवहन के साधनों का अभाव**—देश मे परिवहन के साधन अपर्याप्त, अविकसित एवं दोषपूर्ण है। हमारे अधिकाश ग्राम रेलो व सडको द्वारा मण्डियों के साथ सम्बन्धित नही है, इसलिये किसान अपनी उपज ग्राम मे ही बेच देने के लिये बाध्य हो जाता है। शाही कृषि आयोग के शब्दो मे "यातायात के दोषपूर्ण साधनो के कारण ही बहुत से मध्यस्थो का प्रवेश हो गया है, जो किसानो को अपनी उपज का ठीक मूल्य नही मिलने देते।

यद्यपि योजनाकाल मे यातायात के यन्त्रीकृत साधनो का पर्याप्त मात्रा मे विकास हुआ है लेकिन ये इतने अधिक महँगे है कि छोटे किसान इनकी सेवाओ का लाभ प्राप्त

करने में असमर्थ है। कृषि उपज के मूल्य मे माल—मोड की मात्रा पहले से ही बहुत अधिक है। इस सम्बन्ध मे "potıcy Committee on Agrıculture Forestry Fısheries" की विपणन उप समिति का यह अनुमान है कि कृषि उपज के मूल्य पर माल-मोड का भार गेहूँ की उपज पर 2·1 से 21·7 प्रतिशत, चावल पर 0 7 से 13·2 प्रतिशत, अलसी पर 1 2 से 15·4 प्रतिशत तथा आलू पर लगभग 6·2 प्रतिशत है। ऊँची माल-ढुलाई लागत के कारण किसान अपनी उपज को बाजार तक ले जाने मे असमर्थ रहते है।

3. कृषि उपज की घटिया किस्म—भारत मे कृषि उपज की किस्म प्रायः घटिया होती है, जिसके कारण कृषको को कम मूल्य मिलता है। कृषि उपज घटिया किस्म के होने के कई कारण हैं -जैसे, खराब बीजो का प्रयोग, फसलों के रोग, कीड़े-मकोडे के आक्रमण, अनावृष्टि, या अतिवृष्टि, फसलों की कटाई का दोषपूर्ण ढङ्ग आदि। भारतीय किसान अत्यन्त निर्धन, अशिक्षित और अपनी उपज की ही बिक्री-व्यवस्था से अपरिचित है, इसीलिये वह अपनी उपज की किस्म की ओर ध्यान नही दे पाता।

4. संगठन का अभाव—कृषको का स्वय का कोई सुसगठित बिक्री संगठन न होने से उन्हे कृषि उपज के संगठित क्रेताओ से प्रतियोगिता मे सदैव हानि उठानी पड़ती है। शाही कृषि आयोग ने ठीक ही कहा है, 'जब तक किसान व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरे उत्पादको के साथ मिलकर बिक्री का ढंग नही सीखेगा तब तक वे अपनी उपज के क्रेताओं से, जिनको बहुत विशिष्ट ज्ञान प्राप्त है तथा जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन हैं, कभी भी नही जीत सकता।"

5. अपर्याप्त एवं अवैज्ञानिक संग्रहण व्यवस्था—कृषि उपज का वैज्ञानिक ढंग से संग्रहण करने के लिये गाँव मे सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नही हैं। प्रायः कृषि-उपजको खत्तियो, कुड्डूरस, कल्ली, ढेक्कास, कोठी, कोठिला, कुण्डा आदि विभिन्न प्रकार की मिट्टी के बनाये गये बर्तनो मे रखा जाता है, जिससे उसके सड़ने, गलने और चूहो एवं चीटियों द्वारा नष्ट होने की आशंका रहती है। इन हानियो के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाए गये हैं। खाद्यान्न निरीक्षण समिति के अनुसार ये हानियाँ कुल उपज का 1·5 प्रतिशत कीमत उपसमिति के अनुसार 2 से 2·5 प्रतिशत तथा डा० बलजीत सिंह के अनुसार यह 5 प्रतिशत तक होती है। यदि इस हानि को 5 प्रतिशत मान लिया जाए तो प्रतिवर्ष होने वाली हानि लगभग 400 करोड़ रुपए होगी। स्पष्ट है कि इस क्षति से सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को हानि होती है और किसानों के लिए तो यह संकट का कारण बन जाती है।

6. श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण का अभाव—हमारे देश में अधिकाश किसान अपनी उपज का श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण नहीं कर पाते। वे ऊँची व नीची दोनों किस्मों की उपज को मिलाकर बाजार में बेचते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें घटिया उपज के दाम ही मिल पाते हैं।

7. मूल्य सम्बन्धी ज्ञान का अभाव—वर्तमान-विपणन व्यवस्था का एक गम्भीर दोष यह है कि हमारे कृषको को मण्डियों में प्रचलित एवं सम्भावित कीमतो का ज्ञान

नही रहता, इसलिये किसान को जो भी कीमत बताई जाती है, उसे वही स्वीकार करना पडता है। प्रायः गाँव का बनिया मूल्य के बारे मे झूठी सूचनाएँ देकर उन्हे ठग लेता है। इसका मुखय कारण हमारे गाँवो मे सचार की सुविधाओ का अभाव है।

8. **मध्यस्थों का बाहुल्य**—भारतवर्ष मे किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओ के बीच अनेक मध्यवर्ती लोग पाये जाते है। उदाहरण के लिये व्यापारी, कच्चा आढतिया, पक्का आढतिया, दलाल, थोक व्यापारी, खुदरा व्यापारी इत्यादि। इन लोगो की एक लम्बी कतार रहती है। इनमे से सभी अपनी-अपनी सेवाओ के लिये कुछ न कुछ लेते है। अनुमान लगाया गया है कि मूल्य मे से उत्पादको को 50% से 80% भाग ही प्राप्त होता है औप शेष मध्यस्थो द्वारा ही हडप लिया जाता है।

9 **मण्डियों में प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियाँ**—**शाही कृषि आयोग** के अनुसार "मण्डियो मे प्रचलित ये कपटपूर्ण पद्धतियाँ किसी भी प्रकार चोरी से कम नही हैं।" भारतवर्ष मे जब कभी किसान अपना माल मण्डियो (विशेषकर जो अनियमित है) मे ले जाता है तो वहाँ प्रचलित बहुत-सी बुराइयो व धोखेबाजी के कारण कृषक विक्रेता को बहुत-सी हानियाँ सहनी पड़नी है। **राष्ट्रीय नियोजन समिति** (National Planning Committee) ने मण्डियो मे प्रचलित निम्न धोखेबाजियो का सकेत किया है—(अ) हमारे देश मे विभिन्न प्रकार के वजन तथा तौल प्रचलित है—आढतिया व व्यापारी दोषपूर्ण तराजू और बाट रखते है और वे बडे बाट से खरीदकर छोटे बाट से माल बेचते हैं। (ब) **अनुचित कटौतियाँ**—मण्डियो में किसानो से माल की चुङ्गी, तौलाई, दलाली, आढ़ाती आदि शुल्को के अतिरिक्त, प्याऊ, गौशाला, मन्दिर, अनाथालय आदि के लिये चन्दा लिया जाता है और मुनीम, चौकीदार आदि कर्मचारियो के लिये भी कुछ-न-कुछ देना पड़ता है, जिससे किसान की शुद्ध आय मे बहुत कमी आ जाती है। (स) **बाजार में दलाल आढ़तियो से मिले रहते हैं**—बाजार के दलाल बहुधा आढतियो से मिले रहते है परन्तु किसानो को ऐसा प्रतीत होता है कि दलाल उनके लिये काम कर रहा है। इससे किसान नाहक धोखेबाजी मे फँस जाते है। (द) **गुप्त रीति से वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाना**—भारतीय मण्डियो मे गुप्त रीति से वस्तुओ का मूल्य तय किया जाता है जिससे किसान मूल्य के सम्बन्ध मे प्राय अनभिज्ञ रहता है और उसे अन्धकार मे रखकर आढतिया अनुचित लाभ उठाने मे सफल हो जाता है।

9. **बाजार भाव के ज्ञान का अभाव**—किसानो को प्रचलित बाजार भाव के ज्ञान के अभाव मे अत्यधिक घाटा होता है। मूल्यो मे अत्यधिक भिन्नता आ जाती है।

10. **विपणन योग्य अतिरेक कम**—भारत मे ज्यादातर कृषको की जोत का आकार काफी कम है। यहाँ 66% जोत 5 एकड से कम है तथा उत्तर प्रदेश मे 81 2% जोत का आकार 5 एकड से कम है। इस जोत पर किसान सिर्फ अपने उपभोग के लिए ही अनाज उत्पन्न कर पाते है जिससे इनके पास विपणन योग्य अतिरेक की मात्रा अति न्यून होती है। फलत· किसान गाँव मे ही कम मूल्य पर उसे बेच देता है।

11. **वित्तीय सुविधाओं का अभाव**—भारत मे आज भी वित्तीय सुविधाओं

का अभाव है। कृषि के लिए अल्पकालीन व दीर्घकालीन साख के लिए एवं दैनिक खर्च के लिए धन का अभाव रहता है। छोटे किसानो को ऋण सुविधाएँ प्रदान करने में राष्ट्रीय- कृत बैंक व सहकारी समितियाँ असफल रही हैं जिससे कृषक अपनी उपज को साहूकार के इच्छानुसार बेचता है। देश के लगभग 80% कृषक इस श्रेणी मे आते है।

12 **नियन्त्रित बाजारों की धीमी प्रगति**—मंडियो मे व्याप्त व्यापारियो के कार्यों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से तथा कृषक विक्रेताओ को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से देश मे नियन्त्रित बाजारो की प्रगति काफी कम है। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास, पजाब एवं गुजरात आदि राज्यो को छोडकर अन्य राज्यो मे ऐसी व्यवस्था सन्तोषप्रद नही है।

कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार के लिए सुझाव और सरकार द्वारा किये गये उपाय

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था महँगी, अन्यायपूर्ण व अपव्ययी है, जिसमे सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न समयो पर विभिन्न समितियो व सम्मेलनो, जैसे शाही कृषि आयोग (सन् 1928), केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (1931), भारत सरकार द्वारा आयोजित प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन (1934), राष्ट्रीय नियोजन समिति (1946), कांग्रेस-भूमि सुधार समिति (1949) विपणन, उपभोक्ता कृषि-वित्त-समिति, सहकारी योजना समिति, ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति, एवं अखिल भारतीय विपणन अधिकारी सम्मेलन आदि ने प्रचलित कृषि विपणन की व्यवस्था के दोषो को सुधारने के लिये जो उपयोगी सुझाव दिये हैं, उनका सारांश तथा उन पर की गई कार्यवाही संक्षेप मे नीचे दी जा रही है।

1. **नियमित मण्डियों की स्थापना**—सरकार ने कृषि बिक्री-व्यवस्था के सुधार के लिये जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह है नियमित मंडियो की स्थापना—भारत मे केरल, नागालैण्ड, असम, मेघालय और जम्मू-कश्मीर को छोड़कर शेष राज्यों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों में मण्डियो का नियमन करने के लिये अधिनियम पारित किये जा चुके है। सन् 1974 के अन्त मे नियन्त्रित मण्डियो की संख्या 3,016 थी। 'Central Directorate of Marketing and Inspection' द्वारा इन मण्डियो मे विविध प्रकार की सुविधाओं को विकसित करने के लिए आर्थिक सहायता भी दी जाती है।

नियन्त्रित बाजारों मे आने वाली कृषि-उपज मे स्वयं किसानो द्वारा लायी गयी उपज का हिस्सा काफी बढ़ गया है। फलस्वरूप गाँवों मे जो बिक्री होती थी उसकी मात्रा घट गई है। नियन्त्रित बाजारों का एक लाभ और यह हुआ है कि किसानों को जो विभिन्न विपणन खर्च देने पड़ते थे काफी कम हो गये हैं।

1980 के अन्त में देश में 4446 नियमित बाजार थे।

छठी योजना में नियमित बाजारों की स्थापना की ओर बहुत ध्यान दिया गया है और यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि नियमित बाजारो को सम्पूर्ण ग्रामीण

ढाँचे के पुनर्निर्माण का महत्त्वपूर्ण उपकरण बनाया जा सकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छठी योजना मे निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं—(i) नियमित बाजारो का तीव्र एवं व्यापक विकास तथा इनका प्राथमिक बाजारो के साथ समन्वय करना (ii) नियमित बाजारो मे अधिकारो को लगाकर संसाधनो का सृजन करना तथा इस कार्य मे पंचायतों का सहयोग लेना (iii) सम्पन्न क्षेत्रो और अन्तिम बाजारों मे नियमित बाजारो का विकास (iv) प्रमुख उपभोक्ता केन्द्रों के साथ समन्वय करना (v) श्रेणीकरण तथा कीमतो के निर्धारण की सुविधाओ को सम्मिलित करना।

2. श्रेणी विभाजन एवं प्रमाणीकरण—बहुत से कृषि पदार्थों का वर्गीकरण किया जा चुका है। कृषि उपज वर्गीकरण व बिक्री अधिनियम सन् 1973 के अन्तर्गत सरकार ने घी, आटा तथा अंडों आदि का वर्गीकरण करने के लिए केन्द्र स्थापित किये है। इस नियम के अन्तर्गत विपणन अधिकारियो के निरीक्षण मे कृषि पदार्थों का श्रेणीकरण करने के बाद उन पर 'एगमार्क' (Agmark) की मोहर लगा दी जाती है। इससे कृषि वस्तुओ के बाजार मे विस्तार हुआ है। पंचवर्षीय योजनाओ मे तेल के बीज, तम्बाकू, काजू तथा ऊन आदि का वर्गीकरण करने के लिए पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था की गई है, ताकि इनका निर्यात बढाया जा सके। नई वस्तुओं के ग्रेड निश्चित करने तथा पुरानी वस्तुओ के ग्रेड सुधारने के लिए नागपुर में भारत सरकार ने केन्द्रीय कृषि नियंत्रण प्रयोगशाला (Central Quality Control Laboratory) खोली है, तथा देश के विभिन्न भागो मे इसी प्रकार की अन्य 8 प्रयोगशालायें खोली जा चुकी हैं। अब तक लगभग 1600 वस्तुओ का श्रेणीकरण किया जा चुका है और नवीन वस्तुओ के वर्ग निर्धारण करने तथा पुरानी वस्तुओ के स्तर को सुधारने के लिए नागपुर के केन्द्रीय एगमार्क (AGMARK) प्रयोगशाला और गुण्टूर, जामनगर, बंगलौर, पटना, मद्रास, कोचीन, कानपुर, कलकत्ता, राजकोट, बम्बई तथा साहिबाबाद इत्यादि स्थानो मे 17 प्रादेशिक एगमार्क प्रयोगशालायें कार्य कर रही है। मार्च 1974 के अन्त में देश मे 572 वर्गीकरण इकाइयाँ (Grading Units) कार्य कर रही थी।

3. प्रमाणित बाट एवं नाप-तौल का प्रचार—1 अप्रैल सन् 1962 से देश में नापतौल की मेट्रिक प्रणाली चालू की गई है। इससे एक ओर तो गणना करने में सुविधा हो गई है और दूसरी ओर बेईमानी व धोखेबाजी के अवसर भी कम हो गये हैं। किन्तु अब भी बहुत से व्यापारी पुराने सेर एवं मन काम मे लाते हैं। अतः यह अधिनियम सक्रियता से कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

4. संग्रह एवं गोदाम की सुविधाओं का प्रावधान—सार्वजनिक एवं निजी दोनो क्षेत्रो मे ही व्यापारिक दृष्टि से कृषि उपज के लिए संग्रह और गोदामो की सुविधाएँ उपलब्ध है। अर्थ-व्यवस्था में संग्रह और गोदामो की सुविधाएँ उपलब्ध करने वाली प्रमुख सस्थाएँ इस प्रकार हैं—केन्द्रीय एवं राज्य गोदाम निगम (C.W.C), भारतीय खाद्य निगम तथा सहकारिताएँ। केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना 1962 मे निम्नलिखित उद्देश्यो के लिए की गई : (i) उपयुक्त स्थानो पर गोदामों एवं भंडार

गृहो को प्राप्त करना तथा निर्माण करना (ii) कृषि उपज एव आगतो के लिए यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध कराना (iii) राज्य गोदाम निगमो की अश-पूंजी मे हिस्सा लेना (iv) कृषि फसलो और उपज को खरीदने, बेचने सग्रह एव वितरण के लिए सरकार के एजेन्ट के रूप मे कार्य करना।

राज्य गोदाम निगमो की स्थापना राज्य एव जिला स्तर के महत्त्वपूर्ण स्थानो पर की गई है। इन निगमो को राज्य स्तर पर वही कार्य सम्पन्न करने पडते है जो कि राष्ट्रीय स्तर पर केन्दीय गोदाम निगम करते है।

भारतीय खाद्य निगम की स्थापना सन् 1965 संग्रह के उचित सुविधाओ के विकास के लिए की गई। ये सुविधाएँ सहकारी समितियाँ और कृषको को उपलब्ध हो सकती है। सहकारी क्षेत्र मे जिन गोदामो का निर्माण किया है उनको दो भागो मे बाँटा जा सकता है। (i) मण्डी के स्तर पर गोदाम (ii) ग्रामीण गोदाम। पहले प्रकार के गोदामो का निर्माण उच्च स्तर की विपणन समितियो के द्वारा किया जाता है, जिस प्रकार जिला क्षेत्र तथा सर्वोपरि विपणन सघ। ग्रामीण गोदाम पर ग्राम सेवा समितियो का स्वामित्व होता है। सहकारी क्षेत्र मे जो दो प्रमुख सस्थाएँ कार्यशील हैं वे राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम (N C. D C) तथा राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन संघ (NAFED) है।

छठी योजना के प्रारम्भ मे सार्वजनिक क्षेत्र की सभी एजेन्सियो की कुल संग्रह क्षमता 148.4 लाख टन थी छठी योजना में संग्रह एवं गोदाम की सुविधाओ के सम्बन्ध मे निम्न लिखित बातो को सम्मिलित किया गया है—(i) निजी क्षेत्र मे संग्रह क्षमता के विकास को प्रोत्साहन देना (ii) प्राथमिक स्तर पर बहुउद्देशीय सहकारी समितियों को उनकी संग्रह क्षमता मे विस्तार के लिए प्रोत्साहित करना (iii) कृषि आगतों के लिए उपयुक्त संग्रह सुविधाओ का विकास करना (iv) संग्रह वैज्ञानिक विधियों का विकास करना ताकि कुन्तको के विनाश तथा संग्रहित अनाज मे नाशक जीव से होने वाली क्षति को कम किया जा सके।

5. **विपणन समाचार**—सरकार आकाशवाणी द्वारा देश की विभिन्न मण्डियो की कृषि-उपज के मूल्यो के बारे मे समाचार प्रतिदिन प्रसारित करती है। दैनिक समाचार पत्र भी प्रतिदिन प्रमुख मण्डियो के भाव प्रकाशित करते है। एक अखिल भारतीय बाजार समाचार सेवा का सगठन भी किया गया है। केन्द्र सरकार का निदेशालय भी कृषि उपज के विभिन्न क्षेत्रो के कटाई मूल्य, थोक-मूल्य व फुटकर मूल्य के बारे में आंकड़े समय-समय पर इकट्ठा करके प्रकाशित करता है।

6. **विपणन सर्वेक्षण की व्यवस्था**—सरकार ने कई महत्त्वपूर्ण कृषि वस्तुओं के उत्पादन, यातायात, संग्रह, प्रक्रिया, श्रणीकरण, वितरण व विपणन खर्च इत्यादि के सम्बन्ध मे देश के विभिन्न भागो की मण्डियों के सर्वेक्षण किये है। अब तक लगभग 75 ऐसी वस्तुओ का सर्वेक्षण किया गया है और कई विपणन प्रतिवेदन प्रकाशित किये गये हैं।

7. **विपणन व निरीक्षण निदेशालय**—भारत सरकार ने सन् 1963 में विपणन व निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की कृषि विपणन सलाहकार के निर्देशन मे इस विभाग का कार्य आरम्भ हुआ। इस निदेशालय ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, लखनऊ, जयपुर, शिलाग व भोपाल मे क्षेत्रीय कार्यालय खोले है जहाँ से उन क्षेत्रो की विपणन समाचार व्यवस्था की उचित देखभाल की जाती है।

8. **विपणन कर्मचारियो का प्रशिक्षण**—कृषि विपणन व्यवस्था से सम्बद्ध कर्मचारियो के प्रशिक्षण के लिये 3 पाठ्यक्रमो की व्यवस्था है। पहला पाठ्यक्रम राजकीय क्रय-विक्रय विभागो के उच्चाधिकारियो के लिए है। इसकी व्यवस्था नागपुर मे है। यह पाठ्यक्रम एक वर्ष का है। दूसरा पाठ्यक्रम क्रय-विक्रय सचिवो तथा अधीक्षको के लिए 5 माह की अवधि का है। तीसरा वर्गीकरण निरीक्षको के लिये त्रैमासिक पाठ्यक्रम है। इन पाठ्यक्रमो के अन्तर्गत 1,100 से अधिक कर्मचारी प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके है।

9. **फलोत्पादन तथा प्रशीतन व्यवस्था आदेश**—फलोत्पादन आदेश 1955 के अन्तर्गत फलो तथा सब्जियो की किस्म, नियंत्रण व्यवस्था के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं। कोल्डस्टोरेज आदेश, 1964 के अनुमार आकार 8·5 घन मीटर था। उससे अधिक की प्रशीतन क्षमता वाले शीतागारो को भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार से सलाह लेना आवश्यक है।

10 **मूल्य स्थिरीकरण**--कृषको को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिये कृषि तथा कृषि मूल्यो मे स्थिरता लाने की दृष्टि से सन् 1966 से सरकार प्रतिवर्ष खाद्यान्नो के न्यूनतम मूल्यो की घोषणा करती है।

11 **सहकारी विपणन**—सरकार ने सहकारी विपणन समितियो की स्थापना द्वारा कृषि विपणन के दोषो को दूर करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना आगे की गई है।

12 **वित्त की व्यवस्था**—ग्रामीण क्षेत्रो में वित्तीय सुविधाओ का पर्याप्त मात्रा मे विकास एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। बहुत-सी सार्वजनिक एजेन्सियाँ कृषको को पर्याप्त मात्रा मे वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील है।

13 **खाद्यानो का राजकीय व्यापार**—खाद्यान्नो का राज्य व्यापार सबसे पहले केन्द्र एव राज्य सरकारो के खाद्य विभागो ने आरम्भ किया। सन् 1965 मे भारतीय खाद्य निगम की स्थापना की गई। इस निगम को खाद्यान्नो की खरीद, सग्रह, यातायात, वितरण और विक्रय का कार्य सौंपा गया। यह आशा व्यक्त की गई है कि खाद्यानो के विपणन मे (FCI) एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। खाद्य निगमो द्वारा सम्पन्न किए गए कुछ कार्य भी FCI को सौप दिए गए है।

सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों पर टिप्पणी एवं सुझाव

कृषि विपणन के लिए सरकार द्वारा जो भी प्रयत्न किये गये है, वे निश्चय ही प्रशंसनीय एव महत्त्वपूर्ण है। किन्तु आवश्यकता की तुलना मे वे नितान्त ही

अपर्याप्त हैं । अतः सरकार को और अधिक प्रयत्न मे शीघ्रता करने की आवश्यकता है । ग्रामीण क्षेत्रो मे यातायात के साधनो मे अभी भी बहुत कमी है । अत. विपणन में विकास हेतु इस क्षेत्र में पर्याप्त विकास की आवश्यकता है । सहकारी विपणन ने जाँच पड़ताल के क्षेत्र मे तो प्रगति पर पर्याप्त ध्यान दिया है, किन्तु विकास की ओर कम ध्यान दिया । इस संदर्भ मे किये गये सर्वेक्षण मे दिये गये सुझावो को कार्यान्वित किया जाना चाहिये । यह भी आवश्यक है कि शासन कृषि विपणन के सन्दर्भ मे क्षेत्रीय अध्ययन कराये । वर्गीकरण के अधिनियम को दृढतापूर्वक लागू करने की व्यवस्था की जाय । कृषि द्वारा कुल उत्पादित वस्तुओ के बिक्री किये गये माल के 10% वस्तुओ का ही वर्गीकरण हो पाता है । अत. इस क्षेत्र मे पर्याप्त विकास एव विस्तार की आवश्यकता है । विपणन तकनीक मे भी अभी हम बहुत ही पीछे हैं । अत· इसमे अनुसंधान एवं विकास की आवश्यकता है । हमारे यहाँ के विपणन रूप-रेखा मे भी सुधार की आवश्यकता है । शासन को चाहिए कि भविष्य के कार्यक्रम इन सभी बातो को ध्यान में रखते हुए हाथ में ले ।

भारत में सहकारी विपणन
(Co-operative Marketing in India)

सहकारी विपणन का अर्थ—जब कुछ उत्पादक अपने उत्पादन को व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग बेचने के स्थान पर सहकारी विपणन समितियाँ बना कर उनके माध्यम से बेचते हैं तो उसे सहकारी विपणन कहा जाता है । **के० आर० कुलकरनी** का कहना है कि "उत्पादको का सहकारी सगठन उत्पान के छोटे आकार होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए स्वयं सहायता का एक प्रयास है ।[1] साधारणतः सहकारी बिपणन शब्द का प्रयोग सहकारी विक्रय संगठनो या उत्पादकों के संगठनों को जो कि विक्रय कार्यों को सम्पादित करते हैं, निर्देश करने के लिए किया जाता है ।[2]

सहकारी विपणन व्यवस्था के लाभ

सहकारी विपणन व्यवस्था के लाभो को हम निम्नलिखित तीन शीर्षको मे अध्ययन कर सकते हैं—(अ) कृषको को लाभ (ब) उपभोक्ताओ को लाभ और (स) सामाजिक लाभ ।

---

1. "A Co-operative association of producers is an attempt to selfhelp, io overcome the difficulties arising out of the smallness of operations." —K. R. Kulkarni Agricultural Marketing in India.

2. "The term Co-operative Marketing has been used generaly to denote Co-operative sale association or those associations of producers which perform the functions of sale."

—Beckken Schaars, Economics of Co-operative Marketing, p. 205

(1) (अ) **कृषकों को लाभ भण्डारगृहों और गोदामों का प्रबन्ध**—सहकारी समिति अपने भण्डारगृहो और गोदामो का प्रबन्ध करती है और इस प्रकार फसल को चूहो, चीटियो एवं सीलन इत्यादि से कोई क्षति नही पहुँचती है।

(2) **उचित कीमत**—विपणन समितियाँ कृषक को वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करके उसे साहूकार के चंगुल से मुक्ति दिला देती है। वह उपज को रोककर उचित समय पर बिक्री कर सकता है। साथ ही समय-समय पर इन साख समितियो द्वारा इनको बाजार भाव का ज्ञान प्राप्त होता रहता है।

(3) **उत्पादित माल का श्रेणीकरण और मानकीकरण**—समिति किसानो को श्रेणीकृत और मानकीकृत माल के उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देती है और उन्हें उपज मे मिलावट करने से प्रतिबन्धित रखती है।

(4) **कृषक की सौदा क्षमता मे सुधार**—ये समितियाँ भावना पैदा करके उनकी सौदा करने की क्षमता बढाने मे सहायक होती है।

(5) **मूल्यो को प्रभावित करना**—सहकारी समितियाँ उपज की पूर्ति की मात्रा का नियन्त्रण करती है और इस प्रकार कीमतो को प्रभावित करती है।

(6) **विज्ञापन एवं प्रचार**—सहकारी विपणन समितियाँ विज्ञापन और प्रचार के माध्यम से अपने सदस्यो के उपाय मे वृद्धि कर सकती है तथा मण्डियो का विस्तार कर सकती है।

(7) **मध्यस्थो का उन्मूलन**—सहकारी समितियो द्वारा माल सीधे मण्डियो मे बेचा जाता है जिससे मध्यस्थो की आवश्यकता नही पडती है। मध्यस्थो के अभाव के कारण समितियो को लाभ अधिक होता है जो कृषको मे विभक्त हो जाता है।

(8) **विपणन की शिक्षा**—आत्म सहायता सहकारिता का एक उद्देश्य होता है। सहकारी विपणन से सम्बन्धित सभी कार्य स्वयं सदस्यो द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। इस प्रकार वे विपणन व्यवस्था से पूर्णत. परिचित हो जाते है।

(9) **वित्त की सुविधा**—सहकारी समितियो के द्वारा कृषको को वित्त सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं। कृषको को उनकी उपज बिकने के पूर्व ही अग्रिम धनराशि प्राप्त हो जाती है।

(10) **अनियमित मण्डियों के धोखे से बचाव**—सहकारी समितियाँ कृषकों को उचित मार्ग प्रशस्त करके अनियमित मण्डियों की अव्यवस्था व परेशानियो से मुक्त करती है।

(ब) **उपभोक्ताओं को लाभ**—सहकारी विपणन से एक लाभ यह है कि उपभोक्ता वर्ग को वर्ष भर कृषि माल उचित कीमत पर प्राप्त होता रहता है क्योकि सहकारी समितियाँ पूँजीपति व्यापारियो की भाँति माल रोककर कृत्रिम दुर्बलता की स्थिति उत्पन्न नही करती। यह माल की पूर्ति निरन्तर बनाये रखती है, जिससे बाजार की कीमतो की स्थिति डाँवाडोल नही होने पाती।

(स) **सामाजिक लाभ**—मध्यस्थो के उन्मूलन द्वारा उत्पादक तथा उपभोक्ता

दोनो को ही लाभान्वित करके ये समितियाँ राष्ट्रीय आय बढ़ाने मे सहायक सिद्ध होती हैं। सहकारी विपणन समितियो के सदस्य अपनी आर्थिक एवं विपणन सम्बन्धी समस्याओ पर विचार करते है एवं एक दूसरे के निकट आते है। एक दूसरे के हितो की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील होते है। स्पष्ट है कि सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

भारत मे सहकारी विपणन की रचना
(Structure of Co-operative Marketing in India)

इस समय देश मे सहकारी विपणन की सरचना इस प्रकार है—

(अ) **प्राथमिक सहकारी विपणन समितियाँ**—ये समितियाँ ग्राम स्तर पर कार्य करती है। ये दो तरह की होती है—प्रथम सामान्य सहकारी विपणन समितियाँ जिनका कार्यक्षेत्र सामान्यतः पूरी तहसील होता है और वे सभी प्रकार की वस्तुओ का व्यापार करती है। द्वितीय, विशिष्ट वस्तु सहकारी समितियाँ, जो किसी विशिष्ट वस्तु का व्यापार करती है जैसे उत्तर प्रदेश या बिहार की गन्ना समितियाँ, उत्तर प्रदेश की घी समितियाँ इसके अच्छे उदाहरण है।

(ब) **केन्द्रीय विपणन सघ**—प्राथमिक समितियो के ऊपर जिला-स्तर पर केन्द्रीय जिला विपणन सघ है। इन संघों के सदस्य— व्यक्ति और प्राथमिक समितियाँ— दोनो ही हो सकते है। स्वतन्त्र रूप से कृषि वस्तुओ का क्रय-विक्रय करते है और प्राथमिक समितियो का ऋण तथा अन्य प्रकार की सहायता भी देते है।

(स) **राज्य विपणन संघ**—इसका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य होता है। इसका कार्य क्रय विक्रय करना तथा केन्द्रीय विपणन संघो और प्राथमिक विपणन समितियों को ऋण प्रदान करना है। राज्य विपणन संघो के सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ दोनो हो सकते है।

(द) **राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन महासंघ** – यह राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी विपणन की शीर्ष संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि एवं अन्य वस्तुओं मे अपने सदस्यो को विपणन एवं व्यापारिक कार्य-कलापो मे समन्वय लाना और प्रोत्साहित करना अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्राज्यीय कृषि व्यापार को बढ़ावा देना तथा सदस्यो को कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति करना है।

सहकारी विपणन की प्रगति

भारत मे पहली सहकारी विपणन समिति की स्थापना 1913 में हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे इनके विकास की गति में काफी तीव्रता आई और सहकारी विपणन समितियो ने कण्ट्रोल की वस्तुओं, बीज, उर्वरक व औजारो आदि के वितरण कार्य में विशेष भूमिका अदा की। परन्तु विश्वयुद्ध के बाद में अधिक सफल नही हो सकी।

भारत मे स्वतंत्रता के पश्चात् सहकारी विपणन मे काफी प्रगति हुई है। इस सम्बन्ध मे निम्न तालिका पर दृष्टिपात किया जा सकता है :

(करोड रुपयो मे)

सहकारित वर्ष	सहकारी विपणन समितियो के माध्यम से कृषि पदार्थों का विक्रय
1960-61	175
1972-73	921
1973-74	1,110
1974-75	1,434
1975-76	1,564
1976-77	1,523
1977-78	1,420

सहकारी विपणन में धीमी प्रगति के कारण

1 **प्रशिक्षित व कुशल पदाधिकारियो की न्यूनता**—भारतीय कृषक आज भी अशिक्षित व अकुशल है जिससे समितियो के कार्य सचालन के लिए कुशल व शिक्षित व्यक्ति नही मिल पाते है।

2 **निष्ठा की कमी**—कृषको को यह आवश्यक है कि वे समिति के प्रति निष्ठावान् हो तभी समिति सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है। परतु भारत मे निष्ठावान् सदस्यो का अभाव पाया जाता है।

3 **विपणन लागत की अधिकता**—समिति के कर्मचारी चूंकि वेतन के आधार पर कार्य करते है इसलिए वे समिति के कार्य को अपना कार्य नही समझते है साथ ही इनके पास यातायात के साधन भी उपलब्ध नही होते है जिससे कृषि के यातायात पर इन्हे अत्यधिक धन खर्च करना पडता है। फलत विपणन लागत अधिक आती है जिससे व्यापारियो से प्रतिस्पर्धा नही हो पाती है।

4. **वित्त की अपर्याप्तता**—सहकारी समितियो की धीमी प्रगति का एक कारण यह है कि इन समितियो के पास वित्तीय-साधनो का अभाव है और इन्हे कम ब्याज की दर पर पर्याप्त नही मिल पाता है।

5 **व्यापारियो से प्रतिस्पर्धा**—व्यापारी वर्ग सहकारी समितियो को अपना प्रतिस्पर्धी मानता है और सहकारी विपणन समितियो को असफल करने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न करता है।

6. **वर्ष भर विपणन कार्य का अभाव**—सहकारी समितियाँ कृषि वस्तुओ को वर्ष भर खरीद नही सकती क्योकि इनके पास प्राय भण्डार-गृहो का अभाव रहता है और वित्तीय साधन भी पर्याप्त नही होते। स्पष्टत. ये समितियाँ व्यापारियो का स्थान लेने मे असमर्थ रही हैं।

7. अन्य कारण—सहकारी विपणन समितियो की धीमी प्रगति के लिए उत्तरदायी कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं—जैसे (अ) कृषक वर्ग की उदासीनता (ब) गोदामो का अभाव (स) विपणन समितियो एवं उपभोक्ता समितियो मे सम्पर्क का अभाव (द) बाजार सम्बन्धी सूचनाओ का अभाव आदि।

सुझाव—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सहकारी विपणन समितियो से किसानो को बहुत लाभ हो रहा है। परन्तु सम्पूर्ण देश के आकार तथा कृषि की आवश्यकताओ को देखते हुए इनकी प्रगति बहुत धीमी गति से हुई है। सहकारी विपणन के विकास के लिये कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं :—

1. सहकारिता के विभिन्न पहलुओ—जैसे, साख-विपणन एवं उन्नत कृषि मे समन्वय स्थापित करना चाहिये और यह प्रयत्न किया जाना चाहिये कि एक ही समिति इन तीनो प्रकार की सेवाएँ प्रदान करे।

2. सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवाओ के क्षेत्रो मे सहकारी-विक्रय पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये।

3. सहकारी विपणन समितियो को चाहिये कि जहाँ सम्भव हो कृषि वस्तुएँ उपभोक्ताओ को प्रत्यक्ष रूप से बेचें, ताकि मध्यस्थो का व्यय बच सके।

4. सहकारी-विक्रय समितियो का प्रबन्ध व संचालन शिक्षित व कुशल व्यक्तियो के हाथ में होना चाहिए। इसके लिए कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

5. सरकार की ओर से इन सस्थाओ को कृषि-वस्तुओ के वर्गीकरण की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये।

6. ग्रामीण क्षेत्रों मे निजी संग्रह एवं गोदाम सुविधाएँ विकसित करने के लिए सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिये।

7 सरकार को चाहिये कि वह ग्रामों और बाजारों के बीच यातायात और सम्वाद-वहन के साधनों का विकास करे। प्रारम्भ में सहकारी विपणन-समितियों को मूल्य मे वृद्धि की आशा मे लम्बी अवधि तक सदस्यो की उपज को नही रोके रखना चाहिये, क्योकि उसमे हानि का खतरा रहता है।

8. सरकार को चाहिये कि यथासम्भव विपणन समितियों को अपने सहायता कार्यों, जैसे उन्नत बीजों या उर्वरको के वितरण आदि का माध्यम बनावे।

9. बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनके विपणन के पूर्व विधायन कर देने से, अच्छे मूल्य पर और अधिक मात्रा में बेची जा सकती है। सहकारी समितियों को चाहिये कि इन वस्तुओ, जैसे रुई आदि में यह भी कार्य करें।

10. स्टेट बैङ्क ऑफ इण्डिया एवं सहकारी बैङ्क को चाहिए कि विपणन सहकारी समितियों की कार्यशील पूँजी में वृद्धि करने के लिए आर्थिक सहायता दें, ताकि वे विभिन्न कामो को सुविधापूर्वक कर सकें।

11. इन सहकारी संस्थाओं द्वारा विधायन एवं व्यापार कार्य के लिए वित्तीय सहायता स्टेट बैङ्क द्वारा दी जानी चाहिए।

12. विपणन सहकारी समितियो को निजी क्षेत्र से प्रतियोगिता एवं वैमनस्य का खतरा बना रहता है। इसे दूर किये जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

13. सहकारी विपणन संस्थाओ को प्रयत्न करना चाहिए कि उत्पादित अतिरिक्त खाद्य सामग्री का क्रय कर सके।

14. सहकारी विपणन समितियो को चाहिये कि सहकारी संस्थाओ द्वारा दिये जाने वाले ऋण से उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विपणन को सम्बन्धित किया जाय। इससे ऋण की सुरक्षा मे तो वृद्धि होगी ही, साथ ही कृषको को अच्छी कीमत भी मिल सकेगी।

15 विपणन सहकारी समितियो के विकास के लिए नियोजित ढङ्ग से प्रयत्न किया जाना चाहिए और उसमे उत्पादन, विधायन विपणन एवं संग्रह आदि पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

1. ग्रामीण क्षेत्र मे कृषि विपणन की प्रगति के लिए कार्यात्मक एवं वित्तीय दोनों सुझाव दीजिये।

अथवा

कृषि विपणन के प्रमुख दोष कौन से है ? आप किस प्रकार विपणन प्रणाली एव वित्त की उन्नति करें ?

अथवा

भारत मे कृषि विपणन की समस्याओ का परीक्षण कीजिये। वर्तमान समय मे स्थिति के सुधार के लिये कौन से कदम उठाये गये है और उनका क्या परिणाम निकलता है ?

अथवा

संक्षेप मे, भारतीय कृषक को अपनी उपज बेचने मे होने वाली कठिनाइयो को बतलाइये। उनकी कठिनाइयो को दूर करने के लिये कौन-कौन से उपाय अपनाये गये है ?

अथवा

उन बाधाओ का विवेचन कीजिये जिनके अन्तर्गत भारत मे कृषक अपनी उपज को बेचने मे सामना करता है। उन बाधाओ को दूर करने के लिये उपाय बतलाइये।

अथवा

उन अलाभप्रद स्थितियो को स्पष्ट रूप से बतलाइये जिनके अन्तर्गत भारतीय कृषक अपनी उपज बेचता है। कृषि विपणन को संगठित करने व प्रगति के लिये सुझाव दीजिये।

2. क्या कृषि विपणन के दोषों को सहकारी समितियों द्वारा कार्य का संगठन कर दूर किया जा सकता है ? भारत मे सहकारी विपणन के विकास के लिए सुझाव दीजिए।

अथवा

कृषि उपज के सहकारी विपणन की सफलता के लिये शर्तें निर्धारित कीजिये। गन्ना, कपास, दूध, गेहूँ और घी के सहकारी विपणन के संगठन द्वारा प्राप्त लाभ के अनुभवों के बारे में बताइये।

10

भारत में खाद्य समस्या एवं खाद्य नीति

(Food Problem and Food Policy in India)

भारत मे विगत आठ वर्षों मे निरन्तर खाद्यान्नो के 125 मिलियन के औसत ार्षिक उत्पादन से हमारी खाद्य अर्थव्यवस्था को नई दिशा प्राप्त हुई है। यद्यपि ्वतन्त्रता के उपरान्त से ही भारत मे खाद्यान्नो का अभाव रहा है लेकिन अब खाद्य थति मे पर्याप्त सुधार हुआ है। अब देश मे घरेलू आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए र्याप्त मात्रा मे खाद्यान्नो का उत्पादन होता है। वस्तुत भारत मे खाद्य समस्या 1975-76 तक विद्यमान रही है।

भारत की खाद्य समस्या के विभिन्न रूप

अथवा

खाद्य अर्थव्यवस्था की प्रकृति

भारत की खाद्य अर्थव्यवस्था के प्रमुख 4 पहलू है।

(1) परिमाणात्मक पहलू अर्थात् माग की तुलना मे खाद्यान्नो की पूर्ति में कमी।

(2) गुणात्मक पहलू अर्थात् खाद्यो मे पोषक तत्त्वो की कमी।

(3) प्रशासनिक पहलू अर्थात् दोषपूर्ण वितरण प्रणाली।

(4) आर्थिक पहलू अर्थात् लोगो की निम्न आय और खाद्यान्नो की ऊँची कीमते।

(1) खाद्य समस्या का परिमाणात्मक पहलू

अथवा

खाद्य समस्या के कारण

भारत मे एक लम्बी अवधि तक खाद्यान्नो की उत्पादन माँग की तुलना मे कम रहा है अर्थात् खाद्यान्नो का अभाव रहा है। खाद्यान्नो की माँग व पूर्ति के इस अन्तर के लिए दो प्रकार के कारणो को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, जैसाकि आगे चार्ट मे दर्शाया गया है।

खाद्य समस्या के कारण

(i) खाद्यान्नो की माँग मे वृद्धि
- (अ) जनसख्या मे वृद्धि
- (ब) प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि
- (स) शहरीकरण

(ii) खाद्यान्नो की पूर्ति मे धीमी वृद्धि
- (अ) उत्पादकता मे धीमी वृद्धि
- (ब) प्रकृति पर कृषि की निर्भरता
- (स) खाद्यान्न का अपव्यय
- (द) उपभोग सम्बन्धी आदत
- (य) खाद्य साधनो का अल्प उपयोग
- (र) दोषपूर्ण सरकारी नीति

(i) **खाद्यान्नों की माँग में तीव्रवृद्धि**—खाद्यान्नो की माँग मे तेजी से वृद्धि के लिए कई कारक जिम्मेदार है जिनमे से प्रमुख कारक निम्नलिखित है :—

(अ) **जनसख्या में वृद्धि**—खाद्यान्नो की माँग मे तीव्र वृद्धि का प्रमुख कारण हमारी तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसख्या है। बढ़ती हुई जनसख्या के कारण ही देश में खाद्यान्न के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के बावजूद खाद्यान्नो के माँग व पूर्ति के बीच की खाईं बढ़ती गई है, फलतः खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता मे कमी आई हैं।

(ब) **प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि**—भारत में आर्थिक विकास की योजनाओ के परिणामस्वरूप लोगो की आय मे वृद्धि हुई है, तथा साथ ही कृषि वस्तुओ की माँग मे भी वृद्धि हुई। भारत जैसे निर्धन देशो मे आय बढ़ने पर खाद्यान्नो के उपभोग में तीव्रता मे वृद्धि होती है, क्योकि ऐसे देशो मे अधिकांश लोग निर्धन होते हैं तथा निर्धन लोगो की खाद्यान्नो लिए माँग की आय लोच 0.7 से 0.8 के समीप होती है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि निर्धन व्यक्तियों की आय मे 1 रुपये की वृद्धि होती है तो इसमे से 70 पैसे से लेकर 80 पैसे तक खाद्यान्नों मे व्यय किये जाते हैं। स्पष्टतः भारत जैसे निर्धन देशो मे लोगों की आय बढ़ने पर खाद्यान्नों की माँग में तीव्रता से वृद्धि होती है। स्पष्ट है कि देश मे खाद्य समस्या को हल करने के लिए उत्पादन मे तीव्रता से वृद्धि होना आवश्यक है।

(स) **शहरीकरण**—जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के साथ शहरीकरण भी तीव्र गति से हो रहा है। भारत में पहले कभी भी शहरी जनसंख्या इतनी तेजी से नही बढ़ी थी, जितनी की अब बढ़ रही है। शहरी जनसंख्या की मात्ता में वृद्धि से खाद्यान्नो की माँग भी बढ़ रही है।

(ii) **खाद्यान्नों की पूर्ति में धीमी वृद्धि**—जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में खाद्यान्नों के घरेलू उत्पादन मे वृद्धि की दर कम रही। यह तथ्य दो बातों से स्पष्ट होता है। प्रथम खाद्यान्नो की प्रति व्यक्ति शुद्ध उपलब्धता मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ है, यह एक लम्बी अवधि तक न्यूनतम पोषक आहार के स्तर 440 ग्राम

प्रति व्यक्ति प्रतिदिन से भी कम रही है। द्वितीय 1951-76 की अवधि में खाद्यान्नो के उत्पादन के निर्देशाक मे बहुत धीमी गति से वृद्धि हुई है।

खाद्यान्नो की पूर्ति मे कमी के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित घटक उत्तर-दायी है—

(अ) **उत्पादकता में धीमी वृद्धि**—भारत मे अन्य देशो की तुलना मे प्रति हेक्टेयर उत्पादन काफी कम है, जिसके कारण देश मे खाद्यान्नो का प्राय. अभाव रहता है। यद्यपि योजना काल मे प्रति हेक्टेयर उत्पादकता मे सुधार हुआ है परन्तु खाद्यान्नो की उत्पादकता के निर्देशाक मे बहुत धीमी गति से वृद्धि हुई है, यह 1968-69 में 100 था जो कि 1976-77 में बढकर 109 1 हो सका है। अन्य शब्दो मे लगभग एक दशक के दौरान खाद्यान्नो की उत्पादकता मे केवल 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यद्यपि उसके बाद उत्पादकता का निर्देशाक बढा है और 1977-78 मे बढ़कर 122.0 हो गया है।

(ब) **प्रकृति पर कृषि की अत्यधिक निर्भरता**—भारतीय कृषि मानसून पर अत्यधिक निर्भर है जिसके कारण प्रतिकूल वर्षा व जलवायु, फसल के रोग व कीटाणु से कृषि उत्पादन अचानक घट जाता है जिससे खाद्य समस्या कठिन हो जाती है।

(स) **खाद्यान्न का अपव्यय**—भारत मे खाद्यान्न का अपव्यय बडी मात्रा मे होता है। निम्न तालिका से स्पष्ट पता चलता है कि हम जो उत्पादन करते हैं उसके लगभग 10 प्रतिशत का हम उपभोग नही कर पाते। भारत मे जहाँ अनाज की कमी है, वहाँ इस बर्बादी का काफी महत्त्व है। 'खाद्य निगम' के डा० पिंगले बर्बादी का प्रतिशत 8 से 40 तक मानते है। यद्यपि यह एक विवाद का विषय हो सकता है, क्योकि इस सम्बन्ध मे कोई भी वैज्ञानिक ढग से बनाये गये निर्देशाक उपलब्ध नही हैं, फिर भी बर्बादी काफी होती है और बर्बादी से हमारी खाद्यान्न समस्या सम्बन्धित है।

(द) **उपभोग सम्बन्धी आदतो में परिवर्तन**—जैसा कि डा० राधाकमल मुकँर्जी ने बताया कि उपभोग सम्बन्धी आदतो मे परिवर्तन भी खाद्य के अभाव के लिए उत्तर-दायी है। एक ओर तो किसानो में पौष्टिक खाद्यान्नो के स्थान पर घटिया खाद्यान्नो के उत्पादन करने की प्रवृत्ति बढ रही है और दूसरी ओर ज्वार, बाजरा, कोदो आदि घटिया खाद्यान्नो की अपेक्षा गेहूँ, चावल आदि बढिया खाद्यान्नो का उपभोग बढ रहा है, जिससे बढिया खाद्यान्नो की समस्या अधिक कठिन है।

(य) **खाद्य साधनों का अल्प उपभोग**—भारतीय जनसंख्या का एक बडा भाग शाकाहारी है अतः किसी वर्ष खाद्यान्न का अभाव हो तो उसकी पूर्ति मास मछली आदि वस्तुओ से नही की जा सकती। भारत की जनसख्या के लिए मासाहारी बनने की बडी आवश्यकता है।

(र) **दोषपूर्ण सरकारी नीति**—खाद्यान्न की कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी रहा है कि देश मे खाद्यान्नो के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नीति नही अपनाई गई। पर्याप्त उत्पादन होने पर भी व्यापारी एवं सटोरिये खाद्यान्न का संचय कर लेते

हैं जिससे बाजार में उपलब्ध पैदावार कम हो जाती है और कीमतें बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार अनेक बार देखा गया है कि सरकार यह तो निश्चित कर लेती है कि अमुक मात्रा में विदेशों से खाद्यान्न मँगवाना है किन्तु प्रबन्ध व्यवस्था की शिथिलता के कारण उसके मँगाने में अवांछनीय देर हो जाती है।

(2) खाद्य समस्या का गुणात्मक पहलू

हमारी जनता को केवल पर्याप्त भोजन ही नहीं मिलता बल्कि उसका आहार असंतुलित व पौष्टिक तत्त्वों से हीन है। वैज्ञानिकों के अनुसार संतुलित भोजन में प्रति व्यक्ति प्रति दिन 3000 कैलोरी होनी चाहिये, परन्तु भारत में प्रति दिन प्रति व्यक्ति लगभग 2000 कैलोरी ही मिल पाती है। भारत की स्थिति विभिन्न अल्पविकसित देशों की तुलना में कितनी शोचनीय है, यह सारणी द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

कुछ अल्पविकसित देशों में खाद्य उपलब्धि के स्तर

देश	वर्ष	कैलोरीज	प्रोटीन
अर्जेण्टाइना	1960	3160	105
ब्राजील	1970	2820	67
मैक्सिको	1964-66	2620	66
संयुक्त अरब गणराज्य	1968-69	2770	80
सीरिया	1964-66	2450	69
भारत	1969-70	1990	49

भारत में खाद्यान्नों में पोषक तत्त्वों की कमी के लिए उत्तरदायी कारण इस प्रकार है :—

(अ) देश में रक्षात्मक खाद्यों का कम उत्पादन।

(ब) धार्मिक भावना के कारण मांस, मछली, अण्डे आदि का प्रयोग न होना।

(स) जनता की निरक्षता एवं अज्ञान के कारण भोजन में पोषक तत्त्वों की उपयोगिता पर ध्यान न देना।

(द) निर्धनता के कारण पोषक पदार्थ न खरीद पाना। इस असंतुलित आहार का ही परिणाम है कि भारत के नागरिकों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है वे शीघ्र ही बीमारी तथा मृत्यु के शिकार हो जाते हैं तथा जनता की कार्य-क्षमता बहुत कम है।

(3) खाद्य समस्या का प्रशासनिक पहलू

खाद्यान्नों के प्रशासनिक तथा वितरणात्मक पहलू से आशय यह है कि देश में जितने भी खाद्यान्न उपलब्ध हैं उन्हें जनता में उचित मूल्य और उपयुक्त समय पर

वितरित कर दिया जाय। सक्षेप मे प्रशासनिक पहलू मे निम्न कार्य सम्मिलित किये जाते है—

(अ) देश मे खाद्यान्नो की पूर्ति और माँग का सही अनुमान लगाना।

(ब) खाद्यान्नो के भण्डार को गोदामों मे सुरक्षित रखना व सकट कालीन परिस्थितियो के लिए खाद्यान्नो के यथोचित भण्डार बनाना।

(स) कमी वाले स्थानो पर उपयुक्त समय मे यथेष्ट खाद्यान्न भेजने का प्रबन्ध करना।

(द) खाद्यान्न के उचित मूल्य निर्धारित करना और उचित मूल्य पर जनता को ठीक समय पर खाद्यान्न देने की व्यवस्था करना।

उपरोक्त व्यवस्था न करने से अनेक बार देश मे खाद्यान्न की कमी न होने पर भी उसकी कमी दिखाई पडती है। भारत मे खाद्यान्नो के वितरण की व्यवस्था भी असतोषजनक है। दिल्ली विश्वविद्यालय के डा० राज का मत है कि देश में खाद्यान्न की कमी नही है वरन् सरकार की अदूरदर्शिता और प्रशासन व्यवस्था का अभाव प्रतीत होता है। **श्री० पी० के० कृष्ण मेनन** के शब्दो में "खाद्यान्न समस्या का मूल कारण वस्तु का अभाव नही है, बल्कि दोषपूर्ण, असफल और निर्जीव सरकारी वितरण है जिसके कारण उपभोक्ता तक अनाज नही पहुँच पाता है। सन् 1943 के बगाल के अकाल का मुख्य कारण दोषपूर्ण खाद्य वितरण था।"

(4) खाद्य समस्या का आर्थिक पहलू

भारत मे जनता के पास क्रयशक्ति बहुत कम है जिससे हमारे नागरिक देश मे जो अन्न उपलब्ध है उसे खरीदने मे कठिनाई अनुभव करते है। अत धनाभाव के कारण भी भारत की अधिकाश जनता अनाज नही खरीद पाती व विदेशो से भी पर्याप्त आयात नही किया जा सकता। इस प्रकार हमारी खाद्य समस्या का एक कारण सामान्य जनता मे क्रयशक्ति का अभाव भी है। इधर कई वर्षों से देश मे खाद्य की कीमतो मे प्राय लगातार व तेजी से वृद्धि हो रही है। स्थिर आय-स्तर एव कमजोर वर्ग मे बढती हुई बेरोजगारी के सन्दर्भ मे खाद्य पदार्थों की कीमत मे थोडी वृद्धि क्रयशक्ति को बहुत कम कर देती है और जब कीमतो मे बहुत अधिक वृद्धि होती है जैसा कि आजकल देश मे हो रहा है, तब ऐसे वर्ग के लोगो को दिन मे एक समय भोजन मिलना भी कठिन हो जाता है। इस प्रकार भारत की जनसख्या का एक बहुत बडा भाग भारी भुखमरी के स्तर पर निर्वाह करता है।

खाद्य समस्या को हल करने के सुझाव

भारतीय खाद्य समस्या को हल करने के लिए कुछ सुझाव दिये जा सकते है; जैसे :—

1. **खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि**—खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि के उपायो को हम अग्रलिखित तीन शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है—

खाद्य प्रशासन के कर्मचारियों की अकुशलता और बेईमानी भी है। अत. इसमे सुधार लाना अनिवार्य है।

7. खाद्यान्न अपव्यय पर रोक—दोषपूर्ण यातायात, संग्रह व आहार पद्धति से खाद्यान्नो का जो व्यय होता है उसे न्यूनतम करना चाहिये। साथ ही गोदाम निगम तथा सहकारी समितियो के गोदामो की क्षमता बढानी चाहिये और उनकी वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिए कदम उठाना चाहिये।

भारत सरकार की खाद्य नीति

खाद्य समस्या को हल करने के लिये भारत सरकार ने जो प्रयत्न किये है उनका हम दो शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

(अ) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व, और

(ब) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किये गये प्रयत्न अर्थात् खाद्य नीति।

(अ) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व खाद्य नीति—(i) 1942 मे खाद्य विभाग की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य सैनिक एवं नागरिको के लिए खाद्यान्न की बढ़ती हुई कीमतो को नियंत्रित करना था।

(ii) 1943 मे खाद्यान्न नीति समिति की स्थापना की गई। इस समिति ने खाद्यान्न की राशनिंग एवं नियंत्रण व्यवस्था को अपनाया एवं खाद्यान्न का उत्पादन बढाने के लिए आन्दोलन चलाने की सिफारिश की। भारत सरकार ने इस सिफारिश के आधार पर 1943 मे 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत उत्पादन बढाने के लिए 4 लक्ष्य निर्धारित किये। (क) खाद्य उत्पादन के क्षेत्र मे वृद्धि, (ख) सिंचाई के साधनो का पर्याप्त विस्तार, (ग) खेतों की उर्वरा शक्ति मे वृद्धि, (घ) अच्छे बीजो के प्रयोग का प्रचार।

(ब) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद खाद्य नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने देश की खाद्य समस्या के समाधान पर विशेष ध्यान दिया और देश की खाद्य स्थिति की जाँच के लिए 1947 में द्वितीय खाद्य नीति समिति की स्थापना की। इस समिति ने खाद्यान्न समस्या के समाधान के लिए निम्न परामर्श दिये—

(क) खाद्यान्न के आयात पर सरकार का एकाधिकार हो।

(ख) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार की खाद्य नीतियो मे संतुलन की स्थापना हो।

(ग) कृषि योग्य भूमि का पुनरुत्थान किया जाय।

(घ) खाद्यान्न उत्पादन की एक पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित की जाय।

योजनावधि मे खाद्य समस्या के समाधान के लिए सरकार ने जो प्रयत्न किये हैं उन्हे हम तीन शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं जैसा कि प्रदत्त चार्ट में दर्शाया गया है :—

1. खाद्यानों के उत्पादनों में वृद्धि की दिशा में प्रयास

खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय किये गये हैं :—

1. तकनीकी उपाय[1] — खाद्यान्नो का उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीकी उपायों का महत्त्व 1966 के बाद से काफी बढ़ गया है। तकनीकी उपायो के अन्तर्गत सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार, सघन कृषि कार्यक्रम, बहुफसली कार्यक्रम अधिक उपज देने वाली किस्मो का उगाना, उर्वरको का अधिकाधिक प्रयोग तथा कृषि के यंत्रीकरण पर जोर दिया जा रहा है। इन तकनीकी उपायो से न केवल उत्पादकता में वृद्धि हुई है बल्कि खेती के अन्तर्गत क्षेत्र का विस्तार भी हुआ है।

2. भूमि-सुधार[2]—नियोजन के प्रारम्भ से ही देश मे भूमि-सुधार कार्यक्रमों को महत्त्व दिया गया है। प्रथम योजना में यह स्वीकार किया गया है कि भूमि स्वामित्व और खेती प्रारूप की संरचना राष्ट्रीय विकास के लिए आधारभूत प्रश्न है।

---

1. विस्तृत अध्ययन के लिये, 'योजनाओं में कृषि विकास एवं हरी क्रान्ति' नामक अध्याय देखें।

2. विस्तृत अध्ययन हेतु 'भूमि व्यवस्था एवं भूमि-सुधार' नामक अध्याय देखें।

अत मध्यस्थो को समाप्त करने के लिए सभी राज्यो में कानून बनाये गये। विभिन्न राज्यो मे जोतो की उच्चतम सीमाबन्दी की गई। लगान का नियमन हुआ। जमीदारो द्वारा काश्तकारो से ली जाने वाली बेकार आदि अवैध करार दी गई। इस प्रकार निश्चय ही भूमि सम्बन्धो मे परिवर्तन हुए। उपविभाजित एवं अपखंडित जोतो के कारण कृषि कार्य मे दोषो को दूर करने के लिए अनेक राज्यो मे चकबन्दी की गई। सरकारी खेती की उपयोगिता की चर्चा यद्यपि बहुत हुई, तथापि व्यवहार मे इसे थोडे लोगो ने ही अपनाया।

3. **प्रेरक मूल्य नीति**—1 जनवरी 1965 को भारत सरकार ने खाद्यान्नो की कीमतो पर विचार करने के लिए झा समिति की सिफारिश पर कृषि मूल्य आयोग की स्थापना की। पिछले 12 वर्षों मे आयोग ने प्राय कृषको को खाद्यान्नो के प्रेरक मूल्य देने के लिए सुझाव दिये है। परन्तु आयोग द्वारा निर्धारित खाद्यान्न वसूली की कीमतें बहुत आकर्षक नही रही है।

4. **विशिष्ट संस्थानो की स्थापना**—खाद्यान्नो का उत्पादन बढाने तथा कृषि का विकास करने के लिए सरकार ने अनेक संस्थानो की स्थापना की है, जिनमें National seeds Corporation, Agro Industries Corporation Agricultural Prices Commission तथा Food Corporation of India विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

5. **राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा व्यवस्था**—सरकार अब एक राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा प्रणाली का निर्माण करने की ओर अग्रसर हो रही है। इस समयोचित और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य के चार मुख्य आधार होगे। सिंचित तथा असिंचित क्षेत्रो मे भी मुख्य फसलो के उत्पादन और उत्पादकता मे सुधार प्राकृतिक आपदाओ तथा कीडे-मकोडों से फसल का सरक्षण, एक स्थायी अनाज भंडार का निर्माण ताकि अनाज की कीमतो मे भारी घटा-बढी को रोका जा सके और एक और भी व्यापक और प्रभावी वितरण व्यवस्था का निर्माण।

इसमे कोई शक नही है कि इन चार मुख्य बातो पर आधारित खाद्य सुरक्षा प्रणाली देश के अनाज उत्पादन मे स्थायित्व लायेगी और किसी साल कम और किसी साल अधिक उत्पादन के कारण होने वाली अनाज की कीमतो की घटा-बढी पर काबू पाया जा सकेगा और उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनो को अनिश्चितता तथा हानि से बचाया जा सकेगा।

2 खाद्यान्नों के वितरण सम्बन्धी उपाय

(1) **खाद्य नियंत्रण तथा खाद्य क्षेत्रीय व्यवस्था**—एक राज्य से दूसरे राज्य को खाद्यान्नो के संचालन पर समय-समय पर प्रतिबन्ध लगाये गये है। इन प्रतिबन्धो को लागू करने के लिए देश को कई क्षेत्र मे बाँटा गया है। इस नीति का उद्देश्य प्रत्येक क्षेत्र को आत्म-निर्भर बनाना है। इसके अलावा खाद्यान्नों के घाटे वाले क्षेत्रो मे खाद्यान्नो की कमी को अतिरेक उत्पादन वाले क्षेत्रो की सहायता से दूर किया

जाता है। खाद्यान्नो के संचालन पर प्रतिबन्ध की नीति को सर्वप्रथम 1957 में अपनाया गया था। सन् 1972-75 मे पुनः क्षेत्रीय नियन्त्रणो को लागू किया गया। ये नियन्त्रण 1977 तक लागू रहे। लेकिन 1977 के अन्त मे गेहूँ तथा गेहूँ के पदार्थों, चावल एवं अन्य खाद्यान्नो के संचालन पर से सभी नियत्रण हटा लिए गये। वर्तमान समय में देश के विभिन्न क्षेत्रो मे खाद्यान्नो का मुक्त रूप से सचालन किया जा सकता है।

(2) **विशाल अन्न भण्डार (बफर स्टॉक) का निर्माण**—सरकार की खाद्यान्नो के बाजार में प्रभावशीलता बहुत बडी सीमा तक स्टॉको की मात्रा पर निर्भर करती है। स्टॉको की मात्रा दो बातो पर निर्भर करती है। (अ) वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अर्थात् वर्ष भर खाद्यान्नो की नियमित पूर्ति बनाए रखने के लिए तथा (ब) फसलो की कमी वाले वर्षों मे खाद्यान्नो की पूर्ति को बनाए रखने के लिए। प्रथम विचार की सहायता से खाद्यान्नो की पूर्ति मे होने वाली मौसमी उतार-चढ़ावो को दूर किया जा सकता जबकि दूसरे विचार की सहायता से वार्षिक उतार-चढाव को कम किया जा सकता है। पहले स्टॉक को समान स्टॉक तथा दूसरे को बफर स्टॉक कहते हैं बफर स्टाक स्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य कीमतो को स्थिर करना और कृषकों की आय मे स्थिरता लाना है। भारत मे बफर स्टॉक की वर्तमान मात्रा 18 मिलियन टन है।

(3) **सार्वजनिक वितरण प्रणाली**—अर्थव्यवस्था के कमजोर वर्ग को खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतो के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए ही विशेष रूप से सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विकास किया गया है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली देश भर मे फैली हुई सस्ते दर की दुकानो के माध्यम से काम कर रही है। सन् 1966 में जबकि देश मे खाद्यान्नो का घरेलू उत्पादन का स्तर बहुत कम था, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से देश मे खाद्यान्नो का योगदान कुल शुद्ध उपलब्धता का 20 प्रतिशत भाग था। लेकिन गत दशक में इस प्रणाली की सहायता से देश में खाद्यान्नो की कुल शुद्ध उपलब्धता का केवल 10 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो सका है।

(4) **सरकार द्वारा खाद्यान्न की वसूली**—सरकार की खाद्य नीति मे सरकार द्वारा खाद्यान्न की वसूली एक महत्त्वपूर्ण अग रहा है। देश के विभिन्न राज्यो मे सरकार द्वारा अनाज की वसूली की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित की गयी हैं (i) एकाधिकार वसूली प्रणाली, (Monopoly Procurement) (ii) उत्पादको पर वसूली लागू करने की प्रणाली, (Graded levy on Producers) (iii) मिल मालिको व व्यापारियों पर वसूली लागू करने की प्रणाली (Levy on Mills and Traders), (vi) खुले बाजार में क्रय की प्रणाली (Open Market Purchases)।

(5) **खाद्यान्नों की जमाखोरी मुनाफाखोरी के विरुद्ध किये गये प्रयत्न**—सरकार ने उन व्यापारियों और उत्पादको को जो लाभ कमाने की दृष्टि से खाद्यान्नो को बडे पैमाने पर संग्रह करते हैं सजा देने के लिए 'आवश्यक पदार्थ अधिनियम' और 'भारतीय प्रतिरक्षा नियम' के अन्तर्गत सजा की व्यवस्था की है।

(6) **साख नियन्त्रण के उपाय**—व्यापारी अनावश्यक सट्टेबाजी-जमाखोरी करने के लिए बैङ्को से उधार लेते है। भारत सरकार ने रिजर्व बैङ्क के द्वारा खाद्यान्न के समूह के लिए वाणिज्य बैङ्को द्वारा व्यापारियो को दिये जाने वाले ऋण पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

(7) **भारतीय खाद्य निगम की स्थापना**—कीमतो को स्थिर रखने के लिए और खाद्यान्नो का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए भारत सरकार ने जनवरी 1965 को खाद्य निगम (Food Corporation) की स्थापना की। खाद्य निगम सरकार के एजेण्ट के रूप मे काम करता है और खुले बाजार मे खाद्यान्नो को खरीद व बेच सकता है।

3. खाद्यान्नों के उपभोग सम्बन्धी नीति

भारत मे खाद्यान्नो के उपभोग के दो पहलू हैं—प्रथम खाने वाले व्यक्तियो की संख्या मे वृद्धि हो रही है और द्वितीय अधिकाश लोगो का उपभोग का स्वरूप अनाजो एवं चावल के पक्ष मे है।

(1) **जनसंख्या नीति**—(Papulation Policy) जनसंख्या नीति के सम्बन्ध मे सरकार की नीति का उद्देश्य लोगो को उनके परिवारो के आकार को नियन्त्रित करने के लिए सुविधाएँ प्रदान करना है। परिवार कल्याण कार्यक्रम जो कि राष्ट्रीय जनसख्या नीति का ही अग है, जन्म दर को कम करने का एक कारगर उपाय है।

(2) **पोषण नीति**—(Nutrition Policy) सरकार की पोषण नीति का उद्देश्य लोगो के अनाज के उपभोग को गैर अनाज खुराक से प्रतिस्थापित करना है। लेकिन इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि भोजन मे पोषक तत्त्वों की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए।

खाद्य एव पोषण बोर्ड ने पोषक आहारो के क्रमिक विकास, संरक्षण और— प्रभावकारी इस्तेमाल के लिए अनेक कार्यक्रम हाथ मे लिए है। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य पोषक आहारो की आपूर्ति बढाना, खासतौर से आहार कार्यक्रमो की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए आहारो की पौष्टिकताएँ बढ़ाना पोषण कर्मचारियो और उपभोक्ताओ का शिक्षण-प्रशिक्षण और समेकित खाद्य एव पोषण प्रणाली के विकास का आयोजन करना है ताकि इन उपायो के द्वारा लोगो के पोषण में सुधार लाया जा सके। बोर्ड ने चावल, दाल और मक्के की पिसाई के आधुनिकीकरण तथा अन्य खाद्यान्नो के परिष्करण एवं फल और शाक सब्जी सरक्षण उद्योग, प्रोटीन आहार उद्योग और बेकरी उद्योग के संवर्धन की दिशा मे भी कदम उठाये हैं।

खाद्य नीति की असफलताएँ व दोष

(1) **उत्पादन में वांछित वृद्धि नहीं**—सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए बहुत से कार्यक्रम अपनाए परन्तु हम बहुत बार उत्पादन के लिए निर्धारित लक्ष्यो को प्राप्त करने मे असफल रहे हैं। इसका मुख्य

कारण यह है कि न तो उत्पादन कार्यक्रमो को भली प्रकार सोच-समझकर बनाया गया है और न उन्हे प्रभावपूर्ण ढग से कार्यान्वित ही किया गया है ।

(2) **राजनीतिक दबाव**—राजनीतिक परिस्थितियों का भी खाद्य-नीति पर बहुत प्रभाव रहा है । उदाहरणार्थ 1967 मे केन्द्रीय सरकार ने राज्यो के मुख्य-मंत्रियो के दबाव मे आकर अन्न की वसूली के लिए मूल्यो को बढ़ाना स्वीकार किया परन्तु यह कृषि मूल्य कमीशन की सिफारिशो के विरुद्ध था । इस प्रकार राज्य सरकारो ने अन्न वसूली कार्यक्रमो को भली प्रकार कार्यान्वित नही किया क्योंकि वे अपनी पार्टी के लोगों व मतदाताओ को नाराज करने का जोखिम नही लेना चाहते थे ।

(3) **जनसंख्या नियन्त्रण में असफलता**—भारत सरकार के परिवार नियोजन कार्यक्रम बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करने मे असफल रहे हैं । इस दशा मे जितना प्रयत्न होना चाहिए था, वह नही किया गया है ।

(4) **पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय का अभाव**—अतिरेक राज्य (Surplus States) केन्द्रीय सरकार के साथ खाद्य नीति लागू करने मे उचित सहयोग नही देते और जान-बूझकर अपनी आवश्यकताओ का अनुमान अधिक तथा उत्पादन का अनुमान कम बताते है ।

(5) **सुव्यवस्थित व दोषरहित प्रशासन का अभाव**—भारतवर्ष मे कुशल, योग्य तथा ईमानदार प्रशासनिक सेवाओं का अभाव है जिसके कारण 'खाद्य-नीति का कुशल संचालन नही हो पाता है ।

(6) **सरकार की नीतियो मे व्यग्रता तथा इसका शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाना**—उदाहरण के लिये प्रथम योजना की सफलता ने सरकार को कृषि की ओर से सन्तुष्ट बना दिया । फलत. द्वितीय योजना में कृषि-विकास के लिये अधिक ध्यान नही दिया गया ।

भारतीय खाद्य निगम

1957 में अशोक मेहता समिति ने यह सुझाव दिया था कि 100 करोड़ रुपये की पूंजी से भारत सरकार द्वारा एक खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन स्थापित किया जाय । सन् 1964 मे दिल्ली मे जो मुख्यमंत्रियो का सम्मेलन हुआ था उसमें अशोक मेहता समिति द्वारा दी गई रूपरेखा के आधार पर एक भारतीय खाद्यान्न निगम स्थापित करने का निश्चय किया गया । 17 नवम्बर 1964 को भारतीय संसद में एक बिल प्रस्तुत किया गया जो तुरन्त पास कर दिया गया । फलतः जनवरी 1965 मे खाद्यान्न निगम की स्थापना 100 करोड़ रुपये की पूंजी लगाकर की गई ।

निगम के कार्य—निगम का उद्देश्य सबके लिये भोजन रक्खा गया है । इस निगम के मुख्य कार्य हैं—

1. **अन्न भण्डार**—निगम द्वारा अन्न के यथेष्ट भण्डार निर्मित किये जायेंगे, जिससे उपभोक्ताओ को उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिल सकेंगे ।

2. **उचित प्रोत्साहन**—खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के लिये निगम किसानों

को दिये जाने वाले ऋणो को गारन्टी देगा तथा कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिये खाद्य तथा कीटाणु नाशक पदार्थों का प्रबन्ध करेगे।

3. **गोदाम व्यवस्था**—निगम द्वारा खाद्यान्नो को सुरक्षित गोदामो में रखने की दिशा मे कार्य किया जायेगा।

4. **कृषि प्रबन्ध**—निगम कृषि प्रबन्ध सम्बन्धी नई प्रविधियो का विकास कर किसानो को उनमे प्रशिक्षण देगा ताकि किसानो की कुशलता मे वृद्धि हो सके।

5. **शोध**—कृषि फसलो का प्रति एकड उत्पादन बढ़ाने और फसलो को कीटाणुओ और रोगो से बचाने के लिये निगम द्वारा कृषि फसलो तथा प्रविधियो मे शोध किया जाएगा।

6. **वैज्ञानिक रीतियो का प्रयोग**—खेती मे नवीनतम वैज्ञानिक रीतियो का प्रयोग हो और कृषि का यंत्रीकरण हो सके इस दिशा मे भी निगम द्वारा प्रयास किया जायेगा।

7. **सहायक खाद्य पदार्थों का विकास**—मुर्गी, मछली, मास तथा फल, साग, सब्जी आदि सहायक खाद्य पदार्थों के उत्पादन का विकास और उनके उपयोग को प्रोत्साहन भी निगम द्वारा दिया जायेगा।

8. **थोक तथा फुटकर मण्डियो की व्यवस्था**—उपभोक्ता को उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिल सके इसलिये निगम द्वारा खाद्यान्नो की थोक बिक्री तथा फुटकर वितरण की व्यवस्था की जायेगी।

9 **अन्य कार्य**—(अ) निगम द्वारा बिस्कुट, मिठाई, आदि खाद्यान्नो से सम्बन्धित उद्योगो को प्रोत्साहित किया जायेगा।

(ब) निगम द्वारा खाद्यान्नो का उपभोग सतुलित करने की चेष्टा की जायेगी।

(स) निगम आवश्यकता पडने पर अपनी परिवहन व्यवस्था भी करेगा।

सक्षेप मे खाद्यान्नो की खरीद, सग्रह, परिवहन, वितरण व बिक्री का कार्य, मुख्यतः यह निगम करेगा तथा देश के खाद्यान्न व्यापार मे अग्र-स्थान प्राप्त करने की दिशा मे कदम उठायेगा।

निगम की गतिविधियाँ—निगम वर्ष मे लगभग 4000 करोड़ रुपये का कारोबार करता है। निगम प्रतिवर्ष एक करोड टन अनाज की खरीद करने के अलावा आयातित गैरपोटाशिक उर्वरको और राशन की चीनी का काम भी संभालता है।

निगम के पास 2 20 करोड टन अनाज का भंडारण करने के लिए वैज्ञानिक ढग के भंडार हैं। विश्व बैंक की सहायता से तथा निगम के अपने जोरदार कार्यक्रमो के अन्तर्गत यह भंडारण क्षमता बढाई जा रही है। छठी पंचवर्षीय योजना मे 20 लाख टन भण्डारण क्षमता की और व्यवस्था करने का प्रस्ताव है। उचित दर की दुकानो से बिक्री के लिए निगम राज्यो तथा केन्द्र शासित प्रदेशो को प्रतिवर्ष लगभग 1 करोड 20 लाख टन अनाज सपलाई करता है।

विभिन्न राज्यो मे निगम की 25 आधुनिक चावल मिले है। निगम बच्चो के प्रोटीन युक्त भोजन बालाहार का भी उत्पादन करता है। समाबनार कोइल (तमिलनाडु)

मे निगम का एक कारखाना है जहाँ चावल की भूमी से तेल निकाला जाता है जो खाने तथा उद्योगो के काम मे आता है। सेना क्रय सगठन की जरूरत पूरी करने के लिए लखनऊ में एक दाल मिल भी लगाई गई है।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में विद्यमान खाद्य समस्या की व्याख्या कीजिये। इसको सुलझाने के लिये सरकार क्या कर रही है?

2. भारत मे खाद्य समस्या क स्वरूप और कारणो की विवेचना कीजिये और समस्या को सुलझाने के लिए उपयुक्त सुझाव दीजिये।

3. "अधिक खाद्यान्न उपजाओ आन्दोलन', बिना "कम बच्चे पैदा करो आन्दोलन' के प्रभावहीन रहेगा।" विवेचना कीजिये।

4. भारत सरकार की वर्तमान खाद्य नीति पर एक निबन्ध लिखिये।

5. भारत मे जनसख्या और खाद्यान्न सन्तुलन समस्या का वर्तमान और सुदूर भविष्य दोनो मे विवेचन कीजिये।

6. जनसख्या की नवीनतम प्रवृत्तियो और कृषि उत्पादन की वृद्धि के सदर्भ मे भारत के आगामी 10 वर्षों मे आत्मनिर्भर होने की सभावना की विवेचना कीजिये।

7. भारतीय खाद्य निगम पर एक निबन्ध लिखिये।

8. सन् 1951 के बाद भारत मे होने वाली जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न खाद्य-पूर्ति की समस्या का विवेचन कीजिये।

क्या आप समझते हैं कि जनसंख्या-वृद्धि ही वर्तमान खाद्य-समस्या का एक-मात्र कारण है?

[संकेत : सर्वप्रथम जनसख्या व खाद्य-पूर्ति के बीच 'सैद्धान्तिक सह-सम्बन्ध' के सम्बन्ध में लिखिए फिर खाद्य-समस्या के परिमाणात्मक पहलू की विवेचना कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि जनसख्या की वृद्धि के कारण (अ) खाद्यान्नों की माँग मे वृद्धि, (ब) कृषि के लिए भूमि की कमी, (स) जनता की क्रयशक्ति मे कमी हुई है व (द) संग्रह प्रवृत्ति बढ़ी है। फिर खाद्य-समस्या के विभिन्न कारणों को दीजिये। निष्कर्ष के रूप में दीजिए कि जहाँ खाद्यान्न की कमी के अन्य कारण हैं, वहाँ अकेले जनसंख्या की वृद्धि ने इस समस्या को और भी विकट कर दिया है। अतः जनसंख्या नियन्त्रण की सुनियोजित नीति द्वारा ही खाद्यान्न की समस्या को हल किया जा सकता है।]

9. भारत में खाद्य समस्या का स्थायी समाधान एक ओर वैज्ञानिक गहन कृषि व दूसरी ओर जनसंख्या के नियोजन पर निर्भर करता है। व्याख्या कीजिए।

10. आप भारत में कृषि की तीव्रगामी विकास से क्या समझते हैं? उन प्रयत्नों का जिनसे भारत में खाद्य संकट के निवारण में सफलता मिली है, विवेचन कीजिए।

11

भारत में कुटीर एवं लघु उद्योग
(Cottage and Small Scale Industries in India)

1 **कुटीर उद्योग की परिभाषा**—कुटीर उद्योग की कुछ परिभाषाएँ निम्न-लिखित है .—

1 **राजकोषीय आयोग**—सन् 1949-50 ने कुटीर उद्योग उस उद्योग को कहा जो पूर्णत. अथवा अंशतः कारीगर के परिवार की सहायता से पूर्णकालीन अथवा अल्पकालीन व्यवसाय के रूप मे चलाया जाता हो।

2 **बम्बई आर्थिक एवं ओद्योगिक सर्वेक्षण** समिति ने कुटीर उद्योग उन उद्योग को कहा है जहाँ पर शक्ति का प्रयोग नही होता तथा उत्पादन साधारणतया कारीगर के घर पर ही होता हो ।

3 **भारतीय औद्योगिक समिति** के अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग है जो कि श्रमिको के घर पर चलाये जाते है, जहाँ कि उत्पादन का स्तर छोटा होता है और जहाँ न्यूनतम सगठन होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओ से कुटीर उद्योग का अर्थ ठीक से स्पष्ट नही होता है। कुटीर उद्योग की एक उपयुक्त परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते है :

"कुटीर उद्योग वे हैं जो पूर्णरूप से या मुख्य रूप से परिवार के सदस्यो की सहायता से या तो पूर्णकालिक व्यवसाय के रूप मे या अशकालिक व्यवसाय के रूप मे चलाए जाते हैं, जिसमे परम्परागत विधियो तथा स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग होता है और जिनमे प्रायः स्थानीय बाजारों में बिक्री के लिए माल तैयार रहता है।"

उपर्युक्त परिभाषा से कुटीर उद्योग की निम्नलिखित विशेषताओ का आभास होता है।

(1) ये उद्योग पूर्णतः या मुख्यत. परिवार के सदस्यो की सहायता से चलाये जाते है।

(2) ये पूर्णकालिक अथवा अशकालिक व्यवसाय के रूप मे चलाये जाते है।

(3) इन उद्योगो मे प्रायः परम्परागत विधियो से परम्परागत वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है।

(4) इनमे स्थानीय कच्चे माल व कुशलता का प्रयोग होता है ।

(5) इनसे प्राय: स्थानीय बाजार की माँग की पूर्ति की जाती है।

कुटीर उद्योगो में सूत कातना, गुड़ बनाना, बीड़ी बाँधना, रस्सी और चटाई बुनना, रंग और छपाई, हस्तशिल्प आदि को शामिल किया जाता है।

2 **लघु उद्योग की परिभाषा**—1980 मे घोषित औद्योगिक नीति मे लघु उद्योग, अति लघु उद्योग तथा सहायक उद्योगो की परिभाषा मे परिवर्तन किया गया है। अब इनकी परिभाषा निम्नवत है—

(अ) **लघु उद्योग**—लघु उद्योग से हमारा आशय 'उन उद्योगो से है जिनमे 20 लाख रुपये तक की स्थायी पूंजी का विनियोग होता है।"

ये उद्योग कस्बो तथा शहरो मे स्थित होते है इनमे शक्ति का प्रयोग होता है, तथा वेतनधारी श्रमिको की सहायता से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है।

लघु उद्योगो में कल-पुर्जों का निर्माण, छापाखाना मोजे-बनियान बनाने आदि को शामिल किया जाता है।

(ब) **अति लघु उद्योग**—"संयन्त्र एवं मशीनो के रूप मे जिन इकाइयो मे दो लाख रुपये या उससे कम पूंजी नियोजित है तथा 50,000 से कम जनसख्या वाले स्थानो (कस्बो या ग्रामो) मे स्थापित है उन्हे अति लघु उद्योग कहते हैं।"

(स) **सहायक उद्योग**—संयन्त्र और मशीन के रूप में विनियोजित 36 लाख तक की अचल सम्पत्तियों और उत्पादन मे लगे उपक्रम को सहायक उद्योग कहते हैं।"

कृषि उद्योग
(Agro-Industry)

इसमें वे समस्त उद्योग आते हैं जो मुख्यत: कृषि पर आधारित हैं या कृषि से प्राप्त कच्चे माल की प्रक्रिया से पक्के माल में रूपान्तर करते हैं, जैसे कि पशुपालन व दुग्ध व्यवसाय, मुर्गीपालन, मधुमक्खी पालन, दालें, फल, तरकारियाँ, गन्ना, धान, तिलहन आदि की प्रक्रिया करने वाले विभिन्न उद्योग आदि।

कृषि उद्योग के अन्तर्गत ऐसे उद्योग भी आ सकते हैं जो कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओ का निर्माण करते हैं जैसे कि उर्वरक, कृषि के आधुनिक यन्त्र व यन्त्रों के पुर्जे, कीटाणुनाशक दवा आदि का निर्माण करने वाले उद्योग।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व

भारत की अर्थ-व्यवस्था मे कुटीर व लघु उद्योगो का विशेष महत्त्व है। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी के शब्दो में, "भारत गाँवो का देश है। अत: सरकार को संतुलित अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योग के विकास को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करना चाहिए। योजना आयोग के अनुसार "ग्रामीण उद्योगो को विकसित करने का प्राथमिक उद्देश्य कार्य के अवसरो में वृद्धि करना, आय एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना तथा एक अधिक सन्तुलित एवं समन्वित अर्थ-व्यवस्था

का निर्माण करना है।" महात्मा गांधी शब्दो मे "भारत का मोक्ष उसके कुटीर उद्योगो मे निहित है।"

वास्तव मे गाँव के विकास की बात सबकी जबान पर है, वह एक नारा बन चुका है। आगामी 10 वर्षों मे भारत से गरीबी और बेकारी को दूर करने के जनता सरकार के संकल्प ने योजनाकारो और अर्थशास्त्रियो को कृषि और छोटे तथा कुटीर उद्योगो को समान महत्त्व देकर ग्रामीण विकास पर चिंतन करने के लिए बाध्य किया है। इसके आधार पर भारतीय योजना को ग्रामीण आधार प्रदान किया जा रहा है।

सक्षेप मे कुटीर व लघु उद्योगो के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है—

(1) **रोजगार सम्बन्धी तर्क**—लघु उद्योगो मे उत्पादन की श्रम प्रधान विधि अपनाई जाती है, अर्थात्, पूँजी का कम उपयोग किया जाता है। भारत ऐसे अर्द्ध-विकसित देश मे जहाँ श्रमिक बहुत अधिक मात्रा मे है और पूँजी की कमी है, कुटीर तथा लघु उद्योग ही अधिक उपयुक्त है। अत. वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत देश मे बेकारी की समस्या के समाधान के लिए कुटीर और लघु उद्योगो का विकास होना चाहिये, क्योकि (अ) इनके लिए अपेक्षाकृत कम पूँजी की आवश्यकता पड़ता है, (ब) इनकी स्थापना के द्वारा अल्पकाल मे ही लोगो को रोजगार मिल जाता है तथा (स) ग्रामीण क्षेत्रो की अर्द्धबेकारी दूर हो जायेगी।

योजना आयोग के उपाध्यक्ष डा० लकडावाला ने महसूस किया कि आधुनिक संगठित उद्योग प्रतिवर्ष रोजगार के 5 लाख अवसर प्रदान कर पाता है। जब कि देश की बढती हुई जनसख्या, प्रतिवर्ष 50 लाख रोजगार अवसरों की आवश्यकता की माँग करती है। इतने बृहद् रूप मे बडे उद्योग रोजगार देने मे सक्षम ही नही है, क्योकि सरकारी आँकडो से स्पष्ट होता है कि बडे उद्योगो की तुलना मे कम पूँजी वाले उद्योग रोजगार के अधिक अवसर प्रदान कर सकते है। विदित है कि देश मे लगभग 7,17,000 कारखाने है। इनमे से 5 प्रतिशत कारखाने सरकारी क्षेत्र मे है, जिसमे कुल रोजगार का 20 प्रतिशत रोजगार उपलब्ध है। कुल उत्पादन मे उनका हिस्सा 20 प्रतिशत है और उनमे कुल नियत पूँजी लगी हुई है। इसके विपरीत कुल कारखानो मे 70 प्रतिशत ऐसे है जो कम पूँजी वाले या यो समझिये 5 लाख से कम पूँजीवाले है। लेकिन उनमे 27 प्रतिशत रोजगार प्राप्त होता है। कुल पूँजी मे उनका शेयर 5 प्रतिशत तथा कुल उत्पादन मे उनका हिस्सा 17 प्रतिशत है।

(2) **आर्थिक समानता का तर्क**—लघु तथा कुटीर उद्योग धन के समान-वितरण मे भी सहायक होते है, क्योकि घरेलू उद्योग छोटे-छोटे पैमाने पर चलाये जाते है और इनसे लाभ भी अपेक्षाकृत कम होता है, जिससे आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण नही हो पाता है। यही नही, कुटीर उद्योगो मे आर्थिक शोषण भी सम्भव नही हो पाता है। अतः कुछ थोड़े से व्यक्तियो के हाथ मे आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण या शोषण जैसी सामाजिक समस्याएँ लघु उद्योगो में उत्पन्न नही होती। साथ ही, यह उद्योग साधारण श्रेणी की आर्थिक स्थिति वाले लोग भी सचालित कर सकते हैं। अत. उनकी आय मे वृद्धि का अवसर प्राप्त हो सकता है।

(3) **विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी तर्क**—लघु एवं कुटीर उद्योग विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करते हैं, क्योंकि ये देश के कोने-कोने मे फैले हुए होते हैं। इससे देश के सभी भाग औद्योगिक वस्तुओ मे आत्मनिर्भर हो सकते है। अत: एक विकेन्द्रित आर्थिक समाज की स्थापना होती है। ऐसी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था से अनेक लाभ होते हैं, जैसे (अ) कच्चा माल, निष्क्रिय बचत, स्थानीय प्रतिभा आदि स्थानीय साधनो को गति मिलती है; (ब) रोजगार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जिससे थोडे से औद्योगिक नगरो मे पाई जाने वाली भीड़ या जन-संकुलता (congestion) की समस्या के हल मे सहायता मिलती है; (स) सैनिक एवं सामाजिक सुरक्षा तथा सुविधा मे वृद्धि होती है तथा (द) विकेन्द्रित उत्पादन के परिणामस्वरूप जनता की क्रयशक्ति देश भर मे बिखरी हुई होती है। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य आयोजन दल (The international Perspective Planning Team) ने उचित ही कहा है, "बहुत अधिक पिछडे क्षेत्र में या सीधे गाँवो में बड़ी संख्या मे उद्योगो की स्थापना की नीति का विफल होना सर्वथा निश्चित है। आर्थिक दृष्टि से ऐसी नीति का औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। विकेन्द्रीयकरण की नीति के अधीन औद्योगिक विकास के केन्द्र न तो महानगर होने चाहिए और न ही गाँव। इन दो सीमाओ के मध्य शहरो और कस्बो का ऐसा सुविस्तृत क्षेत्र, जो क्षमतावान हो, औद्योगिक विकास का केन्द्र होना चाहिए।"

(4) **छिपे हुए संसाधन तथा योग्यता का तर्क**—यह कहा जाता है कि लघु उद्योग, अपसंचित धन एवं कौशल आदि छिपे हुए साधनो के उपयोग करने मे सहायक होते है। यदि व्यक्तियो की बचत एवं कौशल को उत्पादक क्रियाओ मे नही लगाया गया तो उनका दुरुपयोग हो सकता है। भारत मे बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास क्षमता व कौशल आदि है। परन्तु, वे बिना किसी उपयोग के पड़े हुए है और उससे देश किसी प्रकार से लाभान्वित नही हो रहा है। यदि देश मे लघु उद्योगो को प्रोत्साहित किया जाय और सहायता दी जाय तो उन निष्क्रिय संसाधनो का देश के विकास के लिये उपयोग किया जा सकता है।

5 **कलात्मक वस्तुओ का उत्पादन तर्क**—यह भी कहा जाता है कि कलात्मक, सुन्दर व कीमती वस्तुओ का उत्पादन लघु एवं कुटीर उद्योग में ही हो सकता है। क्योकि ऐसी वस्तुओ का उपभोग तथा बाजार सीमित होने के कारण आवश्यकता कम रहती है। अत: इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर नही हो सकता। फलस्वरूप बड़े पैमाने की उद्योगशालाओ मे उत्पादन व्यय अधिक पड़ेगा और उत्पादन अत्यधिक होगा। बृहत् पैमाने के उद्योग केवल उन्ही वस्तुओ का निर्माण करते हैं जो एक प्रकार की होती हैं और जिनकी माँग अधिक होती है।

6. **नैतिक एवं सामाजिक तर्क**—नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से भी कुटीर व लघु उद्योगो का काफी महत्त्व है। वृहत पैमाने के उद्योग मे कार्य करने से श्रमिको का स्वास्थ्य एवं नैतिक स्तर गिर जाता है व वातावरण गन्दा हो जाता है इस प्रकार श्रमिकों की गरिमा और कार्यकुशलता दोनो गिरती हैं। लघु एवं कुटीर उद्योगों में ऐसी बात नही होती।

7 **शीघ्र उत्पादक उद्योग**—लघु एवं कुटीर उद्योग शीघ्र उत्पादक उद्योग माने जाते हैं। इनमे धन विनियोग करने पर शीघ्र ही उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है।

8 **वर्ग संघर्ष से बचाव**—कुटीर व लघु उद्योगो मे प्राय छोटे-छोटे कारीगर स्वयं मालिक व श्रमिक भी होने हैं व मजदूरी पर जा श्रमिक लगाते हैं वे कम संख्या मे होने से मालिक मजदूरी मे व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है तथा उनके परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे रहते हैं। अत· वर्ग संघर्ष की संभावना कम रहती है।

9 **तकनीकी ज्ञान की कम आवश्यकता**—बडे उद्योगो मे से पूँजी की बडी मात्रा व आधुनिक तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है किन्तु भारत जैसे विकासशील देशो मे इन दोनो का ही अभाव है। अत· इस दृष्टि से भी लघु उद्योग भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है।

10. **शहरीकरण व औद्योगीकरण के पूरे प्रभाव से सुरक्षा**—कुटीर एवं लघु उद्योगो के पक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि इनसे बडे उद्योगो की समस्याओ जैसे—आवास की समस्या, यातायात की समस्या, पानी व जल निकास की समस्या, दूषित वातावरण की समस्या आदि से मुक्ति मिल जाती है। अपराध विज्ञान के विशेषज्ञ **प्रो० किलनार्ड** का मत है कि धन, संस्कृति या निर्धनता से अपराधो का सम्बन्ध नही है। शहरीकरण से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। बडे नगरो मे अपराध अधिक होते है अत· कुटीर एव लघु उद्योगो की छोटे-छोटे कस्बो एवं गाँवो मे स्थापना करके इन दोषो से मुक्ति मिल सकती है।

11 **आयात पर कम निर्भरता**—भारत मे भुगतान असन्तुलन की समस्या बनी रहने से आयातो पर कम निर्भर रहने के लिए लघु उद्योग निश्चय ही उपयोगी होगे।

12. **देश के निर्यात में महत्त्वपूर्ण स्थान**—रेशमी कला पूर्ण वस्त्र, चन्दन की वस्तुएँ, हथकरघे के वस्त्र, हाथी दाँत, चमडे के जूते, बिजली के पंखे, दरियाँ व कालीन, साइकिल व सिलाई यन्त्र, तांबे पीतल के कलापूर्ण बर्तन आदि कुटीर व लघु उद्योग मे उत्पादित वस्तुएँ बडी मात्रा में निर्यात होने लगी हैं जिससे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

निष्कर्ष—अत· निष्कर्षत यह स्पष्ट है कि लघु एव कुटीर उद्योग हमारी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण इकाई है जिस पर हम अपने सुखी जीवन का ढांचा तैयार कर सकते है। सैकडो निर्धन ग्रामीणो को एक स्वच्छ वातावरण मिल सकता है। पूंजीपतियो एव निर्धन वर्ग के बीच की खाई को पाटा जा सकता है। हमारी नई सरकार ने अपने नये वक्तव्य मे महात्मा गांधी के उस आवाहन का आभास दिया है 'गाँवो की ओर प्रयाण' जिसे हमारी पूर्व नीतियों ने एकदम भुला दिया था, शहरी चमक दमक बढती ही चली जा रही थी।

भारतीय कुटीर तथा लघु उद्योगों की अवनति के कारण

हमारे प्राचीन सामाजिक जीवन मे कुटीर व लघु उद्योग प्रधान तत्त्व थे। **रानाडे** के अनुसार "ईसा के 200 वर्ष पूर्व की मिस्र देश की ममियाँ बढ़िया किस्म की

भारतीय मलमल मे लिपटी हुई पायी गयी है।" भारतीय औद्योगिक आयोग (1918) के अनुसार, "एक ऐसे समय पर जबकि पश्चिमी यूरोप में, जो कि हमारी आधुनिक औद्योगिक पद्धति का जन्मस्थान है, असभ्य जातियाँ निवास करती थी, भारत अपने शासकों के वैभव और अपने शिल्पियो को उच्च कलात्मक योग्यता के लिये विख्यात था।" अमरीकी विद्वान् कैल्वर्टन ने 1939 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "The Awakening of America" मे लिखा है—"भारत के कुटीर उद्योग बुद्धिमान मस्तिष्क, विलक्षण योग्यता तथा अद्भुत प्रतिभा की उपज थे और 10वी शताब्दी तक विश्व में इनका उदाहरण अद्वितीय रहा है।"

19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल मे भारतीय उद्योगों का पतन प्रारम्भ हो गया और भारत अपनी पुरानी ख्याति खोने लगा। भारतीय कुटीर तथा लघु उद्योगो की अवनति के कारण संक्षेप मे इस प्रकार हैं :—

(1) राजा और नवाब कलात्मक वस्तुओ के प्रेमी थे, परन्तु पुराने राजाओ और नवाबो के पतन से देश की कला को प्रोत्साहन देने वाला कोई न रह गया।

(2) मशीन द्वारा निर्मित वस्तुओ के सस्ता होने के कारण हमारे कुटीर उद्योगो द्वारा बनाई गई वस्तुएँ प्रतियोगिता मे न टिक सकी और उद्योग समाप्त होने लगे।

(3) विदेशी सरकार की असहायक नीति ने भी कुटीर उद्योग को काफी धक्का पहुँचाया।

(4) विदेशी शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव के कारण भी व्यक्ति देश की बनी हुई वस्तुओ की अपेक्षा इंगलैण्ड और यूरोप की बनी वस्तुओं को अधिक पसन्द करने लगे। परिणामतः कुटीर उद्योगों को बहुत हानि पहुँची।

(5) इंगलैण्ड की सरकार के द्वारा भारतीय मालों पर कडा वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के कारण, भारतीय मालों का विदेशी व्यापार धीरे-धीरे छिनता गया, उसकी माँग कम होती गई और यहाँ के विख्यात कुटीर उद्योग नष्ट हो गये।

(6) 19वी शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष मे यातायात के आधुनिक साधनो का विकास हो जाने के कारण देश के कोने-कोने में इंगलैण्ड के माल जाने लगे और उनकी खपत होने लगी, फलतः घरेलू मालों की माँग भी घटने लगी और कुटीर उद्योगो का पतन होने लगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न कारणों से भारतीय कुटीर उद्योगो का पतन हो गया है, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ये बिलकुल नष्ट हो गये हैं। आज भी भारतवर्ष में 2 करोड़ से अधिक व्यक्ति कुटीर उद्योगों में लगे हैं। महात्मा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन ने इनमे एक नये जीवन का संचार किया है और देश की स्वतन्त्रता के बाद कुटीर व लघु उद्योगों के विकास के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं, ताकि वे भारत की नवीन अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर सकें।

12

भारत में बेरोजगारी व अदृश्य (कृषि) बेरोजगारी की समस्या

(Unemployment and Disguised Unemployment Problems in India)

बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जहाँ श्रम शक्ति (श्रम की पूर्ति) व रोजगार के अवसरो (श्रम की माँग) मे अन्तर होता है। बेरोजगारी श्रमिको की माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति से अधिक होने का परिणाम है। **बेरोजगारी का वास्तविक अर्थ उस श्रम शक्ति से है, जो शारीरिक रूप से समर्थ है व श्रम करने की इच्छुक है, किन्तु जिसे कोई आर्थिक कार्य नहीं मिल पाता।**

बढती हुई जनसख्या के साथ-साथ समाज की श्रम शक्ति मे वृद्धि होता है। श्रम की अधिकता के कारण भारत मे बेरोजगारी तथा अल्प रोजगारी की समस्या बहुत उग्र होती जा रही है **श्री जगजीवन राम** के शब्दो मे, "पिछले 15 वर्षों में रोजगार के जो अवसर प्राप्त हुए थे, वे बहुत सीमा तक बढती हुई जनसंख्या मे समा गये।"

भारत में बेरोजगारी की स्थिति

विश्वसनीय आँकडो के अभाव मे, बेरोजगारी के सम्बन्ध मे पूर्णतया सही स्थिति का अनुमान नही लगाया जा सकता। लेकिन जो भी आँकडे प्राप्त है उनके आधार पर देश मे बेरोजगारी की स्थिति निम्न प्रकार है—

पचवर्षीय योजनाओ मे रोजगार तथा बेरोजगारी (लाखो में)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	तीन वार्षिक योजना	चतुर्थ योजना	पंचम योजना 1974-78	छठवी योजना 1980-85
1. योजना के आरम्भ मे बेरोजगारो की संख्या	33	53	71	96	126	140	206
2. योजनावृधि मे श्रमिक सख्या मे वृद्धि	90	118	170	140	273	220	295
3. जोड (112)	123	171	241	236	399	360	501
4. योजनावधि मे अतिरिक्त रोजगार व्यवस्था	70	100	145	4-14	180	150	492
5. योजना के अन्त मे बेरोजगार (3-4)	53	71	96	222-232	219	210	9
6. कुल श्रम शक्ति मे बेरोजगारो का प्रतिशत	(2-9)	(5-6)	(4-5)	—	—	—	—

स्रोत—योजना 7 फरवरी—6 दिसम्बर 1979

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक योजना के साथ बेरोजगारी उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। लगातार दो सूखे के वर्षों, वार्षिक योजनाओ की अवधि मे सरकारी व्यय के तुलनात्मक निम्न-स्तर, चौथी पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यो की प्राप्ति मे पूर्ण असफलता के कारण बेरोजगारी की मात्रा मे वृद्धि हुई। कारण चाहे कुछ भी हो, इतनी भारी मात्रा मे बेरोजगारी का विद्यमान होना देश की सामाजिक स्थिरता के लिए भारी खतरा है। गुन्नार मिरडल ने अपनी पुस्तक 'एशिया ड्रामा' में बेरोजगारी के सम्बन्ध मे योजना-आयोग के आंकडो और उसकी हिसाब पद्धति मे गहरा सन्देह प्रकट किया है।

बेकारी की समस्या से निबटने की अपनी व्यूह रचना प्रकाशित करने से पहले छठी योजना ने बेकारी को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया है :—

1. **पूर्ण बेकार**—इस श्रेणी के अन्तर्गत इस तरह के बेकारो को लिया गया है जिन्हे साल भर ही कोई काम नही मिलता और ऐसे लोगो की संख्या 1978 मे 44 लाख आंकी गयी है।

2. **साप्ताहिक बेकार**—ऐसे लोग काफी कम ही है जिन्हे साल भर मे एक भी दिन काम नहीं मिलता। इसलिए साप्ताहिक बेरोजगारी का सर्वेक्षण किया गया। सर्वेक्षण से पता चला कि 1978 में इस तरह के बेकारों की संख्या 1 करोड 12 लाख है।

3. **बेकारी का मानव वर्ष अनुमान**—साप्ताहिक बेकारी का अनुमान भी एक तरह से अधूरा ही है क्योकि सर्वेक्षण सप्ताह मे यदि किसी को काम न भी मिला हो तो उसे अगले हफ्ते या कुछ समय बाद काम मिल सकता है। इस दृष्टि से बेकारी को मानव वर्षों में मापने के अनुमान सबसे अच्छे हैं क्योकि हर बेकार आदमी के बेकारी के दिनों का उनमें योग हो जाता है। इस अनुमान के मुताबिक मार्च, 1978 के किसी एक विशिष्ट दिन में देश में 2 करोड़ 6 लाख मानव वर्ष के बराबर बेकारी होने का हवाला छठी योजना के प्रारूप में दिया है।

भारत में बेरोजगारी की प्रकृति

भारत मे बेरोजगारी का अध्ययन हम दो शीर्षको के अन्तर्गत कर सकते है :

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी : कृषि बेरोजगारी

(ब) नगरीय क्षेत्रो मे बेरोजगारी

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी : कृषि बेरोजगारी—भारतवर्ष के ग्रामीण क्षेत्र में दो प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है—मौसमी तथा स्थायी या छिपी हुई बेरोजगारी।

भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है और कृषि अधिकतर एक मौसमी उद्योग है। मौसमी बेरोजगारी के अन्तर्गत ग्रामवासी फसल कट जाने के बाद बेकार हो जाते हैं तथा जब तक दूसरी फसल का कार्यक्रम प्रारम्भ नही हो जाता तब तक बेकार ही रहते हैं। भारतवर्ष में सिचाई व पूंजी का अभाव

होने से तथा कृषि सहायक व अन्य कुटीर उद्योगो का पर्याप्त विकास न होने से लोगो को वर्ष भर कार्य नही मिल पाता है। मौसमी बेरोजगारो के सम्बन्ध मे अलग अलग अनुमान लगाये गये है। **रॉयल कमीशन** (शाही आयोग) के अनुसार कृषक वर्ष भर मे कम से कम 4-5 माह तक अवश्य ही बेरोजगार रहते है। **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार उत्तर प्रदेश मे सघन कृषि क्षेत्रो मे किसानो को साल भर मे केवल 200 दिन ही काम मिलता है। **श्री जैक** के अनुसार बंगाल मे पटसन की खेती करने वाले लगभग 9 माह, चावल की खेती करने वाले $7\frac{1}{2}$ माह खाली बैठे रहते है। **डॉ० स्लेटर** के अनुसार दक्षिण भारत मे किसानो को साल भर मे केवल 200 दिन ही काम मिलता है।

विभिन्न राज्यो के कृषि श्रमिको की बेकारी की स्थिति मे काफी अन्तर पाया जाता है। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रति 1000 पुरुष श्रमिको के पीछे बेरोजगार श्रमिको की सख्या असम मे 7.94, बिहार मे 3 28, बम्बई मे 3.88, मध्य प्रदेश मे 0 69, उडीसा मे 2 61, पजाब मे 7.10, राजस्थान मे 0.94, आन्ध्र प्रदेश मे 1.97, केरल मे 28 80, मद्रास मे 7.80, मैसूर मे 1.78, उत्तर प्रदेश मे 1 77, पश्चिम बगाल मे 18.12 तथा समस्त भारत के लिए 4.78 थी।

भारत मे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे छिपी हुई बेरोजगारी भी अत्यन्त व्यापक है। छिपी हुई बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की उस स्थिति से है जिसमे श्रमिक काम पर लगा हुआ मालूम तो होता है, किन्तु उत्पादन मे उसका अंशदान नही के बराबर होता है। किन्तु भारत में भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव होने के कारण कृषि मे आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए है। उनकी सीमान्त उत्पादकता बहुत ही कम होती है या शून्य होती है। कृषि मे संलग्न इन अतिरिक्त व्यक्तियो को यदि कृषि से हटा लिया जाय और अन्य व्यवसायो मे लगा दिया जाय तो भी कृषि उत्पादन मे कोई कमी नही होगी। अर्थात् उनका उत्पादन मे अंशदान नही के बराबर होता है, जिसके फलस्वरूप छिपी बेरोजगारी की समस्या पाई जाती है। उदाहरण के लिए, यदि कृषि पर निर्भर जनसंख्या का अनुपात 70 प्रतिशत से कम करके 60 प्रतिशत कर दिया जाय और देश मे कृषि उत्पादन पर कोई प्रभाव न पडे तो हम कह सकते है कि 10 प्रतिशत लोग छिपी बेरोजगारी से प्रभावित है। कृषि मे ऐसे अतिरिक्त श्रमिको की संख्या का अनुमान कई विद्वानो ने लगाया है।

अदृश्य बेरोजगारी की इस अवस्था को आगे चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चित्र से, स्पष्ट है कि OP जनसख्या पर प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन (AP) अधिकतम है, परन्तु इसके बाद जनसख्या मे वृद्धि के साथ-साथ औसत उत्पादन घटने लगता है। अत OP जनसंख्या को आदर्श जनसंख्या कहा जा सकता है। जब जनसंख्या बढ कर OP_1 हो जाती है तो सीमान्त उत्पादन शून्य हो जाता है। P_1 के बाद कुल उत्पादन वक्र (TP) एक सीधी रेखा के रूप मे प्रदर्शित है अर्थात् C बिन्दु पर सीमान्त उत्पादन शून्य हैं। स्पष्ट है कि ऊपर से देखने मे तो OP_1 के बाद के

व्यक्ति भी कार्यरत हैं, परन्तु उनका कुल उत्पादन मे योगदान शून्य है। उत्पादन मे योगदान की कसौटी पर केवल OP_1 व्यक्ति ही रोजगार मे कहे जायेगे। शेष $P_1 P_2$
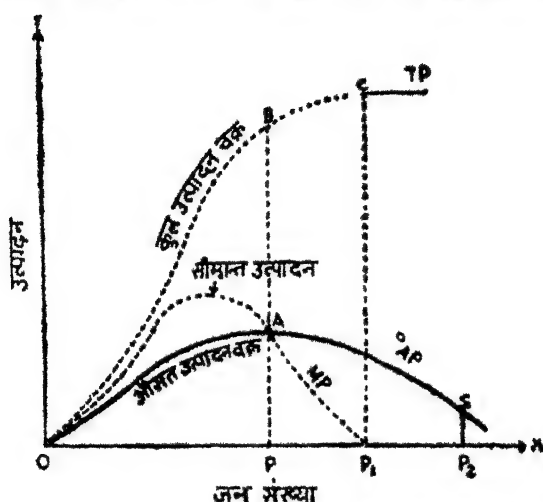
या इसके बाद जो भी व्यक्ति रोजगार मे लगे होगे वे सभी अदृश्य रूप से बेरोजगार होगे, क्योकि यदि इन्हें उत्पादन मे न भी लगाया जाय तो उत्पादन मे किसी भी प्रकार की कमी नही होगी।

कृषि में ऐसे अतिरिक्त श्रमिको की संख्या का अनुमान भारत मे कई विद्वानों ने लगाया है। श्री नव गोपाल दास के अनुसार सन् 1929 में भारत में अतिरिक्त कृषि श्रमिकों (पुरुष) की संख्या लगभग 1.55 करोड़ थी। श्री दत्ता ने यह संख्या सन् 1951 में 1 94 करोड़ अनुमानित की थी। श्री एम० एल० गुप्ता का अनुमान था कि भारत में ऐसे अतिरिक्त कृषि श्रमिकों की संख्या 1954 में 4.23 करोड़ थी जिनमें से 2.67 करोड मौसमी बेरोजगारी से प्रभावित थे तथा 1.56 करोड अदृश्य बेरोजगारी से प्रभावित थे। श्री अशोक मित्रा ने प्रति हेक्टेयर पजाब में अनावश्यक रूप से अधिक श्रमिको के सम्बन्ध मे इस प्रकार अनुमान लगाये हैं—2-4 हेक्टेयर के खेतो पर 49.77%, 4-6 हेक्टेयर के खेतो पर 42.11%, 6-8 हेक्टेयर के खेतो पर 34.76%, 8-12 हेक्टेयर के खेतों पर 35.96%, 12-20 हेक्टेयर के खेतो पर 7.70% तथा 20 व उससे अधिक हेक्टेयर के खेतों पर 2.6%। विश्व भारती के कृषि अर्थशास्त्र अनुसंधान केन्द्र द्वारा बिहार में लिये गये जाँच के समंजकों पर डा० जे० पी० भट्टाचार्य ने कृषि श्रमिकों मे अदृश्य बेरोजगारी का अनुमान लगाया है। उनके अनुमान के अनुसार यह संख्या उत्तर बिहार में 29.7% तथा मध्य बिहार क्षेत्र में 32.6% है।

श्रीमती शकुन्तला मेहरा ने अपने एक लेख 'भारतीय कृषि में अतिरेक श्रम' (Surplus Labour in Indian Agriculture) मे इस सम्बन्ध मे कुछ समंक प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने अतिरेक श्रम को इस प्रकार परिभाषित किया है कि "ये वे हैं जिनको कृषि-क्षेत्र से हटा लिया जाय तो कृषि के उत्पादन मे कोई कमी नही

होती।" इन्होने इसमें मौसमी बेरोजगारी को नही सम्मिलित किया है। उनके अनुसार भारतवर्ष मे कुल कृषि श्रम शक्ति का 17.1 प्रतिशत अतिरेक है। परन्तु भारत के विभिन्न राज्यो मे अतिरेक कृषि श्रमिक के प्रतिशत में काफी विभिन्नता है। उनके अनुसार (अ) केरल, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश व महाराष्ट्र मे कोई अतिरेक-श्रमिक नही है; (ब) मद्रास, मध्य प्रदेश व मैसूर मे, अखिल भारतीय अतिरेक-श्रमिक प्रतिशत (17.1) की तुलना मे, अतिरेक श्रमिक का प्रतिशत कम है, परन्तु (स) असम, बिहार, राजस्थान व उत्तर प्रदेश मे अतिरेक-श्रमिक का प्रतिशत, अखिल भारतीय प्रतिशत की तुलना मे बहुत अधिक है।

ग्रामीण क्षेत्र मे बेरोजगारी की संख्या अत्यन्त तीव्र दर से बढ रही है। प्रथम कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार 1950-51 मे भारत में कुल ग्रामीण बेरोजगारो की सख्या 28 लाख थी जबकि राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 16वे दौर मे 1960-61 मे यह अनुमान लगाया गया था कि उस वर्ष ग्रामीण क्षेत्र मे कुल 56.4 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। ग्रामीण बेरोजगारी की सख्या मे बढने की यह प्रवृत्ति अगली दशाब्दी मे भी बनी रही और फलस्वरूप 1971 मे ग्रामीण बेरोजगारी की सख्या बढ़कर 77 लाख हो गई। वर्ष 1973 और 1978 मे ग्रामीण बेरोजगारो की संख्या का एक अनुमान भारतीय योजना आयोग ने पचवर्षीय योजना 1980-85 के प्रारूप मे प्रस्तुत किया। इस अनुमान के अनुसार 1973 मे भारत मे कुल ग्रामीण बेरोजगारो की संख्या 1 करोड थी जब 1978 मे इसकी अनुमानित संख्या 1 करोड 12 लाख हो गई थी।

नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी

नगरीय क्षेत्र मे लगभग सभी बेरोजगारी प्रत्यक्ष है। इस प्रकार की बेरोजगारी

भारत मे नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी

स्रोत	समयावधि	नगरीय क्षेत्र मे बेरोजगारी (लाखो मे)	नगरीय क्षेत्र म श्रम-शक्ति के साथ बेरोजगारी का अनुपात
बी० एन० दातार	मार्च 1951	25-30	12.00
आर० सी० भारद्वाज	मार्च 1951	25	11.4
नेशनल सेंपिल सर्वे और एंप्लायमेट एक्सचेज के आंकडे	सितम्बर 1953	24	11 0
दूसरी पचवर्षीय योजना	मार्च 1956	25	10 0
विलफ्रेड मैलेनबाम	मार्च 1965	25	10.0
आर० सी० भारद्वाज	मार्च 1956	34	13.5
नेशनल सेंपिल सर्वे और एंप्लायमेट एक्सचेज के आंकडे	मई 1956	34	13.1
आर० सी० भारद्वाज	मई 1961	45	15.5

से सामाजिक-स्तर पर अनेक प्रकार क तनाव उत्पन्न होत हैं जिनसे सामाजिक व्यवस्था

खतरे मे पड सकती है। परन्तु फिर भी योजनावधि में शहरो मे न केवल बेरोजगारो की संख्या में वृद्धि हुई है, वलिक शहरो में कुल श्रम-शक्ति के साथ बेरोजगारो का अनुपात भी बढ़ा है, जैसा कि उपरोक्त सारणी के अको से पता चलता है। बी० एन० दातार, आर० सी० भारद्वाज, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण योजना आयोग, विलफ्रेड मैलेनबाम आदि अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न समयो पर नगरीय क्षेत्र मे बेरोजगारो की संख्या के अनुमान लगाये हैं।

नगरीय क्षेत्रो में मुख्य रूप से दो प्रकार की बेरोजगारी देखने को मिलती है :—

(अ) औद्योगिक बेरोजगारी।

(ब) शिक्षित वर्ग व मध्यम श्रेणी के लोगो मे पाई जाने वाली बेरोजगारी।

(अ) औद्योगिक बेरोजगारी—देश में जनसंख्या की तेजी से वृद्धि के कारण श्रमिकों की संख्या भी बढ़ रही है। ज्यो-ज्यो नगरो का विस्तार होता जा रहा है, त्यो-त्यो ग्रामीण क्षेत्रो से जनसंख्या शहरी क्षेत्रो को स्थानान्तरित होती जा रही हैं। इसके अतिरिक्त कम कामकाज वाले मौसम मे अनेक कृषि श्रमिक रोजगार की तलाश में औद्योगिक केन्द्रों में आते हैं। इस तरह उद्योगो में काम माँगने वाले व्यक्तियों की सख्या तो बढ़ती जाती है। किन्तु औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण रोजगार के इच्छुक श्रमिको को उद्योगो में पूरी तरह खपाया नही जा रहा है। इस प्रकार औद्योगिक श्रमिकों में बेरोजगारी निरन्तर बढ़ रही है।

(ब) शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी—भारतवर्ष में शिक्षित बेकारी की समस्या मुख्यतः शहरी क्षेत्रों मे है। शिक्षित लोगो में बेरोजगारी का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमे मैट्रिक या उससे ऊँची शिक्षा प्राप्त लोग बेकार रहते है। शिक्षित वर्ग में पाई जाने वाली बेरोजगारी एक भीषण समस्या है। शिक्षा-क्षेत्र में 'संख्या-विस्फोट' अर्थात् बड़ी संख्या में विद्यार्थियों का शिक्षा प्राप्त कर निकलने के कारण, शिक्षित बेरोजगारी भी बढ़ती जा रही है। शिक्षित व्यक्तियो की बेकारी का सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार के बेकार व्यक्तियों की संख्या रोजगार के अवसरो की उपलब्धि तथा पूर्ति और माँग में असंतुलन पैदा हो जाने के कारण अधिक हो रही है। प्रतिवर्ष कितने ही नये कालेज तथा स्कूल खुलते हैं और प्रत्येक वर्ष शिक्षा प्राप्त करके युवक ज्यादा से ज्यादा संख्या में निकल रहे हैं और इस प्रकार रोजगार या काम की तलाश करने वाले व्यक्तियों की सख्या रोज के अवसरों की तुलना में बढती जा रही है। दोष-युक्त शिक्षा प्रणाली से भी यह बेकारी बढती है। हमारी शिक्षा प्रणाली पुस्तकीय है। उसमें व्यावसायिक या प्राविधिक स्वरूप बहुत कम है। वह किसी विशेष कार्य के लिए छात्रों को प्रशिक्षित नहीं करती। यही कारण है कि बहुत से शिक्षित लोग बेरोजगार रहते हैं।

शिक्षित बेकारी का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा अलग-अलग लगाया जाता है। सामान्य शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षित कार्य व्यक्ति का कार्य तो करना चाहता है, परन्तु उसे कार्य ही नहीं मिलता है अर्थात् वह बेकार रहता है एवं अपनी शिक्षा या योग्यता का मूल्यांकन करने का अवसर उसे प्राप्त नही होता है।

समस्या की गम्भीरता—सन् 1980 में लगभग 34,72,000 कुल शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार थे, जिनमे से 1009100 स्नातक बेरोजगार थे, जिसमें इंजीनियरिंग डिग्री व डिप्लोमा प्राप्त 81200 चिकित्सा स्नातक 10300 कृषि चिकित्सा स्नातक व स्नातकोत्तर 8800 थे। कला विज्ञान व वाणिज्य स्नातको की संख्या 903600 थी। अनुमान है कि 1985 तक शिक्षित बेरोजगारो की संख्या बढ़कर 4656700 हो जाने की संभावना है। सबसे अधिक चिंताजनक बात यह है कि हमारे देश मे इजीनियर, डाक्टर शिक्षक व अन्य व्यवसाय वाले बेरोजगारों की एक सेना बन गई है।

शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने को प्राथमिकता देना चाहिए। क्योकि "शिक्षित बेरोजगार अपनी आवाज उठा सकता है, उसका अपने क्षेत्र में प्रभाव होता है, वह यह अनुभव करता है कि उसके साथ अन्याय हुआ है, अगर उसे लम्बे समय तक बेकार रहना पडा तथा बेरोजगारी की संख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही जैसा कि भारत मे है तो उसमे विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है और यह स्थिति निश्चय ही विस्फोटक रूप धारण कर सकती है।" अतः शिक्षित बेरोजगारी देश की सुरक्षा तथा स्थिरता के लिए भयानक सिद्ध हो सकती है। यही नही, लोगो को शिक्षित करने मे राष्ट्र को काफी सम्पत्ति खर्च करनी पडती है।

शिक्षित व्यक्तियो में बढती हुई बेकारी के खतरे के साथ साथ कई व्यवसायो मे जनशक्ति की कमी का विरोधाभास पाया गया है। हाल ही में इंजीनियरिंग ग्रेजुएट और डिप्लोमा-होल्डरो की बेकारी देश के कई भागो मे बताई गई है। एक अनुमान के अनुसार इजीनियर स्नातको तथा डिप्लोमा वालो की कुल संख्या का 20% 1970 मे बेरोजगार था। लेकिन साथ ही कुछ व्यावसायिक और तकनीकि क्षेत्रों मे श्रमिको का अभाव भी है। जैसे—इलेक्ट्रिकल इजीनियर, केमिस्ट, टर्नर, फार्मेसिस्ट व ड्राफ्ट्समैन आदि की कमी बनी हुई है। कुछ व्यवसायों मे आवश्यक जनशक्ति से अधिक लोग उपलब्ध होना इस बात का प्रमाण है कि शिक्षा और व्यवसाय में समुचित संतुलन नही रखा गया है। अर्थात् हमारे देश मे मनुष्य शक्ति के नियोजन मे काफी दोष है। फलतः एक ओर रोजगार चाहने वालो की संख्या बढती जाती है और दूसरी कई काम-धंधे ऐसे है जिनके लिए उपयुक्त व्यक्ति नही मिलते हैं।

बेरोजगारी के कारण

भारतवर्ष मे विभिन्न प्रकार की बेरोजगारी के कारण भिन्न-भिन्न हैं, तथापि हम कतिपय सामान्य कारणों का उल्लेख कर सकते हैं जो निम्न है :

2. **जनसंख्या में तीव्र वृद्धि**—हमरी जनसख्या मे प्रतिवर्ष लगभग 2.5% से वृद्धि हो रही है। जनसख्या की इस तीव्र वृद्धि के कारण हमारी श्रम-शक्ति भी तेजी से बढ रही है, परन्तु रोजगार के अवसर उसी गति मे नही बढ सके हैं। फलतः देश में बेरोजगारी की समस्या उग्र है।

2. **कृषि का पिछड़ापन**—भारतीय कृषि करने का ढग अब भी बहुत पुराना

है। कृषि उद्योग अविकसित है और वर्षा पर अधिक निर्भर है जिसने उसका स्वरूप अधिक मौसमी है। कृषि की इस पिछड़ी हुई अवस्था के कारण इसमे अधिक लोगो को रोजगार प्रदान नही किया जा सकता।

3. **दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली**—हमारी शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है, क्योंकि वह अधिकतर साहित्यिक है व्यावसायिक नही। जिसके फलस्वरूप शिक्षित बेकारी देश में अधिक है। प्रत्येक वर्ष हमारे विश्वविद्यालयो से हजारो विद्यार्थी बी० ए०, एम० ए० पास करते है। फलतः प्रतिवर्ष शिक्षित वर्ग में कार्य ढूंढने वाले तथा कार्य के अवसरो में अन्तर बढ़ता जाता।

5. **विनियोग का निम्न स्तर**—अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार के अवसरो का विस्तार विनियोग के स्तर पर निर्भर करता है। भारत की बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण विनियोग के निम्न स्तर को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। 1972-71 मे अर्थ-व्यवस्था मे राष्ट्रीय आय का 11 55 विनियोग किया गया था। प्रति व्यक्ति आय के वर्तमान स्तर को बनाये रखने के लिए 10% विनियोग करना आवश्यक है। इस प्रकार रोजगार के अवसरो के विस्तार के लिये केवल 35% विनियोग बचती है, जो कि बेरोजगारी की समस्या की गहनता को ध्यान मे रखते हुए बहुत अपर्याप्त है। चौथी योजना के सम्बन्ध मे सरकार ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि विनियोग की कुल मात्रा मे उत्पादन मे उतनी वृद्धि नही हो पाई जितनी कि आरम्भ मे सोचा गया था। इससे रोजगार के अवसरो मे भी पर्याप्त विस्तार नही हो पाया है।

5. **प्रतिकूल उत्पादन तकनीकी की चुनाव**—भारत मे विभिन्न योजनाओ मे उत्पादन के क्षेत्र में विकसित पाश्चात्य तकनीकी का प्रयोग किया गया। फलत. उपभोग वस्तु उद्योगों व भारी उद्योगो मे क्षेत्रीकरण इतना अधिक हो गया कि वर्तमान समय में उपभोग वस्तुओ व मशीन बनाने वाले उद्योगों मे विनियोग के प्रति इकाई रोजगार प्रदान करने की क्षमता बहुत कम है। योजनाओ की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा बेरोजगारी में एक साथ वृद्धि होने का एक कारण यह है कि योजनाओ के अंतर्गत चुने गये तकनीक उत्पादन की मात्रा में तो वृद्धि करते हैं परन्तु इनसे श्रम की आवश्यकता कम हो जाती है।

6. **अन्य कारण**—उपरोक्त आधारभूत कारणो के अतिरिक्त देश मे व्याप्त बेरोजगारी समस्या के लिये निम्न कारण उत्तरदायी है :—

(क) ब्रिटिश काल मे जो नीति अपनाई गई उससे हमारे देश में कुटीर व लघु उद्योगों का ह्रास हुआ है, वे अभी तक पर्याप्त मात्रा मे उचित ढंग से विकसित नही हो सके हैं।

(ख) देश के प्राकृतिक साधनो की क्षमता का पूर्णतया उपयोग नही किया गया है।

(ग) कृषि तथा अन्य उद्योगों में पूंजी का अभाव है।

(घ) भारत मे श्रमिकों की गतिशीलता का अभाव है।

(ङ) देश में अशिक्षित व अकुशल श्रमिको का आधिक्य है।

(च) बहुत से उद्योगो मे लागत कम करने के उद्देश्य से नवीनीकरण व आधुनिकीकरण के कार्यक्रम अपनाये गये हैं जिससे थोडे-बहुत श्रमिको की छँटनी हो गयी है।

(छ) पिछले कई वर्षों मे कई विभाग जो युद्धकाल मे स्थापित किये गये थे, जैसे नागरिक सम्भरण विभाग आदि अब बन्द कर दिये गये है।

(ज) देश का औद्योगीकरण भी धीमी गति से हो रहा है। हाल ही मे विदेशी मुद्रा की कठिनाइयो के कारण आयात पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये गये है जिससे कि औद्योगीकरण की गति मे शिथिलता आ गई है।

(झ) देश मे मानवीय शक्ति का उचित नियोजन नही हुआ है। देश की सामाजिक स्थिति ने कुछ अंश तक बेरोजगारी की समस्या को और अधिक कठिन कर दिया है। जैसे जाति प्रथा, बालविवाह व अन्य सामाजिक कुरीतियो के कारण श्रम की गतिशीलता मे अभाव पाया जाता है।

(ञ) इसके अतिरिक्त ऊँची लागत अर्थ-व्यवस्था, सूखा, मन्दी व अवमूल्यन की दशाएँ तथा समाज की बदलती परिस्थितियो मे मध्यम श्रेणी की स्त्रियो का श्रम-बाजार मे प्रवेश आदि को बेरोजगारी के अन्य कारणो के अन्तर्गत उल्लेख किया जा सकता है।

सुझाव—बेरोजगारी की समस्या देश मे अत्यन्त गम्भीर है और इसको शीघ्र से शीघ्र दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि 'साठ' का दशक भारत मे खाद्य समस्या हल करने का दशक रहा है, तो 'सत्तर' का दशक हमारे लिये बेरोजगारी दूर करने का दशक रहना चाहिए। विकास कार्यक्रम इस आधार पर बनाये जाने चाहिये कि 'सब लोगो को रोजगार मिले।' **श्री वी० वी० गिरि** के अनुसार बेरोजगारी दूर करने के लिए हमे शीघ्र ही सबके लिए रोजगार की भावना से युद्ध-स्तर पर सक्रिय उपाय करने होगे।

बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए और सुझावो का अध्ययन हम दो शीषको के अन्तर्गत करेगे :

(i) सैद्धातिक विवेचना

(ii) व्यावहारिक उपाय

(i) सैद्धान्तिक विवेचना

आर्थिक विकास की दृष्टि में मानवीय ससाधनो के उपयोग हेतु विभिन्न विकासवादी अर्थ-व्यवस्थाओ द्वारा भिन्न-भिन्न उपाय बताये गये है। इन सभी उपायो का अन्तिम उपलब्ध जनशक्ति का सर्वोत्तम उपयोग द्वारा वांछित आर्थिक विकास को प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारधाराएँ इस प्रकार है :—

1. रेगनर नर्क्स (Regnar Nurkse) की विचारधारा

प्रो० नर्क्स का मत है कि अर्द्धविकसित देशो में औसत रूप से कुल जनसंख्या

का लगभग 25% अदृश्य-बेरोजगारी से ग्रस्त है। नर्क्स का कथन है कि 'घनीभूत श्रम' (Congealed labour) ही पूँजी होती है। अत· अदृश्य बेरोजगारी मे निहित श्रम के अपव्यय का पूँजी निर्माण मे उपयोग किया जा सकता है। अत. यह उचित है कि अदृश्य बेरोजगार श्रमिको को कृषि से हटाकर, सिंचाई, रेल, सडक, मकान आदि विशेष सामाजिक सेवाओ के निर्माण मे लगाया जाये। नर्क्स के शब्दो मे "अतिरिक्त श्रमिको को भूमि से हटाया जाना सम्भव है। ऐसे लोग जिस वस्तु का निर्माण करेंगे उससे वास्तविक राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी, किन्तु पूँजी के बिना वे क्या उत्पादन करेंगे ? सम्भवत. बहुत कम। अत उन्हे वास्तविक पूँजी के उत्पादन मे ही क्यो न लगाया जाये ?

अतिरिक्त श्रम-शक्ति को भूमि से हटाकर पूँजीगत परियोजनाओ मे लगाने में दो समस्याएँ हैं—(अ) उपकरणो की उपलब्धि और (ब) योजनाओ का वित्त प्रबंध।

जहाँ तक अतिरिक्त कृषि-श्रम को पूंजीगत योजनाओ मे कार्य करने के लिए उपकरणो तथा अन्य सामान उपलब्ध कराने की समस्या है, उसको हल करना अत्यन्त सरल है। इस सम्बन्ध मे नर्क्स का सुझाव है कि—(अ) जहाँ तक सभव हो उत्पादन कार्य मे श्रम-प्रधान तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिए जैसे, जगल साफ करने मे, पेडो को गिराने का कार्य श्रमिको द्वारा होना चाहिए न कि बुलडोजरो द्वारा, (ब) कृषि क्षेत्र से अतिरिक्त श्रमिको के स्थानान्तरण से कृषि मे प्रयोग किए जा रहे उपकरणो—जैसे, टोकरियो, बेलचो व हथौडियो आदि मे भी बचत होगी। अतिरिक्त श्रमिक इन फालतू उपकरणो को पूँजीगत योजनाओ मे प्रयोग के लिए ले जा सकते हैं (स) विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे बहुत ही साधारण किस्म के औजार तथा उपकरणो का प्रयोग किया जा सकता है।

इस सिद्धान्त की सफलता के लिए आवश्यक है कि (i) कृषि क्षेत्र मे बची हुई जनसंख्या के उपभोग-स्तर मे परिवर्तन नही होना चाहिए, (ii) कृषि क्षेत्र मे जिन श्रमिको को स्थानान्तरित किया जाये, उनके लिये तुरन्त वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था होनी चाहिए।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से प्रो० नर्क्स का सिद्धान्त काफी महत्त्वपूर्ण है। अर्द्धविकसित देशो मे पाये जाने वाले श्रम अतिरेक का उपयोग उत्पादक कार्यों मे किया जा सकता है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे अर्द्धविकसित देशो को बाह्य सहायता पर आश्रित रहने की आवश्यकता नही पडेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार देश मे अन्तर्निहित सम्भाव्य बचत का प्रभावशाली ढंग से उपयोग करके आर्थिक विकास को संभव बनाया जा सकता है। लेकिन जहाँ तक सिद्धान्त की व्यावहारिकता का प्रश्न है, अदृश्य बेरोजगारी की सही माप अतिरिक्त श्रम को पूँजीगत परियोजनाओ मे स्थानान्तरित करना पर्याप्त मात्रा मे मशीन, औजारो और उपकरणो की व्यवस्था करना, साधनो को सही दिशा मे गतिशीलता आदि अनेक समस्यायें पूँजी निर्माण मे संभाव्य बचत के योगदान को सीमित कर देती है।

2. आर्थर लुईस की विचारधारा

प्रो० विलियम आर्थर लुईस अपने लेख 'श्रम की असीमित पूर्ति से आर्थिक विकास' (Economic Development with the limited supply of labour) मे एक मॉडल के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, कि श्रम की असीमित पूर्ति के बावजूद भी तीव्र आर्थिक विकास सम्भव है। लुईस का यह विश्वास है कि अर्द्धविकसित देशो मे असीमित मात्रा मे श्रमिको की पूर्ति जीवन-निर्वाह-मजदूरी-स्तर पर उपलब्ध है। ऐसी स्थिति मे—"आर्थिक विकास उस समय होता है, जबकि जीवन-निर्वाह क्षेत्र से अतिरिक्त श्रमिक को निकाल कर पूँजीवादी क्षेत्र में लगाने के कारण पूँजी का सचय या निर्माण होता है।" लुईस का मत है कि अर्द्ध-विकसित देशो मे मानवीय-श्रम सस्ता होता है और उसकी पूर्ति आसानी से हो जाती है, अत. आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-निर्वाह क्षेत्र से अधिकाधिक मात्रा मे मानवीय श्रम प्राप्त किया जाये और उन्हे ऊँची मजदूरी का प्रलोभन दे कर औद्योगिक क्षेत्र की ओर स्थानान्तरित किया जाये।

लुईस के मॉडल की तीन प्रमुख बाते

(अ) ग्रामीण क्षेत्रो की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र मे मजदूरी की दर, चाहे थोडी अधिक हो, पर निश्चित हो।

(ब) औद्योगिक श्रम मे विनियोग अधिक किया जाय, भले ही वह जनसंख्या वृद्धि के अनुपात मे न हो, तथा

(स) श्रमिको को प्रशिक्षित करने की लागत पूरे समय तक समान बनी रहनी चाहिए।

प्रो० लुईस के मॉडल का प्रधान गुण यह है कि यह बहुत स्पष्ट ढंग से विकास प्रकिया की व्याख्या करता है और यह स्पष्ट करता है कि उन अर्द्धविकसित देशों मे पूँजी-निर्माण किस प्रकार होता है, जहाँ श्रम का बाहुल्य और पूँजी की दुर्बलता होती है।

3. प्रो० लेबेनस्टीन के विचार

प्रो० हारेव लेबेनस्टीन ने अपनी पुस्तक 'Economic Backwardness and Economic Growth' मे अर्द्धविकसित देशो के सम्बन्ध मे एक वाद या थीसिस को जन्म दिया है। जिसे 'न्यूनतम आवश्यक प्रयत्नवाद' कहते है। अपने इस ग्रन्थ मे लेबेनस्टीन ने भारत, इन्डोनेशिया आदि, उन अर्द्धविकसित देशो की समस्याओ का अध्ययन किया है, जिनमे जनसख्या का घनत्व अधिक है।

लेबेनस्टीन का मत है कि अर्द्धविकसित देशो मे केवल प्रति व्यक्ति आय बढ़ने पर ही जन्म-दर कम होगी अर्थात् पहले आर्थिक विकास होगा, फिर जन्म दर घटेगी। लेबेनस्टीन के शब्दो में—"बिना आर्थिक विकास के कोई भी प्रत्यक्ष तरीके जन्म-दर नियन्त्रण मे सफल 'नहीं' हो सकते।" वास्तव मे उनके यह विचार माल्थस के विचारों के ठीक विपरीत है।

लेबेनस्टीन का मत है कि अधिक जनसंख्या वाले अर्द्धविकसित देशो मे तीव्र गति से आर्थिक विकास तभी संभव हो सकता है, जबकि शुरू मे अधिक आय उत्पन्न करने वाले विनियोग कार्यक्रमो को शुरू किया जाय। वैसे भी अर्द्धविकसित देशो के प्रारम्भिक विकास काल मे बडी मात्रा मे विनियोग करने की आवश्यकता होती है, ताकि राष्ट्रीत आय मे तीव्र गति से विकास हो सके। अत इस दृष्टि से किये गये प्रयासो के दो लाभ होगे—(अ) जनसंख्या वृद्धि की दर गिरेगी, और (ब) फलस्वरूप इस प्रथम अवस्था के बाद आर्थिक विकास का यह विचार आर्थिक जगत मे 'न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न सिद्धान्त' से जाना जाता है।

स्पष्टतः लेबेनस्टीन के मतानुसार जनसख्या की इस ऊँची दर को नियन्त्रित करने और प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करके जनसख्या वृद्धि की दर को घटाने के लिए न्यूनतम आवश्यक प्रयत्नो की आवश्यकता है।

प्रो० लेबेनस्टीन का न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न के सिद्धान्त ने अर्थशास्त्रियो एव अर्द्धविकसित देशो मे योजना बनाने वालो का ध्यान आकर्षित किया है। यह सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक है, क्योकि अर्द्धविकसित देशो मे औद्योगीकरण के लिए पूंजी की कमी के कारण एक बार ही बडा धक्का देना कठिन होता है, जबकि अर्थ-व्यवस्था को सतत विकास के मार्ग पर लाने के लिये न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न सिद्धान्त उचित ढग से समय-समय पर थोडा-थोडा विकास करने का समर्थन करता है। यह सिद्धान्त प्रजातन्त्रात्मक योजना से भी कम मेल रखता है, जिससे अधिकाश अर्द्ध-विकसित देश सम्बद्ध हैं। परन्तु यह सिद्धान्त भी बहुत व्यावहारिक नही है। अर्द्धविक-सित देशो मे न्यूनतम-स्तर के आवश्यक प्रयत्नो हेतु वाछित मात्रा मे विदेशी सहायता, प्रशिक्षित श्रम व विकसित तकनीक आदि उपलब्ध न होने के कारण ये देश आवश्यक औद्योगिक विनियोग करने मे भी असमर्थ रहते है। इसके अतिरिक्त कोई भी अर्द्ध-विकसित देश जन्म दर को घटाने के लिए प्रति व्यक्ति आय मे न्यूनतम आवश्यक स्तर से अधिक वृद्धि होने तक प्रतीक्षा नही कर सकता, क्योकि हो सकता है कि तब तक देश मे जनसंख्या विस्फोट की स्थिति उत्पन्न हो जाये। इतना ही नही लेबेनस्टीन ने जनसंख्या को एक विशुद्ध आर्थिक घटक माना है, जो कि त्रुटिपूर्ण है कारण यह है कि अर्द्धविकसित देशो मे जनसख्या एक सामाजिक व धार्मिक समस्या है, जिस पर रीति-रिवाज धर्म व सास्कृतिक प्रवृत्तियो आदि का प्रभाव पडता है। जिस देश मे "पुत्र पैदा होने पर पिता को सब कष्टो से छुटकारा मिल जाता हो, (grand son) के जन्म से वह अमर हो जाता हो, और पड़-पोते के अवतार लेते ही वह स्वर्ग का अधिकारी बन जाता हो," भला ऐसे देशो मे आय वृद्धि किस प्रकार जनसख्या वृद्धि को सीमित कर सकती है।

व्यावहारिक उपाय

बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए अग्रलिखित उपाय किए जा सकते हैं :

(1) **दीर्घकालीन उपाय**—बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए अपनाई गई दीर्घकालीन नीति मे निम्नलिखित बातो का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(i) **जनसंख्या नियन्त्रण**—जनसख्या की तीव्र वृद्धि पर शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण नियन्त्रण लगाना अत्यन्त आवश्यक है। इनके लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्रभावशाली ढग से तेजी के साथ चलाया जाना चाहिये और जन्म दर शीघ्रातिशीघ्र 40 से 52 तक घटाने के प्रयत्न होने चाहिए। चीन मे भी पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने के लिए जनसख्या नियन्त्रण नीति अपनाई गई है।

(ii) **तीव्र आर्थिक विकास**—देश मे आधारभूत उद्योगो का विकास शीघ्रता से होना चाहिये जिससे रोजगार के नये अवसर उत्पन्न होगे। विशेष कर शिक्षित तथा कुशल व्यक्तियो के लिए तथा कृषि से अतिरिक्त जनशक्ति हटाकर उद्योगो मे लगाई जा सकेगी, लेकिन औद्योगीकरण के ये लाभ तभी मिल सकेंगे, जबकि वह विकेन्द्रित हो, छोटे सहायक उद्योगो व वृहद् उद्योगो के बीच उचित समन्वय रखा जाय और पूंजी प्रधान उद्योगो की अपेक्षा श्रम प्रधान उद्योगो के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाय।

(iii) **शिक्षा-प्रणाली मे सुधार**—वर्तमान पुस्तकीय शिक्षा-प्रणाली को तकनीकीय और व्यावसायिक रूप दिया जाना चाहिये। शिक्षा-प्रणाली को इस तरह व्यवस्थित किया जाना चाहिये कि कर्मचारियो की आवश्यकताओ के बदलते हुए ढांचे से उसका सामजस्य हो सके।

रोजगार के अवसर जुटा देने से ही बेरोजगारी दूर नही हो सकती। मुख्य समस्या है लोगो को रोजगार के योग्य बनाना। परन्तु दुर्भाग्यवश भारतवर्ष मे इस सम्बन्ध मे कोई विशेष ध्यान नही दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रो मे उत्पादन सम्बद्ध प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिये। कारण यह है कि भारतवर्ष मे 90% व्यक्ति ऐसे है जो कि अकार्यकुशल है, इनमे शिक्षित व्यक्ति भी सम्मिलित है। भारत मे शिक्षित बेरोजगारी का कारण यह नही है कि रोजगार के अवसर उपलब्ध नही है बल्कि यह भी है कि उपलब्ध रोजगार के लिए उपयुक्त व्यक्ति नही है प्रशिक्षण युक्त शिक्षण हमारी शिक्षा नीति होनी चाहिये ताकि व्यक्ति स्वय अपना रोजगार प्रारम्भ कर सके। ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योग एवं तकनीकी प्रशिक्षण हेतु वर्ष मे कम से कम दो बार शिविर लगाये जाने चाहिये जिनमे ग्रामीण उद्योगो से सम्बन्धित ज्ञान ग्रामीणो को दिया जाना चाहिए।

(iv) **निर्माण कार्यों में वृद्धि**—देश मे यातायात सेवाओ तथा जनकल्याण सेवाओ के विकास की आवश्यकता है। यातायात के क्षेत्र मे रोजगार की सम्भावनाएँ बहुत अधिक है। अतः इस क्षेत्र का तेजी से विकास किया जाना चाहिये, क्योकि इसके द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ेगी तथा साथ ही साथ रोजगार भी बढेगा। इसी प्रकार हमारे देश मे सामाजिक तथा लोकहितकारी सेवाओ जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का अत्यधिक अभाव है, अतः इन सामाजिक सेवाओ के विस्तार से जनकल्याण मे वृद्धि होने के साथ-साथ बेरोजगारी के निवारण मे सहायता मिलेगी।

(v) **अनुकूल उत्पादन तकनीक का चुनाव**—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश मे जहाँ बहुत अधिक मात्रा मे श्रम शक्ति पायी जाती हे और जिससे जनसख्या वृद्धि के साथ-साथ श्रम मे वृद्धि होती जा रही है, पूंजी प्रधान तकनीको का अन्धाधुन्ध उपयोग रोजगार की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हुआ है। वस्तुत हमे श्रम प्रधान तकनीको का उपयोग करना चाहिये जिससे उत्पादिता तथा रोजगार मे एक साथ वृद्धि प्राप्त की जा सके।

(vi) **रोजगार कार्यालय का विस्तार**—सारे देश मे रोजगार कार्यालयो का जाल-सा बिछा देना चाहिये, ताकि श्रम की गतिशीलता मे वृद्धि हो और जो बेरोजगारी केवल कार्य खोजने के कारण है वह दूर हो। विभिन्न विश्वविद्यालयो मे रोजगार विभाग खोलकर शिक्षितो को उचित काम के बारे मे मार्ग दर्शन करना आवश्यक है।

(vii) **मनुष्य शक्ति का नियोजन**—भारत मे मनुष्य शक्ति के नियोजन मे काफी दोष है, इसलिए आवश्यक है कि देश मे वैज्ञानिक ढंग से मनुष्य शक्ति का नियोजन किया जाय। कार्यकुशल जनशक्ति की कमी समझते हुए प्रशिक्षण प्राप्त और अनुभवहीन जनशक्ति का सही अनुमान लगाते हुए सही रोजगार के अवसर अधिकाधिक उपलब्ध कराकर जनशक्ति योजना को उचित ढग से क्रियान्वित किया जाय। यह सन्तोष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों मे इस दिशा मे प्रयत्न किये गये है। इसके लिये सन् 1962 मे केन्द्रीय मनुष्य शक्ति अनुसधान सस्था दिल्ली मे स्थापित की गई है।

(viii) **सामाजिक सुधार**—भारत के सामाजिक ढाँचे से उपयुक्त परिवर्तन किया जाय, ताकि जाति प्रथा, पर्दा, प्रथा, सयुक्त परिवार प्रणाली आदि के दोष दूर हो सके और श्रमिको की गतिशीलता मे वृद्धि होकर रोजगार के अवसर बढ़ सकें।

2. **अल्पकालीन उपाय**—अल्पकाल मे बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए निम्न उपाय किये जाने चाहिये :—

(i) **सघन कृषि**—सिचाई की सुविधा बढाकर उन्नत बीज, खाद, दवा आदि कृषि की आवश्यक वस्तुएँ किसानो को उपलब्ध कराकर हमे अधिक से अधिक क्षेत्र सघन कृषि के अन्तर्गत लाना चाहिये जिससे प्रति हेक्टेयर उत्पादन बढेगा और साथ ही क्षेत्र मे रोजगारी भी बढेगी।

(ii) **सघन फसल कार्यक्रम**—अधिक से अधिक क्षेत्र मे प्रतिवर्ष एक से अधिक फसलें बोने के लिए सघन फसल कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाना चाहिये जिससे वर्ष भर मे एक से अधिक फसलें उगाने से मौसमी बेरोजगारी की समस्या हल होगी।

(iii) **कृषि सहायक उद्योगों को प्रोत्साहन**—पशु पालन, दुग्ध व्यवसाय, मुर्गी पालन, मछली पालन, मधुमक्खी पालन, सुअर पालन आदि कृषि सहायक उद्योगो को अपनाकर रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

(iv) **कृषि उद्योगो का विकास**—कृषि मे वैज्ञानिक ढङ्ग अपनाकर इसकी रोजगार प्रदान करने की क्षमता को बढाया जा सकता है। रासायनिक खादो, उर्वरक, मिश्रण तथा कीटनाशक दवाइयो आदि की सुविधा उपलब्ध होने से न केवल भूमि के प्रति एकड उत्पादन मे वृद्धि होगी, बल्कि इनके निर्माण से सम्बन्धित उद्योगो का विकास होगा। इससे ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगारी बढेगी।

(v) **कुटीर व लघु उद्योगो का विकास**—कताई-बुनाई, मिट्टी का काम, चर्म उद्योग आदि कुटीर व लघु उद्योगो का विकास किया जाय ताकि एक ओर कृषक वर्ग की आय बढे और दूसरी ओर भूमि पर जनसंख्या का दबाव घटे। **श्री वी०वी० गिरि** के अनुसार 'हर घर मे एक कुटीर उद्योग तथा हर एकड भूमि पर चारागाह' हमारा ध्येय होना चाहिये।

अन्य सुझाव—(1) रोजगार सदैव लाभकारी होना चाहिए अर्थात् रोजगार की उत्पादकता रोजगार की लागत से कम नही होनी चाहिए।

(2) रोजगार की प्रकृति स्थायी होनी चाहिए। कारण यह है कि अल्पकाल के पश्चात् एक भीड फिर से रोजगार की तलाश मे भटकेगी।

(3) रोजगार गुणक प्रभावशाली होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि रोजगार स्वय वृद्धिशील होना चाहिए ताकि अनेक लोगो को कार्य मिल सके।

(4) रोजगार मे वृद्धि होने के साथ बाजार मे वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि की सम्भावना रहती है, अत लागो की आय मे अतिरिक्त वृद्धि होनी चाहिए ताकि अतिरिक्त उत्पादन की बिक्री हो सके।

(5) रोजगार पर्याप्त आय प्रदान करने वाला होना चाहिए अन्यथा लोगो की अरुचि रोजगार के प्रति हो जायेगी। गरीबी का मुख्य कारण अनार्थिक रोजगार भी है।

(6) रोजगार के अवसरो का उचित वितरण होना चाहिए। इस तथ्य पर हमारे देश मे अभी तक कोई विशेष ध्यान नही दिया गया है। कुछ परिवार ऊँचे पदो पर अपने सभी सदस्यो को आसीन करा लेने मे सफल हो जाते है और समाज में असंख्य राज-परिवार विकसित हो जाते है।

(7) रोजगार के अवसर जुटाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रोजगार गुणक मे वृद्धि हो। प्राय एक रोजगार एक तक ही सीमित रहता है क्योकि अधिकाश रोजगार सरकारी प्रतिष्ठानो या कार्यालयो मे ही उपलब्ध कराये जाते है उन रोजगारो की उत्पादकता भी कम होती है। इसके विपरीत निर्माण सम्बन्धी रोजगार के अवसरो का गुणक अधिक होता है, जैसे विद्युतीकरण, सडक निर्माण कार्य, भूमि संरक्षण का कार्य आदि लघु सिंचाई योजनाओ पर प्राथमिकता देनी चाहिए ताकि उत्पादन वृद्धि हो।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बेरोजगारी को दूर करने के प्रयत्न

1 **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—प्रथम योजना मे खाद्य समस्या, कच्चे माल का

अभाव आदि अन्य समस्याओ के कारण बेरोजगारी की समस्याओ व इनके उपचारो पर गहराई से विचार नही किया गया। यह ठीक है कि बाद मे 1953 मे इस समस्या का स्वरूप कुछ स्पष्ट होता गया। 1953 के अन्त मे योजना आयोग ने रोजगार अवसर की उन्नति के लिए 11 सूत्री कार्यक्रम बनाया, जिसमे लघु उद्योग यातायात, शिक्षा के विकास के लिये सुझाव दिये। योजना मे 75 लाख व्यक्तियो को काम दिलाने का लक्ष्य रखा गया। परन्तु इस अवधि मे अनुमानत 54 लाख बेरोजगारो के लिए काम-धन्धो की व्यवस्था की जा सकी।

2. **द्वितीय योजना**—द्वितीय योजना के आरम्भ मे बेकारी की समस्या भीषण रूप मे थी। इस योजना के आरम्भ के समय 53 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इन पाँच वर्षों मे कार्य ढूंढने वालो की सख्या मे 1 करोड़ की वृद्धि हो जाने की सम्भावना थी। दूसरी योजना मे 96 लाख व्यक्तियो को रोजगार दिलाने का लक्ष्य था जिसमे 16 लाख कृषि क्षेत्र मे और 80 लाख गैर कृषि क्षेत्र मे थे। किन्तु साधनो की कमी के कारण दूसरी योजना का आकार घटा दिया गया तथा गैर कृषि क्षेत्र मे 65 लाख व्यक्तियो को ही रोजगार दिया गया। इस योजना के अन्त मे बेरोजगारो की सख्या 71 लाख हो गई। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजना के अन्त तक बेरोजगारी की समस्या सुधरने के बजाय और भी अधिक गम्भीर हो गई।

3 **तृतीय योजना**—तृतीय योजना मे कहा गया है कि रोजगार देना भारत मे नियोजन का एक प्रमुख लक्ष्य है। अनुमान किया गया है कि तृतीय योजना मे श्रम शक्ति मे लगभग 1 करोड 70 लाख व्यक्तियो को प्रवेश दिया जायगा। परन्तु इस योजना मे केवल 149 लाख व्यक्तियो को रोजगार देने की व्यवस्था की गई। तीसरी योजना मे रोजगार सम्बन्धी प्रयत्न मुख्यत. तीन दिशाओ मे किये गये :—

(अ) यह प्रयत्न किया गया है कि पहले की अपेक्षा इस बार रोजगार का लाभ लोगो को समान रूप मे मिले।

(ब) गाँव के औद्योगीकरण का व्यापक कार्यक्रम चलाया जाय जिससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे चेतना जागृत हो।

(स) गाँवो मे निर्माण कार्य चलाया गया।

4. **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (1969-74) **मे रोजगार नीति**—चतुर्थ योजना मे श्रम गहन कार्यक्रमो पर काफी बल दिया गया जैसे—भू-संरक्षण, सहकारिता, सड़क, सिंचाई, लघुसिंचाई, आवास व नगर विकास, क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम, बाढ़ नियंत्रण, ग्रामीण विद्युतीकरण तथा लघुउद्योग आदि। इन कार्यक्रमो पर व्यय की राशि मे पूर्ण की तुलना मे वृद्धि की गई। योजना में कृषि गत क्षेत्र के लिए विभिन्न वित्तीय संस्थाओ की क्रियाओ के लिए साधन रखे गये। इन संस्थाओ मे भूमि विकास बैंक, कृषि साख निगम, राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम, ग्रामीण विद्युतीकरण निगम, ग्रामीण उद्योग निगम, सहकारी बैंक, कृषि पुनर्वित्त निगम आदि शामिल है।

ग्रामीण क्षेत्रो मे बहु-फसल कार्यक्रम, सुधरी हुई विधियो के प्रचार, मशीनरी के आवश्यक उपयोग के प्रसार आदि से श्रम की माँग मे विस्तार होने के अनुमान लगाए गये।

(5) **पाँचवीं योजना, 1974-78 मे रोजगार बढ़ाने पर अत्यधिक बल :**—देश मे फैली हुई गरीबी व बेकारी की समस्या का समाधान करने के लिए पाँचवी योजना मे रोजगार बढाने के लिए निम्न क्षेत्रो के विकास को आवश्यक बताया गया—भू-सरक्षण, वन, मछली पालन, क्षेत्रीय विकास, लघु सिंचाई, पशु पालन व दुग्ध व्यवसाय, सडके व लघु कृषक विकास एजेन्सी, वेयरहाउसिग व बिक्री कार्य लघु उद्योग, सीमान्त कृषक व खेतिहर श्रमिक एजेन्सी व सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम। इसके अतिरिक्त न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति के कार्यक्रम मे निम्न कार्य सुझाए गये—सार्वजनिक स्वास्थ्य, भूमिहीनो के लिए मकान, प्राथमिक शिक्षा, ग्रामीण जल सप्लाई, ग्रामीण विद्युतीकरण व शहरो मे गन्दी बस्तियो का सुधार आदि।

छठी योजना में रोजगार नीति

इस योजना मे रोजगार नीति के मुख्यतया निम्न दो उद्देश्य होगे—

(1) सामान्य स्थिति के आधार पर बेरोजगारी की सीमा को घटाना है जिसे कि खुली बेरोजगारी कहते है।

(2) रोजगार बढाने के मुख्य क्षेत्र है . कृषि, ग्राम विकास, ग्राम तथा लघु उद्योग, भवन निर्माण, सार्वजनिक प्रशासनिक एव सेवाए। छठी योजना (1980-85) मे 343 लाख मानव वर्ष रोजगार कायम किया जायेगा जो योजना काल के दौरान श्रम शक्ति मे वृद्धि के लगभग बराबर होगा। इस प्रकार रोजगार मे 4 17 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी जो श्रम शक्ति मे 2·54 प्रतिशत की इस काल मे वार्षिक वृद्धि से कही अधिक है।

छठी योजना मे राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम के अधीन ग्राम निर्धनो के लिए रोजगार कायम करने वाली विकास परि-योजनाएँ शुरू की जा रही है। राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम को केन्द्र द्वारा चालित योजना के रूप मे 50-50 की केन्द्र एव राज्यो के बीच सहभागिता के आधार पर चलाया जा रहा है। केन्द्र अपना भाग जिस हद तक अतिरिक्त खाद्यान्न उपलब्ध होगे, खाद्यान्नो के रूप मे जुटाएगा और शेष भाग नकदी के रूप मे।

(3) छठी योजना मे 1979-80 की तुलना मे रोजगार क्षमता अग्रलिखित सारणी से स्पष्ट हो जाती है—

अनुमानित क्षेत्रवार रोजगार 1979-80 और 1984-85 मे मिलियन मानक व्यक्ति प्रतिवर्ष

क्रम	क्षेत्र	1979-80	1984-85
1.	कृषि	72·184	85 237
2	वानिकी	6·207	7·794
3	मछली पालन	1 940	2 220
4.	खनन एवं पत्थर खान	0·724	0·894
5	मैनूफैक्चरिंग	22·012	27 759
6.	निर्माण	9 286	11·321
7.	बिजली, गैस एव जलपूर्ति	0·723	0 927
8·	रेलवे	1·662	1·704
9	अन्य परिवहन	7·109	8 677
10.	संवहन	0 800	0·917
11	व्यापार, भण्डारण एव गोदाम	13 278	16·042
12.	बैंकिंग एवं बीमा	1 038	1·225
13.	वास्तविक सम्पत्ति अन्य सेवाएँ एव आवास	0 028	0 032
14	सार्वजनिक प्रशासन सुरक्षा एवं अन्य सेवाएँ	14 119	16 042
15.	रोजगार विशेष कार्यक्रम राष्ट्रीय रोजगार योजना सहित	—	4·000
16	योग	151·110	185 389

इस प्रकार छठी योजना मे बेरोजगारी की समस्या पर भीषण प्रहार होगा।

बेरोजगारी कम करने के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न

सरकार ने बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए जो उपाय किये है उनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

1 **रोजगार कार्यालयो की स्थापना**—रोजगार दिलाने के लिए एवं बेरोजगारो के मार्ग दर्शन के लिए रोजगार कार्यालयो की सख्या मे बराबर वृद्धि की जाती रही है। जैसा कि प्रदत्त सारणी के अंको से स्पष्ट है—

वर्ष	रोजगार कार्यालय की सख्या	पंजीकृत सख्या (लाखो मे)
1950	143	16·07
1961	325	32·30
1966	396	38·71
1977	594	109·24
1978	601	126·77

2 **विशिष्ट कार्यक्रम—(अ) सूखा उन्मुख क्षेत्र कार्यक्रम**—कृषि श्रमिको को रोजगार प्रदान करने के लिए यह कार्यक्रम सन् 1970-71 मे देश के 54 चुने हुए जिलो मे 100 करोड रुपये निर्धारित परिव्यय से प्रारम्भ किया गया था। अब तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 13 करोड मनुष्यो को रोजगार मिल चुका है।

(ब) ग्रामीण रोजगार के लिए त्वरित कार्यक्रम—केन्द्रीय सरकार ने सन् 1971-72 मे ग्रामीण क्षेत्र मे अधिक रोजगार प्रदान करने के लिए क्रैश प्रोग्राम बनाया। इस कार्यक्रम के दो उद्देश्य है—श्रम प्रधान ग्रामीण परियोजनाओ के माध्यम से प्रत्येक जिले मे अतिरिक्त रोजगार उत्पन्न करना तथा, स्थायी रूप की नगर निर्माण परियोजनाओ पर बल देना।

(स) अग्रगामी गहन ग्रामीण रोजगार परियोजना—ग्रामीण जनसंख्या को पूर्ण रोजगार प्रदान करने की दिशा मे एक आवश्यक प्रारम्भिक कार्यक्रम के रूप मे सन् 1972-73 मे 'PIREP' प्रारम्भ की गई। इस परियोजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र मे बेरोजगारी की मात्रा और प्रकृति का अनुमान लगाना है।

3 **शिक्षित बेरोजगारी सम्बन्धी विशिष्ट कार्यक्रम**—शिक्षित वर्ग मे बेरोजगारी कम करने के लिए कुछ विशिष्ट रोजगार कार्यक्रम अपनाए गये है। जैसे स्कूलो की सख्या बढाकर नवीन अध्यापको को नियुक्त किया गया है। सरकार ने जनशक्ति नियोजन की बात मान ली है इसलिए उपयुक्त प्रदेशनीति, प्रशिक्षण सुविधाओ के विस्तार आदि पर जोर दिया जा रहा है।

4. **लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास**—बेरोजगारी दूर करने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगो पर अत्यधिक ध्यान दिया गया। औद्योगिक नीति 1977 मे कुटीर एव लघु उद्योगो के विकास पर काफी जोर दिया गया और प्रत्येक जिले मे जिला उद्योग केन्द्र खोला जा रहा है। इससे भी बेरोजगारी को कम करने मे सहायता मिलेगी।

5. **बेरोजगारी भत्ता**—पश्चिमी बंगाल, पजाब, महाराष्ट्र, केरल और मध्य प्रदेश सरकार ने बेरोजगारी भत्ता देने की घोषणा की है।

6. **रोजगार के लिए शीर्ष संस्था का गठन**—स्कूली शिक्षा के बाद व्यावसायिक प्रशिक्षण पूरा करने वाले छात्रो को रोजगार उपलब्ध करने या उन्हे प्रशिक्षु योजनाएँ लगाने के लिए केन्द्रीय सरकार एक शीर्ष संस्था का गठन करने जा रही है।

7. **टाइसेम कार्यक्रम**—यह खुशी की बात है कि भारत सरकार के पुनर्निर्माण मत्रालय ने टाइसेम कार्यक्रम प्रारम्भ किया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँवो के बेरोजगार युवको को अपने व्यवसाय स्थापित करने के लिए विभिन्न व्यवसायो मे 'व्यावहारिक ट्रेनिंग' दी जाती है। ट्रेनिंग के दौरान 100 रु० प्रतिमाह वजीफा भी दिया जाता है। बाद मे व्यवसाय स्थापित करने के लिए अनुदान देने और बैको से ऋण उपलब्ध करवाने की व्यवस्था है। वर्ष 1980-81 मे 45 युवको को ट्रेनिंग दी गई और 27,000 रुपये का वजीफा दिया गया।

परीक्षा-प्रश्न

(1) भारत मे बेरोजगारी की समस्या पर निबन्ध लिखिए।

(2) भारत मे शिक्षित बेरोजगारी के क्या कारण है? इसे दूर करने के उपाय बताइए।

(3) भारत मे बेरोजगारी की समस्या के स्वभाव की परीक्षा कीजिए। इसे हल करने के हेतु क्या उपाय किये जा रहे है?

(4) भारत मे बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने मे हमारी पंचवर्षीय योजनाओ की सफलता का विवेचन कीजिए।

(5) अदृश्य बेरोजगारी अथवा दृश्य बेरोजगारी से आप क्या समझते है? इसके कारण और उपचार बताइए।

(6) भारत मे बेरोजगारी और अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या पर प्रकाश डालिए और बताइए कि वह कैसे हल की जा सकती है।

(7) "पाचो योजनाओ के क्रियान्वित होने के बाद भी देश मे बेकारी की समस्या को समाप्त नही किया जा सका है।" इस कथन को स्पष्ट करे और समस्या को दूर करने के उपाय बताएँ।

(8) "मानव शक्ति के समुचित उपयोग की समस्या जितनी भारत के समक्ष आज उग्र है उतनी सम्भवत अन्य किसी देश के समक्ष नही है।" क्या इस कथन से आप सहमत है?

13

ग्रामीण ऋणग्रस्तता
(Rural Indebtedness)

ऋणग्रस्तता से आशय उस ऋण राशि से है जिसका कृषको को ऋण देने वालो को भुगतान करना है, अर्थात् यह कृषको पर ऋण देने वालो की बकाया राशि का संकेतक है। ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय कृषि की प्रमुख समस्या है, जिसके बोझे से लदे भारतीय कृषक आज कृषि मे सुधार लाने मे असमर्थ है। शाही कृषि आयोग के अनुसार—"भारतीय किसान ऋण मे जन्म लेता है, ऋण मे जीवन व्यतीत करता है, ऋण मे मर जाता है और ऋण छोड जाता है।" इस ऋणग्रस्तता का सम्बन्ध किसानो की आर्थिक स्थिति, कृषि मे विनियोग की क्षमता और देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था से हैं। अत· हम ग्रामीण ऋणग्रस्तता के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन सविस्तार करेंगे।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की सीमा

भारतीय कृषको की ऋणग्रस्तता के अनुमान समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियो और विशेषज्ञो द्वारा लगाए गये हैं। सर्वप्रथम अकाल आयोग ने 1901 मे अपने प्रतिवेदन मे बताया कि भारत के 80% किसान ऋणग्रस्त हैं। इसके उपरान्त सर एडवर्ड मेकलेगन (1911) डार्इलिंग (1925) केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (1930) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, कृषि ऋण विभाग (1939) आदि ने भी अपने आकलन दिए हैं। पर ये आकलन पुराने हो चुके है इसलिए इनका विस्तृत वर्णन उपादेय नही होगा।

स्वतन्त्रता के बाद के आकडे हमारे लिए विशेष महत्त्व के हैं, अत· 1951 मे से 1981 तक के आंकडो का तुलनात्मक अध्ययन आगे सारणी मे दिया जा रहा है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता का तुलनात्मक अध्ययन : 1951-1981

विवरण	50-51	60-61	70-71	80-81	51-81 परिवर्तन
ऋणग्रस्त परिवारो का प्रतिशत					
(क) कृषक परिवार	58.6	52.2	51.5	49.8	(—) 8.8
(ख) गैर-कृषक परिवार	38 6	40-4	42.6	42.3	(+) 3 7
(ग) सभी ग्राम्य परिवार	51 7	48 8	54.1	48 9	(—) 2 8
प्रति परिवार ऋण का बोझ (रुपये)					
(क) कृषक परिवार	209.5	205.4	232.0	244.9	(+) 35 5
(ख) गैर-कृषक परिवार	66.1	111 8	214.6	205.8	(+) 139.7
(ग) सभी ग्राम्य परिवार	159 9	169 6	192 8	201.3	(+) 41.9
प्राप्त ऋण की कुल राशि (करोड रुपये)	750	1034	1085	1520	(+) 770
ऋणी कृषको का प्रतिशत	69.2	66 7	62 3	58.6	(—) 10.6
प्रति ऋणी कृषक पर कर्ज का बोझ (रुपये)	526	708	890	1020	(+) 494

उपर्युक्त सारणी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि—(1) 1951 से 1981 के तीन दशंको मे कुल ऋण की राशि मे 51% की वृद्धि हुई है। (ii) इसी अवधि मे यद्यपि ऋणी कृषको का प्रतिशत 69.2 से 58 8 हो गया है परन्तु प्रति ऋणी कृषक पर कर्ज का बोझ 506 रुपये से बढकर 1020 रुपये हो गया है।

उद्देश्य के अनुसार प्राप्त ऋण—भारतीय कृषकगण विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति हेतु ऋण लेते हैं एव उस बोझ से लद जाते हैं। नीचे दी गई सारणी मे कृषको द्वारा प्राप्त ऋण मे विभिन्न उद्देश्यो के अनुसार प्रतिशत प्रदर्शित करती है ।

कृषको द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार प्राप्त कुल ऋण

ऋण का उद्देश्य	प्राप्त कुल ऋण का प्रतिशत			
	1959-51	1960-61	1970-71	1980-81
फार्म व्यवसाय मे पूंजी निवेश	31 5	22 1	20.0	18.6
फार्म व्यवसाय मे चालू व्यय	10 6	13.5	14.7	16 4
फार्म व्यवसाय के अतिरिक्त कार्यों में व्यय	4.5	6 7	8.9	9 3
घरेलू उपभोग व्यय	46 0	46.6	46.2	44.5
अन्य	6.5	11.1	10.2	11.2
कुल	100	100	100	100

उपर्युक्त आँकडो से स्पष्ट है कि प्राप्त ऋण का लगभग आधा भाग (1981 = 44.5%) कृषको द्वारा घरेलू उपभोग आवश्यकताओ मे व्यय किया जाता है। इन ती दशको मे घरेलू व्यय के प्रतिशत मे खास परिवर्तन नही आया है।

प्रतिभूति के अनुसार प्राप्त ऋण—भारतीय कृषक विभिन्न प्रतिभूतियो के बल पर ऋण प्राप्त करते है—जैसे व्यक्तिगत प्रतिभूति, स्थायी सम्पत्तितो की प्रतिभूति गहनो की प्रतिभूति इत्यादि। नीचे सारणी मे प्रतिभूति के अनुसार कृषको द्वारा प्राप्त ऋण दर्शाए गए है—

प्रतिभूति के अनुसार कृषकों द्वारा प्राप्त ऋण

प्रतिभूति	कुल ऋण का%	प्राप्तकर्ता परिवार का %
व्यक्तिगत प्रतिभूति	75 8	45.9
अन्य व्यक्ति की प्रतिभूति	6.8	5 6
फसल की प्रतिभूति	0 9	0.6
स्थायी सम्पत्ति की प्रतिभूति	5.0	2.3
स्थायी सम्पत्ति को बधक रखकर	9.3	3 6
गहनो की प्रतिभूति	1.7	1.8
कम्पनियो के शेयर, बीमा पालसी आदि की प्रतिभूति	0 1	—
कृषि वस्तुओ की प्रतिभूति	0.2	—
अन्य	0.2	0.3
	100	52.0

उपर्युक्त सारणी के अको से स्पष्ट है कि कृषक प्राप्त ऋण का लगभग तीन चौथाई अंश (75%) व्यक्तिगत प्रतिभूति के आधार पर प्राप्त करते हैं। प्रतिभूति का दूसरा प्रमुख आधार है—स्थायी सम्पत्ति को बंधक रखना।

भारतीय ऋणग्रस्तता के कारण

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1 **भूमि पर जनसंख्या का बहुत अधिक दबाव**—भारत मे लगभग सम्पूर्ण जनसंख्या 70% भाग कृषि पर निर्भर है। देश में प्रतिवर्ष जनसंख्या मे तीव्र गति से वृद्धि के साथ जनसंख्या का भूमि पर भार बढ़ता जा रहा है। फलत· प्रति ग्रामीण परिवार की आय कम होती जा रही है, क्योकि जमीन का साधन तो पहले ही जितना या पहले से कम ही है, किन्तु खाने वालो की सख्या बढती जा रही है। ग्रामीणो को अपने उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण लेना पडता है।

9. **ऊँची ब्याज दर**—कृषको की ऋणग्रस्तता का एक यह भी मुख्य कारण है कि महाजनो व साहूकारो द्वारा जो ब्याज दर ली जाती है वह बहुत ही ऊँची होती है। **बम्बई बैंकिंग जाँच समिति के** शब्दो मे "ऊँची ब्याज की दर तथा महाजनो की शोषण-प्रवृत्ति किसान की ऋणग्रस्तता मे किसी तरह की कमी नही होने देती है।"

10. **पैतृक ऋण**– वर्तमान ऋणग्रस्तता का एक मुख्य कारण यह भी है कि ऋण पीढी-दर-पीढी चलता रहता है। पैतृक ऋणो का चुकाना किसान अपना परम कर्तव्य समझता है। इस प्रकार एक बार लिया हुआ ऋण कई पीढियो तक चलता रहता है।

11. **भूमि और सिचाई पर कर की अधिकता**—भारत मे ऋणग्रस्तता का यह भी कारण है कि यहाँ भूमि एव सिंचाई करो की माला बहुत अधिक है। इसके साथ-ही साथ ये कर किसानो से कठोरतापूर्वक ऐसे समय मे वसूल किये जाते है, जबकि उनके पास मुद्रा का अभाव होता है। अत. इन करो का भुगतान करने के लिए उन्हे ऋण लेना पडता है जो कि ऋणग्रस्तता को बढा देता है।

12 **कृषि मे उत्पत्ति-ह्रास नियम का लागू होना**—कृषि में सभी साधनो का उपयोग करने पर भी कृषि का उत्पादन इच्छित अनुपात मे नही होता और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है। किसान को इस कारण भूमि की उत्पादन-क्षमता को बनाये रखने के लिए महाजनो से ऋण लेकर अधिक साधन जुटाने पडते हैं।

13 **अन्य कारण**—ऋणग्रस्तता के कुछ अन्य कारण इस प्रकार है (अ) ग्रामीण उद्योगो का पतन, (ब) पशुधन की हानि, (स) कृषि उपज की दोषपूर्ण विपणन प्रणाली आदि।

ऋणग्रस्तता के परिणाम

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रमुख दुष्परिणाम निम्नलिखित है —

(अ) **आर्थिक दुष्परिणाम**—आर्थिक दृष्टि से ऋणग्रस्तता के दुष्परिणाम निम्नलिखित हो सकते हैं —

1. **भूमि का हस्तान्तरण**—किसानो की भूमि का अधिकांश भाग ऋणग्रसित होने के कारण ऐसे लोगो के पास चला जाता है जो स्वयं कृषि नही करते, बल्कि ऋण देने और किसानो की भूमि लिखवा लेने का कार्य करते है। इसका प्रभाव कृषि पर सभी दृष्टिकोणो से बहुत बुरा पडता है।

2. **निम्न जीवन-स्तर**—न्यूनतम आवश्यकताओ को भी पूरा न कर सकने से कृषको का स्वास्थ्य कमजोर हो जाता है। वे ऋण से कभी उऋण नही होते। अत वे उपार्जन का बडा भाग ऋण पटाने मे ही व्यय कर देते है और अपने रहन-सहन, खाने-पीने पर व्यय नही कर पाते। अत उनका जीवन-स्तर धीरे-धीरे नीचा हो जाता है।

3. **कृषि विकास मे बाधा**—कृषक ऋणग्रस्त होने के कारण मशीनो, अच्छे बीज, रासायनिक खाद आदि का प्रयोग करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है,

क्योकि ऋण और उसका ब्याज पटाने से ही उसको फुर्सत नही मिलती। अतः उसका परिणाम यह होता है कि कृषि में वे विनियोग नही कर पाते। अत. कृषि मे कोई उन्नति नही हो पाती।

4. कृषि उत्पादन के विक्रय में बाधा—महाजनों द्वारा कृषको की उत्पादित फसल को मनमाने भाव पर खरीद लिया जाता है, क्योकि वे ऋण प्रायः इसी शर्त पर लिये रहते है कि फसल तैयार होने पर अनाज उन्हे बेच दिया जायेगा। अतः महाजन मनमाने भाव पर अनाज खरीद लेते है और किसानो की अपनी फसल का उचित मूल्य नही मिल पाता है।

(ब) सामाजिक दुष्परिणाम—ऋणदाता और ऋणी के बीच परस्पर संघर्ष होने से भूमिरहित वर्ग बढ जाता है और उसके पास आजीविका का कोई साधन नही रह जाता, जिससे उसे अपना जीवनयापन करने के लिये बडे-बडे भूमि स्वामियो पर निर्भर होना पडता है। ये लोग कृषक से तरह-तरह की राशियाँ आदि लेते रहते है। इन कारणो से सामाजिक असंतोष बढ जाता है, जो कि सामाजिक आन्दोलनो को जन्म देते है।

डा० थॉमस के शब्दो मे "एक ऋणग्रस्त समुदाय निश्चायत्मक रूप मे एक सामाजिक ज्वालामुखी है। विभिन्न वर्गों के बीच असंतोष का उत्पादन होना स्वाभाविक है, तथा शनै-शनै बढता हुआ असंतोष एक दिन भयानक सिद्ध होता है।"

(स) नैतिक दुष्परिणाम—कृषको को ऋण के बोझ से दबे होने के कारण दासता का जीवन व्यतीत करना पडता है जिससे उनका जीवन निराशापूर्ण एवं असतोषमय हो जाता है तथा वे अनैतिक कार्यों को करने के लिए बाध्य हो जाते है। झूठ, बेईमानी, धोखेबाजी व अनेक दूसरी बुराइयाँ बढ़ती जाती है। परिणामत. ग्रामीण जनता का चरित्र गिरता जाता है।

ऋणग्रस्तता दूर करने के उपाय

1. ऋण देने वाली संस्थाओं की स्थापना—देश मे ऐसी संस्थाओ की बहुतायत से स्थापना की जाय जहाँ से कृषको को आसानी से एव कम तथा उचित ब्याज दर पर आवश्यकतानुसार विभिन्न अवधियो के लिए ऋण प्राप्त हो सके।

2 तकावी ऋणो की उचित व्यवस्था—हमारे देश में यद्यपि किसानों को तकावी के रूप में ऋण प्राप्त होने की सुविधाएँ प्राप्त है, परन्तु उनमे और सुधार करने की आवश्यकता है।

3. पुराने ऋणों का निपटारा—पुराने ऋणो को समाप्त किये बिना किसान की उन्नति होना असम्भव है। यदि ऋणी की सम्पत्ति इतनी अधिक न हो, जिससे कि उसके ऋणो को चुकाया जा सके, तो वहाँ उसे दिवालिया घोषित करके पुराने ऋणो को समाप्त करना चाहिए।

4. महाजनों पर नियंत्रण—महाजनो पर उचित नियंत्रण लगाये बिना कृषको की उन्नति सम्भव नही है। इसके लिए सरकार को प्रयास करना चाहिये, ताकि महा-

जन लोग कृषको का शोषण न कर सके। यह कार्य ब्याज-दर पर नियन्त्रण करके पावती किस्तो का हिसाब रखकर तथा ऋणी से रसीदे वगैरह दिलवाकर किया जा सकता है।

5. **नये ऋण लेने पर नियन्त्रण**—कृषको को नये ऋण लेने पर नियंत्रित किया जाना चाहिये और अनुत्पादक ऋणो को हतोत्साहित किया जाना चाहिये।

6. **सहकारी साख समितियों का प्रसार**—देश मे सहकारी साख समितियो की सख्या मे और अधिक वृद्धि करके भी इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। इन समितियो द्वारा कृषको को सभी प्रकार के ऋण दिये जाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

गाडगिल समिति ने ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिए निम्न सुझाव दिये थे —

1 ऋणी द्वारा लिये जाने वाले ऋण की मात्रा इस प्रकार निश्चित की जानी चाहिये कि उसे 20 वर्ष मे 4% सूद की दर मे अथवा अपनी अचल सम्पत्ति के सामान्य मूल्य के 50% द्वारा अदा करने मे समर्थ हो सके।

2. कृषि उत्पादन मे लगे हुए कृषको का ऋण अनिवार्य रूप से पुन. निर्धारित किया जाय। लगान का बकाया भी ऋण समझा जाय।

3. ऋण देने वालो, अर्थात् महाजनो को अपने आपको रजिस्टर्ड करवाना चाहिये तथा पूँजी आदि का विवरण सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिये।

4. बैङ्क अथवा अन्य एजेन्सी इस रकम को कृषक से 20 किस्तो मे वसूल करे।

5 निश्चित की गई कर्ज राशि भूमि बन्धक बैङ्क से या इसी प्रकार की अन्य सस्थाओ से लेकर चुका देनी चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त सुझाव ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। इन सभी सुझावो का दृढता से पालन करने पर समस्या का पूर्ण हल हो सकता है।

ऋणग्रस्तता की समस्या को सुलझाने की दिशा में सरकारी प्रयास

(i) **भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध**—उत्तर प्रदेश, पंजाब और पश्चिमी बंगाल की राज्य सरकारो ने ऐसे कानून बनाये हैं, जिनके अनुसार ऋणदाता अपनी रकम के भुगतान के रूप ऋणी किसानो की भूमि सरलता से नही खरीद सकता है।

(ii) **ऋणों को अनिवार्यतः कम करना**—मध्य प्रदेश, बिहार, मद्रास, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश की राज्य सरकारो ने ऐसे कानून बनाये है, जिनके अनुसार किसानो के ऋण की रकम अनिवार्य रूप से कम कर दी जाती है।

(iii) **ऋण को तय करने से सम्बन्धित नियम**—मध्य प्रदेश, असम, पंजाब, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यो ने ऋण की रकम तय करने से सम्बन्धित कानून पास

किये है, जिनके अनुसार किसान की सम्पत्ति के आधार पर उसके ऋण के भुगतान की किस्ते निर्धारित की जाती है।

(iv) **ब्याज की दर के नियमन सम्बन्धी कानून**—सन् 1918 के, अधिक ब्याज के ऋण नियम, जिसका सन् 1925 मे संशोधन हुआ, मे केवल उचित ब्याज लेने की आज्ञा दी गई है। अधिकतम अनुचित ब्याज की दर का राज्यवार विवरण निम्न सारणी मे दिया गया है—

राज्य	प्रतिशत प्रतिवर्ष साधारण ब्याज	
	सुरक्षित ऋण	असुरक्षित ऋण
असम	$9\frac{3}{8}$	$12\frac{1}{2}$
बिहार	9	12
बम्बई	9	12
मध्य प्रदेश	12	18
मद्रास	$6\frac{1}{4}$	$6\frac{1}{4}$
मैसूर	9	12
उडीसा	9	12
पंजाब	$7\frac{1}{2}$	$12\frac{1}{2}$
उत्तर प्रदेश	$4\frac{1}{2}$	6
पश्चिमी बंगाल	8	10
हिमाचल प्रदेश	6	12

कई राज्यो मे 'दमदुपत' (Dumduput) का नियम लागू कर दिया गया है जिसके अनुसार ऋणो द्वारा अदा की गई राशि मूल राशि के दुगुने से किसी हालत मे अधिक नही हो सकती।

(v) **महाजनों या साहूकारो पर नियन्त्रण**—सन् 1930 के बाद विभिन्न राज्यो मे साहूकारो पर नियन्त्रण रखने के लिये निम्नलिखित मुख्य कानून बनाये गये है :—

राज्य	प्रमुख कानून
असम	साहूकार कानून सन् 1934
बिहार	साहूकार कानून सन् 1938
बगाल	साहूकार कानून सन् 1933
मध्य प्रदेश	साहूकार कानून सन् 1934, ऋणी सुरक्षा कानून, सन् 1937
मद्रास	ऋणी सुरक्षा कानून, सन् 1934, कृषक सहायता कानून, सन् 1934
पंजाब	हिसाब-किताब नियन्त्रण कानून, सन् 1930, साहूकारों का पंजीकरण कानून, सन् 1938
उड़ीसा	साहूकार कानून सन् 1939
उत्तर प्रदेश	कृषक सहायता कानून सन् 1934, ऋण बोझ स्थिति कानून, सन् 1934, बिक्री-नियमन कानून सन् 1934

उपरोक्त कानून द्वारा मुख्यतया निम्नांकित बातो का प्रबन्ध किया गया है :— (i) नाम रजिस्टर करवाना, (ii) लाइसेन्स लेना, (iii) निश्चित विधि से खाता रखना, (iv) ऋणियो को जमा रकम की रसीद देना, (v) ऋणियो को समय-समय पर खाता विवरण भेजना, (vi) ब्याज का नियमन करना, (vii) किसान को तंग करने के विरुद्ध संरक्षण, और (viii) उपर्युक्त नियमो का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था करना।

(vi) **सहकारी साख सुविधाओं का विस्तार**—कृषको की बित्तीय स्थिति सुधारने के लिये सरकार ने सहकारी साख सुविधाओ के विस्तार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। इसके साथ ही राष्ट्रीयकृत बैको की ऋण नीति में भी कृषि क्षेत्र को प्राथमिकता दिये जाने पर जोर दिया गया है।

(vii) **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना**[1]—यद्यपि सरकार ने सहकारी साख समितियो और व्यापारिक बैको के माध्यम से कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली वित्तीय सहायता मे वृद्धि को प्रोत्साहन दिया, लेकिन इसका अधिकाश लाभ बडे-बडे कृषको को मिला। अत. छोटे-छोटे कृषको को सरलता से ऋण प्रदान करने की दृष्टि से ग्रामीण बैको की स्थापना का कार्यक्रम बनाया गया है।

(viii) **बन्धक प्रथा की समाप्ति**—नवीन आर्थिक कार्यक्रम मे बन्धक-प्रथा को समाप्त करने की घोषणा की गई है और प्राय· सभी राज्यो मे कानून बना कर (या अध्यादेश निकाल कर) बंधकी रखने को अवैधानिक घोषित कर दिया गया है। इससे साहूकार द्वारा शोषण का एक माध्यम समाप्त हो गया है।

(ix) **ऋण की मुक्ति**—बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत सभी राज्यो मे छोटे किसानो (जिसके पास 2 हेक्टर से कम भूमि है) तथा भूमिहीन श्रमिको एवं कारीगरी को ऋण मुक्त कर दिया गया है और ऐसी व्यवस्था की गई है कि साहूकार इन वर्गों के व्यक्तियो से कोई भी रकम वसूल नही कर सकते।

ऋण सम्बन्धी कानून सामग्री ऋणग्रस्तता की व्यापक बीमारी के लिए केवल प्राथमिक चिकित्सा के रूप मे ही कार्य कर सके है। ऋणग्रस्तता जैसे भीषण रोग का स्थायी इलाज केवल महाजनो के नियन्त्रण व ऋण तथा ब्याज दर कम करने मे निहित नही है। इसका अन्तिम समाधान तो केवल कृषि की उन्नति मे है। हमे समस्त कृषि विकास की गति बढानी होगी तथा किसान की आय को उच्च स्तर पर स्थिर करना होगा व कृषि विधियो तथा किसान को मनोवृत्ति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा तभी ऋणग्रस्तता की समस्या का स्थायी समाधान होगा।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत मे ग्रामीण ऋण के मुख्य कारण क्या है? किसान की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है? इस समस्या के उपचार के लिये किये गये उपायो

1. विस्तृत अध्ययन हेतु 'कृषि वित्त' नामक अध्याय देखिए।

और अपने सुझावों का वर्णन कीजिए ।

2. "भारतीय किसान ऋण मे पैदा होता है, ऋण मे जीवित रहता और ऋण मे ही मरता है ।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारणो पर प्रकाश डालिये ।

3 "ऋण मुक्ति और अदायगी को सभी योजनाये अस्थायी उपचार है । वे विशाल अनुत्पादक ऋण के प्रमुख कारणो को दूर नही करती, जो भारतीय काश्तकारो पर भार बन गया है ।" इस वक्तव्य मे उल्लिखित प्रमुख कारण कौन से हैं और आप उनका निवारण किस प्रकार करेंगे ?

4. "ऋणग्रस्तता की अनिवार्यता, जिससे उसे मुक्त होने की किंचित् भी आशा नही है; भारतीय कृषक को एक बेईमान, ऋणी परिवार का अपव्ययी मुखिया और एक गैर-जिम्मेदार नागरिक बना देती है ।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिये ।

14

कृषि वित्त[1]

(Agricultural Finance)

कृषि वित्त की आवश्यकता—अन्य उद्योगो की तरह कृषि वित्त भी एक आवश्यक तत्त्व है। बीज, औजार तथा खाद इत्यादि को खरीदना, भूमि सुधारना तथा अन्य कृषि सम्बन्धी कार्यों की पूर्ति तभी हो सकती है जब ठीक समय पर और उचित मात्रा मे वित्त उपलब्ध हो। भारतीय कृषि की कुछ विशेषताओ के कारण हमारे कृषक की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताये और भी अधिक है। **ग्रामीण साख सर्वेक्षण** के विवरण मे भी यह कहा गया है, "साख कृषक की उसी प्रकार से सहायता करती है जैसे फाँसी पर लटकते हुए व्यक्ति की जल्लाद की रस्सी।" **सर निकोलसन** के शब्दो मे, "साख कृषि के लिए नितान्त आवश्यक है और उधारी किसान के लिये अनिवार्य है।" वर्तमान समय मे जब हमारी कृषि दिनो दिन प्रगति कर रही है, वित्त सम्बन्धी आवश्यकताएँ निरन्तर बढती ही जा रही है। वित्तीय सुविधाओ का अभाव ही हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पिछडेपन का मुख्य कारण रहा है।

किसानो को अनेक कारणो से ऋण लेना पडता है। इन ऋणो को निम्न तीन श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है—

1. **अल्पकालीन ऋण**—ये वे ऋण है जो खाद व बीज खरीदने के लिए, फसल बोने से काटने तक काम चलाने के लिये और पशुओ व पारिवारिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, लिए जाते है।

2. **मध्यकालीन ऋण**—इसकी आवश्यकता औजार व बैल खरीदने, कृषि प्रणाली मे सुधार करने व जमीन मे सुधार करने के लिए पड़ती है।

3. **दीर्घकालीन ऋण**—इसकी आवश्यकता किसानो को अपने पुराने ऋणो को चुकाने के लिये, नयी भूमि खरीदने के लिये या भूमि पर कोई स्थायी सुधार करने लिये पडती है।

---

1. इस अध्याय को कुछ विश्वविद्यालयो मे ग्रामीण साख के नाम से शामिल किया गया है।

अल्पकालीन ऋण की अवधि सामान्यतया 15 माह, मध्यकालीन ऋण की अवधि 15 माह से लेकर 5 वर्ष तक और दीर्घकालीन ऋणो की अवधि 5 वर्ष से अधिक होती है। दीर्घकालीन ऋण की अधिकतम अवधि के बारे मे कोई स्पष्ट सीमा निर्धारित नही की गई है। भारत मे दीर्घकालीन ऋण 15 से 20 वर्षों, फिनलैण्ड मे 30 वर्षो, स्विटजरलैण्ड मे 57 वर्षों, हगरी मे 63 वर्षो और फ्रान्स मे 75 वर्षों के लिए प्राप्त किए जाते है। इन ऋणो की दीर्घावधि के कारण इनका भुगतान करना सरल होता है।

कृषि वित्त के स्रोत

भारतीय कृषि को वित्त/साख प्रदान करने के लिए (i) गैर संस्थागत एजेन्सियाँ व (ii) सस्थागत एजेन्सियाँ कार्य करती है। गैर सस्थागत स्रोतो मे देशी बैङ्कर एव साहूकार, कृषक महाजन, वेतनभोगी कर्मचारी एव सम्बन्धी आते है। संस्थागत स्रोतो मे सहकारी सस्थाएँ, व्यापारिक बैङ्क, ग्रामीण बैङ्क व भूमि विकास बैङ्को का स्थान है।

इस सारणी मे भारत मे कृषक परिवारो द्वारा सभी उद्देश्यो हेतु विभिन्न एजेन्सियो से प्राप्त ऋणो के सापेक्षिक अनुपात को व्यक्त किया गया है।

साख प्रदाता एजेन्सी	आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे (1951-52)	आल इण्डिया रूरल डेट एण्ड इनवेस्टमेट सर्वे (1961-62)	नेशनल काउसिल आफ एप्लाइड इकानामिक रिसर्च (1970-71)
सरकार	3.3	2.6	3.6
सहकारिता	2.1	15.5	22 7
व्यापारिक बैङ्क	0.9	0.6	4.0
महाजन, व्यापारी, कमीशन एजेण्ट, मित्र	75.2	58.0	49 6
मित्र सम्बन्धी	14.2	8.8	18.8
जमीदार एव अन्य	3 3	14.5	1.3
योग	100 00	100.00	100.00

स्रोत .—क्रेडिट टिक्कायरमेन्ट फार एग्रीकल्चर, नेशनल काउंसिल आफ सप्लाइड इकानामिक रिसर्च 1974 पृ० 80

उपर्युक्त सारिणी के अको क आधार पर कृषि वित्त के स्रोतो के सम्बन्ध मे दो प्रमुख अवलोकन किए जा सकते है .—

1. 1951-52 तक कृषि साख के क्षेत्र में गैर संस्थागत स्रोत (महाजनो और साहूकारो) का स्थान प्रमुख रहा। सन् 1951-52 मे कृषको की कुल ऋण

सम्बन्धी आवश्यकताओ का 92 7 प्रतिशत भाग गैर सस्थागत एजेन्सियो ने ही पूरा किया था।

2 सन् 1951-52 के बाद से कृषि वित्त प्रदान करने मे संस्थागत एजेन्सियो का महत्त्व बढ रहा है। सहकारिता का अशदान जो 1951-52 मे 3 प्रतिशत था, सन् 1961-62 मे 15.5 प्रतिशत और 1970-71 मे लगभग 23 प्रतिशत हो गया इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साख की आपूर्ति मे सस्थागत स्रोतो का महत्त्व बढता जा रहा है और गैर सस्थागत एजेन्सियो का महत्त्व घटता जा रहा है। इसी तथ्य की पुष्टि नीचे दी गई सारणी के अंको से भी हो रही है।

कुल कृषि वित्त मे गैर-सस्थागत एजेन्सियो का योगदान

वर्ष	1951-52	1961-62	1971-72	1978-79
प्रतिशत योगदान	92 7	85 0	75 0	65.0

कृषि क्षेत्र मे प्रदत्त प्रत्यक्ष सस्थागत वित्त की बकाया राशि 30 जून 1980 को 6,213 करोड रुपए अनुमानित थी जो कि जून 79 की बकाया राशि से 1,036 करोड रुपए (2 0%) अधिक थी जबकि जून 76 की तुलना मे 764 करोड रुपए (7.3%) की वृद्धि हुई। 30 जून 1980 तक बकाया ऋणो मे अधिकाश भाग सहकारी समितियो (3758 करोड रुपए) का और इसके बाद अनुसूचित वाणिज्य बैङ्को (2455 करोड रुपए) का था।

प्रत्यक्ष सस्थागत ऋणो के अतिरिक्त सहकारी बैङ्को, अनुसूचित वाणिज्य बैको, मध्यवर्ती सहकारी बैको, ग्रामीण विद्युतीकरण निगमो क्षेत्रीय ग्रामीण बैको द्वारा खाद्यान्नो की वसूली, कृषि पदार्थों के विपणन और उर्वरको के वितरण इत्यादि प्रयोजन के लिए प्रत्यक्ष ऋण दिए गए है। इन विभिन्न एजेन्सियो द्वारा परोक्ष ऋण 1979-80 जून) मे कुल 839 करोड रुपए वितरित किए गए जो कि 1978-79 की वितरित राशि की अपेक्षा 65 करोड रुपए (8 4%) की वृद्धि की द्योतक है।

30 जून 1980 तक परोक्ष ऋणो की कुल अनुमानित बकाया राशि 255 करोड रुपए थी जो एक वर्ष की अवधि मे हुई 4 74 करोड रुपए (26.7%) वृद्धि की परिचायक थी। इन ऋणो मे अधिकाश अनुसूचित वाणिज्य बैङ्को का (787 करोड रुपए अथवा 35-0%) था उसके बाद ग्रामीण विद्युतीकरण निगम (180 करोड़ रुपए 34.6%) और सहकारी समितियो का (684 करोड रुपए अथवा 30 4%) स्थान था।

कृषि वित्त के सम्बन्ध में नीति का विकास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से सरकार की कृषि साख नीति मे दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। इनको दो महत्त्वपूर्ण अवस्थाएं भी कहा जा सकता है। पहली अवस्था 1970 तक विद्यमान रही तथा दूसरी अवस्था 1970-80 दशक मे प्रचलित रही।

1. 1970 से पहले की समयावधि—सन् 1970 से पहले सरकार ने यह निर्णय लिया था कि वह सहकारी साख समितियो के माध्यम से संस्थागत साख की पूर्ति करेगी। सरकार ने सुनियोजित ढंग से सहकारिताओ के विकास को ही प्रोत्साहन दिया। सहकारी समितियो के विकास के लिए हर प्रकार की छूट और सहायता दी गई परन्तु यह अनुभव किया गया कि सहकारी समितियाँ ग्रामीण साख प्रदान करने मे सफल नही रही। जुलाई 1966 मे श्री वैकन्टप्पा की अध्यक्षता मे अखिल भारतीय ग्रामीण साख पुनर्वलोकन समिति का गठन किया गया। जिसमे ग्रामीण साख प्रणाली का निरीक्षण किया। समिति ने अपने प्रतिवेदन मे वताया कि सहकारी प्रणाली सामान्य रूप से साख की आवश्यकताओ की पूर्ति करने तथा कुल सदस्यो मे से उधार लेने वाले सदस्यो की संख्या के मामले मे गतिहीन रही है। समिति ने यह भी अनुभव किया कि अतिदेय (Overdues) की मात्रा बहुत बढ़ गई है, और ये प्रतिवर्ष बढ़ते ही जा रहे है। समिति के अनुसार बहुत सारी प्राथमिक कृषि साख समितियाँ न तो व्यवहार्य है और न सम्भावी व्यवहार्य है, इसलिए उनको साख प्रदान करने की अपर्याप्त और असतोषजनक एजेन्सी मान लिया जाना चाहिए।

1970-80 अवधि—सन् 1966-67 और 1969 मे आर्थिक क्षेत्र मे दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी जिनका प्रभाव कृषि साख पर भी पडा। प्रथम घटना हरित क्राति जो कि नई कृषि तकनीक का परिणाम थी। दूसरी घटना जुलाई 1969 मे घटी जबकि देश के 14 बडे बैड्को का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। (15 अप्रैल 1980 को 6 और बडे व्यापारिक बैड्को का राष्ट्रीयकरण किया गया है।)

हरित क्राति ने कृषि विकास मे पहली बार नये मार्गों और विधियो को अपनाने की पहल की। पहली बार यह अनुभव किया गया कि यदि कृषको को पर्याप्त मात्रा मे कृषि आगतें उपलब्ध हो सके तो कृषि उत्पादन को बहुत कम समय मे बढाया जा सकता है। कृषि की विभिन्न आगते उसी समय पर्याप्त मात्रा मे किसानो को उपलब्ध हो सकती हैं जबकि कृषको के पास पर्याप्त वित्त हो। यह भी अनुभव किया गया कि कृषि वित्त की बढती हुई माँग को पूरा करने मे सहकारी समितियाँ सर्वथा असफल है अत. व्यापारिक बैड्को के राष्ट्रीयकरण के बाद इनको कृषि वित्त प्रदान करने का उत्तरदायित्व सौपा गया है। इस सम्बन्ध मे सरकारी नीति मे परिवर्तन हुआ है। पहली नीति मे कृषि साख के लिए सहकारिताओ को विकसित किया गया जबकि व्यापारिक बैड्को को इससे पृथक रखा गया। सन् 1970 के बाद से भारत मे कृषि साख के लिए **बहु एजेन्सीगत दृष्टिकोण** को अपनाया गया है।

बहु एजेन्सीगत दृष्टिकोण को अपनाने का प्रमुख कारण यह है कि कोई भी अकेली संस्था इतनी सशक्त और साधन युक्त नही है जो कि कृषि वृत्त की बढ़ती हुई जरूरतो की पूर्ति कर सके। इसीलिए सशोधन नीति मे राष्ट्रीयकृत बैक सहकारी समितियो के सहभागी के रूप मे कृषि साख प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। इसी समयावधि मे तीन नई संस्थाओ क्षेत्रीय ग्रामीण विकास बैक, कृषक सेवा समितियाँ, कृषि व ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैक की भी स्थापना की गई है।

अब हम उन बहु एजेन्सी संस्थाओ का वर्णन करेंगे जो कि कृषि साख प्रदान मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है ।

(1) सहकारी संस्थाएँ
(Co-operative Institutions)

भारत मे सहकारी साख ढाँचे के दो भिन्न पक्ष है। एक पक्ष अल्पकालीन और मध्यम कालीन ऋण प्रदान करता है जबकि दूसरा पक्ष दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती है। पहले पक्ष का त्रिस्तरीय ढाँचा है, जिसमे राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक, तथा ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक कृषि साख समितियाँ कार्य करती हैं। दीर्घकालीन सहकारी साख, राज्य सहकारी भूमि विकास बैंको तथा प्राथमिक सहकारी भूमि विकास बैंको के द्वारा प्रदान किया जाता है। जैसा कि नीचे चार्ट मे दर्शाया गया है :—

कृषि साख समितियाँ

1 राज्य सहकारी बैंक (राज्य स्तर पर)	1. राज्य भूमि विकास बैंक (राज्य स्तर पर)
2. जिला सहकारी बैंक (जिला स्तर पर)	2 प्राथमिक भूमि विकास बैंक (खण्ड तहसील, जिला स्तर पर)
3. प्राथमिक सहकारी साख समितियाँ (गाँव स्तर पर)	
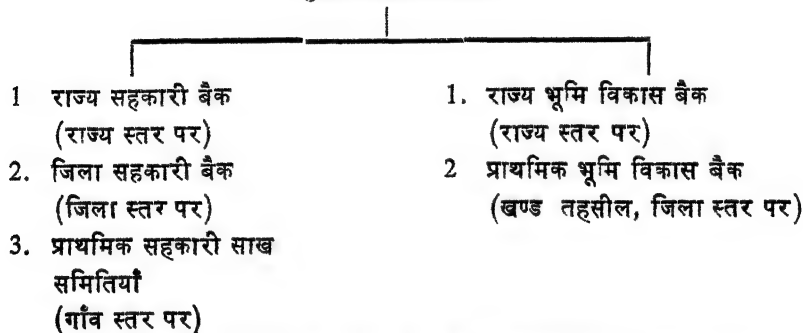
उपर्युक्त सभी संस्थाओ का वर्णन हम "कृषि सहकारिता" नामक अध्याय मे कर चुके है अत. उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नही कर रहे हैं।

(2) व्यापारिक बैंक
(Commercial Banks)

व्यापारिक बैंको द्वारा विश्व वित्त के सम्बन्ध मे निम्नलिखित अवस्थाओ का अवलोकन किया जा सकता है ।

प्रथम अवस्था 1962 से 1967 की समयावधि से सम्बन्धित है जिसमें बैंको की यह धारणा रही है कि किस क्षेत्र को वित्त प्रदान करना उनका कार्य नही है अतः इस समयावधि मे कृषि वित्त का अव्यवस्थित ढंग से विकास हुआ ।

द्वितीय अवस्था 1967 से 1975 तक विद्यमान रही जबकि व्यापारिक बैंको को यह विश्वास हो गया कि किस साख की व्यवस्था भविष्य मे बनी रहेगी इस समयावधि मे बैंकों ने विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध मे परीक्षण किये और कृषि वित्त के विकास के लिए सतत् प्रयत्न किये ।

तृतीय अवस्था सन् 1975 के उपरान्त शुरू होती है जबकि बैको ने यह अनुभव किया कि कृषि वित्त के लिए केवल उनके व्यक्तिवात प्रयास अपर्याप्त है क्योकि कृषि के लिए अत्यधिक कृषि वित्त की आवश्यकता है। कृषि वित्त की आवश्यकता की गम्भीरता को देखते हुए बैको ने यह निर्णय लिया कि कृषि वित्त की व्यवस्था के लिए अन्य एजेन्सियो का सहयोग भी आवश्यक है। इस समयावधि मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैको, कृषक सेवा सहकारी समितियो, प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियो, कृषि पुनर्वित एव विकास निगम तथा कृषि व ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैक के सहयोग से कृषि वित्त की व्यवस्था के लिए प्रयत्न किए गये है।

प्रगति का विवरण

कृषि साख के क्षेत्र मे व्यापारिक बैको ने यद्यपि बहुत देर से पदार्पण किया परन्तु अब उनका प्रयास यह है कि वे अपने सभी प्रतियोगियो से आगे निकल कृषि वित्त मे सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर ले। अत: अब व्यापारिक बैक पर्याप्त मात्रा मे कृषि वित्त प्रदान कर रहे है। जहाँ 1951-52 मे व्यापारिक बैको का कुल प्रदत्त ऋणो मे कृषि ऋण का अश 0·9 प्रतिशत था वह जून 1979 मे बढकर 13% हो गया व्यापारिक बैको ने 1980 मे 850 करोड रुपये के ऋण कृषि कार्य के लिए दिये है और यह 1984-85 तक बढ़कर 2120 करोड हो जायेगी। सार्वजनिक क्षेत्र के बैक अपने प्रयत्न गावों पर केन्द्रित कर रहे है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैको ने यह निर्णय लिया है कि बैकों का यह प्रयत्न होना चाहिए कि प्राथमिकता वाले क्षेत्रो से ऋण का अनुपात बढाकर 1985 तक 40 प्रतिशत हो जाये और यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि 20 सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत लाभ प्राप्त करने वालो के लिए अर्थ पूर्व अनुपात मे समग्र लक्ष्य रखा जाये। इसका अर्थ यह हुआ कि 1985 तक कुल ऋणों में कृषि क्षेत्र का अंश 16 प्रतिशत हो जायेगा। बैको को यह सुनिश्चित करना होगा कि कृषि कार्यों में दिये जाने वाले प्रत्यक्ष ऋणों का 50 प्रतिशत छोटे और सीमान्त किसानों व कृषि मजदूरो को मिले।

व्यापारिक बैङ्क तथा प्राथमिक कृषि साख समितियाँ

सन् 1970 में रिजर्व बैङ्क आफ इण्डिया के सुझावो पर व्यापारिक बैङ्को ने प्राथमिक कृषि साख समितियो के माध्यम से कृषि साख प्रदान करना आरम्भ किया। व्यापारिक बैङ्को द्वारा प्राथमिक कृषि ऋण समिनियों को वित्त देने की योजना का कई राज्यो में विस्तार किया गया। तथा आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा जम्मू और काश्मीर, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उडीसा, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और मणिपुर में यह योजना चल रही है। 24 व्यापारिक बैङ्क अपनी 735 शाखाओं द्वारा 3,151 समितियों को ऋण प्रदान करने हैं। इससे भी अधिक कृषकों को यह सुविधा प्रदान करने के लिए बैकों ने उन प्राथमिक साख समितियो को वित्तीय सहायता और संगठनात्मक सहायता प्रदान की है जो कि अब तक दोनो

दृष्टियो से कमजोर थी । इसके अलावा बैंको ने समितियो को अपने सदस्यो की संख्या को बढाने, अंश-पूंजी को बढाने, और ऋणो मे विविधता लाने की सलाह दी है ।

स्पष्टत' 1970-80 के दशक मे व्यापारिक बैक कृषि क्षेत्र को विभिन्न रूपो मे विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है । व्यापारिक बैको ने इसके लिए ग्राम अभि-ग्रहण योजना, लीड बैक योजना, क्षेत्रीय विचारधारा, क्षेत्रीय ग्रामीण बैको की स्थापना, कृषक सेवा समितियो की स्थापना, प्राथमिक कृषि साख समितियो के माध्यम से कृषको को ऋण, अन्य एजेन्सियो के माध्यम से कृषि क्षेत्र को ऋण, और ग्रामीण समुदाय को प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करके कृषि विकास के इतिहास मे एक नये युग को आरम्भ किया है ।

कृषि वित्त में व्यापारिक बैंकों की सीमाएँ—व्यापारिक बैक कृषि वित्त प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है लेकिन उनके समक्ष कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(1) बैको को ग्रामीण क्षेत्रो मे अपने स्टाफ को भेजने मे भी कठिनाइयो का सामना करना पडता है । गत् 10 वर्षों मे व्यापारिक बैको की ग्रामीण स्थिति शाखाओ मे विभिन्न प्रकार की अनियमितताओ और अनाचारो की शिकायतें मिली है ।

(2) व्यापारिक बैक कृषि वित्त प्रदान करने मे जो लागत आती है उसको स्पष्ट रूप से व्यक्त नही कर पाते है, और न ही ग्रामीण क्षेत्रो मे नई शाखाओ को खोलने तथा कार्यशील रखने मे उनको जो हानि होती है उसका विवरण दे पाते है ।

(3) प्रत्येक गाँव मे 100 मे से केवल 25 किसानो को ही कृषि वित्त की सुविधाएँ उपलब्ध होती है । बैको ने ग्राम अधिग्रहण योजना के अन्तर्गत कुछ विशेष गाँवो को ही चुना है, पिछडे हुए और अधिक वित्तीय आवश्यकता वाले गाँवो को इस योजना के अन्तर्गत कोई स्थान नही प्राप्त हो सका ।

(4) व्यापारिक बैक सीमान्त कृषको को भी ब्याज की उसी दर पर साख की सुविधाएँ प्रदान करते है जो कि बडे कृषको के लिए निर्धारित की गई है । अधि-काश व्यापारिक बैको ने साख प्रदान करने की विधि मे कोई सुधार नही किए है । अब भी किसानो को प्रशासनिक औपचारिकताओ को पूरा करने के लिए काफी मात्रा मे आय और समय नष्ट करना पडता है, तथा अतिदेयो की मात्रा 49 प्रतिशत तक पहुँच गई है ।

(5) कई अवस्थाओ मे बैको के कर्मचारी और अधिकारीगण ग्रामीण बैंकिग मे अधिक रुचि नही लेते है । कुछ शाखाओ मे अग्रिम ब्राच मैनेजर की इच्छानुसार नही दिये जाते, बल्कि क्षेत्रीय मैनेजरो के दबाव के कारण दिए जाते है ।

(6) व्यापारिक बैको ने कृषि के विकासात्मक कार्यों तथा सहायक कार्यों के लिए ऋणों की पृथक व्यवस्था नही की है जबकि विकासात्मक व्यय से ही गाँव में नये रोजगार के अवसरो का निर्माण हो सकता है ।

(3) स्टेट बैङ्क
(State Bank)

भारतीय स्टेट बैक ने अपनी स्थापना के समय से ही कृषि वित्त उपलब्ध करने का प्रयास किया है कृषको को ऋण देने के सम्बन्ध मे भारतीय स्टेट बैङ्क प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनो ही तरीको को काम मे लाता है जिनका वर्णन नीचे दिया गया है—

(1) **कृषि को प्रत्यक्ष साख**—प्रारम्भ मे ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो के आधार पर यह नीति सम्बन्धी निर्णय लिया गया कि ग्रामीण साख की पूर्ति मे केवल सहकारी संस्थाएँ ही कार्य करेगी। अत. प्रारम्भ मे भारतीय स्टेट बैक से यही अपेक्षा की गई कि वह कृषि को प्रत्यक्ष रूप से नही वरन् सहकारी संस्थाओ के मार्फत ही कृषि साख की पूर्ति मे योगदान देगा। लेकिन देश मे हरित क्रान्ति को सफल बनाने के लिए कृषि क्षेत्र मे अधिक कीमती इन्पुट्स के गहन प्रयोग होने व सहकारी साख संस्थाओ को बढती हुई कृषि साख की माँग के परिप्रेक्ष्य मे असफल स्वीकार कर लिए जाने के कारण अप्रैल 1968 मे सहकारी नीति बदल गई और व्यापारिक बैको से कृषि को अधिकाधिक साख देने के लिए कहा गया।

(2) **कृषि को अप्रत्यक्ष साख**—कृषि को अप्रत्यक्ष साख देने मे भी स्टेट बैक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस सम्बन्ध मे भारतीय स्टेट बैक राज्य सहकारी बैको तथा केन्द्रीय सहकारी बैको को धन प्रेषण की सुविधा प्रदान करता है। सहकारी बैक के लिए चैक, विनिमय पत्र तथा अन्य साख पत्रो के संग्रहण करने का कार्य भी रियायती दरों पर करता है इसके अतिरिक्त जहाँ केन्द्रीय सहकारी बैक कृषि पदार्थों के क्रय-विक्रय आदि के लिए ऋण प्रदान करने की स्थिति मे नही है वहाँ विपणन व विधायन समितियो को ऋण देता है राज्य सरकारो, भारतीय खाद्य निगम व राज्य बिजली बोडो को भी ऋण प्रदान करता है।

1980 के अन्त तक अप्रत्यक्ष कृषि साख के रूप में बैक ने कुल 180 करोड रुपये प्रदान किए थे। इनमें से 22·2 करोड रुपये के ऋण 2 42 लाख कृषको के 926 प्राथमिक कृषि साख समितियो के मार्फत दिये गये तथा 5·3 करोड़ रुपये 54358 किसानो को 43 कृषक सेवा समितियो के द्वारा दिये गये।

(4) कृषक सेवा समितियाँ
(Farmers Service Societies FSS)

राष्ट्रीय कृषि आयोग की सिफारिसो के आधार पर 1973-74 में कृषक सेवा समितियो का गठन निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया गया—

1. साख के अतिरिक्त कृषको को तकनीकी सेवाएँ प्रदान करना ये सेवाएँ विशेष रूप से छोटे किसानो को कृषि कार्यों के विविधीकरण के लिए समन्वित रूप से एक सम्पर्क बिन्दु से प्रदान की जायेगी।

2. यद्यपि कृषक सेवा समितियो का लाभ क्षेत्र के सभी वर्गों के कृषको को प्राप्त हो सकेगा लेकिन समितियो का नियंत्रण एक बोर्ड के हाथ मे होगा जिसमे दो

तिहाई निर्वाचित सदस्य कमजोर वर्ग का प्रतिनिधित्व करेंगे जिससे कि साख के प्रवाह एवं तकनीकी सेवाओ और परामर्श के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित हो सके ।

वस्तुत कृषक सेवा समितियाँ ग्रामीण साख ढाँचे की एक अद्वितीय एजेन्सी है इसकी अद्वितीयता इस बात से स्पष्ट होती है कि यह सस्था एक स्थान से ही ग्रामीण क्षेत्र के विकास के पूर्ण उत्तरदायित्व को निभाती है तथा अपने सभी सदस्यो और विशेष रूप से छोटे एव सीमान्त कृषको तथा स्थानीय दस्तकारो की सभी प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है । इसकी अद्वितीयता इस बात से भी स्पष्ट होती है कि यह सस्था आधार स्तर पर सहकारी सगठन एवं व्यापारिक बैको से कार्यों मे आदर्श समन्वय स्थापित करती है । इस संस्था के प्रयत्नो के कारण व्यापारिक बैंको की सेवाएँ प्रत्येक कृषक को उपलब्ध हो पाती है। कृषक सेवा समितियो और व्यापारिक बैंक का सम्बन्ध समानरूप से एक ग्राहक और बैंकर का होता है । व्यापारिक बैंक कृषक सेवा समितियो को ऋण प्रदान करते समय इनकी सुरक्षा और लाभदायकता पर पूर्ण ध्यान रखता है । बैंक इस बात को भी देखने का प्रयत्न करता है कि इन समितियो को दिए गए ऋणो का उपयोग उन्ही कार्यों मे हो रहा है जिनके लिए ये प्राप्त किए गए है । अथवा नही ।

प्रगति—दिसम्बर 1976 तक देशो मे लगभग 311 सेवा समितियाँ कार्यरत थी । जिनमे 181 व्यापारिक बैको द्वारा और 130 सहकारिताओ के द्वारा प्रवर्तित की गई है । लेकिन इन समितियो का राज्यानुसार वितरण बहुत असमान है । कुल 311 कृषक सेवा समितियो मे से 116 समितियाँ केवल कर्नाटक राज्य मे ही स्थिति थी, और इनमे से 87 समितियाँ व्यापारिक बैको द्वारा प्रवर्तित थी ।

किंचित कारणो से कृषक साख समितियो की स्थापना के कार्य मे अधिक प्रगति नही हो सकी है । ये समितियाँ कई दृष्टिकोणो से परिष्कृत कृषि साख समितियो के समान ही है जो कि राष्ट्रीय कृषि आयोग की कल्पना से बहुत दूर है । संक्षेप मे कृषक सेवा समितियो की प्रमुख कमिया निम्नलिखित है—(i) कई राज्यो मे कृषक सेवा समितियो के प्रबन्ध बोर्डों मे कमजोर वर्ग के दो तिहाई सदस्यों की व्यवस्था को व्यवहार मे नही अपनाया गया है । (ii) अधिकाश कृषक सेवा समितियाँ लक्ष्यो के अनुसार साख की सुविधाएँ प्रदान करने में असफल रही है । (iii) मार्च 1977 तक 166 कृषक सेवा समितियो मे से 55 को तकनीकी स्टाफ या सहायता की कोई सेवाएँ प्रदान नही की गई है । (iv) कृषक सेवा समितियो का प्रमुख उद्देश्य कमजोर वर्ग के कृषको को साख सुविधाएँ प्रदान करना था, लेकिन कुछ अल्पकालीन ऋणो का केवल 38 8 प्रतिशत भाग ही कमजोर वर्ग के लोगो को प्राप्त हो सका । (v) आतिदेयो के सम्बन्ध में भी कृषक सेवा समितियो की स्थिति प्राथमिक साख समितियो से अच्छी नही है । अधिकाश साख समितियो के अतिदेय 50 प्रतिशत से भी अधिक थे । (vi) हाल ही मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के कृषि साख विभाग ने 166 कृषक सेवा समितियो के अध्ययन के बाद यह बताया है कि बहुत से राज्यो मे अब भी कृषक सेवा समितियो के कार्य क्षेत्र मे स्थित प्राथमिक साख समितिया बडी

मात्रा में कृषि साख प्रदान करती है। (vii) कृषक सेवा समितियो की गैर साख के कार्यों की प्रगति भी अधिक संतोष जनक नही रही है। लगभग 76 समितियाँ कोई कृषि आगतें प्रदान नही कर रही थी। लगभग 134 समितियों ने अपने सदस्यो के लिए विपणन की कोई सुविधाएँ प्रदान नही की थी।

(5) क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्क
(Regional Rural Banks)

स्थापना—भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही किसानो को ऋणग्रस्तता से मुक्ति दिलाने के लिये अनेक उपाय किये है परन्तु संस्थागत वित्त की अपर्याप्त उपलब्धि किसानो को देशी महाजनो के शिकजे से पूर्ण मुक्ति नही दिला पायी थी। किसानो को परम्परागत ऋण-व्यवस्था से छुटकारा दिलाने के लिये सरकार ने प्रथम प्रयास 1960 मे बैको के राष्ट्रीयकरण के रूप मे व द्वितीय प्रयास 2 अक्टूबर 1975 को महात्मा गाधी के जन्म दिवस पर पहली बार ग्रामीण बैको की स्थापना करके किया।

उद्देश्य—ग्रामीण बैको की स्थापना के पीछे मूल उद्देश्य यह है कि ग्रामीण बैक ग्राम समूह को बैक सेवाएँ उपलब्ध करेगे और साधारण तौर से 5 हजार से 20 हजार ग्रामवासियो के लिये एक बैक स्थापित किया जायगा।

यह बैक छोटे किसानो, ग्रामीण कारीगरो और सामान्य वर्ग के व्यापारियो एवं उत्पादको के लिये ऋण की व्यवस्था करेगे और बैक सुविधाएँ उपलब्ध करेगे। संक्षेप मे ये बैक गाँव वालो की आवश्यकता के अनुसार बैङ्क सेवाओ का प्रबन्ध करेगे।

संक्षेप में, क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्को के निम्न उद्देश्यो का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास एवं समाज के कमजोर वर्गों के लिए ऋण प्रदान करता है।

(ii) सुगम व आसान पद्धति द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे शीघ्र बैंकिग सुविधाएँ प्रदान करना।

(iii) ग्रामीण क्षेत्रो मे ऋण सुविधाओ की कमी को दूर करना।

प्रगति—जून 1980 के अन्त तक 73 क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्क देश के 17 राज्यो के 130 जिलो मे अपनी (2678) शाखाओ के साथ कार्यरत थे। इनमे 40 प्रतिशत से अधिक शाखाएं (1160) देश के तीन राज्यो—उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश मे कार्य कर रही थी।

(6) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया
(Reserve Bank of India)

भारतीय अर्थव्यवस्था की कृषि प्रधान प्रकृति को देखते हुए प्रारम्भ से ही रिजर्व

बैक को कृषि वित्त के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करने की जिम्मेदारी सौपी गई है।

वर्तमान मे रिजर्व बैक कृषि साख क्षेत्र के विकास हेतु अल्पकालीन, मध्यम-कालीन एवं दीर्घकालीन तीनो ही प्रकार की साख सुविधाएँ उपलब्ध कराता है। रिजर्व बैक यह साख प्रत्यक्ष रूप से कृषको के माध्यम से ही नही वरन् परोक्ष रूप से राज्य सहकारी बैको, केन्द्रीय भूमि विकास बैको एव राज्य सरकारो के माध्यम से उपलब्ध कराता है जिसका वर्णन निम्न है .—

(1) **अल्पकालीन साख सुविधाएँ**—राज्य सहकारी बैक को रिजर्व बैक की की ओर से अल्पकालीन साख या तो पुनर्कटौती के रूप मे मिलती है—अथवा अग्रिम के रूप मे मिलती है। पुनर्कटौती व अग्रिम की सुविधाओ का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

धारा 17 (2) (a) के अन्तर्गत वास्तविक सौदे से उत्पन्न प्रॉमिसरी नोट व बिलो की, जो 90 दिन मे परिपक्व होते है, पुनर्कटौती की व्यवस्था की गई। धारा 17 (2) (b) के अन्तर्गत 15 महीने मे परिपक्व होने वाले उन प्रॉमिसिरी नोटो व बिलो की पुनर्कटौती की व्यवस्था की गई जो मौसमी कृषि कार्यों या फसलो की बिक्री के लिए बनाये गये है। इस धारा के अन्तर्गत मिश्रित व कृषि-परिनिर्माण कार्य भी शामिल किए गये है।

इस प्रकार रिजर्व बैक ने वर्ष 1980-81 मे अल्पकालीन साख के रूप मे कुल 950 करोड रुपये की ऋण सीमा स्वीकृति की जबकि जून 1981 के अन्त मे बकाया राशि 378 करोड रुपये की।

(2) **मध्यकालीन ऋण**—रिजर्व बैक ने 1956 मे दो कोषो की स्थापना की है (i) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष व (ii) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायी-करण) कोष। इन दोनो कोषो को क्रमश. 10 करोड व एक करोड रुपये से स्थापित किया गया है। बैंक इन कोषो में से सहकारी बैंको को मध्यकालीन ऋण प्रदान करती है जो 15 महीने से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए होते है।

रिजर्व बैक मध्यमकालीन ऋण के रूप मे वर्ष 1980-81 मे कुल 90 करोड़ रुपये की ऋण सीमा स्वीकृत की जबकि जून 1981 के अन्त मे ऐसे ऋणो की बकाया राशि 132 करोड रुपये थी।

(3) **दीर्घकालीन वित्तीय सहायता**—रिजर्व बैक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ-कालीन कोष) मे से राज्य सरकारो को सहकारी साख सस्थाओ की शेयर पूंजी खरी-दने के लिए 12 वर्षों की अवधि के दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करता है ये ऋण केवल 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर पर प्रदान किये जाते हैं वर्ष 1980-81 में रिजर्व बैक ने इसके अन्तर्गत 17 राज्य सरकारो को 5284 साख संस्थाओ की शेयर पूंजी मे योग देने के लिए 13 करोड रुपये स्वीकृत किए ऐसे ऋणो की बकाया राशि जून 1981 के अन्त मे 128 करोड़ रुपये थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि वित्त के क्षेत्र मे रिजर्व बैक एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। रिजर्व बैक प्रत्यक्ष रूप से कृषि साख प्रदान न करके विभिन्न संस्थाओ जैसे सहकारी बैको, कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम आदि के माध्यम से ऋण की व्यवस्था करता है यह विभिन्न वित्तीय सस्थाओ की क्रियाओ को समन्वित करने का भी कार्य करता है। यह कृषि साख प्रदान करने वाली विविध संस्थाओ का नियंत्रण भी करता है। यह उनसे प्रगति का विवरण माँगता है। यह स्थिति का ब्यौरा लेने के लिए विशेषज्ञ समितियो का भी गठन कर सकता है। इस प्रकार की समितियो मे अन्ततम समिति 'The Committee for Reviewing Arrangements for Financing Institutional Credit for Agricultural and Rural Development'' (CRAFICARD) है। यह समिति एक उच्च अधिकार प्राप्त समिति है जिसका गठन रिजर्व बैक ने मार्च 1979 मे किया था इस समिति का मुख्य कार्य कृषि एव ग्रामीण विकास के लिए संस्थागत वित्त की वर्तमान व्यवस्था के सम्बन्ध मे सुझाव देना है।

(7) कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम
(Agricultural Refinance & Development Corporation : ARDC)

1 जुलाई सन् 1963 को रिजर्व बैङ्क व केन्द्र सरकार के सहयोग से कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना हुई और भारत के कृषि साख के इतिहास मे एक नये अध्याय का सूत्र-पात हुआ। एक जुलाई 1975 मे इस अधिनियम मे कुछ सशोधन किए गये तथा निगम की विकासात्मक भूमिका के निर्वाह के सम्बन्ध मे इसका नाम बदलकर कृषि पुनर्वित एवं विकास निगम रख दिया गया। यह संशोधन 15 नवम्बर 1975 से अमल में लाया गया।

उद्देश्य व कार्य—कृषि पुनर्विन एव विकास निगम कृषको को प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान नही करता है बल्कि यह उन संस्थाओ को ऋण देता है जो कि कृषको को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करती है। कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है—

(i) प्रमुख ऋणदाताओ को कृषि विकास को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक संसाधनो की व्यवस्था करना।

(ii) केन्द्रीय भूमि विकाम बैङ्को, राज्य सहकारी बैङ्को, अनुसूचित बैङ्को तथा सहकारी समितियो के द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रो को खरीदना या अशदान देना।

(iii) निगम केन्द्रीय भूमि विकास बैङ्को तथा राज्य सहकारी बैङ्को को छोड कर अनुमोदित अन्य सहकारी समितियो को प्रत्यक्ष ऋण भी उपलब्ध करता है।

(iv) उपर्युक्त कार्यों के अलावा निगम स्थापित भुगतानो की गारंटी देने का कार्य भी करता है।

कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम द्वारा व्यक्तिगत सौदो के लिए अधिकृत सीमा 50 लाख रुपये निर्धारित की गई है। मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन दोनो ही

कार के ऋणो के लिए पुनर्वित्त की सुविधाएँ उपलब्ध होती है। मध्यकालीन वित्तीय हायता 3 से 5 वर्ष की समयावद्धि, तथा दीर्घकालीन सहायता अधिकतम 15 वर्ष विशेष परिस्थितियो मे 20 वर्ष) के लिए प्रदान की जाती है।

प्रगति—कृषि पुनर्वित विकास निगम की क्रियाओ में अभूत पूर्व वृद्धि हुई है सा कि नीचे दी गई सारणी से प्रकट होता है—

वर्ष	स्वीकृत परियोजनाओ की संख्या	स्वीकृत वित्तीय सहायता की मात्रा	वितरित ऋण
1970-71	458	293 00	89.71
1974-75	2053	1007.23	423 07
1978-79	8655	2737.79	1333 56

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कृषि के लिए शिखर विकास बैङ्क के रूप मे षि पुनर्वित और विकास निगम विभिन्न राज्यो मे कृषि तथा सम्बन्धित कार्यों मे वेशो को बढाने के लिए सक्रिय रूप से कार्य कर रहा है। निगम ने अपनी-स्थापना लेकर जून 1980 तक कुल, 1738 करोड रुपयो की राशि वितरित की।

सारणी से स्पष्ट है कि कृषि पुनर्वित एव विकास निगम के द्वारा स्वीकृत ऋणो था वास्तविक वितरण मे बहुत अधिक अन्तर है इससे प्रकट होता है कि कृषि पुन- त एव विकास निगम के कोषो का पूर्ण उपयोग नही हो सका। कोषो के अपूर्ण पयोग के प्रमुख कारण निम्नलिखित है।

(1) कृषि पुनर्वित एवं विकास निगम के द्वारा ऋण प्रदान करने मे बहुत समय गता है।

(ii) कृषि विकास योजनाओ से सम्बन्धित विभिन्न एजेन्सियो मे पूर्ण समन्वय ा अभाव है।

(iii) भूमि पुनर्गठन के लिए भारी मशीनो की अनुपलब्धता, परियोजना के र्वेक्षण मे देरी, तथा सिंचाई के लिए पानी की निकाशी मे देरी आदि।

(8) कृषि व ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय बैंक—नाबार्ड (The National Bank for Agricultural and Rural Development NABARD)

रिजर्व बैंक द्वारा 'कृषि व ग्रामीण विकास के लिए सस्थागत साख की व्यव- ाओ के पुनरीक्षण पर' प्रगति शिवरमन कमेटी का एक प्रमुख सुझाव यह था कि श मे कृषि व ग्रमीण के लिए राष्ट्रीय बैक की स्थापना की जावे। इस समिति की फारिशो को सरकार ने स्वीकार किया और इसी परिप्रेक्ष्य मे 18 सितम्बर 1981 ो सरकार ने लोकसभा मे इस बैठक की स्थापना के लिए एक बिल पेश किया। इस क ने 12 जुलाई 1982 से अपना कार्य शुरू कर दिया है इस बैक ने रिजर्व बैक के

कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों को अपने हाथ मे ले रखा है इस बैक की स्थापना के साथ ही साथ वर्तमान कृषि पुनर्वित व विकास निगम का इसमे विलय कर दिया जायेगा।

बैक के उद्देश्य—कृषि व ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैक वर्तमान संस्थागत वर्तमान कृषि साख नीति के अन्तर्गत कार्य करेगा जिसके प्रमुख निम्न उद्देश्य है :—

(1) कृषि व ग्रामीण विकास के लिए संस्थागत साख को पूर्ति को बढ़ाना व सुनिश्चित करता।

(2) साख का एक बडा भाग कमजोर वर्गों को उपलब्ध कराना।

(3) साख की उपलब्धता मे क्षेत्रीय असन्तुलन को कम करना।

(4) बहु एजेन्सी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य कर रही विभिन्न साख संस्थाओ के बीच-अधिक समन्वय स्थापित करना।

(5) साख के निरन्तर पुनः प्रवाह को बनाये रखने के लिए संस्थागत ऋणो की वसूली की स्थिति मे सुधार लाना।

बैक के कार्य—(1) ग्रामीण ऋण के क्षेत्र मे रिजर्व बैक के कार्यों का विकेन्द्रीकरण करते हुए इसकी परिकल्पना की गई और यह कृषि पुनर्वित्त और विकास (कृपुवि) निगम का समस्त कार्य तथा राज्य सहकारी बैको और क्षेत्रीय ग्रामीण बैको के सम्बन्ध मे रिजर्ब बैक से पुनर्वित पोषण का कार्य अपने हाथ मे लेगा।

(2) बैको के पुनर्वित के रूप मे यह कृषि, लघु उद्योगो, कारीगरो, कुटीर और ग्रामीण उद्योगो, हस्त शिल्प और अन्य सम्बन्धित आर्थिक कार्यों के लिए समकित रूप से सभी प्रकार के उत्पादन और निवेश ऋण प्रदान करेगा।

ऋण प्रावधान—(1) राज्य सहकारी बैको, क्षेत्रीय ग्रामीण बैको और अन्य वित्तीय संस्थाओ (रिजर्व बैक द्वारा अनुमोदित) को निम्नलिखित कार्यो के लिए ऋण प्रदान किया जायेगा जो 78 महीनो की अवधि मे चुकाना होगा कृषि कार्य या फसलो का विपणन कृषि या ग्रामीण विकास के लिए आवश्यक निवेश योग्य वस्तुओ का विपणन और वितरण, वास्तविक वाणिज्यिक और व्यापारिक लेन देन एवं कारीगरो या लघु उद्योगो, अत्यन्त लघु और विकेन्द्रित क्षेत्रो के उद्योगो, ग्रामीण और कुटीर उद्योगो आदि के उत्पादन और विपणन कार्य।

(2) राज्य सहकारी बैको को दिये गए अल्पावधि ऋण, सूखे, अकाल या अन्य प्राकृतिक विपत्तियों, सैनिक गतिविधियो या शत्रु की कार्यवाही की स्थितियो मे सात वर्ष से अधिक की अवधियो के लिए मध्यावधि ऋणो मे परिवर्तित किए जा सकते है। जैसा कि नाबार्ड द्वारा निश्चित किया गया है।

(3) राज्य सहकारी बैकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैको को कृषि तथा ग्रामीण विकास और अन्य प्रयोजनों के लिए 18 महीनो से कम और सात वर्ष से अधिक की प्रवधियों के लिए मध्यावधि ऋण प्रदान किए जायेंगे।

(4) भूमि विकास बैंको क्षेत्रीय ग्रामीण बैको, अनुसूचित बैको, राज्य सहकारी बैंको और अन्य वित्तीय सस्थाओं को कृषि और ग्रामीण विकास को बढ़ाने हेतु तथा कारीगरो, लघु उद्योगो अत्यन्त लघु और विकेन्द्रित क्षेत्रों के उद्योगो और ग्रामीण कुटीर

उद्योगो को ऋण देने के लिए पुनर्वित्त के रूप मे दीर्घावधि ऋण और अग्रिम प्रदान किए जायेगे।

(5) दीर्घावधि ऋणो और अग्रिमो की अवधि 25 वर्ष (पुनर्निर्धारण की अवधि सहित) से अधिक नही होगी जैसा कि रिजर्व बैंक अब तक करता रहा है।

(6) नाबार्ड 20 वर्ष से अधिक अवधि क लिए राज्य सरकारो को ऋण और अग्रिम प्रदान करेगा ताकि वे सहकारी ऋण समितियो की शेयर पूंजी मे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से अभिदान कर सके।

(7) नाबार्ड केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित संस्था को भी सीधे ही दीर्घावधि ऋण प्रदान कर सकता है। साथ ही वह कृषि और ग्रामीण विकास से सम्बन्धित किसी सस्था की शेयर पूंजी मे अंशदान कर सकता है या उसकी प्रतिभूतियो मे निवेश कर सकता है ।

बैंक की पूंजी—कृषि व ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय बैङ्क की प्रारम्भिक साख आवश्यकताओ के लिए 100 करोड रुपये की व्यवस्था की गई है। चूंकि बैङ्क भारत सरकार और रिजर्व बैङ्क दोनो के स्वामित्व मे कार्य करेगा अतः यह व्यवस्था की गई है कि सरकार व रिजर्व बैङ्क दोनो के पारस्परिक विचार विमर्श से इसकी पूंजी को 500 करोड रुपये तक बढाया जा सकेगा।

प्रबन्ध—कृषि व ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय बैक का प्रबन्ध एक संचालक बोर्ड मे निहित होगा। इस संचालक बोर्ड मे तीन संचालक रिजर्व बैङ्क के संचालक बोर्ड के ही होगे। संचालन बोर्ड की सहायता के लिए एक सलाहकारी परिषद होगी जिसमे ऐसे व्यक्ति होगे जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, ग्रामीण विकास, हैण्डीक्राफ्ट व अन्य ग्रामीण शिल्पो, ग्रामीण व कुटीर उद्योगो और लघु उद्योगो के विशेषज्ञ हो। इस परिषद मे सहकारी बैको, व्यापारिक बैङ्को तथा केन्द्र व राज्य सरकारो के अनुभवी लोगो को भी स्थान दिया जायेगा।

बैङ्क में विभिन्न कोषों की स्थापना—इस राष्ट्रीय बैङ्क मे दो कोषो की स्थापना का प्रावधान भी रखा गया है प्रथम राष्ट्रीय ग्रामीण साख (दीर्घकालीन कार्यों के लिए) कोष द्वितीय, राष्ट्रीय ग्रामीण साख (स्थिरीकरण) कोष। इन कोषो की स्थापना के लिए भारतीय रिजर्व बैङ्क के वर्तमान राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यों के लिए) कोष और राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष को इस नये बैङ्क को स्थानान्तरित कर दिया जावेगा। इन कोषो मे केन्द्र व राज्य सरकारें भी समय-समय पर अपना अंशदान करेगी।

शोध विकास प्रशिक्षण के लिए बैङ्क मे एक अलग कोष के स्थापना की व्यवस्था की गई है इससे कृषि और ग्रामीण विकास में अनुसंधान को बढ़ावा देने मे सहायता मिलेगी।

निश्चय ही नये बैङ्क के कार्य वर्तमान कृषि व साख पुनर्वित्त से सम्बन्धित है यह बैङ्क न केवल कृषि कार्यों के लिए ही अल्पकालीन साख प्रदान करेगा बल्कि फसलो

के विपणन और आवश्यक आदाओ के लिए भी अल्पकालीन साख की सुविधा प्रदान करेगा ।

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि बैङ्क की सफलता उसके विस्तृत और महत्त्व कार्यों मे निहित नही है बल्कि इस बात मे है कि वह उन्हे कितनी योग्यता और कार्य कुशलता से कर पाता हैं यह बैङ्क के नेतृत्व और प्रशासनिक अधिकारियो की योग्यता तथा सगठन के तकनीकी व आर्थिक पक्षो पर निर्भर करेगा कि वह ग्रामीण भारत की चुनौतियो का सामना करने मे कहाँ तक सफल होता है ।

1980-85 की नयी छठी पंचवर्षीय योजना में साख की पूर्ति सम्बन्धी अनुमान

फरवरी 1981 मे स्वीकृत की गई नयी छठी पचवर्षीय योजना मे विभिन्न सस्थाओ द्वारा कृषि साख की पूर्ति सम्बन्धी अनुमान निम्नाकित सारणी द्वारा दर्शाया गया है—

विभिन्न सस्थाओं द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली कृषि साख के लक्ष्य

(करोड रुपयो मे)

संस्थाएँ	1979-80 मे अनुमानित अग्रिम	1984-85 मे दी जाने वाली साख
1. सहकारी सस्थाएँ		
(i) अल्पकालीन	1300	2500
(ii) मध्यमकालीन	125	240
(iii) दीर्घकालीन	275	555
2 व्यापारिक बैङ्क (क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्को सहित)		
(i) अल्पकालीन	450	1500
(ii) सावधि ऋण	400	620
कुल योग	2550	5415

छठी योजना मे कृषि साख नीति मे अन्य वातो के अलावा इस बात पर जोर दिया गया है कि उपलब्ध की जाने वाली साख का अधिकाश भाग ग्रामीण समुदाय के कमजोर वर्ग को दिया जाये, साख वितरण मे विद्यमान क्षेत्रीय असमानता मे कमी की जाये तथा कृषि और ग्रामीण विकास के लिए दी जाने वाली संस्थागत साख के आकार मे निश्चित वृद्धि हो ।

कमजोर वर्ग को अधिक साख उपलब्ध कराने के लिए यह नीति निर्धारित की गई कि व्यापारिक बैङ्क अपने कुल अग्रिमो का 40 प्रतिशत प्राथमिकता वाले क्षेत्रो को और इसका 50 प्रतिशत कमजोर वर्ग को विशेषकर कारीगरो, भूमिहीन

श्रमिको आदि को दिया जाये। साख वितरण के सम्बन्ध मे यह तय किया गया है कि बैङ्क रहित क्षेत्रो मे ग्रामीण शाखाओ का विस्तार किया जाय तथा अधिक जिलो मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्क स्थापित किए जाये। इसके लिये यह लक्ष्य निर्धारित किया कि वर्तमान के 65 क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्को से बढकर 1984-85 तक 170 ऐसे क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्क हो जायेगे जो देश के 394 जिलो मे से 270 जिलो मे कार्य करेंगे। योजना मे कहा गया कि कृषि ऋणो के वापस न आने का प्रमुख कारण इन सस्थाओ मे समन्वय की कमी है। साख ही वसूली के लिए सामान्य वातावरण को भी इसके अनुकूल बनाने की आवश्यकता है। योजना मे राज्य सरकारो को कहा गया है कि वे कृषि ऋण दात्री सस्थाओ की ऋण वसूली के कार्य मे सहायता करे। साथ ही उन्हे यह निर्देश दिए गए है कि वे अवधिपार ऋणो को माफ करने के विचार से दूर रहे।

कृषि वित्त सम्बन्धी सुझाव
(Suggestions for Agricultural Finance)

यद्यपि योजनावधि मे संस्थागत साख का काफी विकास हुआ है परन्तु यह विकास कृषि क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए पर्याप्त नही कहा जा सकता है। अत. इससे विकास के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते है :—

1. **समन्वय**—कृषि वित्त देने वाली विभिन्न प्रकार की सस्थाओ मे परस्पर एवं समुचित समन्वय होना चाहिए।

2 **कुशल प्रबन्ध**—वित्त प्रदान करने वाली समितियो का प्रबन्ध कुशल, योग्य एवं कर्मठ व्यक्तियो के द्वारा किया जाय।

3 **सहकारी विपणन समिति**—किसान को वित्त देते समय उसे इस बात के लिए प्रेरिर करना चाहिए कि वह अपनी पैदावार को सहकारी विपणन समिग्ति के द्वारा ही बेचे। इससे सम्बन्धित स्वीकृति लिखित रूप से किसान द्वारा ले लेनी चाहिए। सहकारी साख समितियो और सहकारी विपणन समितियो के मध्य समन्वय एक दूसरे की सफलता मे सहायक होता है।

4 **जमा बीमा पद्धति**—विभिन्न स्तरो पर सहकारी बैको को स्वय अधिक से अधिक जमा (Deposit) प्राप्त करना चाहिये तथा जमा बीमा पद्धति को विकसित करना चाहिए।

5. **उपज ऋण पद्धति**—किसानो से उपज ऋण पद्धति की प्रथा को विकसित करना चाहिए। प्रतिभूतियो के रूप मे भूमि पर जोर न देकर किसानो की ऋण अदायगी की योग्यता पर जोर देना चाहिए।

6. **केन्द्रीय सहकारी बैंक**—कमजोर जिला केन्द्रीय बैंक पुनर्गठन तथा पुन. स्थापना शीघ्र ही किया जाना चाहिए और एक जिले मे मात्र एक केन्द्रीय सहकारी बैंक होना चाहिए।

7. **पूंजीगत साधनों में वृद्धि**—सहकारी साख समितियो के पूंजीगत साधनो मे वृद्धि की जाय जिससे वे किसानो की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने मे अधिक से अधिक भाग ले सके ।

8. **ऋण में सरलता**—आर्थिक दृष्टि से तो ग्रामीण क्षेत्र मे बैङ्क खोलना लाभप्रद तो नही होता, लेकिन सामाजिक लाभ को ध्यान मे रखते हुए यह कार्य करना चाहिए । व्यापारिक बैङ्को को ऋण देते समय यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उनकी सुविधा का केवल बडे-बडे किसान ही लाभ न उठाएँ ।

9. **कृषि साख मे रुचि**—व्यापारिक बैङ्को को कृषि साख मे विशेष रूप से रुचि रखनी चाहिए ।

परीक्षा प्रश्न

1. कृषको की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ का वर्गीकरण कीजिये । भारत मे कृषि के लिए ऋण प्राप्त करने के कौन-कौन से मुख्य साधन है और उनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है ?

2. भारत मे ग्रामीण साख प्रदान करने वाली विभिन्न सस्थाएँ कौन-कौन सी है ? उनके दोष क्या है तथा उन्हे दूर करने के क्या उपाय किये गये है ?

3 वर्तमान ग्रामीण अर्थ प्रबन्धन सस्थाओ द्वारा भारतीय किसानो की साख आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के लिये जो कार्य किये जाते है उनका संक्षिप्त विवेचन कीजिये । कृषि वित्त क्षेत्र मे रिजर्व बैङ्क का क्या योगदान रहा है ?

4 "विभिन्न एजेन्सियो द्वारा जो कृषि साख आजकल प्रदान की जाती है वह ठीक मात्रा से कम है आवश्यकता की कसौटी को ध्यान मे रखते हुए बहुधा ठीक व्यक्तियो तक नही पहुँच पाती है ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

4. कृषि पुनर्वित्त निगम पर एक निबन्ध लिखिये ।

6. भूमि बन्धक बैंक के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए । भारत मे कृषि साख प्रदान करने मे इसका क्या महत्त्व है ?

अथवा

देश मे भूमि विकास बैङ्को की प्रगति बतलाइए और सावधानी के साथ परिस्थितियो का विश्लेषण कीजिए जिनसे उनकी प्रगति रुकी है ।

7. भूमि विकास बैङ्कों की कार्य-प्रणाली का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए । कृषि उन्नति हेतु पूंजी प्रदान करने के लिए आप किन उपायो को स्वीकार करेगे ?

8. ग्रामीण साख के संगठन मे रिजर्व बैङ्क ऑफ इण्डिया के योगदान का मूल्यांकन कीजिए । इस सम्बन्ध मे अपने सुझाव भी दीजिए ।

अथवा

रिजर्व बैङ्क और कृषि साख पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

अथवा

आपके विचार मे कृषि साख पूर्ति के लिए रिजर्व बैङ्क ऑफ इण्डिया की कैसी भूमिका होनी चाहिए ? कृपि वित्त की वर्तमान प्रणाली को सुधारने के लिए रिजर्व बैङ्क ने जो कदम उठाये है, उनकी विवेचना कीजिए ।

अथवा

देश मे कृषि-साख व्यवस्था मे रिजर्व बैङ्क की भूमिका से क्या आप सतुष्ट हैं। इस दिशा मे बैङ्क के कार्यों के विस्तार के लिए सुझाव दीजिए ।

9 "भारतीय कृषक को वित्त उसी तरह सहायता करता है, जैसे रस्सी किसी लटकते व्यक्ति को।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

———

15

भारत में सामुदायिक विकास योजना
(Community Development Project in India)

सामुदायिक विकास का अर्थ व उद्देश्य—"सामुदायिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा समुदाय के सभी लोगो की स्वत: स्फूर्त प्रेरणा व सक्रिय सहयोग से आर्थिक व सामाजिक विकास की स्थिति का सृजन किया जाता है।"[1] **श्री एस० के० डे०** के अनुसार "सामुदायिक योजना एक ऐसा उद्यान है जिसका परिपालन एक चतुर माली अत्यन्त सावधानी से करता है। यह योजना एक ऐसे जगल के समान नही है जिसमे मुक्त व्यापार की तरह वृक्ष व वनस्पतियाँ भी हो। **श्री लोशबोह** के शब्दों मे "सामुदायिक योजना गहन विकास की ओर एक सगठित तथा आयोजित प्रयत्न है।"

संयुक्त राष्ट्र ने जो परिभाषा अपनायी है। उसके अनुसार सामुदायिक विकास "एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा स्वयं जनता के प्रयासो को राज्य अधिकारियो के प्रयासो के साथ मिलाकर समाज की आर्थिक सामाजिक व सास्कृतिक दशाओ मे सुधार किया जाता है ताकि ये समाज के राष्ट्रीय जीवन मे समन्वित होकर राष्ट्र के विकास मे अपना पूर्ण योगदान कर सके।"

वस्तुत: सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण पुनर्निमाण का एक साधन है। भारत मे सन् 1952 मे जब सामुदायिक विकास कार्यक्रम का सूत्रपात किया गया था तो योजना आयोग ने उस समय इसकी परिभाषा इस प्रकार दी थी, "सामुदायिक विकास वह तरीका तथा ग्रामीण विस्तार वह एजेन्सी है जिसके द्वारा पंचवर्षीय योजनायें ग्रामवासियो के सामाजिक एव आर्थिक जीवन को पूर्णरूपेण सुधारने की प्रक्रिया आरम्भ करना चाहती हैं।"

अत सामुदायिक विकास एक क्रिया या लोगो का आन्दोलन है जिसका मूल स्वयं जनता के स्वैच्छिक तथा लोकतंत्रीय प्रयासो के द्वारा ग्रामों मे निर्धनता, अशिक्षा तथा रोग को दूर करना है। इस कार्यक्रम के नाम से भी स्पष्ट रूप से यह प्रतीत

---

1. United nations : Social Progress through community Development, 1955.

होता है कि यह ऐसी योजना अथवा कार्यक्रम है जिसमे एक समाज के सम्पूर्ण समुदाय के सर्वांगीण विकास के लिए सम्पूर्ण समुदाय अथवा समाज के सहयोग से प्रयत्न किया जाता है । इसमे कृषि, पशुपालन, सिंचाई, स्वास्थ्य, सहकारिता, शिक्षा, सामाजिक उत्थान, ग्रामीण उद्योग, पंचायत, यातायात एवं सदेशवाहन आदि वे सभी तत्त्व सम्मिलित किये जाते है, जिनका सम्बन्ध भारत की 80% ग्रामीण जनता की स्थिति और उसके सुधार से है ।

उद्देश्य—सामुदायिक विकास योजनाओ का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण सामाजिक आर्थिक-जीवन मे क्रान्ति करना है, तद्नुसार निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये है —

(1) **सजग प्रहरी बनाना**—ग्रामो के निष्क्रिय एव जीवनहीन व्यक्तियो को अपने तथा अपने समाज और राष्ट्र के सजग प्रहरी बनाना इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य है । इसमे लोगो की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति मे सुधार करके, उन्हे एक पूर्ण मनुष्य, वास्तविक अर्थों मे, बनाये जाने का प्रयत्न किया जाता है और समाज तथा देश के प्रति उनमे पूर्ण जागरूकता लाई जाती है । भाग्यवाद, अन्धविश्वास और परम्परावाद को समाप्त किया जाता है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि इन सभी रूढियो को तोड कर अपनी स्थिति सुधारी जा सकती है ।

(2) **अपनी सहायता आप करने की आदत का विकास करना**—अर्धविकसित एवं पिछडे देशो की अनेक समस्यायें रहती है । इन सबका समाधान अकेले सरकार के द्वारा किया जाना असम्भव होता है । अत. इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि जनता अपनी समस्याओ और उनके समाधान को समझे तथा उनके समाधान के लिए आवश्यक साधनो मे आंशिक योगदान भी दे । यही कारण है कि इस प्रकार के कार्यक्रम मे सम्मिलित विकास के प्रत्येक प्रयोजन के व्यय का एक निर्धारित भाग स्थानीय लोगो को श्रम अथवा पूँजी के रूप मे देना आवश्यक होता है ।

(3) **ग्रामीण जनता मे आपसी सहयोग की भावना विकसित करना**—यो तो कोई भी योजना जनता के सहयोग के बिना सफल नही हो सकती है, किन्तु भारतीय ग्रामीण क्षेत्रो की समस्यायें इतनी जटिल हैं कि बिना जन-सहयोग के उनका समाधान बिल्कुल ही कठिन है । सामुदायिक विकास प्रायोजनायें ऐसी है, जिनमे जनता के सामूहिक सहयोग की आवश्यकता पडती है । अतः विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रो के लोगो को अपने क्षेत्र की विकास प्रायोजनाओ को पूरा करने के लिए अपना योगदान देने हेतु एक दूसरे के पास आना पडता है और साधनो को सामूहिक रूप से एकत्रित करने का प्रयत्न करना पडता है । फलस्वरूप आपसी सहयोग बढता है ।

(4) **ग्रामीण क्षेत्रों में योग्य नेतृत्व उत्पन्न करना**—ग्रामीण क्षेत्रो का पुनरुद्धार करने के लिए, इस कार्यक्रम के अन्तर्गत पाठशालाओ, वाचनालयो, विद्यालयो, पचायतो व नवयुवक संगठनो की स्थापना की जाती है । इन सभी समस्याओ के माध्यम से लोगो को शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाता है, ताकि लोग योग्य हो सके

और भारत के ग्रामीण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक लोकतंत्र के विकास का कुशल नेतृत्व कर सकें।

(5) **लोगों की आर्थिक स्थिति का सुधार**—इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि, उद्योग और यातायात तथा संवादवाहन का सुधार और विकास किया जाता है। इससे लोगो के रोजगार के अवसर मे वृद्धि होती है। उनकी कृषि एव ग्रामीण उद्योगो की स्थिति सुधरती है। इन सबका प्रभाव ग्रामीणो और देश की आर्थिक स्थिति पर पडता है और उसमे सुधार होता है।

(6) **शिक्षा का प्रसार एवं लोगों का मानसिक विकास**—इस योजना का उद्देश्य होता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे सामुदायिक विकास प्रायोजनाओ के माध्यम से शिक्षा का प्रसार किया जाय, लोगो को अधिक-से-अधिक शिक्षित किया जाय और उन्हे आधुनिक परिस्थितियो, समस्याओ और उत्तरदायित्वो से अवगत कराया जाय।

(7) **स्वास्थ्य सुधार**—इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो से गन्दगी को दूर करने, अस्पताल की सुविधा बढाने, महामारियो को समाप्त करने, दोषपूर्ण नदी-नालो को पाटने तथा अच्छे कुओ और तालाबो का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि लोगो के स्वास्थ्य मे सुधार हो और एक स्वस्थ तथा सुदृढ़ समाज का निर्माण हो सके।

(8) **उपयुक्त जीवन-स्तर के निर्माण मे आवश्यक सलाह**—आर्थिक विकास के प्रयत्नो द्वारा जन-समूह की आय मे वृद्धि होती है। किन्तु जन-समूह की स्थिति मे दीर्घकालीन सुधार लाने के लिए केवल आय मे वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका उचित विनियोग भी आवश्यक है। किन्तु साधारण वर्ग के लोगो को उसका ज्ञान नही रहता। सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य होता है कि इस क्षेत्र मे भी लोगो को मार्गदर्शन दिया जाय।

(9) **ग्रामीण क्षेत्रों का सर्वांगीण विकास**—इस कार्यक्रम का उद्देश्य है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे सन्निहित होने वाले सभी तत्त्वो का सभी प्रकार के लोगो के लिए विकास किया जाय। अर्थात् इसमे कृषि, उद्योग, यातायात, शिक्षा, सिंचाई, स्वास्थ्य, स्थानीय प्रसाशन, गृह-निर्माण आदि सभी विकास कार्यों को लिया जाता है और प्रयत्न किया जाता है कि जो भी क्षेत्र हाथ मे लिया जाय असका पूर्ण विकास करके ही उसे छोडा जाय। इस सर्वांगीण विकास के माध्यम से उनकी आर्थिक स्थिति सुधारी जाती है।

सामुदामिक विकास योजना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्वर्गीय **पंडित जवाहर लाल नेहरू** ने कहा, "सामुदायिक विकास योजनाओं के पीछे एक बहुत ही व्यापक विचार है क्योकि इसके सहारे हम एक ऐसा बीज बो रहे हैं जो एक विशाल वृक्ष बनकर समस्त देशवासियो को छाया देगा।" इसी प्रकार स्वर्गीय **डा० राजेन्द्र प्रसाद** ने कहा, "ये योजनाएँ ऐसे छोटे बीज की तरह हैं जो एक दिन विशाल वृक्ष में परिणित हो जायगा।"

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के विभिन्न अंग—उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के इस कार्य क्रम के निम्नलिखित मुख्य अंग है—

(1) **कृषि व तत्सम्बद्ध कार्य**—इसमें ये क्रियायें शामिल की जाती है :—(1) भूमि-पुनरुद्धार तथा बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना, (11) तालाब, नहरो, कुओ तथा नलकूपो द्वारा सिंचाई का आयोजन करना, (111) उत्तम बीज तथा उत्तम खाद सुलभ करना, भूमि के उपयोग तथा आधुनिक कृषि के ढंग का विकास करना, प्राविधिक सूचनाएँ, कृषि के उत्तम औजार, बाजार तथा वित्तीय सुविधाओ का आयोजन करना तथा पशुओ की नस्ल सुधारना व पशु चिकित्सा की सुविधाये उपलब्ध करना, (1v) मुर्गीपालन, मत्स्य उद्योग, फल व तरकारियो की खेती आदि का विकास, वृक्षारोपण तथा लोगो के आहार में सुधार करना।

(2) **कुटीर व ग्रामीण उद्योग**—कुटीर तथा लघु ग्रामीण उद्योग-धन्धो का विस्तार किया जाना जिससे गाँवो के बेरोजगार तथा अर्द्ध-बेरोजगार लोगो को काम मिल सके।

(3) **सहकारी समितियाँ**—कृषि, साख, विपणन, उत्पादन आदि तथा ग्रामीण उद्योगो के लिए सहकारी समितियाँ सगठित करना।

(4) **यातायात**—सडको का निर्माण तथा यातायान के यान्त्रिक साधनो का व पशु-परिवहन का विकास करना। इन योजनाओ मे सडक-निर्माण कार्य द्वारा प्रत्येक ग्राम को राजमार्ग से मिलाने का विचार है।

(5) **शिक्षा**—शिक्षा के अन्तर्गत सामाजिक, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा के विकास व ग्रन्थालयो का प्रबन्ध आदि के आयोजन करना।

(6) **स्वास्थ्य**—इसके अन्तर्गत प्रत्येक विकास खण्ड मे एक डिस्पेन्सरी तथा एक अस्पताल खोला जाना है। ग्रामीण सफाई, स्वच्छ पेय जल की व्यवस्था, छूत की बीमारियो की रोकथाम, प्रसूति-पूर्व व प्रसूति उपरान्त देखभाल की सुविधायें उपलब्ध कराना तथा परिवार-नियोजन-कार्यक्रम को प्रोत्साहित करना आदि कार्यक्रम भी सम्मिलित है।

(7) **गृह-निर्माण**—गाँवो मे उत्तम व सस्ते प्रकार के गृह-निर्माण का प्रबन्ध करना।

(8) **प्रशिक्षण व समाज कल्याण**—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दृश्य एव श्रवणीय (Audio-Visual) प्रणाली के अनुसार स्थानीय कलाकार व सास्कृतिक साधनो की मदद से लोगो का मनोरजन किया जाता है। खेल-कूद, मेला इत्यादि की व्यवस्था की जाती है। इन कार्यक्रमो की पूर्ति के लिए पर्याप्त सख्या मे प्रशिक्षित कर्मचारी उपलब्ध किये जाते है।

(9) **तरुण व महिला कार्यक्रम**—तरुणो एवं महिलाओ के लिए क्रमश युवक-मंगल-दल तथा महिला-मगल-दल स्थापित किये जाते है, ताकि सभी वर्गों का सामाजिक व सास्कृतिक विकास हो सके।

(10) **विशेष कार्यक्रम**—(1) ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम—इस कार्यक्रम का

उद्देश्य, काम न होने के दिनो मे कृषि मजदूरो को अतिरिक्त रोजगार प्रदान करते हुए सामुदायिक परिसम्पत्ति (जैसे सिंचाई के छोटे साधनो का निर्माण, भूमि को फिर से खेती योग्य बनाना व गाँवो को जोडने वाली सडकें बनाना आदि) का निर्माण करना है। (ii) कुआँ खुदाई कार्यक्रम—इस कार्यक्रम का उद्देश्य पानी के अभाव वाले गावो मे पानी की समुचित व्यवस्था करना है। (iii) पौष्टिक पदार्थ कार्यक्रम—इस कार्यक्रम का उद्देश्य गाँव वालो को फल, सब्जियो, मछली और अडे जैसी वस्तुओ का अधिक उत्पादन तथा उपभोग करने की दिशा मे जानकारी देकर उनके आहार मे सुधार करना है।

सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन

केन्द्रीय-स्तर—सामुदायिक विकास योजनाओ की सम्पूर्ण प्रशासकीय कार्यवाही की जिम्मेदारी केन्द्रीय सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मन्त्रालय (जिसका सन् 1967 से खाद्य और कृषि मन्त्रालय मे विलय हो चुका है) की है। परन्तु मूल नीति से सम्बन्धित मामलो का निर्धारण केन्द्रीय समिति करती है, जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री है तथा जिसमे योजना आयोग के सदस्य भी सम्मिलित है।

राज्य-स्तर—केन्द्रीय प्रशासन द्वारा निर्धारित सामुदायिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का दायित्व राज्य सरकारो पर है। इसके लिए प्रत्येक राज्य मे राज्य-विकास-समिति तथा विकास आयुक्त है। राज्य स्तर से कार्यों का निर्देश जिलो को होता है।

जिला-स्तर—जिलो मे कार्यक्रमो को लागू करने के लिये जिला परिषदो की स्थापना की गई है। जिला परिषदो मे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि, प्रखंड पंचायत समिति के अध्यक्ष और जिले के संसद एवं विधान सभा के सदस्य होते है। विकास-कार्यों का निर्देशन जिला-स्तर से प्रखण्डो को होता है।

प्रखण्ड-स्तर—प्रखण्ड-स्तर पर इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का दायित्व प्रखण्ड-पचायत-समिति के ऊपर होता है, जिसमे ग्राम पचायतो के निर्वाचित सरपंच तथा कुछ महिलाओ और अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधि होते हैं। प्रखण्ड-स्तर का सम्बन्ध गाँवों से होता है।

ग्राम-स्तर—ग्राम-स्तर पर विकास-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये ग्राम सेवक होता है, जिसको नियुक्ति से पूर्व सामुदायिक विकास से सम्बन्धित सभी विषयो मे पर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाता है। वास्तव मे विकास कार्यों की आधारशिला यही व्यक्ति है। यह एक बहुउद्देशीय व्यक्ति है—कृषको एवं ग्रामीणों का दोस्त, सहायक, निर्देशक एव परामर्शदाता है। ग्राम-स्तर पर कार्यक्रम का नियंत्रण पंचायत के हाथ मे है।

इस प्रकार सामुदायिक विकास के सगठन ढाँचे मे विभिन्न स्तरो पर सरकारी और गैर-सरकारी दोनो प्रकार के प्रतिनिधि हैं। यह ढाँचा ऊपर से (केन्द्र से) चलकर ग्राम-पंचायत के पास आकर समाप्त होता है। यदि इस संगठन को नीचे से देखा जाय

तो यह ग्राम पंचायत मे प्रखण्ड, प्रखण्ड से जिला-स्तर और जिला-स्तर से राज्य तथा राज्य स्तर से केन्द्र को पहुँचता है। विकास की प्रायोजनायें प्रारम्भिक स्तर से बनाई जा सकती है या अन्तिम अथवा ऊपरी स्तर से।

प्रगति—2 अक्टूबर 1952 को 55 परियोजनाएँ आरम्भ करके यह कार्यक्रम संचालित किया गया। हर परियोजना मे लगभग 300 गाँव थे। इन गाँवों का क्षेत्रफल लगभग 1,300 वर्ग किलोमीटर था। उनमे लगभग 2 लाख लोग रहते थे।

प्रथम और द्वितीय योजनाओ के बीच सामुदायिक विकास पर कुल 233 करोड रुपए व्यय किए गए। तृतीय योजना मे इस मद पर वास्तविक व्यय 269 करोड रुपए और तीन वार्षिक योजनाओ मे 80 करोड रुपए थे। तृतीय योजना के अन्त तक इस कार्यक्रम का विस्तार लगभग समूचे राष्ट्र मे हो गया था। चतुर्थ योजना के आरम्भ मे देश भर मे 5,365 सामुदायिक विकास-खण्ड थे, लेकिन अनेक प्रान्तो मे पुनर्गठन के पश्चात् अप्रैल 1974 तक 4,177 खण्ड देश मे रह गये। चतुर्थ योजना मे 116 करोड रुपए व्यय किए गए।

पचम योजना मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लिए 161 करोड रुपए व्यय किए गए। सन् 1977-78 के वर्ष के लिए 28 54 करोड रुपए स्वीकृत किए गए है। **षष्ठम** योजना मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, जैसे—प्राथमिक एव प्रौढ शिक्षा, ग्राम स्वास्थ्य, ग्राम सडके एव ग्राम विद्युतीकरण, जल सम्भरण पर्यावरण मे सुधार आदि पर भी विशेष ध्यान दिया गया है।

जहाँ तक पचायती राज एव सामुदायिक विकास कार्यक्रम के परिव्यय का प्रश्न है वह कुल 1980-85 तक के लिए 352.07 करोड रुपए निर्धारित किया गया है। इसमे 7 17 करोड रुपए केन्द्रीय क्षेत्र और 344.90 करोड रुपये राज्यो एव केन्द्र शासित प्रदेशो मे व्यय होगे।

सक्षेप मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम अब सम्पूर्ण राष्ट्र मे चल चुका है और यह कार्यक्रम विकास के पथ पर है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्याकन

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण सुधार की दिशा मे अत्यन्त महत्वाकाक्षी प्रयत्न है। **प्रो० टॉयनबी** के शब्दो मे "कृषक के जीवन मे होने वाली सबसे लाभप्रद क्रान्तियो मे से एक है।" इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रीय टेकनिकल मिशन ने कहा कि "भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम 20वी शताब्दी के प्रमुख प्रयोगो मे से एक है जिसके परिणामो मे समस्त विश्व को रुचि है।" यह कार्यक्रम इस उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया था कि यह एक "मानवीय क्रान्ति" उत्पन्न करेगा। यह भी आशा की गई थी कि अपनी प्रगति आप करने की स्थिति को यह कार्यक्रम क्रियाशील बना देगा। अत यह देखना है कि क्या यह कार्यक्रम इन उद्देश्यो को पूरा करने मे सफल रहा ? यद्यपि यह विशाल कार्यक्रम पूरे देश में छा

गया है किन्तु देखना है कि यह कहाँ तक लोगो के हृदय पर छाप छोडने मे सफल रहा है ?

सामुदायिक विकास कार्यक्रम से भले ही प्रत्याशित प्रगति नही हुई हो, फिर भी आवश्यक परिवर्तनो की ओर ग्रामीण लोगो की इच्छाओं को क्रियाशील करने मे यह कार्यक्रम अवश्य ही प्रभावशाली रहा है और निम्नाकित उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं :—

(1) इससे कुछ क्षेत्रो मे नियोजित विकास की नीव पडी है और भविष्य के तीव्रतम विकास की आधारशिला डाली गयी है ।

(2) यह कार्यक्रम नये कृषि आदानो को कृषको मे अत्यधिक प्रचलित बनाने में सफल रहा है, जैसे खाद, बीज, कीटनाशक दवाइयो आदि का उपयोग ।

(3) परिवार नियोजन को व्यावहारिक बनाने मे भी इससे मदद मिली है।

(4) सार्वजनिक स्वास्थ्य उपायो के प्रति जनता मे दिलचस्पी उत्पन्न करने मे यह सहायक रहा और फलस्वरूप मृत्यु-दर कम हुई है ।

(5) सडको और स्कूलो आदि के निर्माण से ग्रामीण क्षेत्रो मे सामाजिक पूंजी की वृद्धि मे इससे सहायता मिली ।

(6) इससे ग्रामीण विकास कार्यक्रमो के विकास और रोजगार की संस्था वृद्धि मे पर्याप्त सहायता मिली है ।

(7) ग्रामीण उद्योगो की स्थापना, विकेन्द्रित क्षेत्र के विस्तार तथा क्षेत्रीय संतुलित विकास मे इससे सहायता मिली है ।

(8) यह कार्यक्रम लोगो मे अपनी समस्याओ के समाधान की नई विचार-धाराओ का समावेश कर सका है और उनके विचारो को प्रगतिशील बना दिया है।

(9) देश मे वित्तीय कमी की स्थिति मे जनता के ऐच्छिक योगदान को जागृत करने के दृष्टिकोण से यह कार्यक्रम उपयोगी रहा है ।

यद्यपि सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के रचनात्मक पक्ष का निषेध नही किया जा सकता, फिर भी इन कार्यक्रमो की प्रगति की विभिन्न दृष्टियो से आलोचनाये की गई हैं, जो सक्षेप मे निम्न प्रकार है .—

1 **आर्थिक विकास की अपेक्षा कल्याण कार्यों पर अधिक बल**—इन कार्य-क्रमो के अन्तर्गत आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण पहलुओ (जैसे कृषि व उद्योग) की ओर पर्याप्त ध्यान न देते हुये शिक्षा, चिकित्सा तथा सडक निर्माण आदि कल्याण कार्यों पर अधिक बल दिया गया है । फलत. ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की उत्पादिता 20 वर्ष के बाद भी अधिक नही बढी ।

2. **लाभों के वितरण में असमानता**—ग्राम के आर्थिक दृष्टिकोण से कमजोर व्यक्ति जैसे शिल्पकार, भूमिहीन श्रमिक व छोटे किसान, जिनके लिये वास्तव मे यह कार्यक्रम चलाया गया था, सरकार द्वारा दी गई सहायता का बहुत अल्प भाग प्राप्त कर सके हैं । लगभग 70% लाभ केवल प्रभावशाली व्यक्तियो को ही मिल सका है। गाँव के जिन व्यक्तियो की खण्ड अधिकारियो तक पहुँच थी उन्ही को सरकारी सहा-

यता मिल सकी है। फलतः अब भी हमारी अधिकाश ग्रामीण जनता निर्धनता, बीमारी तथा भूख का शिकार बनी हुई है । अत सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपना नाम सार्थक नही कर सका है।

3. कार्यक्रमों में सुपरिभाषित प्राथमिकताओं का अभाव—यह कार्यक्रम अत्यंत महत्त्वाकाक्षी है। कृषि विकास को प्रोत्साहन देना, ग्रामोद्योगो की स्थापना करना, स्वास्थ्य, शिक्षा, कल्याण, नारी-कल्याण, प्रौढ शिक्षा आदि के लिये कार्य करना, मनोरंजन केन्द्रो की स्थापना, मेलो एवं प्रदर्शनियो का आयोजन आदि सभी कुछ इस कार्यक्रम मे सम्मिलित है। ये सब कार्य एक साथ नही किये जा सकते। यही कारण है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम कोई भी कार्य सन्तोषजनक ढङ्ग से पूरा नही कर सका है। इसमे विभिन्न कार्यों की प्राथमिकताओं का स्पष्ट निर्धारण नही किया गया। उदाहरण के लिये पहले कृषि उत्पादन और रोजगार पर ध्यान देना चाहिए था।

4. विस्तार की गति का तेज होना—संयुक्त राष्ट्र संघ के तकनीकी सहायता मिशन ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के विषय मे लिखा था "जिस तेजी के साथ इन सेवाओ का विस्तार किया जायेगा वह निर्णायक होगा। विस्तार की अवास्तविक अत्यधिक तेज दर वर्तमान कठिनाइयो को बढा सकती है और उसके परिणाम भ्रामक हो सकते है। ठीक प्रकार से न चुने जाने वाले ऐसे कर्मचारियों की संख्या मे वृद्धि जो बडी संख्या मे गाँवो की सेवा के लिए अनुपयुक्त हो अथवा अयोग्य कर्मचारियो की भर्ती से इस कार्यक्रम का आधार ही खतरे मे पड सकता है।" सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेषज्ञो की समझ पूर्णत उपयुक्त थी। इसका अनुमान सामुदायिक विकास खण्डो की वर्तमान स्थिति को देख कर लगाया जा सकता है। भारत मे उपयुक्त आर्थिक और सामाजिक वातावरण तैयार न होने पर भी प्रत्येक क्षेत्र को संतुष्ट रखने के लिए राजनैतिक कारणवश विकासखंडो की स्थापना और विस्तार सुविधाएँ अधिकाधिक क्षेत्र मे उपलब्ध की गई। सभी गाँवो तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम पहुँचाने की जल्दबाजी में भारी संख्या मे अयोग्य और भ्रष्ट कर्मचारियो की नियुक्ति की गई। फलत सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आधार कमजोर है और उसका संगठन अयोग्य हाथो मे है।

5. नौकरशाही प्रशासन—जॉन पी० ल्युइस के मतानुसार ग्राम विकास का एकीकृत संगठन बनाने के प्रयास मे कृषि विस्तार एवं प्रवर्तन का कार्य ऐसे प्रशासको के हाथ मे पहुँच गया है जिनको कृषि सम्बन्धी समस्याओ का ज्ञान नही है। सामान्यतया सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा अधिकारी कृषि विशेषज्ञ नही होते।

जॉन डब्लू० मिलयौर के विचार मे भारतवर्ष में सामुदायिक विकास कार्यक्रम उत्पादन बढाने की दिशा में दो कारणो से असफल रहे है—**प्रथम**, शोध कार्य और उनके परिणामो का अभाव तथा, **द्वितीय**, तकनीकी दृष्टि से योग्य कर्मचारियों का अभाव। वास्तव में सामुदायिक विकास अधिकारियो की भूमिका नौकरशाही की न होकर ग्रामवासियो के मित्र, पथ-प्रदर्शक और सहयोगी के रूप में होना चाहिए था।

आज भी ग्रामसेवक ग्रामवासियो का सेवक न होकर एक प्रशासक है। इस प्रकार प्रशासक और जनता के बीच बनी रहने वाली दूरी ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के उद्देश्य को विफल कर दिया है।

6. **ग्रामवासियों का बहुत कम योगदान**—यह आशा की जाती है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने के लिये ग्रामीण जनता राज्य द्वारा प्रदान किये जाने वाले वित्तीय साधनो पर निर्भर न रहकर अपने श्रम और धन का अनुदान देकर विकास कार्यों के लिये साधनो का विस्तार करेगी। परन्तु व्यवहार मे हम देखते हैं कि ग्रामवासियो का योगदान प्राय वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होता है। यदि कही ग्रामवासियो का योगदान अधिक रहा है तो वहाँ वह ऐच्छिक न होकर प्रशासनिक दबाव के कारण हुआ है।

7 **ग्रामवासियो मे आत्मविश्वास उत्पन्न न करना**—सामुदायिक विकास से सम्बद्ध कर्मचारियो ने ग्रामवासियो से विकास के विविध क्षेत्रो मे पहल करने की माँग ही नही की है। वास्तव मे उन्हे आत्म-निर्भर बनाने की दिशा मे कोई प्रयत्न ही नही किया गया है। यही कारण है कि आज भी सामान्य कृषको मे आत्म-विश्वास का अभाव है और वह यह नही समझता कि वह स्वयं ही देश की प्रधान उत्पादक शक्ति है।

8 **पूँजीवादी कृषि को प्रोत्साहन**—जैसा कि हम ऊपर अध्ययन कर चुके है, सामुदायिक विकास कार्यक्रमो का लाभ मुख्य रूप से बडे किसानो को ही मिला है। ये बडे किसान ग्रामीण समाज मे अपनी सुदृढ आर्थिक स्थिति के कारण सामुदायिक विकास अधिकारियो के अत्यन्त निकट होते है। अत वे विकास कार्यक्रमो का लाभ उठाकर परम्परागत खेती को पूँजीवादी खेती का रूप देने का प्रयास कर रहे है। ये वर्ग भूमि सुधारो के भी कट्टर विरोधी होते हैं। **गुन्नार मिरडल** ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमो की आलोचना इसी दृष्टि से करते हुए कहा है "यद्यपि भारतीय नेता कहते है कि वे चाहते हैं कि कृषि का रूप अधिकाधिक समाजवादी बने तथापि उनके अपने सामुदायिक विकास कार्यक्रमो का प्रभाव यह हो रहा है कि कृषि कार्य अधिकाधिक पूँजीवादी रूप लेता जा रहा है।"

9 **ग्राम को इकाई स्वीकार करना—जॉन पी० लुइस** के अनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम का एक दोष यह भी है कि इसमे गाँव को भारतीय ग्राम्य जीवन की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक इकाई स्वीकार कर लिया गया है। अतः सामुदायिक विकास कार्यक्रम इस मान्यता के आधार पर तैयार किये गये है कि ग्राम विकास गाँव के स्तर पर होना चाहिये। फलत ग्राम प्रशासन का व्यापक स्तर पर अपखण्डन हुआ है और भारी संख्या मे ऐसे कर्मचारियो की नियुक्ति करनी पडी है जो किसी भी कार्य के विशेषज्ञ नही हैं।

10. **पशुपालन, मछली पालन पर कम ध्यान**—पशुपालन और मछली पालन कार्यक्रमो पर उचित ध्यान नही दिया गया। मवेशियो के कृत्रिम गर्भाधान की क्रिया

का लोगो मे विस्तार हुआ किन्तु इसके पर्याप्त केन्द्र नही खोले गये । मवेशियो के चारे की व्यवस्था एवं अच्छी नस्ल के साँडो के वितरण मे कमी रही ।

11. **शिक्षा व स्वास्थ्य की प्रगति मन्द रही**—स्वास्थ्य एवं शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकी, क्योकि कोई भी प्रखण्ड सहायता की कुल उपलब्ध राशि का उपभोग नही कर सका क्योकि जनता पर्याप्त एवं प्रत्याशित मात्रा मे भाग नही ले सकी ।

12. **ग्रामीण विकास का अभाव**—सस्थागत परिवर्तनो एव विकासो मे बडी कमी रही । पचायतो की स्थिति ठीक नही है । नियोजन के प्रति जनता मे तत्परता पैदा नही की जा सकी । पचायतो के सभापतियो को गाँव के लोगो के विकास के लिए काम करने हेतु प्रेरित होने का वातावरण तैयार नही किया जा सका ।

13. **अन्य दोष**—(i) ग्राम-सेवक का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होने से वे अपने उत्तरदायित्व का ठीक ढङ्ग से निर्वाह नही कर पाते । (ii) स्वीकृत व्यय राशि का समुचित प्रयोग नही हो पाता है । (iii) भूमिहीन श्रमिको एवं जोतो की चकबंदी की समस्याये उपेक्षित रह गयी । (iv) ग्रामीण और लघु उद्योगो के क्षेत्र मे कोई विशेष सफलता नही मिली है । (v) अधिकारियो के नैतिक पतन, उनके अपर्याप्त प्रशिक्षण, निम्न वेतन-क्रम, उनके द्वारा गलत अथवा अतिशयोक्ति पूर्ण प्रतिवेदन देना आदि कुछ अन्य दोष भी इस कार्यक्रम के है ।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की अधिक सफलता के लिए सुझाव—सामुदायिक विकास योजनाओ को सफल एव प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते है—

1. **ग्रामीण जन सहयोग**—सामुदायिक विकास के लिये जन सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से गाँवो मे प्रचार किया जाना चाहिए और ग्रामीण जनता को समझाया जाना चाहिए कि यह कार्यक्रम उनके ही विकास व उन्नति के लिए है । रेडियो, समाचार-पत्र, पत्रिका व न्यूजरील फिल्मे इसमे अपना अच्छा योगदान दे सकती है ।

2. **ग्रामोद्योग की स्थापना**—सामुदायिक विकास कार्यक्रमो मे ग्रामोद्योग की स्थापना पर अधिक बल दिया जाना चाहिए क्योकि इससे ग्रामीण बेरोजगारी और निर्धनता के उन्मूलन मे काफी सहायता मिलेगी ।

3. **कृषि उत्पादकता पर अधिक जोर**—किसानो मे इस योजना के प्रति अधिकाधिक उत्साह उत्पन्न करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कृषि उत्पादकता पर अधिक जोर दिया जाय ।

4. **प्रशासनिक कुशलता मे वृद्धि**—सरकार द्वारा सामुदायिक विकास केन्द्रो मे जो भी अधिकारी नियुक्त किए जाएँ उन्हे विशेष प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे ग्रामो की परिस्थितियो एव समस्याओ को समझकर अपने निर्णय तदनुसार लेने की प्रवृत्ति बना सकें ।

5 **विकास खण्डो का क्षेत्रफल कम करना**—सरकार ने जो विकास खण्ड बनाए है उनका क्षेत्रफल अधिक है अतः इनको छोटा किया जाना चाहिए जिससे कि

अधिकारी छोटे क्षेत्र पर उचित रूप से ध्यान दे सकें और विकास मे रुचि ले सकें। ग्राम-सेवक का क्षेत्र भी सीमित कर छोटा किया जाना चाहिए ।

6. **राजनीति से छुटकारा**—सामुदायिक विकास योजनाओ मे दलगत राजनीति बहुत है अतः इसको समाप्त करना आवश्यक है। इसके लिए विभिन्न दलो में एक आचार-संहिता बना ली जाय तो श्रेष्ठ होगा ।

7. **भूमि सुधार में योगदान**—सामुदायिक विकास कार्यक्रमो को भूमि सुधार कार्यक्रमो से सम्बद्ध कर दिया जाना चाहिए। इससे कृषको के विश्वास मे वृद्धि होगी और बेकार भूमि कृषि के अन्तर्गत आ जाएगी जिससे कृषि उत्पादन मे वृद्धि होगी ।

8. **आर्थिक विकास कार्यक्रमो पर जोर**—सामुदायिक विकास योजनाओ मे कल्याणकारी कार्यों के साथ-साथ आर्थिक विकास कार्यक्रमो पर भी जोर दिया जाना चाहिए ।

9. **अन्य सुझाव**—(i) सामुदायिक विकास खंडो को प्रगति के अनुसार क्रमांकित किया जाना चाहिए और निचले क्रम के खण्ड को ऊपर के क्रम मे लाने हेतु तात्कालिक उपाय किए जाने चाहिए ।

(ii) कृषको द्वारा भूमि संरक्षण उपाय अपनाए जाने पर अधिक बल दिया जाना चाहिए ।

(iii) अनुसधान संबंधी सुविधाएँ बढायी जाएं ।

(iv) ग्राम विकास के कार्य मे लगी हुई विभिन्न संस्थाओ में अधिक समन्वय होना चाहिए ।

(v) ग्राम सेवकों की संख्या मे वृद्धि की जानी चाहिए और एक ग्रामसेवक के अन्तर्गत 4,000 से अधिक व्यक्ति न रखे जाएँ ।

उपर्युक्त अनेक सुझावों पर कार्य शुरू कर दिया गया है। इन्हे सफल बनाने के लिये हमे अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये। इसकी सफलता मे ही देश के भावी उत्थान का रहस्य निहित है और यह लाखों गाँवो मे रहने वाले चिरनिराद्दत एवं अवहेलित करोडो लोगो की आशा है। हमे इन योजनाओ के सबसे बड़े समर्थक **स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू** के इन शब्दो को नही भूलना चाहिये—"सामुदायिक परियोजनाएँ चमकीली, अत्यंत आवश्यक और प्रावैगिक चिनगारियाँ है, जिनसे शक्ति, आशा और उत्साह की किरणे प्रवाहित हो रही है। इस कार्यक्रम मे पूर्णरूपेण परिवर्तन की आवश्यकता है तभी ग्रामीण विकास की क्रान्ति मे हम इसका पूर्ण उपयोग कर सकते हैं ।

परीक्षा प्रश्न

1. "सामुदायिक परियोजनाएँ चमकीली, अत्यन्त आवश्यक और प्रावैगिक चिनगारियाँ हैं जिनसे शक्ति, आशा और उत्साह की किरणे प्रवाहित होती हैं।" इस कथन की व्याख्या करते हुए भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की महत्ता पर प्रकाश डालिए और उपलब्धियो तथा त्रुटियो का विवेचन कीजिए ।

[**संकेत**—इसमे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के महत्त्व व दोषो की व्याख्या करनी है।]

2. भारत मे आरम्भ की गई सामुदायिक विकास योजनाओ की क्या-क्या मुख्य विशेषताएँ है ? ग्रामीण पुनर्संठन मे इनकी उपयोगिता का विवेचन कीजिए।

सकेत—सामुदायिक विकास योजना की विशेषताओ व उपयोगिता का वर्णन करना है।]

3. सामुदायिक विकास के मूलभूत सिद्धान्तो को दर्शाइये तथा भारत की ग्रामीण व्यवस्था मे इनके महत्त्व को बताइये।

संकेत—इसमे सामुदायिक विकास के सिद्धात एवं महत्त्व की व्याख्या करनी है।]

4. सामुदायिक विकास योजनाओ से भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर पडने वाले प्रभाव का मूल्याकन कीजिए।

[**संकेत**—इसमें योजना के अच्छे एव बुरे प्रभाव देना है।]

16

पंचायती राज
(Panchayatı Raj)

पचायती राज 1959 मे शुरू किया गया था । यह स्थानीय स्वशासन ग्राम, खण्ड और जिला स्तर पर लागू किया गया त्रिस्तरीय ढाँचा है । इस तीन स्तरीय व्यवस्था (Three tiei-system) को **लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण** (Democıatıc Decentralısatıon) भी कहते है। इस तीन स्तरीय प्रारूप की विवेचना नीचे की जा रही है—

ग्राम पंचायत (सबसे नीचे स्तर पर)

ग्राम पचायते गांव की जनता द्वारा चुनी हुई सस्थाये हैं । सभी वयस्क पुरुष एवं महिलाएँ पंचायत के चुनाव मे मतदान करते हैं । विभिन्न राज्यों में ग्राम पंचायत के पाँच से लेकर 31 तक सदस्य होते हैं ।

1 **ग्राम पंचायत के कार्य**—ग्राम पंचायत के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है—

(अ) नागरिक कार्य—इसके अन्तर्गत गाँव मे रोशनी व स्वच्छता का प्रबन्ध, गाँव की निगरानी, जन्म व मृत्यु सम्बन्धी आँकडे रखना आदि कार्य आते हैं ।

(ब) विकास सम्बन्धी कार्य—गाँव के लिए उत्पादन कार्यक्रम तैयार करना, सहकारी समितियो को प्रोत्साहन देना और उनके सहयोग से कृषि साख, उन्नत बीज,

खाद, औजार आदि का प्रबन्ध करना, सरकारी सहायता प्राप्त करके विकास कार्य के लिए उनका उचित उपयोग करना आदि कार्य इसमे सम्मिलित है।

(स) भू-प्रबन्ध व भूमि सुधार कार्य—गाँव की सामूहिक भूमि का उचित उपयोग करना, भूमि सम्बन्धी अभिलेख उचित ढंग से बनाये रखने मे सहयोग देना, कृषि जोतो पर अधिकतम सीमा लागू होने पर प्राप्त हुई अतिरिक्त भूमि की मात्रा निर्धारित करना आदि कार्य इसमे सम्मिलित है।

(द) न्याय सम्बन्धी कार्य—इसके अन्तर्गत दीवानी, फौजदारी तथा भूमि सम्बन्धी छोटे-मोटे मामलो मे न्याय देना व कृषि श्रमिको की निर्धारित न्यूनतम मजदूरी लागू करने मे सहयोग देना आदि कार्य सम्मिलित है।

2 **ग्राम पंचायत के वित्तीय साधन**—प्रत्येक ग्राम पचायत मे एक ग्राम पचायत कोष होता है जिसमे केन्द्र सरकार, राज्य सरकार व परिषद् आदि विभिन्न सस्थाओ द्वारा प्राप्त अंशदान व अनुदान जमा किये जाते है। ग्राम पचायतो की आय के निम्नलिखित मुख्य स्रोत है—

(अ) कर—सभी राज्यो के पचायत अधिनियमो मे पचायतो द्वारा कर लगाने का प्रबन्ध किया गया है। इनमे से कुछ अनिवार्य कर है और कुछ ऐच्छिक कर। ये कर जमीन, घर, मेलो, पशुओ, त्योहारो और वस्तुओ के विक्रय पर लगाये जाते है।

(ब) शुल्क—विभिन्न प्रकार के शुल्क द्वारा भी पचायते आय प्राप्त करती है जैसे (1) गाँव मे पीने के पानी का प्रबन्ध करना, रोशनी का प्रबन्ध करना व गन्दे पानी के लिए नालियाँ बनाना आदि विभिन्न सेवाओ के लिए पंचायतें शुल्क लेती है। (ii) अवैध कार्य, निषिद्ध वस्तुओ का व्यापार आदि के लिये पचायत अपराधियो से दण्ड के रूप मे शुल्क लेती है।

(स) सामूहिक आय—गाँव की सामूहिक भूमि, तालाब, चरागाह, वन-क्षेत्र, आदि से तथा मेले, बाजार आदि से भी पचायतो को आय प्राप्त होती है। भूमि सपत्ति व श्रम आदि के रूप मे पंचायतो को सामूहिक आय प्राप्त होती है।

पंचायत समिति (मध्यम स्तर पर)

पचायती राज की तीन स्तरीय संरचना मे मध्यम स्तर पर पचायत समिति कार्य करती है। गुजरात, महाराष्ट्र व कर्नाटक राज्यो मे पचायत समिति तहसील स्तर पर कार्य करती है। इसके अतिरिक्त अन्य राज्यो मे ये समितियाँ विकास खण्ड के स्तर पर कार्य करती है। चुने हुए प्रतिनिधियो के अतिरिक्त महिलाओ, पिछडी हुई एवं अनुसूचित जातियो का प्रतिनिधित्व करने वाले भी इसके सदस्य होते है। समिति अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है।

कार्य—सभी राज्यो मे पंचायत समितियो को विकास कार्य सौपे गये है और सामुदायिक विकास कार्यक्रम कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व इन्ही का है। प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात व संचार के सम्बन्ध मे उन पर विशेष प्रशासनिक

उत्तरदायित्व है। ये समितियाँ पंचायतो के कार्यों व उनके बजटों का भी निरीक्षण करती हैं।

वित्तीय स्रोत—पंचायत समितियो के वित्तीय स्रोत मुख्यत' खण्ड बजट मे से प्राप्त होते है और विशेष परियोजनाओ के लिए निर्धारित राशि राज्य सरकारो से प्राप्त होती है।

जिला परिषद् (सर्वोच्च स्तर पर)

पंचायती राज का सर्वोच्च स्तर जिला स्तर पर होता है, किन्तु असम मे यह उपविभाग स्तर पर होता है। आन्ध्र, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र व पश्चिमी बगाल मे जिला स्तर के पंचायती राज सस्था को जिला परिषद् कहते हैं। मध्य प्रदेश व गुजरात मे जिला पचायत, मद्रास व कर्नाटक मे जिला विकास परिषद् तथा असम मे मोहकमा परिषद् कहते है।

कार्य—अधिकाश राज्यो मे जिला परिषद् मुख्यतया समन्वीकरण, पंचायत समितियो का निरीक्षण एव विकास कार्यक्रम कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे सरकार को परामर्श देने का कार्य करती है।

अब मेघालय और नागालैण्ड को छोड़कर सभी राज्यो मे पंचायती राज लागू है और लक्षद्वीप तथा मिजोरम को छोडकर सभी सघ राज्य क्षेत्रो मे ग्राम पचायत संस्था विद्यमान है। इस समय 228593 ग्राम पचायते है। इनके अतिरिक्त 4478 पचायत समितिया और 252 जिला परिषदे भी है।

पंचायती राज व्यवस्था का ग्रामीण जीवन पर प्रभाव

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि पंचायती राज व्यवस्था ने ग्रामीण जीवन को निम्नलिखित क्षेत्रो मे प्रभावित किया है—

(i) ग्रामीग क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति आय मे सुधार हुआ है और रहन-सहन का स्तर कुछ उन्नत हुआ है।

(ii) स्थानीय सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र मे गतिशीलता बढ़ी है।

(iii) ग्रामीण शक्ति संरचना मे आनुवशिक मुखिया तथा समृद्ध लोगो का प्रभाव सापेक्ष दृष्टि से कम हुआ है तथा सामान्य परिवारो के मध्यम आर्थिक स्थिति के अधिक उत्साही एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले युवा शिक्षित लोगो का प्रभाव बढ़ा है।

(iv) अन्धविश्वासो तथा सामाजिक कुरीतियो का प्रभाव कुछ कम हुआ है।

(v) शिक्षा का प्रसार हुआ है, सामाजिक चेतना बढ़ी है, अधिकारो के प्रति जागरूकता आयी है।

(vi) पंचायती राज व्यवस्था के कारण ग्रामीण क्षेत्रो मे व्यक्तिवादिता या गुटबन्दी तथा तनाव एवं संघर्ष बढ़े हैं।

(vii) पचायती राज संस्थाओ के फलस्वरूप ग्रामो की परम्परागत जातीय संरचना मे कुछ परिवर्तन आने लगे है। अब विभिन्न जातियो के बीच सामाजिक दूरी कम होती जा रही है।

(viii) अब न्याय पंचायतो के द्वारा ग्रामीणो को शीघ्र और सरल न्याय उपलब्ध होने लगा है, यद्यपि इस क्षेत्र मे विशेष सफलता नही मिली है।

ग्राम पंचायतों की असफलता के कारण—भारत मे ग्राम पंचायतो की स्थापना के द्वारा महात्मा गाँधी के 'रामराज्य' की कल्पना को साकार रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया था परन्तु ग्राम पचायतो को अपने कार्यों और उद्देश्यो मे इतनी सफलता नही मिली जितनी कि मिलनी चाहिए थी। ग्राम पंचायत की असफलता के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी है—

(i) **राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति**—देश मे पायी जाने वाली विभिन्न राजनैतिक पार्टिया पंचायतो पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहती है फलतः वे पंचो को अपने अनुसार खडा करते है और फिर उनका उपयोग अपने राजनैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए करते है।

(ii) **दलबन्दी का उदय**—ग्राम पंचायतो के निर्माण से भारत के गाँवो मे दलबन्दी का उदय हुआ है। इससे ग्रामीण सदस्यो मे वैमनस्यता बढ़ी है। फलतः सदस्य गण सामान्य हितो पर समान दृष्टिकोण नही रखते। इसका परिणाम यह होता है कि ग्राम पचायतो को सफलता नही मिलती है।

(iii) **जातिवाद**—ग्राम पचायते जब जाति के आधार पर बनाई जाती है, तो वे समस्त जनता की न होकर जाति-विशेष की हो जाती है और जनता के हित की उपेक्षा करती है।

(iv) **अशिक्षा**—अशिक्षा और अज्ञानता के कारण ग्रामीण व्यक्ति पंचायत के महत्त्व को नही समझ पाते है, इससे पंचायत के कार्यों मे वे रुचि नही लेते है।

(v) **निर्धनता**—अधिकाश ग्रामीण जनता निर्धन है और यह निर्धनता ग्राम के निःस्वार्थ और योग्य व्यक्तियो को ग्राम पंचायत से सम्बन्धित पदो को लेने मे बाधा उपस्थित करती है, क्योकि ग्राम पचायत के पदो पर किसी प्रकार का आर्थिक लाभ नही होता है और पंचायत के कार्यों मे लगे रहने के कारण व्यक्ति अपने कृषि तथा अन्य कार्यों की देखभाल नही कर पाते है।

(vi) **पेशेवर नेता**—चूंकि नि.स्वार्थ और योग्य व्यक्ति पंचायतो मे नही आ पाते है, इससे पेशेवर नेताओ को अवसर मिलता है जो पचायतो के माध्यम से अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास करते है। इससे भी ग्राम पचायतो को सफलता नही मिल पाती है।

ग्राम पंचायतों की सफलता के लिए सुझाव—ग्राम पचायत को सफल बनाने की दिशा मे जो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए जा सकते हैं, उनमे से कुछ निम्नलिखित है—

(i) राजनैतिक दलो के सदस्य ग्राम पंचायत को अपनी रियाज का अखाडा न बनाएँ। ऐसा प्रयास किया जाय कि पंचायतें **राजनैतिक दलों आदि से दूर रहें।**

(ii) **जातिवाद** पंचायतो की असफलता का मूल कारण है। अतः जातिवाद समाप्त किया जाय।

(iii) ग्रामीण जीवन मे व्याप्त **दलबन्दी को समाप्त** किया जाय और सदस्यो मे एकमतिता की भावना का प्रसार किया जाय। इससे सभी सदस्य एक-दूसरे का सहयोग करेंगे और इस प्रकार ग्राम पंचायतो को सफलता प्राप्त होगी।

(iv) **शिक्षा का प्रसार** किया जाय। ऐसा करने से लोग पंचायतो के महत्त्व को समझेंगे और पचायत के कार्यों मे क्रियाशील सदस्य के रूप मे भाग लेंगे।

(v) ग्रामीण जीवन मे व्याप्त **निर्धनता** को समाप्त किया जाय।

(vi) गाँवो मे ऐसे **नेतृत्व** का विकास किया जाय जो समुदाय के सभी कार्यों को सम्पादित कर सके।

(vii) पचायतो के कार्यों की देखभाल करने के लिए **निरीक्षको की नियुक्ति** की जाय और उन्हे पर्याप्त अधिकार प्रदान किए जायँ।

(viii) ग्राम पचायतो मे जो चुनाव हो उनमे मत डालने की अपेक्षा सर्वसम्मति को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया जाय।

(ix) पंचायतो को आर्थिक और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र मे महत्त्व-पूर्ण कार्य करना चाहिए।

(x) जनता मे इस प्रकार की रुचि का प्रसार किया जाय जिससे वह प्रशासन के कामो मे रुचि लेने लगे।

(xi) योग्य और ईमानदार व्यक्तियो को पंचायत के पदो के लिए चुना जाय।

पंचायत राज संस्थाओ पर अशोक मेहता समिति—देश मे पंचायती राज सस्थाओ के कार्यों की समीक्षा तथा उन्हे मजबूत बनाने के लिए उपाय का सुझाव देने के लिए 1977 मे श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया गया था। इस समिति ने अगस्त 1978 मे अपनी रिपोर्ट पेश की। सरकार ने समिति की सिफारिशो पर विचार किया और अब एक आदर्श विधान तैयार किया जा रहा है।

परीक्षा प्रश्न

1. ग्राम पचायतो से आप क्या समझते है ? इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।

2. भारत मे ग्राम पंचायतो की असफलता के क्या कारण है? इसकी सफलता के सुझाव दीजिए।

17

भारत की फसलें और उनका ढाँचा
(Crops in India and Their Pattern)

भारत न केवल एक कृषि प्रधान देश है बल्कि यहाँ अनेक प्रकार की फसले उत्पन्न की जाती है। कृषि की विविध फसलो के उत्पादन की दृष्टि से भारत एक अच्छा अजायबघर है।

भारत मे कृषि फसलो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(i) **खाद्य फसलें** इनमे गेहूँ, चना, जौ, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि मुख्य है तथा (ii) **व्यापारिक फसलें**—इनमे जूट, कपास, रबर, तम्बाकू तथा गन्ना आदि सम्मिलित है। यहाँ कृषि उत्पादन की दो मुख्य विशेषताएँ है—एक तो यह कि यहाँ विभिन्न प्रकार की फसले पैदा होती है तथा दूसरी यह कि यहाँ अन्य फसलो की अपेक्षा खाद्य फसलो को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

मौसम के अनुसार फसलो को तीन भागो में बाँटा जाता है—खरीफ, रबी तथा ग्रीष्म की फसले। चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा, गन्ना, कपास, तिल एवं मूँगफली खरीफ की मुख्य फसले है। गेहूँ, चना, अलसी, जौ, राई तथा सरसो रबी की मुख्य फसलें है। चावल, मक्का तथा मूँगफली गरमी मे भी होते हैं।

1. खाद्य फसलें
(Food crops)

1. गेहूँ (Wheat)

1 **सामान्य परिचय**—गेहूँ प्रमुख खाद्यान्न है। भोज्य पदार्थ के रूप मे इसका उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य करता आ रहा है। गेहूँ रबी की फसल के अन्तर्गत आता है। विश्व मे गेहूँ उत्पादन की दृष्टि से भारत का चौथा स्थान है।

2. **भूमि**—गेहूँ की खेती के लिए भारी दुमट या हल्की चिकनी मिट्टी इसके लिए विशेष उपयुक्त मानी जाती है। काली मिट्टी मे गेहूँ पैदा किया जाता है। मध्य प्रदेश मे नर्मदा के निकट की भूमि गेहूँ के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

3. **जलवायु**—हमारे देश मे गेहूँ नवम्बर से दिसम्बर तक बोया जाता है और अप्रैल मे काट लिया जाता है। साधारण तौर पर गेहूँ ठंडी जलवायु मे ही पैदा होता है, परन्तु इसकी उपज मे तापक्रम, वर्षा तथा मिट्टी आदि का प्रभाव पडता है।

4. **वर्षा**—गेहूँ के लिए 25 सेन्टीमीटर से 90 सेन्टीमीटर तक वर्षा होनी चाहिए। इसकी उपज के लिए अधिक पानी हानिकारक होता है।

5. **उत्पादक क्षेत्र**—गेहूँ भारत के लगभग प्रत्येक राज्य मे उत्पन्न किया जाता हैं, किन्तु यह प्रमुख रूप से मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा बिहार मे उत्पन्न किया जाता है। गेहूँ उत्पादक राज्यो मे उत्तर प्रदेश का प्रमुख स्थान है। उत्तर प्रदेश मे गेहूँ का सबसे बडा क्षेत्र गोरखपुर है। गेहूँ उत्पादक अन्य जिले जैसे—सहारनपुर, मुजफ्फरपुर, कानपुर, आगरा, मुरादाबाद, बुलन्दशहर, शाहजहाँपुर तथा मेरठ आदि है।

भारत मे गेहूँ उत्पादन का क्षेत्र और मात्रा निम्न प्रकार है :—

मद	1950-51	1974-75	1979-80
गेहूँ उत्पादन का क्षेत्र (हजार हेक्टेयर्स)	9,746	18,108	21,960
गेहूँ उत्पादन (मिलियन टन्स)	6·82	24 24	31·56

स्पष्ट है कि नियोजन अवधि मे गेहूँ के क्षेत्रफल, उत्पादन और उत्पादकता सभी मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सन् 1875-76 मे गेहूँ का उत्पादन 28 33 मि० टन हुआ है।

2. चावल (Rice)

1 **सामान्य परिचय**—चावल भारत के अधिकांश लोगो का भोज्य पदार्थ है। देश के समस्त बोई हुई भूमि के 25% भाग पर चावल उत्पन्न किया जाता है। विश्व के उत्पादन का 21% चावल भारत मे प्राप्त होता है। विश्व मे सर्वाधिक चावल चीन में तथा उसके बाद भारत मे ही उत्पन्न होता है, अर्थात् भारत चावल उत्पन्न करने वाले राष्ट्रो में प्रमुख स्थान रखता है।

2 **भूमि**—चावल की खेती के लिए उपजाऊ चिकनी, कछारी अथवा दोमट मिट्टी उपयुक्त होती है। साथ ही साथ यह भूमि समतल भी होनी चाहिए जिससे जमीन में पानी की सतह एक समान हो जिससे पौधे उचित प्रकार से विकास कर सकें।

3. **जलवायु**—चावल उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो की उपज है। अतः इसे ऊँचे तापक्रम की आवश्यकता होती है। चावल बोने के समय तापक्रम 20° सेन्टीग्रेट तथा काटने के समय कम से कम 26° सेन्टीग्रेट होना चाहिए।

4. **वर्षा**—चावल के लिए पानी की अत्यधिक आवश्यकता होती है। अतः जहाँ वार्षिक वर्षा 125 सेन्टीमिटर से 200 सेन्टीमीटर के बीच होती है, चावल उत्पन्न किया जा सकता है।

5 उपज के क्षेत्र—भारत मे लगभग विश्व का 21 प्रतिशत चावल उत्पन्न किया जाता है। भारत के प्रमुख चावल उत्पन्न करने वाले क्षेत्र-पश्चिमी बंगाल, असम, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उडीसा, कर्नाटक तथा केरल हैं।

चावल के उत्पादन, क्षेत्र को नीचे सारिणी मे दर्शाया गया है—

चावल का उत्पादन क्षेत्र
(क्षेत्र लाख हेक्टेयर मे, उत्पादन लाख टन मे)

वर्ष	क्षेत्र	उत्पादन
1960-61	341	346
1973-74	380	438
1979-80	389 8	421 9

3. जौ (Barley)

1 परिचय—गेहूँ की भाँति जौ भी रबी की फसल है। यह एक सस्ता किन्तु पौष्टिक अन्न है। भोजन मे इसका प्रयोग दलिया और रोटी के रूप मे किया जाता है। इसका प्रयोग शराब बनाने मे भी किया जाता है।

2 भूमि—जौ की उपज के लिए साधारण भूमि की आवश्यकता होती है। इसके लिए हल्की दोमट मिट्टी सर्वश्रेष्ठ होती है। जौ के पौधे मे सर्दी एव गर्मी सहन की क्षमता अधिक होती है, इसलिए यह कम उपजाऊ भूमि मे भी पैदा हो जाती है।

3. जलवायु—जिस भूमि मे गेहूँ की फसल अच्छी तरह नही की जा सकती उसमे जौ बोया जाना है। यह शीतोष्ण कटिबन्ध का अनाज है लेकिन गर्म व शुष्क प्रदेशो मे भी उग सकता है। गेहूँ की अपेक्षा नमी की आवश्यकता इसे कम पडती है। इसकी बुआई अक्टूबर-नवम्बर मे होती है और मार्च-अप्रैल तक काट ली जाती है।

4. उत्पादक क्षेत्र—प्रायः जौ उन सभी क्षेत्रो मे पैदा हो सकता है जहाँ गेहूँ की खेती की जाती है। उत्तर प्रदेश मे जौ सबसे अधिक मात्रा मे पैदा हो सकता है। यहाँ भारतवर्ष का 65% जौ उत्पन्न होता है। उत्तर प्रदेश मे बनारस, इलाहाबाद, जौनपुर, गोरखपुर आदि जिले भी जौ के प्रमुख उत्पादक क्षेत्र है।

बिहार राज्य मे भारत का लगभग 20 प्रतिशत जौ उत्पन्न किया जाता है। इस प्रदेश मे चम्पारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा जिलो में जौ की खेती पर्याप्त रूप से की जाती है। इसके अतिरिक्त पंजाब मध्य प्रदेश मे भी जौ की खेती की जाती है।

इस फसल का क्षेत्रफल सन् 1950-51 मे 3113 हजार हेक्टेयर्स से घटकर 1979-80 में 1750 हजार हेक्टेयर रह गया। इन दोनो वर्षों में जौ का उत्पादन क्रमशः 2·38 मिलियन टन और 1·62 मिलियन टन था।

4. ज्वार (Jowar)

1. **सामान्य परिचय**—ज्वार खरीफ की फसल के अन्तर्गत आता है। यह एक मोटा अनाज है। इसको प्रायः गरीब व्यक्ति उपयोग करते है। इसके डंठल एवं पत्तो को पशुओ के चारे के रूप मे प्रयोग किया जाता है।

2 **भूमि**—ज्वार काली तथा चिकनी मिट्टी मे अच्छी तरह उत्पन्न होता है। वैसे ज्वार की खेती पठारी प्रदेशो की लाल तथा काली मिट्टी मे भी की जाती है।

3. **जलवायु**—ज्वार की खेती के लिए पानी की विशेष आवश्यकता नही होती। सामान्य वर्षा होने पर भी इसकी खेती हो जाती है। ज्वार की उपज के लिए 60 सेन्टीमीटर से 75 से० मी० वर्षा होनी चाहिए।

4 **उत्पादक क्षेत्र**—ज्वार महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश मे उत्पन्न किया जाता है। दक्षिणी भारत देश का लगभग 89 प्रतिशत भाग ज्वार उत्पन्न करता है।

5. बाजरा (Bajra)

1. **सामान्य परिचय**—ज्वार की भाँति बाजरा भी शुष्क प्रदेशो का पौधा है। इसका भी महत्त्व चारे एवं दाने के लिए है। यह मोटे अनाजो की श्रेणी मे आता है। विश्व मे बाजरे के उत्पादन मे भारत का प्रथम स्थान है। यह खरीफ की फसल है।

2. **भूमि**—इसके उत्पादन के लिए बलुई मिट्टी अच्छी मानी जाती है।

3 **जलवायु**—इसके लिए ज्वार की अपेक्षा शुष्क जलवायु की आवश्यकना होती है। 40 से० मी० से 45 से० मी० तक वर्षा इसके लिए पर्याप्त मानी जाती है, एवं 25 से 32 सेन्टीग्रेट तक का तापक्रम उपयुक्त होता है।

4 **उत्पादक क्षेत्र**—भारत मे बाजरा के प्रमुख उत्पादक राज्य महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, तमिलनाडु और मैसूर है। राजस्थान सबसे अधिक बाजरा उत्पन्न करने वाला राज्य है। यह राज्य देश के कुल बाजरा उत्पादन का लगभग 25% भाग उत्पन्न करता है।

6 मक्का (Maize)

1. **सामान्य परिचय**—ऐसा माना जाता है कि मक्का का जन्म स्थान मध्य अमेरिका मेक्सिको है। मक्का गर्म देशो मे अधिक उत्पन्न होता है। यह निर्धन लोगो का प्रमुख खाद्यान्न है। मक्का का पौधा 2 से 3 मीटर तम ऊँचा होता है। इस पर कई भुट्टे लगते हैं। यह बहुत ही शीघ्र पकने वाली फसल है। इसे पकने मे लगभग 60 दिन लगते हैं।

2 **भूमि**—मक्के की अच्छे पैदावार के लिए रेत मिली हुई मटियार भूमि की जरूरत पड़ती है। ढालू खेतो मे इसकी उपज अच्छी होती है।

3 **जलवायु**—मक्के की फसल के लिए 50 से 100 सेन्टीग्रेड तक वर्षा की

आवश्यकता होती है। इसकी खेती के लिए तापमान 25 सेन्टीग्रेड से 30 सेन्टीग्रेड तक होना चाहिए। मक्के की खेती के लिए खेतो मे पानी नही भरना चाहिए।

4. **उत्पादक क्षेत्र**—भारत मे मक्का उत्तर प्रदेश, राजस्थान; बिहार, हरियाणा पंजाब आदि राज्यो मे उत्पन्न किया जाता है। भारत मे सबसे अधिक मक्का उत्तर प्रदेश मे उत्पन्न किया जाता है। मक्का की फसल के क्षेत्रफल और उत्पादन दोनो मे वृद्धि को सारिणी से स्पष्ट किया गया है।

ज्वार, बाजरा, मक्का का उत्पादन क्षेत्र और उत्पादन

फसल	उत्पादन क्षेत्र (हजार हेक्टेयर्स) 1979-80	उत्पादन (मि० टन) 1979-80
ज्वार	16450	11 32
बाजरा	10600	4 03
मक्का	5750	5 58

ज्वार, बाजरा और मक्का तीनो का संयुक्त रूप से सबसे अधिक उत्पादन महाराष्ट्र में होता है।

7 दालें (Pulses)

1 **सामान्य परिचय**—हमारे खाद्य पदार्थों मे दालो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दालों से प्रोटीन प्राप्त होता है। दालें रबी और खरीफ दोनो फसलो मे बोई जाती है। ये ऊष्ण कटिबन्धीय एवं शीतोष्ण कटिबन्धीय पौधे है।

2. **भूमि**—दाल की खेती प्राय: सभी प्रकार की भूमि पर की जा सकती है। इसके लिए हल्की तथा जल निकास युक्त भूमि अच्छी होती है।

3. **जलवायु**—दालो के लिए अधिक तापक्रम तथा कम वर्षा की आवश्यकता होती है।

4 **उत्पादक क्षेत्र**—अरहर की दाल बंगाल, असम, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश में अधिक होती है। मूंग की दाल राजस्थान में अधिक होती है तथा मसूर की दाल के लिए तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश महत्त्वपूर्ण है। भारत मे दालो की उत्पादन स्थिति निम्न प्रकार है—

दाल का उत्पादन व उत्पादन क्षेत्र

मद	1950-51	1979-80
दाल उत्पादन का क्षेत्र (हजार हेक्टेयर्स)	19.091	21.750
दाल उत्पादन (मि० टन०)	8 41	83.70

सन् 1975-76 के दालो का उत्पादन 13.14 मिलियन टन हो गया है।

व्यावसायिक फसलें
(Commercial Crops)

1 गन्ना (Sugar cane)

1. सामान्य परिचय—भारत मे गन्ने की खेती अत्यन्त प्राचीन काल से की जा रही है। विश्व मे सबसे अधिक गन्ना भारत मे ही उत्पन्न होता है। भारत विश्व मे गन्ने के उत्पादन का लगभग 37 प्रतिशत भाग उत्पन्न करता है।

2. भूमि—गन्ने की खेती के लिए समतल भूमि की आवश्यकता होती है। भूमि पर पानी नही रुकना चाहिये। यह पौधा दोमट मिट्टी मे पैदा होता है, परन्तु चिकनी मिट्टी इसके लिए लाभदायक है। यह पौधा भूमि के उपजाऊपन को बहुत प्रभावित करता है, अत. भूमि के उपजाऊपन को पूर्ववत बनाये रखने के लिए रासायनिक खाद देने की आवश्यकता होती है।

3. जलवायु—गन्ना ऊष्ण कटिबन्ध की उपज है। गन्ने की उपज के लिए उपजाऊ भूमि, ऊँचा तापक्रम और अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है। गन्ने की खेती के लिए 150 से० मी० वर्षा की आवश्यकता होती । इससे कम वर्षा वाले क्षेत्रो मे सिंचाई की आवश्यकता होती है।

4. बोने और काटने का समय—गन्ना मार्च अप्रैल मे बोया जाता है और नवम्बर से फरवरी तक काटा जाता है।

5. गन्ना उत्पादन करने का तरीका—गन्ने को प्रतिवर्ष बोने की आवश्यकता नही पडती। एक बार गन्ना बो देने के पश्चात् तीन वर्ष गन्ना बोने की आवश्यकता नही होती। गन्ने को जड से नही काटा जाता बल्कि इसे ऊपर से ही काट लिया जाता है। गन्ने का बीज नही उत्पन्न किया जाता बल्कि इसकी गाँठे ही बोयी जाती हैं।

6. उत्पादक क्षेत्र—भारत मे गन्ना गंगा की घाटी मे होता है। इन प्रदेशो मे उत्तर प्रदेश, उडीसा, बिहार तीनो मिलकर 60% कुल भारत के गन्ने का उत्पादन करते है। गन्ने की उत्तम पैदावार आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि राज्यो मे होती है। भारत मे गन्ने का उत्पादन विभिन्न वर्षों मे इस प्रकार है :—

1975-76 मे 27 लाख हेक्टेयर भूमि मे गन्ने की खेती की गयी तथा 1450 लाख टन गन्ने का उत्पादन हुआ। 1978-79 मे गन्ना का उत्पादन 1569 लाख टन था। सन् 1982-83 मे गन्ने का उत्पादन 1880 लाख निर्धारित किया गया हैं।

भारत मे जितना गन्ना पैदा होता है उसका 50% गुड बनाने मे 30% सफेद चीनी बनाने मे और शेष चूसने तथा बीज के रूप मे काम मे लाया जाता है।

2. कपास (Cotton)

1. सामान्य परिचय—कपास भारत की प्रमुख व्यावसायिक फसल है। कपास की माँग विश्वव्यापी है क्योंकि वह मानव वस्त्र के लिए सबसे उपयोगी पदार्थ है।

कपास एक झाडी का सफेद रेशेदार फूल होता है। कपास मूल रूप से भारत का पौधा है। विश्व को कपास से परिचित करने के लिए भारत को ही श्रेय है।

2. **भूमि**—कपास की खेती के लिए मन्द ढाल वाली समतल भूमि की आवश्यकता होती है ताकि जल का प्रवाह सरलतापूर्वक हो सके। इसकी उपज के लिए दक्षिणी पठार की लावा द्वारा निर्मित मिट्टी या चूना मिश्रित दोमट मिट्टी अधिक उपयुक्त है। भारत मे काली कछारी एवं लाल मिट्टी मे इसकी उपज होती है। कपास के लिए ऐसी मिट्टी उपजाऊ होती है जो नमी सोख कर पौधे को समान गति तक पहुँचाती रहे।

3. **जलवायु**—कपास ऊष्ण जलवायु का पौधा है। इसके लिए ऊष्ण जलवायु की जरूरत होती है। गर्मी के दिनो मे साधारण वर्षा कपास के लिए लाभदायक है। पाला कपास का शत्रु है। कपास को उगते समय नमी आवश्यक है। 75 से० मी० से 125 से० मी० वर्षा वाले क्षेत्रो मे इसकी खेती सरलता से की जाती है।

4 **बोने का समय**—जुलाई से सितम्बर तक इसकी बोआई कर दी जाती है तथा फरवरी मार्च तक इसकी फसल तैयार हो जाती है।

5. **कपास के प्रकार**—रेशे की लम्बाई की दृष्टि से कपास के चार प्रकार है—

(1) **छोटे रेशे वाली कपास**—यह अधिक वर्षा वाले भागो मे पैदा होती है। छोटे रेशे वाली कपास मध्य प्रदेश, राजस्थान, नागपुर, उत्तर प्रदेश, उडीसा, तमिलनाडु, असम आदि राज्यो मे उत्पन्न होती है। यह घटिया किस्म की कपास होती है।

(11) **मध्यम रेशे वाली कपास**—इसका रेशा कुछ बडा और चमकदार होता है। इस प्रकार की कपास मुख्य रूप से कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु मे पैदा होती है।

(111) **लम्बे रेशे वाली कपास**—यह सर्वश्रेष्ठ कपास होती है। इसके रेशो की लम्बाई $3\frac{3}{4}$ से० मी० से $6\frac{1}{4}$ से० मी० तक या उससे भी अधिक होती है। लम्बे रेशे वाली कपास अधिकतर सिंचाई करने वाले भागो जैसे उत्तर प्रदेश, पंजाब और मद्रास मे उत्पन्न होती है। भारत मे लम्बे रेशे वाली कपास का उत्पादन बढाने के लिए अनेक प्रयास कर रही है।

(iv) **उत्पादक क्षेत्र**—हमारे देश मे करीब 77 लाख हेक्टेयर भूमि पर कपास बोयी जाती है। कपास के उत्पादन मे गुजरात राज्य सर्वोपरि है और द्वितीय स्थान महाराष्ट्र का है। दक्षिणी भारत मे उल्लेखनीय उत्पादक तमिलनाडु, मैसूर तथा आन्ध्र-प्रदेश है। उत्तर भारत मे हरियाणा, पजाब, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश कपास उत्पन्न करने के लिए उल्लेखनीय है।

मद	1950-51	1975-76	1979-80
कपास उत्पादन क्षेत्र (लाख हेक्टेयर मे)	59	74	80.77
कपास उत्पादन (170 किलो की लाख गाँठो मे)	30.4	59 5	76 97

3. जूट (Jute)

1 **सामान्य परिचय**—भारत की व्यावसायिक फसलो मे जूट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत मे सर्वप्रथम जूट की खेती डा० बुकानन हेमिल्टन ने की थी। यह भी एक रेशेदार व्यापारिक उपज है। गंगा-ब्रह्मपुत्र डेल्टा प्रदेश, संसार में जूट की खेती के लिए विख्यात हैं। विश्व के कुल जूट उत्पादन का लगभग 97 प्रतिशत भाग भारत मे ही उत्पन्न होता है।

विभाजन के पूर्व भारत को विश्व मे जूट उत्पादन के क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त था। परन्तु विभाजन के पश्चात् जूट के उत्पादन का अधिकाश क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बंगला देश) मे चला गया।

2. **भूमि**—जूट की खेती के लिए सामान्य ढाल वाली भूमि की आवश्यकता होती है। पौधो की जडो मे अधिक दिनो तक जल का रुकना हानिकारक होता है। जूट सभी प्रकार की मिट्टी मे उगाया जा सकता है। चिकनी मिट्टी से लगाकर बलुई दोमट मिट्टी मे पैदा किया जाता है।

3. **जलवायु**—जूट की उपज के लिए गर्म और नम जलवायु की आवश्यकता होती है। इसकी उपज के लिए 27 सेण्टीग्रेट से 38 सेण्टीग्रेट तक का तापमान अच्छा होता है। जूट की फसल के लिए 200 से० मी० से 950 से० मी० तक की वार्षिक वर्षा उपयोगी होती है।

4. **उत्पादक क्षेत्र**—भारत में जूट का उत्पादन निम्नलिखित राज्यो मे होता है—

(i) **पश्चिमी बंगाल**—भारत का आधा जूट पश्चिमी बगाल से ही प्राप्त होता है। इस राज्य में जूट मुर्शिदाबाद, बर्दवान, नादिया, हुगली, हावडा, जलपाईगुडी आदि जिलो मे पैदा किया जाता है।

(ii) **उड़ीसा**—इस राज्य मे बोलगिर कालाहाडी, कोरापुत, कटकपुरी आदि जिलो मे जूट का उत्पादन होता है।

(iii) **बिहार**—इस राज्य मे पूर्णिया जिले मे जूट की खेती होती है। इसके अतिरिक्त चम्पारन, दरभंगा, सारन, भागलपुर जिलो मे जूट उत्पन्न होता है।

उत्पादन स्थिति—जूट के उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है —

मद	1950-51	1975-76	1979-80
जूट उत्पादन क्षेत्र (लाख हेक्टेयर मे)	5 7	5·9	8·42
जूट उत्पादन क्षेत्र (लाख गाँठो मे)	42	95	61·20

4. चाय (Tea)

सामान्य परिचय—आधुनिक युग मे चाय सबसे अधिक प्रिय पेय पदार्थ है। चाय के उत्पादन मे भारत को द्वितीय स्थान प्राप्त है। चाय का पौधा एक प्रकार की जंगली झाडी है जिसकी पत्तियो को सुखा कर एवं भूनकर या उबालकर चाय तैयार

की जाती है। भारतवर्ष मे चाय के कुल उत्पादन का करीब 75% भाग विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है।

चाय के प्रकार—चाय एक झाडीदार पौधे की पत्तियो को सुखाकर तैयार की जाती है। चाय के मुख्य प्रकार निम्नलिखित है—

1. **काली चाय**—काली चाय तैयार करने के पत्तियो को एकत्र करके सूर्य की धूप या लकडी के कोयले की आग पर फैला दिया जाता है। फिर इसमे पानी के छीटे डालकर किसी बेलन या मशीन से इसको चौरस किया जाता है। इससे पत्तियाँ काली पड जाती है। बाद मे इन्हे चलनियो से छान कर पैक कर दिया जाता है।

2. **हरी चाय**—हरी चाय तैयार करने के लिए पत्तियो को तोडकर तथा कुछ गर्म करके तत्काल सूर्य के प्रकाश मे छोड दिया जाता है जिससे इसका रंग हरा ही रहता है। इसको भूना नही जाता।

3 **चूरा चाय**—भारत मे एक तीसरे प्रकार की चाय जिसे चूरा चाय कहते है तैयार की जाती है। यह पत्तियो के टूटन या बचे हुये चूरे से तैयार की जाती है। यह सबसे घटिया किस्म की चाय मानी जाती है।

(1) **भूमि**—चाय की खेती के लिए ढालू भूमि उपयुक्त होती है। क्योकि पानी का पौधो की जड़ो तक अधिक समय तक रुकना हानिकारक होता है परन्तु अधिक ढाल होने से भूमि क्षरण होता है। जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। चाय की खेती के लिए पोटास लोहा एव जीवाश की मात्रा से मुक्त हल्की तथा गहरी बलुई मिट्टी उपयुक्त होती है।

(ii) **जलवायु**—चाय चूँकि उष्ण कटिबन्ध के मानसूनी प्रदेश का पौधा है अत: इसे 24° सेन्टीग्रेड से 30° सेन्टीग्रेड ताप की आवश्यकता होती है। चाय के लिये धूपदार मौसम अनुकूल रहता है। चाय के लिए 150 से० मी० से 200 से० मी० वर्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही वर्षा का समान वितरण भी होना चाहिए।

(iii) **श्रम**—चाय की खेती के लिए प्रचुर मात्रा मे सस्ते श्रमिको की आवश्यकता होती है क्योकि इसके सभी कार्य हाथो से ही किये जाते है। चाय की पत्तियाँ चुनने के लिए महिला श्रमिक अधिक उपयुक्त समझी जाती है क्योकि कोमल अँगुलियो से चाय की कोपले चुनना उचित होता है। चाय बागानो का क्षेत्र 1950-51 मे 314 हजार हेक्टेयर्स से बढ़कर अब 364 हजार हेक्टेयर्स हो गया है। सन् 1950-51 मे चाय का उत्पादन 275 हजार टन था, जो अब बढकर 600 हजार टन हो गया।

5. कहवा (Coffee)

कहवा भी चाय की भाँति एक पेय पदार्थ है। कहवा की झाडी के फूलो के बीजो को भूनकर कहवा बनाया जाता है। सर्वप्रथम उसकी खेती कर्नाटक मे आरम्भ हुई। कहवा उष्ण कटिबन्धीय पौधा है। विश्व के कुल उत्पादन का 2% भाग भारत मे उत्पन्न होता है।

भूमि—इसके लिए ढालू भूमि की आवश्यकता होती है क्योकि पानी का कहवे की जड़ों पर रुकना हानिकारक होता है। अत: चाय के समान कहवे के बागान पहाड़ी

ढालो पर लगाए जाते है। कहवा के लिए उपजाऊ दूमट मिट्टी तथा लावा से बनी हुई मिट्टी उपयुक्त होती है।

जलवायु—इसकी खेती के लिए गर्म जलवायु और साधारण वर्षा की आवश्यकता होती है। इसके लिए सामान्यत. 150 सेन्टीमीटर वर्षा की आवश्यकता होती है। इस पौधे के लिए न तो बहुत कम वर्षा होनी चाहिए और न बहुत अधिक वर्षा होनी चाहिए। कहवा के पौधे को उगने के लिए तथा बढने के 15° सेन्टीग्रेट से लेकर 28° तक दैनिक तापक्रम की आवश्यकता होती है।

उत्पादक क्षेत्र—भारत मे केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश आदि राज्यो मे कहवा की खेती की जाती है। भारत मे कहवा केवल कर्नाटक से (37%), केरल (33%) और तमिलनाडु (80%) मे ही पैदा किया जाता है। पश्चिमी घाट के सुरक्षिता पूर्वी ढाल इसके लिए बहुत उपयुक्त क्षेत्र है।

सन् 1974-75 मे कहवा का उत्पादन 99·075 टन हुआ। कॉफी बोर्ड इस कृषि-आधारित उद्योग के विकास मे सलग्न है।

वर्तमान समय (1975-76) मे देश की कॉफी उत्पादन का क्षेत्र 188 हजार हेक्टेयर्स तथा वार्षिक उत्पादन लगभग 120 हजार टन् है।

6 तम्बाकू

1 **परिचय**—यह एक नशीली वस्तु है। इसका प्रयोग अनेक रूपो मे होता है। तम्बाकू की उपज के आधार पर भारत का विश्व मे तीसरा स्थान है।

2. **भूमि**—तम्बाकू के खेतो मे पानी भरा रहना हानिकारक है। इसकी खेती के लिए सामान्य ढाल वाले खेती ही उपयुक्त होते है। यह उष्ण आर्द्र प्रदेशो मे ऊँचे ढालू भागो मे उगाया जाता है। तम्बाकू के लिए हल्की रेतीली दुमट मिट्टी श्रेष्ठ होती है। तम्बाकू के खेतो की मिट्टी मे पोटाश, चून और वनस्पति अश मिला हो तो उपज अच्छी होती है।

3. **जलवायु**—तम्बाकू उष्ण और शीतोष्ण दोनो प्रकार की जलवायु मे उत्पन्न होती है। इसके लिए 100 सेन्टीमीटर वार्षिक वाले प्रदेश उपयुक्त होते है किन्तु वर्षा के समान वितरण की आवश्यकता होती है। तम्बाकू की खेती के लिए 16° सेन्टीग्रेट से 40° सेन्टीग्रेड तापमान तथा 50 से 100 सेन्टीमीटर वर्षा की आवश्यकता होती है। जिन भागो मे अधिक वर्षा होती है उन भागो मे खेती करना असम्भव है।

4. **उत्पादक क्षेत्र**—विश्व तम्बाकू उत्पादन मे भारत को तृतीय स्थान प्राप्त है। भारत विश्व के कुल तम्बाकू उत्पादन का लगभग 8 प्रतिशत भाग उत्पन्न करना है। तम्बाकू उत्पादन के निम्नलिखित क्षेत्र है।

(1) **दक्षिणी क्षेत्र**—इस क्षेत्र के अन्तर्गत महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु राज्य आते हैं। आन्ध्र प्रदेश कुल तम्बाकू उत्पादन का लगभग 25 प्रतिशत भाग उत्पन्न करता है।

(ii) **पूर्वी क्षेत्र**—इस क्षेत्र के अन्तर्गत बिहार, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बगाल राज्य आते है।

भारत मे तम्बाकू का उत्पादन लगभग 445 हजार टन प्रतिवर्ष है।

7. तिलहन (Oilseeds)

1. **परिचय**—तिलहन एक व्यापारिक उपज है। अनेक प्रकार के पौधे एव वृक्षो के बीजो, फलो अथवा गुठलियो से तेल निकाला जाता है उन्हे तिलहन कहते है। भारत का विश्व के तिलहन पैदा करने वाले देशो मे प्रमुख स्थान है।

2 **तिलहन के प्रकार**—भारत मे तिलहन दो प्रकार की होती है :—

(अ) **छोटे दाने वाली तिलहन**—इसके अन्तर्गत तिल, सरसो, राई, अलसी आदि आते है।

(ब) **बड़ेदाने वाली तिलहन**—इसके अन्तर्गत मूँगफली, बिनौला, नारियल, आदि आते हैं।

यहाँ विश्व की $\frac{3}{4}$ मूँगफली, $\frac{1}{4}$ तिल, $\frac{1}{4}$ रेडी और $\frac{1}{6}$ सरसो और अलसी उत्पन्न की जाती है। अन्य तिलहनो मे एरण्ड, बिनौला, महुआ, नारियल, राई आदि प्रमुख है।

तिलहन की माँग न केवल सलाद और खाद्य के लिए बलिक साबुन, इत्र, वार्निश, दवाइयो एव स्नेहन तेलो (Iubjicants) आदि बनाने के लिए बढती जा रही है।

कुछ मुख्य तिलहनो के उत्पादन की स्थिति

(हजार टन)

	1975-16	1976-77	1979-80
तिल	479	404	370·7
अलसी	598	431	269·7
अरण्डी	143	172	232·7
मूंगफली	6755	5262	5771·8
सरसो एव लाहा	1936	1562	1433·1

फसलों के स्वरूप को प्रभावित करने वाले तत्त्व

भारत मे फसलो के स्वरूप को कुछ विशेष घटक प्रभावित करने है, जो निम्नांकित है :—

1 भौतिक, तकनीकी, आर्थिक, सरकारी (विधि सम्बन्धी एवं प्रशासनिक) राजनैतिक घटक। इसमे अधिक घटक आर्थिक प्रभावशाली है। इनकी संक्षिप्त व्याख्या नीचे की जाती है।

2. **भौतिक घटक**—इस घटक में मिट्टी, वर्षा, जलवायु एवं मौसम सम्मिलित होते है। देश के विभिन्न भागो मे जो फसलें होती है वे इन घटको से अत्यधिक प्रभा-

वित है। उदाहरणार्थ, जहाँ पर अधिक वर्षा होती है वहाँ धान की फसल पैदा की जाती है, किन्तु जो क्षेत्र शुष्क अथवा कम वर्षा वाले है वहाँ ज्वार, बाजरा पैदा किया जाता है। फसलो का उगाया जाना सिंचाई सुविधाओ की उपलब्धि पर भी निर्भर करता है। जिन क्षेत्रो मे यह साधन बढ रहा है वहाँ गन्ना और तम्बाकू की खेती बढ रही है।

3. **तकनीकी घटक**—फसलो के स्वरूप निर्धारण मे तकनीक का भी प्रभाव पडता है। देश के जिस क्षेत्र मे जैसी तकनीकी का विकास हुआ है, उसी के अनुसार कुछ अंश तक फसले पैदा होती है। उदाहरणार्थ, पंजाब मे कुछ फसलो के तकनीकी मे अधिक विकास है, अतः वे फसले वहाँ विशिष्ट रूप मे उगाई जाती है।

4. **सामाजिक घटक**—यह भी फसल का स्वरूप प्रभावित करते है। जिस क्षेत्र मे लोग सामाजिक दृष्टिकोण मे अधिक विकसित रहते है, रहन-सहन का स्तर अच्छा रहता है, लोग कम निर्धन होते है, वहाँ अच्छी और मँहगी फसले उगाई जाती है। सामाजिक दृष्टिकोण से पिछडे क्षेत्र के लोग मोटे अनाजो का अधिक उत्पादन करते है।

5 **आर्थिक घटक**—आर्थिक घटक कृषि की फसल को सर्वाधिक प्रभावित करते है। इसमे हम कृषको की आर्थिक स्थिति, मूल्य, खेत अथवा जोत का आकार, फसल-बीमा-सुविधा, भू-व्यवस्था, आदानो की उपलब्धि एवं साख की सुविधा आदि सम्मिलित करते है जिनकी सक्षिप्त व्याख्या निम्न है —

(अ) **कृषको की आर्थिक स्थिति एवं मूल्य**—यदि कृषक की आर्थिक स्थिति अच्छी है तो वह अच्छी और मँहगी फसल बोयेगा, क्योकि वह उस फसल का बीज क्रय करने के लिए धन-राशि का व्यय कर सकता है। साथ ही, फसलो का स्वरूप वस्तुओं के मूल्य पर भी निर्भर करता है। जिस वस्तु के भाव मे तेजी है, किसान अधिक मूल्य प्राप्त कर सकते हैं, उस फसल के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढेगा। मूल्यो मे स्थायित्व एव अस्थायित्व का भी प्रभाव फसल के स्वरूप पर पड़ता है।

(ब) **जोत का आकार**—बड़ी जोत वाले किसान मौद्रिक फसलो का उत्पादन अधिक करते है। किन्तु जिन किसानो के पास भूमि कम है, वे प्रायः अपनी भूमि का प्रमुख उपयोग अपनी आवश्यकता जैसे, भोजन की पूर्ति करने वाले वस्तुओ के उत्पादन में करते है। किन्तु किसानो की आर्थिक स्थिति मे जैसे-जैसे सुधार होता जाता है, नकदी अथवा मौद्रिक फसलो की पैदावार बढाते जाते है।

(स) **फसल-बीमा-सुविधा**—मानसून की अनिश्चितता किसानो की कमर को तोड़ देती है। यदि फसलो के नष्ट होने पर फसल-बीमा-सुविधा के अन्तर्गत क्षति-पूर्ति की सुविधा है, तो किसान फसलो के स्वरूप मे परिवर्तन ला सकता है। उदाहरणार्थ अपने देश के कई शुष्क क्षेत्रो मे बीमा की व्यवस्था उपलब्ध कराने के बाद ज्वार-बाजरे आदि की फसल मे वृद्धि हो रही है।

(द) **भू-व्यवस्था**—भू-व्यवस्था यदि ऐसी है कि कृषक अपने उपार्जन का लाभ प्राप्त कर सकते हैं, तो कृषक मौद्रिक फसलों का अधिक उत्पादन करेंगे।

(य) **आदानों की उपलब्धियाँ**—जब कृषको को अच्छे बीज, उर्वरक, जल,

भण्डार गृह, यातायात एवं विपणन की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होती है तो किसान प्रगतिशील फसलो का उत्पादन बढाते है।

(र) **साख की सुविधा**—यह भी फसल के स्वरूप को प्रभावित करती है। साख की सुविधा होने पर कृषक अच्छी एव मूल्यवान फसलो का उत्पादन करते है।

6 **सरकारी कार्यवाही सम्बन्धी घटक**—इसके अन्तर्गत प्रशासकीय एवं विधि सम्बन्धी घटक सम्मिलित किया जा सकता है। प्रशासन जिस प्रकार की फसलो का उत्पादन बढाना चाहता है, उसकी यह विशेष व्यवस्था कर सकता है और उस फसल का उत्पादन बढाया जा सकता है। अपने प्रशासन मे, शासन प्रत्याशित फसल के उत्पादन मे वृद्धि की व्यवस्था कर सकता है और तकनीकी और वैज्ञानिक सुविधा देकर उसका उत्पादन बढा सकता है। विभिन्न प्रकार की कृषि अथवा फसले उनके क्रय-विक्रय सम्बन्धी नियम भी फसल के स्वरूप को प्रभावित करते है।

7 **राजनैतिक स्थिति**—इसमे हम देश की आन्तरिक एव बाह्य राजनीति को सम्मिलित करते है। देश मे आयात, निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, खाद्यान्न आदि की जैसी स्थिति रहेगी उसका प्रभाव फसल उत्पादन के स्वरूप पर पडेगा। यदि देश की स्थिति ऐसी है कि विदेशी निर्भरता को कम करना और खाद्यान्नो आदि मे आत्म-निर्भरता को बढाना है तो इन वस्तुओ का अधिक उत्पादन प्रारम्भ किया जायगा। भारतीय उदाहरण इस तथ्य को चरितार्थ करता है।

यद्यपि उपर्युक्त घटक फसलो के स्वरूप को प्रभावित करते है, किन्तु इनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी, विभिन्न प्रयत्न द्वारा लाये जा सकते है।

पंचवर्षीय योजनाओं में फसल उत्पादन रीति

प्रथम योजनावधि मे खाद्य समस्या की गम्भीरता के कारण नकदी फसलो की अपेक्षा खाद्य फसलो के विकास को प्राथमिकता दी गयी। **द्वितीय** योजना काल मे व्यापारिक फसलो का उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया गया, **तृतीय व चतुर्थ** योजना के अन्तर्गत इनके विकास हेतु सिंचाई, पौध सरक्षण, ऊँची उपज देने वाली किस्मो इत्यादि के कार्यक्रम तैयार किये गए।

छठवीं योजना मे फसल उत्पादन के क्षेत्र मे एक ओर खाद्यान्नो मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने तथा दूसरी ओर कृषको की आय, एवं रोजगार मे वृद्धि के लिए फसलो मे विविधीकरण की नीति अपनाई जायेगी। कृषि क्षेत्र मे विस्तार की संभावनाएँ अल्प ही है। अतः उत्पादन बढाने के लिए उत्पादकता पर जोर दिया जायेगा, कृषि उत्पादक एवं उत्पादकता बढाने के लिए निम्न उपाय किए जायेगे—(i) सिंचित क्षेत्रो मे बहु-फसली व्यवस्था और वर्षा से सिंचित क्षेत्रो मे मिश्रित फसल व्यवस्था अपनाना, (ii) अच्छे बीजो की कमी दूर करना, (iii) उत्पादन तकनीक मे सुधार करना, (iv) फसलो की बीमारी पर नियंत्रण करना।

भारत मे फसल के प्रतिरूप की विशेषताएँ

भारत मे फसल के प्रतिरूप मे मुख्यतया निम्नलिखित चार विशेषताएँ विद्यमान है—

1 **फसलो की विशद किस्में**—भारत एक बड़े महाद्वीप के समान है इसमे कई किस्म की मिट्टियाँ पाये जाने के कारण प्राय प्रत्येक किस्म की फसल का उत्पादन करना सम्भव है। जैसा कि हम अध्ययन कर चुके है।

2. **खाद्य फसलों की प्रधानता**—भारत मे कृषक फसलो का अध्ययन करते समय अपनी आवश्यकताओ पर ही अधिक ध्यान देता है इसलिए वह व्यापारिक फसलो की तुलना मे खाद्य फसलो को प्राथमिकता देता है। अखाद्य फसलो की तुलना मे खाद्य फसलो की प्रधानता को कुल फसलो के अन्तर्गत क्षेत्र मे खाद्य और अखाद्य फसलो के प्रतिशत योगदान के आधार पर समझा जा सकता है, जैसा कि सारणी से स्पष्ट है—

भारत मे बोई गई भूमि के क्षेत्रफल का वितरण

वर्ष	1950-51	1960-61	1973-74	1979-80
कुल बोया गया क्षेत्र (मि० हैक्टेयर)	131 9	152·80	169 50	171 00
खाद्य फसलो के अन्तर्गत क्षेत्र (क)	97·3	115·60	120·60	123·91
(ख)	78 3	75·65	74·70	72 50

सारणी से स्पष्ट होता है कि देश मे कुल बोई गई भूमि मे क्षेत्रफल का लगभग तीन चौथाई भाग खाद्य फसलो के अन्तर्गत है।

खाद्य फसलों में अनाजों का महत्त्व

खाद्य फसलो को सामान्यतया दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(i) अनाज (ii) गैर अनाज। अनाजो मे गेहूँ एव चावल का प्रमुख स्थान है जैसा कि सारणी से स्पष्ट है—

खाद्य फसलो के अन्तर्गत भूमि के क्षेत्रों का वितरण

वर्ष	1950-51	1970-71	1978-79	1979-80
अनाजो के अन्तर्गत क्षेत्र	80·38	101·78	105·35	102 76
गैर अनाजो के अन्तर्गत क्षेत्र	16·92	22·54	23·46	21·75

सारणी के अध्ययन से स्पष्ट है कि खाद्य फसलो के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का लगभग 80 प्रतिशत भाग अनाजो की फसल के अन्तर्गत है। अनाजो के उत्पादन को

इतना महत्त्व क्यो दिया गया है, इसका कारण उनकी ऊँची कीमते, जोखिम की कमी तथा उत्कृष्ट कोटि के बीजो की उपलब्धि है।

4. निकृष्ट अनाजों का उत्पादन

यद्यपि अनाजो के वर्ग मे गेहूँ और चावल का प्रमुख स्थान है लेकिन भारतीय किसान ने ज्वार, बाजरा, मक्का, जौ आदि के प्रति अपने अधिमान मे कोई कमी नही की है। अनाज फसलो के अन्तर्गत कुल क्षेत्र के लगभग 40 प्रतिशत भाग पर निकृष्ट कोटि के अनाजो का उत्पादन किया जाता है। जैसा कि सारणी से स्पष्ट है।

अनाजों के अन्तर्गत भू-क्षेत्र मे निकृष्ट फसलो का अंशदान

वर्ष	1950-51	1960-61	1975-76	1979-80
निकृष्ट फसलो के अन्तर्गत क्षेत्र	48 15	48·86	42·23	41·80

सारणी से दो तथ्यो की जानकारी मिलती है—(i) अनाज के अन्तर्गत कुल भूमि के क्षेत्रफल मे निकृष्ट फसलो का अंशदान काफी है। (ii) वर्ष 1960-61 के बाद निकृष्ट फसलो के अन्तर्गत क्षेत्र के अनुपात मे कमी हुई। इसका कारण सिंचाई सुविधाओ का विकास तथा उन्नत किस्म के बीजो का प्रयोग है।

फसल योजना
(Crop Planning)

फसल नियोजना एक स्वस्थ और कुशल कृषि अर्थव्यवस्था का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अग है। ऐसी योजना के अभाव मे देश के आर्थिक प्रसाधनों का दुरुपयोग होता है तथा उत्पादकता को ठेस पहुँचती है। फसल नियोजन के विभिन्न पहलू निम्नलिखित हैं।

1. **फसलों के हेर-फेर का स्वरूप**—यदि फसलो का उचित हेर-फेर किया जाय तो मिट्टी की उर्वरता अधिक समय तक कायम रह सकती है और भूमि को परती छोडने की आवश्यकता न्यूनतम हो जाती है इसके अतिरिक्त फसलो का हेर-फेर पौधो के रोग और महामारियो पर नियंत्रण रखने मे सहायक होता है।

2. **मिश्रित फसलें बोना**—मिश्रित फसले बोने का अर्थ एक ही खेत मे एक से अधिक फसले एक ही वक्त मे बोने से है। मिश्रित फसलो की पद्धति तब अधिक उपयोगी होती है जबकि एक फसल तो गहरी जोडो वाली हो और उसके पौधो को एक दूसरे से काफी दूर पर लगाना पडता हो और दूसरी फसल छोटे-छोटे पौधे वाली हो जिन्हें कि पहली फसल के दो पौधो के मध्य लगाया जा सकता है।

3. **फसलो का वितरण**—इसके अन्तर्गत यह निश्चित किया जाता है कि कौन सी फसले कौन से क्षेत्र मे उगाई जाय तथा सम्बद्ध क्षेत्र मे फसल वास्तव मे कितनी भूमि पर बोई जाय।

भारत में फसल नियोजन की आवश्यकता

एक आदर्श फसल नियोजन अर्थव्यवस्था के बहुत से लाभ हैं किन्तु भारत मे इसे अच्छी तरह मे नही अपनाया गया है यद्यपि यह सत्य है कि फसल नियोजन के लिए सभावनाएँ हमारे देश मे हमारे आर्थिक पिछडेपन के कारण सीमित है। किन्तु यह आर्थिक पिछडापन दूर करने का उपाय भी फसल नियोजन ही है। भारत मे फसल नियोजन के लिए निम्नलिखित कार्य किये जा सकते है—

1. **गहन अनुसंधान**—चूँकि फसल नियोजन एक प्रावैगिक और बहुमुखी क्रिया है इसलिए हमे इसके सम्बन्ध मे काफी अनुसंधान करना पड़ेगा। अनुसधान के विभिन्न क्षेत्र निम्नलिखित हो सकते हैं—

(अ) **विभिन्न क्षेत्रों के लिए उपयुक्त फसल हेर-फेर**—यह अनुसंधान करना होगा कि किस प्रकार के फसल हेर-फेर देश के किन क्षेत्रो के लिए उपयुक्त रहेगे।

(ब) **विषम जलवायु को झेलने वाली फसल-किस्मो का विकास**—ऐसी विभिन्न फसलो वाली किस्मो का विकास करना होगा जो कि जलवायु की विषमताओ को सहन कर लें और साथ ही भरपूर फसल भी प्रदान करे।

(स) **मिट्टियों के अनुरूप फसलो का विकास**—ऐसी फसलो का भी विकास करना होगा जो हमारी विभिन्न प्रकार की मिट्टियो को जिसका आजकल गलत शोषण हो रहा है, उचित प्रकार से प्रयोग कर सके।

(द) **विभिन्न फसलों की पोषण आवश्यकताएं**—यह भी पता लगाना होगा कि विभिन्न फसलो की पोषण आवश्यकताएँ क्या है और विभिन्न फसल रोगो महामारियो, कुकुरमुत्ता और मिट्टी मे उनके द्वारा छोडे गये नाइट्रोजन तत्त्वो पर क्या प्रभाव पड़ेगे।

2. **फसल नियोजन सम्बन्धी अध्ययन**—क्षेत्रो के मध्य व्यापारिक एवं खाद्य फसलो के बीच वितरण की दृष्टि से सरकार को फसल नियोजन हेतु अध्ययन कराने होगे और यह पता लगाना होगा कि विभिन्न कीमतो तथा लगान प्रेरणाओ के प्रति किसान क्या प्रतिक्रिया दिखाते है।

3 **किसानों को शिक्षित करना**—किसानो को शिक्षित करने से तात्पर्य यह है कि कृषि अनुसधान के परिणामो की सूचना किसानो को प्रभावशाली ढङ्ग से देने और नयी तकनीको के उपयोग के लिए प्रेरित करने से है।

4 **वित्तीय सहायता देना**—नयी तकनीके अपनाने पर जहाँ कृषको को अतिरिक्त विनियोग करने पड़ेंगे वहाँ उन्हे वित्तीय सहायता भी देना होगा इस दिशा में प्रयोगात्मक फार्म नव प्रचलित तकनीको के प्रभाव का क्रियात्मक प्रदर्शन करके इस दिशा में मार्ग दर्शन कर सकते है।

5 **प्रेरणादायक कार्यक्रम बनाना**—विभिन्न फसलों के बीच उचित सन्तुलन बनाये रखने के लिए सरकार को प्रेरणादायक योजनाएँ लागू करने के कार्यक्रम बनाने होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि फसलों के नियोजन की भारत में अत्यधिक

आवश्यकता है और इसकी लाभदायकता निर्विवाद है। भारत मे फसल के भावी प्रतिरूप के सम्बन्ध मे निम्नलिखित नीति उद्देश्यो पर विचार किया जाना चाहिए—

(1) निकृष्ट अनाजो के अन्तर्गत क्षेत्रफल को कम करना तथा

(11) इस प्रकार से उपलब्ध क्षेत्रफल का प्रयोग गैर-अनाज तथा व्यापारिक फसलो के लिए करना।

फसलो के प्रतिरूप मे उपर्युक्त परिवर्तनो के लिए सरकार विशेष फसलो के उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु बीज, पानी, उर्वरक आदि आगतो को रियायती दरो पर उपलब्ध करा सकती है। एक क्षेत्र मे किसी विशेष फसल के उत्पादन के लिए करो मे छूट तथा आर्थिक सहायता एवं प्रलोभन प्रदान किए जा सकते है।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत की फसलो के बारे मे बतलाइए और उनकी प्रकृति पर प्रकाश डालिए।

2. भारत के फसल-स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। फसल-स्वरूप के निर्धारण मे कौन-कौन से घटक प्रभाव डालते हैं ?

3 भारत के आधुनिक फसल-स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। क्या भारतीय फसल-स्वरूप मे परिवर्तन की आवश्यकता है? यदि हाँ, तो आवश्यक सुझाव दीजिए।

4 भारत मे फसल नियोजन की आवश्यकताओ और सम्भावनाओ का विवेचन कीजिए।

18

भारत में सिचाई
(Irrigation in India)

अर्थ—जब कृषि कार्यों के लिए वर्षा पर्याप्त नही होती तब कृत्रिम रूप से अर्थात् तालाब, नहरो, ट्यूबवेल आदि साधनो से पानी का उपयोग खेती के लिए किया जाता है तो उसे सिचाई कहते है। **फील्ड** के शब्दो मे "कृषि के उद्देश्य से जहाँ आवश्यक हो कृत्रिम रूप से पानी देने को सिंचाई कहते है।"

विशेषताएँ—उपर्युक्त परिभाषा है सिचाई मे निम्न तीन विशेषताओ का आभास होता है—

1. **पानी की कृत्रिमता**—कृषि कार्यों के लिए पानी का उपयोग कृत्रिम रूप से किया जाता है।

2 **कृत्रिम पानी खेत में दिया जाना**—पानी कृत्रिम रूप से खेतो में ही दिया जाना चाहिए। उसका उपयोग तालाब या अन्यत्र इकट्ठा करने के लिए नही होना चाहिए।

3. **कृत्रिम पानी देने का उद्देश्य कृषि करना**—कृत्रिम पानी देने का उद्देश्य कृषि करना ही होना चाहिये।

सिंचाई का महत्त्व या आवश्यकता

भारत सदा से कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि की पैदावार अन्य चीजो के साथ-साथ पर्याप्त सिंचाई पर निर्भर करती है। भारतीय कृषि को **'मानसून का जुआ'** कहा गया है। वर्षा पर निर्भर रहने के कारण ही हमारी कृषि मे अस्थिरता रही है। सिंचाई के साधनो का विकास करके कृषि में स्थिरता उत्पन्न की जा सकती है।

भारत में सिंचाई का महत्त्व—अन्य देशो की अपेक्षा भारत जैसे देश के लिए सिंचाई का विशेष महत्त्व है। इसके निम्नलिखित कारण है—

1. **वर्षा की अनिश्चितता तथा अनियमितता**—भारत मे वर्षा किसी वर्ष होती है तो किसी वर्ष नही और यदि होती भी है तो समय से बहुत पहले अथवा समय से बहुत बाद में। देश के किसी भाग में कम और किसी भाग में अधिक वर्षा होती है।

अत. भारतीय कृषि की स्थिरता के लिए सिंचाई की सुविधाओ का होना अत्यन्त आवश्यक है।

2 **वर्षा के वितरण में असमानता**—भारत के सभी भागो मे एक समान वर्षा नही होती। अत अपर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्रो मे सिंचाई के उपयुक्त साधनो को जुटाना आवश्यक है।

3 **खाद्यान्न तथा कच्चे माल की आवश्यकता**—देश की बढती हुई जनसख्या को आवश्यक खाद्यान्न की प्राप्ति तथा उद्योगो के लिए कच्चे माल को जुटाने के लिए पर्याप्त सिंचाई के साधनो का होना आवश्यक है। सिचाई के साधन बढाकर वर्ष मे तीन फसले उगाई जा सकती है।

4 **वर्षा का ऋतु विशेष में ही होना**—शरद्कालीन वर्षा की मात्रा बहुत ही कम होती है। अत. शरद् ऋतु की फसलो को उगाने के लिए कृत्रिम साधनो द्वारा सिंचाई का प्रबन्ध करना अनिवार्य हो जाता है।

5 **मिट्टी में विभिन्नता**—देश मे अधिकाशत. मिट्टी बलुई है जो कि नमी को अधिक समय तक कायम नही रख सकती। अत इस कारण से कृत्रिम साधनो द्वारा सिंचाई करना आवश्यक हो जाता है।

6 **विशिष्ट फसलें**—भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे कुछ ऐसी भी फसले होती है, जिनके लिए लगातार और अधिक मात्रा मे सिंचाई की आवश्यकता पडती है। ऐसी फसलो को जल की अधिक आवश्यकता होती है।

7 **रोजगार के अवसरों में वृद्धि**—सिंचाई का महत्त्व इसलिए भी है कि इससे कृषि मे नये रोजगार के अवसर उत्पन्न होगे। पहले तो सिंचाई के साधनो का निर्माण तथा उनको संचालित करने मे कई व्यक्तियो को रोजगार मिलता है; दूसरे सिंचाई के साधनो की उपलब्धि से जो साल मे दो या दो से अधिक फसले पैदा करना सम्भव हो जाता है, उससे किसानो को अधिक मात्रा मे काम अथवा रोजगार प्राप्त होगा और पाई जाने वाली अदृश्य बेरोजगारी दूर होगी।

8 **उपज की किस्म में सुधार**—सिचाई से उपज की मात्रा के बढने के साथ-साथ किस्म मे भी सुधार होता है, जिससे किसानो की आय बढती है और उनका रहन-सहन का दर्जा ठीक होता है।

9. **नयी भूमि पर खेती सम्भव**—भारत मे कुछ कृषि योग्य भूमि बेकार पडी है। सिंचाई के साधनो का विस्तार करके अतिरिक्त जमीन खेतो के अन्तर्गत लाई जा सकती है। ऐसी भूमि को सिंचाई के बिना खेती के लिए कभी प्रयुक्त नही किया जा सकता है। राजस्थान मे राजस्थान नहर के बन जाने से नयी भूमि पर पहली बार कृषि प्रारम्भ की जायेगी। इस प्रकार सिंचाई से विस्तृत खेती भी सम्भव बन जाती है।

10 **हरित क्रान्ति की सफलता का आधार**—भारतीय कृषि इस समय हरित क्रान्ति के दौर से गुजर रही है। उसमे गहन कृषि, बहु-फसली कार्यक्रम, उत्पादकता

वृद्धि इत्यादि कार्यक्रम चलाये जा रहे है और इन कार्यक्रम की सफलता के लिए सिंचाई के साधनो का शीघ्र विकास और सदुपयोग अत्यन्त आवश्यक है।

11 **अकाल के भय से छुटकारा**—सिचाई के अभाव मे अकाल पडने का भय बना रहता है। जब से भारत मे सिंचाई के साधनो का विकास हुआ है तब से अकालों की बारम्बारता व भीषणता घट गयी है।

12. **सरकार की आय में वृद्धि**—सिंचाई के लिए प्रयोग किये गये कृत्रिम साधनो से केवल कृषि और कृषक की ही उन्नति नही होती, वरन् देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था इससे प्रभावित होती है। उत्पादन मे वृद्धि होने से जनसंख्या के जीवन-स्तर मे वृद्धि के साथ ही व्यापार मे उन्नति और इसके साथ ही व्यक्ति और सरकार दोनो की आय मे वृद्धि होती है फलस्वरूप देश की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ एवं उन्नतिशील होती है।

अत. सिंचाई के साधनो का भारत मे बडा महत्त्व और अन्य देशो की अपेक्षा यहाँ इन साधनो के विकास की बहुत आवश्यकता है। **सर चार्ल्स ट्रिविलियन** ने ठीक ही कहा है, "भारत मे सिंचाई का सर्वोपरि महत्त्व है। पानी सोने से भी अधिक मूल्यवान् है।"

भारत में सिंचाई के साधन

योजना आयोग ने सिंचाई के साधनो को निम्न तीन वर्गों मे बाँटा है—

1. **वृहद् सिंचाई योजनाएँ**—सिंचाई की उन सभी योजनाओ को वृहद् माना जाता है, जिन पर पाँच करोड रुपये से अधिक व्यय करना होता है। इनमे मुख्य रूप से बडी-बडी नहरे और बहुउद्देशीय सिचाई योजनाएँ आती है।

2 **माध्यम सिंचाई योजनाएं**—ऐसी सिंचाई योजनाओ को मध्यम सिंचाई योजनाओ में शामिल किया जाता है, जिन पर 25 लाख से 5 करोड रुपये तक व्यय होता है। इस वर्ग मे प्राय. मध्यम श्रेणी की नहरे आती है।

3. **लघु सिंचाई योजनाएं**—इनमे उन योजनाओ को सम्मिलित किया जाता है जिनमे 25 लाख रुपये से कम व्यय होता है। लघु सिंचाई योजनाओ मे तालाबो, नलकूपों तथा कुओ द्वारा सिंचाई होती है। परन्तु सूखे की स्थिति मे सिंचाई के ये साधन उपलब्ध नही होते, क्योकि इनमें जल का अभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त अनुरक्षण पर भी बराबर व्यय करना पडता है।

अध्ययन की दृष्टि से सिंचाई के साधनो का हम 3 शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है—जैसा कि नीचे चार्ट में दर्शाया गया है—
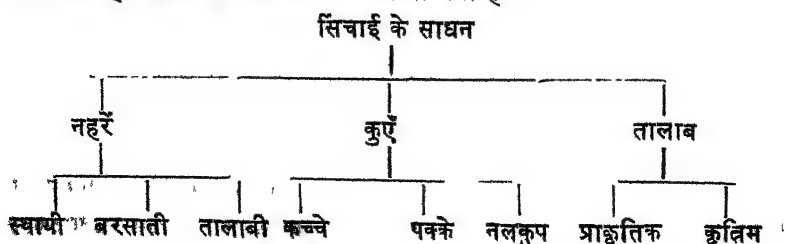
1. नहरें

नहरों का वर्गीकरण—नहरे मुख्यत. तीन प्रकार की होती है—

1. **स्थायी नहरें**—इन नहरो मे पूरे वर्ष भर पानी रहता है क्योंकि ये उन नदियो से निकाली जाती है, जिनमे बारहो महीने पानी भरा रहता है । जैसे—यमुना, गगा, सतलज एव ब्रह्मपुत्र से निकाली गई गगा नहर, पश्चिमी यमुना नहर, शारदा नहर आदि स्थायी नहरे है ।

2. **बरसाती नहरें**—देश मे कई नदियाँ ऐसी है, जो केवल वर्षा ऋतु मे ही पानी से भरती है और शेष समय मे सूखी पडी रहती हैं । ऐसी नदियो से जो नहरें निकाली जाती हैं उनमे पानी केवल बरसात मे ही रहता है ।

3. **तालाबी नहरें**—इस प्रकार की नहरो का निर्माण किसी नदी मे बाँध बना कर बरसात का पानी एकत्र करके किया जाता है । ऐसी नहरो मे आवश्यकता के समय पानी छोडा जाता है, शेष समय मे ये सूखी रहती हैं । इस प्रकार की नहरे प्राय· दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश व तमिलनाडु मे पाई जाती है ।

नहरों की विशेषताएँ—नहरो की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है—

(i) **निर्माण का क्षेत्र**—नहरो का निर्माण केवल ऐसे क्षेत्रो मे हो सकता है जहाँ की मिट्टी समतल व मुलायम होती है । यद्यपि नहरो द्वारा सिंचाई का विशेष महत्त्व उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पजाब और आध्र प्रदेश मे है परन्तु राजस्थान, बिहार, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, उडीसा तथा पश्चिमी बगाल आदि प्रदेशो मे भी नहरो से सिंचाई की जाती है । भारत के लगभग सभी राज्यो मे नहरो द्वारा सिंचाई होती है।

(ii) **नहरों की लम्बाई और सिंचाई क्षेत्र**—भारतीय नहरो की लम्बाई लगभग 1 लाख 21 हजार किलोमीटर है । नहरो द्वारा 12·18 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र मे सिंचाई की जाती है जो देश के कुल सिंचित क्षेत्र का 41.9% है ।

नहरों द्वारा सिंचाई से लाभ

नहरो द्वारा सिंचाई करने से प्रमुख लाभ निम्नलिखित है—

1. **सिंचित भूमि के क्षेत्रफल मे वृद्धि**—नहरो के कारण खेती ऐसे स्थानो पर भी होने लगी है जो पहले नहरो के अभाव मे बेकार थे । अत· नहरो से कुल सिंचित क्षेत्र मे वृद्धि होती है ।

2. **भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि**—नहर के पानी मे अनेक रासायनिक पदार्थ होते हैं जिसमे भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि हो जाती है ।

3. **सस्ता एवं सरल साधन**—भारत के समतल और मुलायम मिट्टी वाले क्षेत्रो मे नहरें सिंचाई का सस्ता और सरल साधन है ।

4. **व्यापारिक फसलें**—कुछ व्यापारिक फसलो मे पानी की अधिक आवश्यकता

होती है, जैसे—गन्ना, कपास, गेहूँ तथा तम्बाकू। नहरो के विकास से इनको उत्पन्न करना सरल हो गया है।

5. **बाढ़ पर नियन्त्रण**—बाढ़ के समय नदियो के पानी को नहरो मे बाँट कर संकट कम किया जा सकता है।

6. **भूमिक्षरण पर रोक**—नहरो के तटो पर वृक्षारोपण करके भूमिक्षरण पर रोक लगाई जा सकती है।

7. **कृषको की आर्थिक अवस्था मे सुधार**—नहरो से किसानो की आर्थिक अवस्था सुधर जाती है। उनको सिंचाई मे व्यय कम करना पडता है एव उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है जिससे उनकी क्रय-शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है।

8. **आन्तरिक यातायात का विकास**—नहरो के निर्माण से आन्तरिक यातायात का विकास होता है।

9. **सरकार की आय में वृद्धि**—नहरो के द्वारा सरकार को कर के रूप मे स्थायी आय प्राप्त होती है, जिससे सरकार की कुल आय मे वृद्धि हो जाती है।

10. **सारे वर्ष सिंचाई**—भारत मे अधिकाश नदियाँ बारहमासी है, जिनसे नहरो मे भी प्राय: हर समय पानी मिल जाता है एवं उससे सारे वर्ष भर सिंचाई की जा सकती है।

11. **अन्न संकट की समस्या का हल**—नहरो के निर्माण से देश के प्रति एकड उपज मे वृद्धि हो गयी है जिससे दुर्भिक्ष एवं अन्न संकट का सामना किया जा सकता है।

नहरों द्वारा सिंचाई के दोष

1 **उर्वराशक्ति का क्षीण होना**—अधिक सिंचाई से निचली भूमि की सतह पर हानिकारक नमक जमा हो जाता है, जिससे मिट्टी की उर्वराशक्ति क्षीण हो जाती है।

2. **मलेरिया एव अन्य संक्रामक रोगो का प्रकोप**—जिस भूमि मे नहर का पानी जमा हो जाता है, वहाँ मच्छर उत्पन्न हो जाते है क्योकि पानी भरा रहने के कारण भूमि दलदली हो जाती है। जिससे मलेरिया एवं संक्रामक रोगो का जन्म हो जाता है।

3. **उचित कीमत का अभाव**—सिंचाई अधिक हो जाने के कारण भूमि से इतनी अधिक फसले प्राप्त हो जाती है कि कृषको को उनकी उचित कीमत प्राप्त नही होती है।

4. **कुओं में पानी का कम हो जाना**—जिस भाग मे नदियो से नहरे निकाली जाती हैं, वहाँ पानी की कमी हो जाने से आस-पास के भागो मे भूमि के नीचे के जल की सतह नीची होने लगती है जिससे कुओ में पानी कम हो जाता है।

5. **आपस में झगड़े होना**—कभी-कभी नहरों में पानी के कारण कृषको में संघर्ष हो जाता है। कारण यह है कि प्रत्येक किसान अपने खेत मे पहले पानी देना चाहता है।

6. **धन-जन की हानि**—कभी-कभी नहरो की पटरियाँ टूट जाती है जिससे आस-पास के क्षेत्रों में बाढ़ आ जाती है। इस बाढ के कारण अनेक लोगो एवं पशुओ को अपने जीवन से हाथ धोना पडता है तथा अपार जन-धन की हानि होती है।

7. **फसलों की क्षति**—कभी-कभी बहुत-सा जल खेतो तक ही नही पहुँच पाता। नहर विभाग के सरकारी कर्मचारी रिश्वत न मिलने के कारण प्राय: किसानो को नियमित रूप में पर्याप्त मात्रा मे जल नही देते। इसका फल यह होता है कि किसानो की लहलहाती फसल भी सूख जाती है।

2. कुएँ

भारत मे कुओ द्वारा सिंचाई करने का ढंग प्राचीन काल से चला आ रहा है। कुएं भी दो प्रकार के होते हैं—(अ) कच्चे कुएँ और (ब) पक्के कुएँ। कच्चे कुओ को खोदने मे लगभग 300 रु० और पक्के कुएँ को खोदने मे लगभग 4 हजार रु० लगते हैं।

विशेषताएँ—सिंचाई मे इस साधन की प्रमुख विशेषताएँ, इस प्रकार हैं—

1 **कुएँ से सिंचाई करने के ढंग**—कुएँ से सिंचाई के प्रमुख तीन ढंग है—

(i) **पुर या चरस**—इसमे चमडे के एक बडे पुर की मोटी रस्सी से बाँध कर एक जोडी बैलो की सहायता से कुएँ से पानी निकाला जाता है। इसमे तीन व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। एक व्यक्ति बैलों को हाँकता है, दूसरा पुर लेता है व तीसरा खेत में पानी लगाता है। हमारे प्रान्त मे कुओ से इसी विधि से अधिक सिंचाई की जाती है।

(ii) **रहट**—एक पहिये पर बाल्टियो की माला लटकती रहती है। बैलो के साथ-साथ पहिया घूमता है और बाल्टियो की माला पहिये पर घूमती जाती है। इस प्रकार बारी-बारी बाल्टियो मे से पानी गिरता रहता है और नाली में होकर खेत मे जाता रहता है।

(iii) **ढेकली**—लट्ठे के एक सिरे पर कुछ बोझ बाँध दिया जाता है और दूसरे सिरे पर डोल बँधा रहता है। डोल को डुबा देने पर लट्ठे को छोड देते है, तो बोझ वाला सिरा नीचे आता है और डोल वाला सिरा ऊपर उठता है। इस प्रकार भरा हुआ डोल ऊपर आ जाता है।

2. **क्षेत्र**—कुओ द्वारा सिंचाई का सबसे अधिक क्षेत्र राजस्थान में है। इसके बाद गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब और तमिलनाडु का स्थान है।

3 **सिंचाई क्षेत्र**—भारत मे कुल सिंचित क्षेत्र का लगभग 33% भाग यानी लगभग 84 लाख हेक्टेयर भूमि पर कुओ द्वारा सिंचाई होती है।

कुओं से सिंचाई के लाभ

1. **कम व्यय**—नहरों की तुलना मे कुओ से सिंचाई करने मे अधिक आसानी

रहती है व व्यय भी कम होता है। क्योंकि कुआँ स्वतन्त्र एवं भरोसे का सिंचाई का साधन है।

2. **उर्वराशक्ति में वृद्धि**—कुएँ के पानी में अनेक रासायनिक पदार्थ घुले रहते है जो कि भूमि को उर्वराशक्ति प्रदान करते हे। इन पदार्थों में नाइट्रेट, सल्फेट, सोडा तथा क्लोराइट का प्रमुख स्थान है।

3. **सिंचाई का स्वतन्त्र साधन**—नहरो व शासकीय नलकूपो की तरह कृषक को कुएँ से सिंचाई करने मे किसी प्रकार का बन्धन नही होता है। आवश्यकतानुसार वह कुएँ के पानी का प्रयोग कर सकता है।

4. **कम भूमि का बेकार होना**—कुओ को खोदने मे कम भूमि नष्ट होती है जिससे कृषि योग्य भूमि मे कमी नही होने पाती है।

5 **क्षार-फूटने की समस्या उत्पन्न नहीं होती**—चूँकि कुओ का पानी प्राय: स्वच्छ रहता है इसलिए इस पानी से सिंचाई करने पर क्षार फूटने की समस्या उत्पन्न नही होती।

6. **फसल को आवश्यकतानुसार पानी मिलना**—कुएँ की सिंचाई से एक लाभ यह भी है कि फसलो को उनकी आवश्यकतानुसार पानी दिया जा सकता है।

कुएँ द्वारा सिंचाई के दोष

1. **सीमित क्षेत्र**—कुएँ से केवल सीमित क्षेत्रो मे ही सिंचाई हो सकती है। अत: बडे पैमाने पर खेती करने के लिए यह अधिक उपयुक्त नही है।

2 **खारा जल**—अधिकाश कुओ का जल खारा होता है जो सिंचाई के लिए उपयुक्त नही होता। यह फसलो को भी नष्ट कर देता है।

3. **सिंचाई की असुविधा**—जिन क्षेत्रो मे भूमिगत जल बहुत नीचे रहता है वहाँ कुएँ द्वारा सिंचाई मे बहुत असुविधा रहती है। प्राय. कुओ के जल खीचना एक थका देने वाला कार्य होता है।

4. **जल-स्तर में कमी की आशंका**—कुएँ से निरन्तर पानी निकालते रहने से अथवा सूखा पडने से पानी भी कम हो जाता है अथवा कभी-कभी सूख भी जाता है, जिससे सिंचाई में बाधा पडती है।

5. **मरम्मत पर अधिक व्यय**—कच्चे कुएँ के निर्माण में यद्यपि कम रुपये लगते हैं परन्तु वे जल्दी ही खराब हो जाते है, अत: कच्चे कुओ पर अधिक मरम्मत व्यय करना पडता है।

6 **पर्याप्त पूँजी**—केवल देखने मे ही लगता है कि कुआँ सिंचाई का सस्ता साधन है किन्तु प्रारम्भ में ही किसानो को कुएँ के निर्माण के लिए भारी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है।

7 **कुछ प्रदेशों में कुएं से सिंचाई करने में कठिनाई**—कुछ प्रदेशो या क्षेत्रों में जल का स्तर बहुत नीचा रहता है अतः स्थानों पर कुआँ खोदने में अधिक व्यय करना पड़ता है।

नलकूपों द्वारा सिंचाई

जिन कुओ से डीजल इजन अथवा बिजली की मोटर द्वारा पानी निकाला जाता है उनमे नल गहराई तक ठोकना पडता है, इसलिए ऐसे कुओ को नलकूप या बिजली के कुएँ कहते है।

सर्वप्रथम 'नलकूपो' का निर्माण 1930 मे उत्तर प्रदेश मे प्रारम्भ हुआ था। इनकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है—

1. नलकूपों के लिए आवश्यक दशाएँ—(i) नलकूप निर्माण के लिए आवश्यक है कि उपभूमि जल भूमि की सतह से बहुत कम गहराई पर और पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो। (ii) तल का धरातल भूमि से 150 मीटर की गहराई से अधिक नही हो तथा उसका तल साधारण तल से नीचा हो। (iii) सस्ती विद्युत शक्ति की उस क्षेत्र मे सुविधा हो। यह साधारणतः दो पैसे प्रति इकाई से अधिक न हो। (iv) मिट्टी इतनी उपजाऊ हो कि नलकूप निर्माण मे किया गया व्यय उस पर अधिक उत्पादन करके प्राप्त किया जा सके। (v) सिंचाई की माँग औसत रूप से वर्ष भर मे 3200 घन्टे हो।

2. लागत—एक नलकूप 60 फुट से लेकर 400 फुट तक की गहराई से पानी निकाल सकता है। एक नलकूप के निर्माण मे 50 से 80 हजार रुपये तक लग जाते है।

3. सिंचाई क्षमता—नलकूप काफी गहराई से पानी खीच लेते है। एक नलकूप से सामान्यतः 200 हेक्टेयर भूमि तक सीची जा सकती है। अतः ये विस्तृत खेती के लिए बहुत उपयुक्त होते है।

4. निर्माण क्षेत्र—नलकूपो से अधिकाशतः उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, गुजरात एवं बिहार मे सिंचाई होती है।

5. सिंचाई क्षेत्र—देश के कुल सिंचित क्षेत्र का लगभग 17% भाग नलकूपो द्वारा सीचा जाता है।

नलकूपों द्वारा सिंचाई से लाभ

1. सस्ता और श्रेष्ठ साधन—नलकूप के निर्माण मे प्रथम बार अवश्य ही बड़ी मात्रा मे पूँजी लगानी पड़ती है परन्तु बाद मे व्यवस्था और सचालन व्यय कम होने के कारण सिंचाई भी सस्ती होती है।

2. फसलों की रक्षा—सभी स्थानो मे नहरो द्वारा सिंचाई सम्भव होने पर भी कुछ भूमि नहरी सिंचाई के लिए उपयुक्त नही होती है, जिससे हानि की सम्भावना रहती है। परन्तु नलकूपो से सिंचाई करने मे वह फसलो के लिए अधिक लाभदायक होती है।

3. बड़े पैमाने पर कृषि—भारत कृषि प्रधान देश होने के कारण यहाँ सिंचाई का अत्यधिक महत्त्व है। बड़े पैमाने पर कृषि करने के लिए नलकूपो का लाभदायक उपभोग किया जा सकता है।

4. सिंचाई में निश्चितता—नहर के पानी की अपेक्षा नलकूपो का पानी सिंचाई

के लिए अधिक उपयुक्त होता है। साथ ही नलकूपो से सिचाई निश्चित समय पर की जा सकती है। प्रत्येक किसान अपनी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त मात्रा मे नलकूपो से पानी ले सकता है।

5. **मानव एवं पशु श्रम मे बचत**—नलकूप से कृषको और उनके बैलो, ऊँटो एवं भैंसों आदि पशुओ के श्रम मे बचत होती है।

6. **क्षार फूटने व जल लग्नता की समस्या का अभाव**—नलकूपो द्वारा सिंचाई करने मे ये समस्याएँ उत्पन्न नही होती।

7. **कृषि उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि**—नलकूपो की सहायता से रेतीली व बंजर भूमि आदि मे भी खेती सम्भव हो जाती है, फलतः कृषि उत्पादन क्षेत्र मे वृद्धि हो जाती है।

8. **अधिक फसलें उगाना**—जिन स्थानो पर नलकूप है वहाँ आवश्यकतानुसार पानी मिल जाने के कारण किसान तीन-तीन फसले उगाने लगे हैं।

9 **व्यापारिक फसलों का उगाना**—नलकूपो की सहायता से कृषि उपज मे वृद्धि तो होती ही है साथ ही किसान व्यापारिक फसले जैसे गन्ना, कपास आदि भी उगाने लगते है।

नलकूपो के द्वारा सिंचाई के दोष

1. **अधिक पूँजी की आवश्यकता**—नलकूपो के निर्माण मे बहुत अधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती है इसलिए एक निर्धन किसान नलकूप नही लगा सकता है।

2. **सफाई पर अधिक व्यय**—नलकूपो के पुराने पड जाने पर इनकी सफाई पर बहुत अधिक व्यय करना पडता है।

3 **सरकारी कर्मचारियों का द्वारा भ्रष्टाचार**—सरकारी नलकूपो के कर्मचारी नलकूपो से पानी देते समय रिश्वत लेते हैं इससे किसानों को पानी महँगा पडता है।

4 **प्रतियोगिता के अभाव**—जहाँ पर सरकारी नलकूप होते है, वहाँ पर व्यक्तिगत नलकूपो के लगाने की अनुमति नही दी जाती, फलत. किसान प्रतियोगिता से होने वाले लाभ से बंचित रह जाते है तथा नलकूप के खराब होने पर वे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं और उनकी फसल सूख जाती है।

3. तालाब

भूमि पर अपने आप बने हुए या कृत्रिम तरीको से बनाए गये गड्ढे, जिनमे वर्षा का जल भर जाता है, तालाब कहलाते है। बडे तालाबो को झील के नाम से पुकारा जाता है।

तालाब दो प्रकार के होने है—1. प्राकृतिक तथा 2. कृत्रिम। 1. **प्राकृतिक तालाब**—वर्षा का जल प्राकृतिक गड्ढो मे इकट्ठा कर लेते हैं जिन्हें प्राकृतिक तालाब

कहते है । 2. **कृत्रिम तालाब**--किसी नदी पर बाँध बनाकर जलाशय बना लिया जाता है, जिन्हें कृत्रिम तालाब कहते है । तालाब की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है--

1. **सिंचित क्षेत्र**—तालाबो द्वारा 35 लाख हेक्टेयर क्षेत्र मे सिंचाई होती है जो कुल सिंचित क्षेत्र का 12 प्रतिशत है ।

2. **क्षेत्र**—तालाबो द्वारा सिंचाई का मुख्य प्रयोग दक्षिणी राज्यो, आन्ध्र प्रदेश तमिलनाडु और केरल मे होता है । इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र तथा राजस्थान आदि राज्यो मे भी तालाबो द्वारा सिंचाई का प्रचार है । आन्ध्र का 'उपमान सागर', कर्नाटक का 'कृष्ण सागर', केरल की 'पेरियल झील' तथा उदयपुर की 'ढेबर झील' प्रसिद्ध जलाशय है । मध्य प्रदेश मे इन्दौर, ग्वालियर तथा भोपाल मे बडे-बडे तालाब हैं ।

3. **दक्षिण में तालाबों का अत्यधिक प्रसार**—दक्षिण भारत मे तालाबो के अत्यधिक प्रसार के प्रमुख कारण निम्नलिखित है—

(i) **पथरीली भूमि**—पथरीली भूमि होने के कारण इस क्षेत्र मे कुएँ और नहर खोदना कठिन है ।

(ii) **नदियों के स्रोत**—दक्षिण भारत की नदियाँ गर्मी मे प्राय: सूख जाती है, जिससे नहरो का निर्माण नही किया जा सकता । अत: तालाबो का निर्माण किया जाता है ।

(iii) **बाँधों के निर्माण की सुविधा**—दक्षिण भारत की नदियो की तंग घाटियो मे बाँध बनाना आसान होता है । अत: बाँध बनाकर पानी एकत्र करके तालाब बनाए जा सकते हैं ।

(iv) **अनुकूल साधन**—तालाब दक्षिण भारत की प्रकृति के अनुकूल सिंचाई का उत्तम साधन है, क्योकि यहाँ प्राकृतिक रूप मे बडे-बड़े गड्ढे मिलते है, जिनमे थोडा सुधार करके तालाबो का निर्माण किया जा सकता है ।

(v) **बिखरे हुए खेत**—दक्षिण भारत के पठारी भाग मे अनेक छोटे-छोटे खेत ऊँचे स्थलो पर बिरे हुए है, जहाँ सिंचाई का कार्य तालाबो द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है ।

तालाबों द्वारा सिंचाई के लाभ

1. ये सिंचाई के सस्ते व सरल साधन है । 2. तालाबों से सिंचाई ,पर भूमि की उर्वरा-शक्ति मे वृद्धि हो जाती है, क्योकि तालाबो मे वर्षा जल तथा गन्दगी का सम्मिश्रण रहता है। 3 पथरीली भूमि पर कुआँ खोदना कठिन होता है इसी कारण दक्षिण भारत मे तालाब की सिंचाई का बहुत महत्त्व है । 4. तालाबो से वर्षा के पानी का उचित उपयोग सम्भव हो जाता है । 5. तालाबो मे मछलियाँ भी पकडी जाती है, जिससे कुछ सीमा तक खाद्य समस्या हल हो जाती है ।

तालाबों द्वारा सिंचाई के दोष

1. जिस वर्ष वर्षा कम होती है, तालाबो का पानी सूख जाता है जिससे सिंचाई

कार्य मे बाधा पड जाती है। 2 कुछ समय पश्चात् तालाबो मे धीरे-धीरे रेत जमा हो जाती है जिससे साफ करने मे बहुत धन व्यय होता है। 3 तालाब के निर्माण मे जगह अधिक खर्च होती है। 4 तालाबो से खेत तक जल पहुँचाने मे काफी श्रम व समय खर्च होता है।

पंचवर्षीय योजनाओ में सिंचाई साधनों का विकास

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सिंचाई के साधनो के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। विभिन्न योजनावधियो में सिंचाई के साधनो का विकास निम्न प्रकार हुआ—

1 **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—इस योजना अवधि मे सिंचाई के विकास पर 380 करोड रुपये व्यय किये गये। इस योजना काल मे 1 9 करोड हेक्टेयर भूमि मे सिंचाई का और अधिक विस्तार हुआ।

2 **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—इस काल मे छोटी व मध्यम श्रेणी की लगभग 195 योजनाएँ बनाई गई। इस योजनाकाल मे सिंचाई आदि के विकास पर लगभग 800 करोड रुपये व्यय करने का प्रावधान था।

3 **तृतीय पंचवर्षीय योजना**—इस काल मे सिंचाई आदि के विकास पर 572 करोड रुपये व्यय किये गये। इस अवधि मे लगभग 80 लाख हेक्टेयर नई भूमि पर सिंचाई की गई।

4 **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना**—इस योजना के अन्तर्गत बडी, मध्यम एवं छोटी योजनाओ द्वारा सिंचाई का विस्तार किये जाने तथा वर्षा व सिंचाई व्यवस्था के अभाव वाले क्षेत्रो को प्राथमिकता दी जाने की व्यवस्था की गई थी।

5. **पाँचवीं पंचवर्षीय योजना**—पंचवर्षीय योजना मे सिंचाई विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई। पाँचवी योजना के पहले चार वर्षों मे 86 लाख हेक्टेयर क्षमता की सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराई गई थी।

6. **छठी पंचवर्षीय योजना**—इस योजना मे बड़ी एव मध्यम आकार की योजनाओ के 6702 करोड रुपये व छोटी योजनाओ के लिए 1415 करोड रुपये का प्रावधान किया गया है।

1950-51 मे देश का कुल सिंचित क्षेत्र 2.26 करोड़ हेक्टर था जो 1978-79 मे बढ़कर 5·26 करोड हेक्टर हो गया। 1979-80 के अन्त तक लगभग 17.50 करोड़ हेक्टर मे फसले बोई गईं। 1951 मे बडी और मध्यम सिंचाई योजनाओ द्वारा 97 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होती थी। 1979-80 के अंत तक अनुमानत. 1 69 करोड हेक्टेयर अतिरिक्त भूमि मे सिंचाई की व्यवस्था की गई।

सिंचाई से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ

1. **संभाव्य का उचित उपयोग न होना**—सरकारी आँकडे यह बताते है कि भारत मे सम्पूर्ण सिंचाई संभाव्य का उचित उपयोग नहीं हो रहा है।

आयोजना काल के प्रारम्भ मे बडी व मध्यम परियोजना द्वारा सिंचाई की क्षमता का विकास और उसके उपयोग सम्बन्धी जानकारी सारणी मे दी गई है।

योजना अवधि के अंत मे अतिरिक्त क्षमता (लाख हेक्टेयर)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चौथी योजना	पाचवी योजना
क्षमता	25	46	69	112	151
उपयोग	13	34	55	91	115

सिंचाई की इन सुविधाओ का पूर्ण उपयोग न किये जाने का मुख्य कारण इस प्रकार है—(अ) विभिन्न निर्माण कार्यों का समन्वय न होना। (ब) खेतो में नालियो आदि के निर्माण मे देर होना। (स) निर्माण कार्यों मे फसलो की परिवर्तित रूप-रेखा के सम्बन्ध मे सूचना आदि उपलब्ध न कराना। (द) कृषि सम्बन्धी आवश्यक चीजो और साख की पूर्ति के लिए अपर्याप्त व्यवस्था आदि।

2. क्षार आना एवं फसलो को अधिक पानी देना—सिंचाई सुविधाओ के होने से कभी-कभी खेत को अधिक पानी लग जाता है जिससे बीज सड जाता है व फसल नही उग पाती। इसी प्रकार खेत को खाली न छोडने से भी खेत की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है जिसे क्षार आना कहते है।

3. सिंचाई की व्यवस्था होने पर भी एक से अधिक फसलें न उगाना—सिंचाई की व्यवस्था होने पर भी दो अथवा तीन फसले न उगाना साधनो का दुरुपयोग है। **पी० आर० राव तथा बालेश्वर नाथ** की खोज के अनुसार अनेक राज्यो मे, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नही है उन स्थानो की तुलना मे अधिक फसले उत्पन्न की जाती है जहाँ पर सिंचाई के साधन उपलब्ध है।

4 सिंचाई की बढ़ती हुई लागत—सिंचाई के साधनो के विकास पर विचार करते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि सिंचाई की व्यवस्था की लागत क्या है और उससे कितना लाभ मिलने की सम्भावना है? भारत मे वृहद् और मध्यम श्रेणी की परियोजनाओ द्वारा सिंचाई-संभाव्य उत्पन्न की प्रति एकड़ लागत मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं, जैसे—(अ) अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण सिंचाई परियोजना की लागत बढती जा रही है। (ब) बहुधा सिंचाई परियोजनाओ के लिए उपयुक्त स्थानो का चयन नही किया गया है जिसके कारण भी लागत मे वृद्धि हुई है। (स) प्रशासनिक अकुशलता के कारण भी लागत बढ़ रही है।

5. चालू व्यय में वृद्ध—न केवल सिंचाई योजनाओ को पूरा करने की लागत बढ़ रही है, बल्कि इनके पूरा हो जाने के बाद इन पर किये जाने वाले चालू व्यय भी निरन्तर बढ रहे हैं। इसका यह फल हुआ है कि सिंचाई परियोजनाओ से सरकार को हानि हो रही है।

यद्यपि यह सत्य है कि सिंचाई परियोजनाओ का मूल्यांकन हम इनसे सरकार को होने वाले लाभ या हानि के आधार पर नही कर सकते, क्योकि इनका महत्त्व तो शुद्ध सामाजिक लाभ द्वारा निश्चित होता है, परन्तु इसमे सदेह नही है कि सिंचाई परियोजनाओ से हानि होने पर सरकार की अधिक विनियोग करने की शक्ति कम हो जाती है। अत इस हानि को पूरा करने के लिए पानी की दरो मे संशोधन और कृषको पर सुधार कर लगाया जा सकता है।

6. जलरोध (Water-Logging) जब सिंचाई नहरें जल-निकास नहरो (Drainage canals) को काटती है, तो वर्षा और बाढ का जल रुक जाता है, जिससे भूमि जलग्रस्त हो जाती है। कई बार साधारण तौर पर होने वाली वर्षा और बाढो के कारण सिंचित क्षेत्र मे पानी की पूर्ति की मात्रा बढ़ जाती है और भूमि लम्बे समय तक जलमग्न रहती है। अति सिंचन (Over-irrigation) जिसका आजकल बहुत प्रचलन होता जा रहा है, अवरोध का एक कारण है।

7. **अव्यवस्थित सुविधाएँ**—नहरो व अन्य सिंचाई योजनाओ से जो पानी खेतो को दिया जाता है वह उचित समय पर नही मिल पाता है, बल्कि कभी समय से पूर्व तो कभी बाद मे। इससे किसान उचित लाभ नही उठा पाता।

भारत में सिचाई की उन्नति के सुझाव

1. **राशि का पूर्ण उपयोग**—सरकार द्वारा सिचाई योजनाओ पर व्यय की जाने वाली राशि का पूर्ण उपयोग होना चाहिये।

2. **उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग**—देश के विभिन्न भागो मे सिंचाई के साधनो का पूर्ण उपयोग तथा विकास करना चाहिए।

3 **सहकारी समितियों की स्थापना**—कृषि क्षेत्रो मे सहकारी समितियो की स्थापना करनी चाहिए, जो ट्रैक्टर, उत्तम बीज, श्रेष्ठ किस्म की खाद तथा ट्यूब-बेल व पम्पिग सेट आदि का प्रबन्ध करे।

4. **आर्थिक सहायता**—सरकार को छोटी योजनाओ को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

5. **प्रचार एवं प्रसार**—ऐसे क्षेत्रो मे जहाँ कि निकट भविष्य मे नहरो का निर्माण सम्भव नही है, ट्यूबवेल व पम्पिग-सेट लगाने के लिए प्रचार एवं प्रसार किया जाना चाहिए।

6. **सिंचाई योजनाओ में समन्वय**—सिचाई की जो भी योजनाएँ बनाई जायँ, उनमे यह ध्यान रखना चाहिये कि बडी, मध्यम एवं छोटी योजनाओ मे आवश्यक समन्वय रखा जाना चाहिए अथवा सिंचाई का समुचित विकास नही हो सकेगा।

7. **अनुसंधान कार्य**—देश मे सिंचाई से सम्बन्धित अनुसन्धान कार्य अनवरत होना चाहिए।

8. **नवीन योजनाओं का उद्देश्य**—राष्ट्र के हित को ध्यान मे रखते हुए

नवीन योजनाओ का निर्माण किया जाना चाहिए । इन योजनाओ का एकमात्र उद्देश्य खाद्यान्नो के उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि करना होना चाहिए ।

9. **अपूर्ण योजनाओ की प्राथमिकता**—अपूर्ण योजनाओ को पूर्ण करने को प्राथमिकता देनी चाहिये । इससे विनियोग की गई पूँजी का उपयोग तथा लाभ की प्राप्ति होने लगेगी ।

नवीन २० सूत्री कार्यक्रम मे सिंचाई क्षमता मे वृद्धि करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है ।

परीक्षा प्रश्न

1. इस विचार की व्याख्या और जाँच करे कि "जल स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान है ।" भारत की मुख्य सिंचाई तथा जल विद्युत योजनाओ की प्रगति का वर्णन कीजिए ।

अथवा

भारतीय कृषि के लिए सिंचाई के साधनो का महत्त्व बताइए । भारत मे सिचाई के लिए कौन-कौन से साधन प्रचलित है ? उनके विकास के लिए क्या प्रयत्न किये गये है ?

अथवा

भारतीय कृषि के विकास मे सिचाई के महत्त्व की व्याख्या कीजिए । सरकार द्वारा इनके प्रयास के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं ?

अथवा

भारत मे सिंचाई की कौन-सी मुख्य प्रणालियाँ है ? पिछले दस वर्षों मे देश के अन्दर सिंचाई सुविधाएँ बढाने के लिये किए गये प्रयत्नो की परीक्षा कीजिए ।

अथवा

भारत मे नियोजन काल मे सिंचाई के सुधार के सम्बन्ध मे किये गये प्रयत्नो का विश्लेषण कीजिए ।

अथवा

भारत में सिचाई के विभिन्न साधनो का संक्षिप्त विवरण दीजिए और उनमे से प्रत्येक के पक्ष और विपक्ष मे तर्कयुक्त विवेचना कीजिएँ ।

[**संकेत**—इसमे सिंचाई का महत्त्व दीजिए तथा सरकारी प्रयासों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए ।]

2. "पर्याप्त सिंचाई सुविधाओ के अभाव मे कृषि उत्पादन मे वृद्धि की आशा करना कुछ नही, परन्तु भारतीय कृषि समस्याओ की पुनरावृत्ति से अनभिज्ञ रहने का प्रदर्शन मात्र था । कृषि उन्नति के अन्य समस्त दूसरे उपायो के विषय मे बाद में विचार किया जाना चाहिए न कि सिंचाई के पूर्व ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे सिंचाई का महत्त्व और उसकी आवश्यकता का वर्णन करना है ।]

3 "यदि मानसून न आये तो कृषि उद्योग मे ताला पड जाता है ।" इस तथ्य का विवेचन कर कृषि मे सिंचाई का महत्त्व समझाइए ।

[संकेत—इस प्रश्न मे कृषि के महत्त्व का वर्णन करना है ।]

2. **बाढ़ नियन्त्रण**—भारत मे बाढ को नियन्त्रित करने की यह उत्तम पद्धति है। किसी अन्य उपाय से बाढ़ की समस्या का समाधान सम्भव नही है।

3. **जल-विद्युत शक्ति**—ग्रामीण क्षेत्रो में बिजली प्राप्त होगी। फलस्वरूप कुटीर एवं लघु उद्योगो का विकास होगा। अतः ग्रामीणों की स्थिति मे सुधार होगा।

4. **मछली उद्योग का विकास**—नदी घाटी योजनाओ से निर्मित झीलो में मत्स्य उद्योग की प्रगति के परिणामस्वरूप भोज्य पदार्थों मे मूल्यवान तथा पौष्टिक पदार्थों की वृद्धि होगी तथा खाद्य समस्या का पूरक हल भी हो सकेगा। मत्स्य उद्योग अनेक व्यक्तियो को रोजगार दिलाने मे भी समर्थ है।

5. **आन्तरिक जल यातायात**—नौका-चालन की सुविधा मे वृद्धि होगी। फलस्वरूप आन्तरिक व्यापार एव आवागमन की सुविधा मे वृद्धि होगी तथा रेलवे पर ट्राफिक का भार कम हो जाएगा।

6. **रोजगार में वृद्धि**—इन प्रायोजनाओ मे काम चलने पर इनसे लोगो की आय मे वृद्धि होगी तथा प्रायोजना पूर्ण हो जाने पर आवश्यक कर्मचारियो के काम करते रहने के रूप मे रोजगार प्राप्त होगा।

7 **वन आन्दोलन को प्रोत्साहन तथा चरागाह का विकास**—नदी घाटी योजनाओ से वनारोपण कार्यक्रम मे प्रगति होगी जिससे भूमि की उत्पादन क्षमता बढ जायेगी। चरागाहो का विस्तार होने से पशु उद्योग का विकास होगा।

8. **आय का स्रोत**—नदी घाटी योजनाओ के अन्तर्गत निर्मित बाँध सौन्दर्य स्थलो मे परिणत हो जायेगे। प्राकृतिक दृश्यो की छटा से परिपूर्ण मनोरंजन के ये स्थल पर्यटको को आकर्षित कर आय की वृद्धि मे सहायक सिद्ध होगे तथा पर्यटक यातायात को प्रोत्साहन मिलेगा। श्री नेहरू का यह कथन उल्लेखनीय है—"वे वस्तुतः देश के नये तीर्थ बन गये हैं, जिन्हे भारतीय श्रद्धा के साथ तथा विदेशी पर्यटक आश्चर्य के साथ देखते हैं।"

9. **भू-संरक्षण**—इन प्रायोजनाओ के अन्तर्गत वर्षा ऋतु मे नदियो का पानी एक बहुत बडी मात्रा में जलाशयो या झीलो में एकत्रित कर लिया जाता है। अत पानी का वेग कम होने से भूमि का कटाव कम हो जाता है।

10. **देश में कुटीर-उद्योग-धन्धों एवं अन्य उद्योगो का विकास**—इन परियोजनाओ के कारण देश मे सस्ती चालक शक्ति प्राप्त होने लगती है जिससे कुटीर-उद्योग व अन्य उद्योग विकसित होने लगते है।

प्रमुख बहुउद्देशीय घाटी योजनाएँ

1. दामोदर घाटी योजना
(Damodar Valley Project)

1. **परिचय**—दामोदर नदी हुगली नदी की सहायक नदी है। यह नदी छोटा नागपुर के पठार से निकल कर बिहार मे बहते हुए पश्चिमी बंगाल मे हुगली नदी मे

मिल जाती है। इस नदी की बाढ को रोकने के लिए दामोदर घाटी की योजना बनाई गई है। इस योजना को अमेरिका की 'टेनेसी योजना' के आधार पर बनाया गया है।

2 **प्रबन्ध**—इस योजना का प्रबन्ध **'दामोदर घाटी कारपोरेशन'** के अन्तर्गत किया जाता है। इसकी स्थापना 1948 मे हुई।

3. **व्यय**—इस योजना पर 170 करोड रु० व्यय होने का अनुमान है।

4. **दामोदर घाटी योजना के उद्देश्य**—इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(i) इस योजना से लगभग 1181 मेगावाट बिजली का उत्पादन होगा जिससे 800 कि० मी० दूरी वाले स्थानो पर बिजली की सुविधा प्रदान की जायेगी।

(ii) सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ मिलने से खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि होगी।

(iii) इस योजना के द्वारा उद्योग धन्धो को विद्युत शक्ति प्रदान की जाएगी तथा नये-नये कारखाने स्थापित किए जायेंगे।

(iv) लघु एवं कुटीर उद्योग धन्धे भी जल-विद्युत की सहायता से विकास कर सकेंगे।

(v) नदियो पर बाँध बनाकर बाढ पर नियन्त्रण रखा जायेगा।

(vi) इस योजना के अन्तर्गत दलदलों को सुखाकर मलेरिया नियन्त्रण किया जाएगा।

(vii) नदियो पर बाँध बनाकर जलाशय का निर्माण कर नौका-विहार आदि मनोरंजन की व्यवस्था की जावेगी।

(viii) इस योजना के अन्तर्गत 8 बडे और छोटे बाँधो का निर्माण होगा तथा उन जलाशयो मे मछलियो के विकास का प्रोत्साहन दिया जायेगा।

5 **योजना**—इस योजना की प्रमुख बाते निम्नलिखित है—

1. मूल योजना मे दामोदर घाटी मे आठ बाँध बनाने का प्रस्ताव था। वर्तमान समय मे इस योजना मे दामोदर और उसकी सहायक नदियो पर चार संग्रहण बाँध बनाने की व्यवस्था है। ये बाँध हैं—तिलैया, कोनार, मैथन और पंचेत। कोनार को छोड कर प्रत्येक के साथ 104 मेगावाट क्षमतावाले पन-बिजलीघर बनाने की व्यवस्था है। इस योजना के सशोधित अनुमान के अनुसार दामोदर तथा उसकी सहायक नदियों पर दस बाँध बनाये जाएँगे जो ये हैं—(i) दामोदर नदी पर पचेत आयर तया बामो बाँध। (ii) बाराकर नदी पर मैथन, तिलैया और बाल पहाड़ी बाँध, (iii) बोकारो नदी पर बोकारो बाँध तथा (iv) कोनार नदी पर तीन बाँध बनाये जायेंगे।

2 दामोदर नदी पर दुर्गापुर मे एक बैरेज बनाने की व्यवस्था है जिससे नहरें और शाखाये निकाली जाएँगी।

दामोदर घाटी योजना निर्माण हो जाने के पश्चात् सम्भावित लाभ

इस योजना के निर्माण हो जाने के पश्चात् निम्नलिखित लाभ होंगे—

(क) **खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि**—इस योजना के निर्मित हो जाने पर सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ मिल सकेंगी जिसके फलस्वरूप कृषि की उपजो के उत्पादन मे वृद्धि होगी।

(ख) **औद्योगिक विकास**—इस योजना के पूर्ण हो जाने पर उस क्षेत्र का उचित औद्योगिक विकास होगा।

(ग) **खनिज की प्राप्ति**—दामोदर नदी के बेसिन मे बडी मात्रा मे क्रोमाइट अभ्रक, मैंगनीज, बाक्साइट, चूना, कोयला तथा लोहे के भण्डार है। किन्तु विद्युत शक्ति के अभाव के कारण इनका उचित उपयोग नही हो सका है।

2. भाखड़ा-नागल परियोजना
(Bhakhra-Nangal Project)

1. **परिचय**—पजाब मे सतलज नदी पर भाखडा व नागल स्थानो पर दो बाँध बनाये गये है। भाखडा ससार का सबसे ऊँचा बांध है। इसकी ऊँचाई 226 मी० है।

2. **व्यय व योजना**—इस योजना के निर्माण पर 236 करोड रुपये व्यय हुए। इस परियोजना के अन्तर्गत निम्नलिखित बाते मुख्य है—

1. भाखड़ा बाँध भाखडा नामक स्थान पर सतलज नदी के आर-पार बनाया गया है जो नदी के तल से 226 मी० ऊँचा और 518 मीटर लम्बा है।

2. भाखडा नहर प्रणाली के अन्तर्गत 173 किलोमीटर लम्बी भाखडा की मुख्य नहर, विस्त दोआब नहर, सरहिन्द नहर और नरवाना नहर है।

3. **नांगला बांध**—भाखडा से 13 कि० मी० नीचे की ओर है। यह 29 मीटर ऊँचा और 395 मी० लम्बा तथा 121 मीटर चौडा है। इस बांध मे लगभग 32 हजार एकड़ फीट जल जमा होता है।

4. नांगल जल विद्युत नहर नांगल बाँध के बाँयें किनारे से निकाली गई है जो लगभग 64 कि० मी० लम्बी और 8 मीटर गहरी है।

5. **शक्तिगृह**—नागल जल विद्युत नहर पर तीन शक्तिग्रह बनाने की योजना है जिनमे दो शक्तिग्रह बांध से 20 कि० मी० और 28 कि० मी० नीचे गगूवाल और कोटला मे बनाये गये हैं। इन शक्तिग्रहो से 1,204 मेगावाट शक्ति तैयार होती है। तीसरा शक्तिग्रह रोपड के निकट बनाया गया है।

6. शक्ति पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और दिल्ली राज्यो के उद्योगो और सड़को पर प्रकाश के लिए उपयोग मे आ रही है।

योजना के उद्देश्य व लाभ

(1) सतलज और यमुना के मध्यवर्ती भाग की सिंचाई करना, (2) सरहिन्द

नहर मे जाल बनाकर उसके सिंचाई के क्षेत्र मे वृद्धि करना, (3) गंगा नहर द्वारा राजस्थान मे सिंचाई के लिए जल पहुँचाना; (4) जल से लगभग 12 किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न करना, (5) वर्तमान समय मे इस योजना से 14.6 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो रही है।

3. हीराकुण्ड परियोजना
(Hirakund Dam Project)

परिचय—महानदी मध्य प्रदेश के रायपुर जिले से निकल कर उड़ीसा राज्य मे बहती हुई बंगाल की खाडी मे गिरती है।

योजना—(क) सर्वप्रथम सन् 1948 मे हीराकुण्ड बाँध के निर्माण का कार्य शुरू किया गया। (ख) 4,810.2 मीटर लम्बा हीराकुण्ड बाँध (उडीसा) संसार का सबसे लम्बा बाँध है। इसको दो चरणो मे पूरा किया गया है। (ग) प्रथम चरण मे उडीसा से सम्भलपुर तथा बलागीर जिलो के 2.55 लाख हेक्टेयर क्षेत्र की सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हुई हैं। इसी चरण की एक सहायक योजना के रूप मे महानदी डेल्टा योजना क्रियान्वित की जा रही है जिसके पूरा होने पर कटक और पुरी मे 6.81 लाख हेक्टेयर क्षेत्र मे सिंचाई सुविधा प्रदान की जा सकेगी। (घ) वर्तमान मे इस परियोजना की विद्युत उत्पादन क्षमता 270.2 मैगावाट है। इससे प्राप्त विद्युत का उपयोग हीराकुण्ड राजगंगपुर, रूरकेला, जोदा, बृजराजनगर, आदि औद्योगिक नगरो तथा पुरी, सम्भलपुर, सुन्दरगढ, बरगढ और कटक नगरों में किया जाता है।

उद्देश्य व लाभ

1. इस योजना के अन्तर्गत 2.54 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई होगी।
2. इस योजना मे महानदी की बाढो की समस्या को हल किया जा सकेगा।
3. इस योजना के अन्तर्गत दो बडे-बडे शक्तिग्रह निर्मित किये जाएँगे जिनसे 3 लाख 50 हजार किलोवाट बिजली उत्पादन किया जायेगा।
4 इससे प्राप्त विद्युत का उपयोग हीराकुण्ड राजगंगपुर, रूरकेला, जोदा, बृजराजनगर आदि औद्योगिक नगरो तथा पुरी-सम्भलपुर मे किया जाएगा।

4 कोसी परियोजना (बिहार)
(Kosi Project)

परिचय—कोसी नदी हिमालय से निकलती है तथा मुगेर जिले (बिहार) मे गंगा नदी मे मिल जाती है। बिहार मे प्रतिवर्ष कोसी नदी की बाढ से बडी धन-जन की हानि होती है।

व्यय—इस परियोजना के अन्तर्गत 85.34 करोड रुपये के व्यय से तीन इकाइयों पर कार्य पूरा करना है; (1) नेपाल मे हनुमान सागर के निकट एक अवरोधक बाँध, (ii) लगभग 240 कि० मी० लम्बा बाँध बाढो को रोकने के लिए और (iii) पूर्वी कोसी नहर का निर्माण करना।

योजना के उद्देश्य व लाभ—इसके निम्नलिखित उद्देश्य है—

(i) इस योजना के अन्तर्गत 18 लाख किलोवाट बिजली उत्पादित की जाएगी।

(ii) कोसी नदी की बाढ की समस्या को हल किया जा सकेगा।

(iii) इस परियोजना के द्वितीय चरण मे कोसी बिजलीघर पश्चिमी कोसी नहर के निर्माण तथा राजगगपुर नहर के पूर्वी तथा पश्चिमी तटबन्धो के विस्तार की व्यवस्था की गई है।

(iv) पश्चिमी कोसी नहर मे बिहार के दरभंगा जिले मे 3012 लाख हेक्टेयर तथा नैपाल के सप्तारी जिले मे 12120 हेक्टेयर सिंचाई होगी।

5. नागार्जुन सागर परियोजना (आन्ध्र प्रदेश)

परिचय—आन्ध्र प्रदेश में नागार्जुन सागर योजना कृष्णा नदी पर नदी कोण्डा गाँव के पास बनाया गया है। यह 1400 मीटर लम्बा 130 मीटर ऊँचा बाँध है।

व्यय—इस योजना पर लगभग 165 करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है।

उद्देश्य—इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य है—

(क) इस योजना के द्वारा अकालो पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा।

(ख) इस योजना से 75,000 किलोवाट बिजली प्राप्त होगी।

(ग) इस योजना से 14 लाख टन खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि होगी।

(घ) इस योजना के द्वारा हैदराबाद तथा आन्ध्र प्रदेश मे 8.3 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई होगी।

6. रिहन्द बाँध या गोविन्दबल्लभ सागर परियोजना

परिचय—यह उत्तर प्रदेश की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना है। इसके अन्तर्गत मिर्जापुर जिले मे पीपरी नामक ग्राम के पास रिहन्द नदी पर एक 939 मीटर लम्बा और 91.6 मीटर ऊँचा बाँध बनाया गया है।

2. **व्यय**—इस योजना पर 31.5 करोड रुपये अनुमानित व्यय किए गए है। इसके अतिरिक्त इस योजना के लिए 1 करोड 10 लाख डालर का समझौता '**भारत अमेरिका टेक्नीकल कारपोरेशन एग्रीमेन्ट**' के अन्तर्गत हो चुका है।

3 **योजना के उद्देश्य**—(1) इससे उत्तर प्रदेश के 16 पूर्वी जिलो मे 4,000 नलकूपो को विद्युत प्रदान की जाएगी।

(2) इस योजना के द्वारा बिजली वाराणसी से लेकर कानपुर तक के औद्योगिक केन्द्रों को पहुँचायी जाएगी।

(3) रिहन्द नदी की बाढ पर नियंत्रण किया जा सकेगा।

(4) इसके अन्तर्गत मछलियो का विकास किया जावेगा।

(5) नौका-विहार आदि मनोरंजन सुविधाएँ उपलब्ध होगी।

(6) रेलो को जल विद्युत सुविधाएँ दी जाएँगी।

(7) इस योजना के अन्तर्गत 1,70,000 किलोवाट बिजली के उत्पादन का 1970 तक का अनुमान है ।

(7) चम्बल परियोजना
(Chambal Project)

1. परिचय—मध्य प्रदेश तथा राजस्थान की यह सम्मिलित योजना है । चम्बल नदी मध्यप्रदेश मे विन्ध्याचल पर्वत श्रेणी से निकलकर राजस्थान होती हुई उत्तर प्रदेश मे यमुना नदी मे मिल जाती है । इसके अन्तर्गत 5 शक्तिग्रह 1 सिंचाई अवरोधक बनाने की योजना है ।

2. उद्देश्य—(क) इस योजना के द्वारा मध्यप्रदेश और राजस्थान राज्यो को औद्योगिक सहायता पहुँचाना है ।

(ख) इसका प्रमुख उद्देश्य सिंचाई सुविधाओ मे विस्तार करना है ।

(ग) खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि करना इस योजना का प्रमुख लक्ष्य है ।

3. योजना—इस योजना के अन्तर्गत तीन बाँध बनाये जा रहे है—

(i) **गांधी सागर बाँध**—मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले मे चौरासीगढ के निकट 533 मीटर लम्बा तथा 61 मीटर ऊँचा एक बाँध बनाया गया है । इस बाँध से 115 मेगावाट क्षमता वाले विद्युत गृह का निर्माण किया गया ।

(ii) **राणाप्रताप सागर बाँध**—राजस्थान मे रावतभाटा के निकट यह बाँध बनाया गया है । इससे 172 मेगावाट का बिजलीघर स्थापित किया गया है ।

(iii) **कोटा बाँध**—राजस्थान के कोटा नगर के निकट 548 मीटर लम्बा और 24 मीटर चौडा बाँध बनाया गया है । यहाँ शक्तिगृह से 60 हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी ।

4. लाभ—(क) इस योजना के अन्तर्गत 21 लाख किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन होगा ।

(ख) इस योजना द्वारा अनेक उद्योग-धन्धो को विद्युत शक्ति प्रदान की जाएगी ।

(ग) सिंचाई सुविधाओ के विकास से खाद्यान्न के उत्पादन मे वृद्धि होगी ।

(घ) इस योजना से औद्योगिक क्षेत्रो के विकास की पर्याप्त सम्भावनाएँ है ।

परीक्षा-प्रश्न

1. बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओ पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

अथवा

बहुउद्देशीय योजनाएँ क्या है ? भारत की प्रमुख बहुउद्देशीय योजनाओ का वर्णन कीजिए ।

अथवा

संक्षेप मे भारतवर्ष की मुख्य-मुख्य बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओ का वर्णन कीजिए । कृषि तथा उद्योगो के विकास में उनके महत्त्व की व्याख्या कीजिए ।

20

कृषि श्रमिक
(Agricultural Labour)

कृषि श्रमिको की समस्या भारतीय कृषि की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। अतः कृषि सुधार की किसी भी योजना मे इनको पर्याप्त महत्त्व देना आवश्यक है। कृषि सुधार समिति के अनुमार "कृषि सुधार की किसी भी योजना मे कृषि श्रमिको की समस्या को सम्मिलित न करना देश की कृषि व्यवस्था मे भयंकर घाव को बिना मरहम-पट्टी के छोड देने के समान है।"

कृषि श्रमिकों से आशय

1. **प्रथम कृषि श्रम जांच समिति**[1] के अनुसार कृषि श्रमिको का अभिप्राय उन व्यक्तियो से है जो कृषि कार्य मे किराये के मजदूर के रूप मे कार्य करते हो तथा वर्ष मे जितने दिन उन्होने वास्तव मे कार्य किया है उससे आधे से अधिक दिनो में उन्होने कृषि मे ही कार्य किया है। कृषि श्रमिक परिवार का तात्पर्य उस परिवार से है जिसकी आधे से अधिक आय कृषि मजदूरी से प्राप्त होती है।

2. **द्वितीय श्रम जाँच समिति**—"कृषि-श्रमिक से आशय उस व्यक्ति से है जो न केवल फसलो के उत्पादन के काम पर रखा गया है बलिक अन्य कृषि सम्बन्धी धंधो (जैसे बागवानी, पशुपालन, दुग्ध व्यवसाय, मुर्गी पालन आदि) मे किराये के मजदूर के रूप मे कार्य करता है। कृषि-श्रमिक परिवार से आशय उस परिवार से है जिसकी अधिकांश आय कृषि मजदूरी से प्राप्त होती है।"

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति निम्नलिखित कृषि कार्यों मे से किसी एक या अधिक कार्यों को किराये के श्रमिक अथवा विनिमय के आधार पर सम्पन्न करता है और उसे नकद रूप मे, किस्म के रूप मे, अथवा दोनो रूपों में मजदूरी प्राप्त होती है तो उसे कृषि श्रम कहते है—

(i) कृषि जिसमें भूमि की जुताई और खेती सम्मिलित हैं,

(ii) डेरी उद्योग,

(iii) किसी बागवानी की वस्तु का उत्पादन खेती उगाना तथा फसल तैयार करना।

(iv) कृषि कार्य से सम्बन्धित किसी क्रिया को करना तथा कृषि पदार्थ को संगृहीत करने या विक्रय के लिए तैयार करना अथवा विक्रय के लिए बाजार ले जाना एवं,

(v) पशुपालन, मधुमक्खी पालन, अथवा मुर्गी पालन आदि ।

कृषि श्रमिक औद्योगिक श्रमिको से कई दृष्टियो से भिन्न है जैसा कि कृषि श्रमिको की विशेषताओ के अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा ।

कृषि श्रमिको की विशेषताएँ

1. **कृषि श्रमिक असंगठित हैं**—औद्योगिक श्रमिको की भाँति कृषि श्रमिक संगठित नही होते है । इसका मुख्य कारण कृषि कार्य की प्रकृति है । कृषि श्रमिको को एक दूसरे पर आश्रित रहकर कार्य नही करना पडता कृषकों में परस्पर उपयोगी सगठन स्थापित नही हो पाता ।

2. **कृषि श्रमिक भ्रमणशील होते हैं**—कृषि श्रमिको की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे एक ही स्थान या खेत पर ही वर्ष भर कार्य नही करते । इसका कारण कृषि क्रियाओ की मौसमी प्रकृति है । भारतवर्ष में कृषि कार्य 6 से 7 महीने तक ही रहता है । वर्ष के शेष अवधि मे जीविकोपार्जन के लिए कृषि श्रमिको को अन्य स्थानों पर जाना पडता है ।

3. **कृषि श्रमिक अकुशल होता है**—कृषि श्रमिक मौलिक रूप से अकुशल होता है वह खेती के कार्य मे भी कुशल नहीं होता है जोकि उसका प्रमुख व्यवसाय है ।

4. **कम मजदूरी**—चूंकि कृषि श्रमिक अकुशल होते हैं इसलिए उनकी पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है । उत्पादक इस स्थिति का लाभ उठाकर श्रमिकों को कम मजदूरी देने मे सफल हो जाते है ।

5. **सेवायोजक और कृषि श्रमिक में अन्तर नाम मात्र का होता**—कृषि श्रमिक का सेवायोजक साधन सम्पन्न व्यक्ति नही होता कुछ स्थितियो मे तो एक छोटा किसान दूसरे छोटे किसान को रोजगार देता है ऐसी अवस्था में सेवायोजक और श्रमिक के बीच प्रत्यक्ष निकटवर्ती सम्बन्ध होता है ।

6. **कृषि कार्य के लिए कानून का अभाव**—कृषि कार्य के लिए कोई नियमावली और निश्चित समयावधि नही होती । उत्पादक कृषि श्रमिकों को उपयुक्त कार्य की दशाओं का आश्वासन भी नहीं दे सकता कारण यह है कि कृषि कार्य प्रकृति पर निर्भर करता है । कई बार तो कडी धूप वर्षा व सर्दी में भी कृषि श्रमिको को कार्य करना पड़ता है यद्यपि कृषि श्रम पर न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू करने का प्रयास किया गया है परन्तु उत्पादक इन अधिनियमो की उपेक्षा करने मे आसानी से सफल हो जाते हैं ।

होने के कारण सौदावाजी करने की शक्ति बहुत कमजोर होती है फलत. उसकी मजदूरी भी कम होती है।

भारत में कृषि श्रम का विकास

19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे कृषि मजदूरो की सख्या बहुत कम थी, परन्तु गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ इनकी सख्या मे भी काफी वृद्धि हुई है। सन् 1981 व 1921 के बीच खेतिहर मजदूरो की संख्या 75 लाख से बढकर 2 16 करोड हो गई। 1951 मे कृषि श्रमिको की संख्या 28 मिलियन थी जो सन् 1961 मे 31 5 मिलियन और 1971 मे 47 5 मिलियन हो गई।

कृषि श्रम का देश की कुल कार्यशील जनसंख्या मे अनुपात बढ रहा है। सन् 1901 मे यह अनुपात 16 9 था जो कि 1921 मे 17 4%, 1951 मे 19 7%, 1961 मे 16 71% तथा 1971 मे 25.96% हो गया। उपर्युक्त आँकड़ो से भारत मे कृषि श्रमिको की बढती हुई संख्या का आभास होता है।

1961 व 1971 दोनो जनगणना रिपोर्टों के अनुसार 17 बडे राज्यो मे कृषि श्रमिको और कृषको के भाग की प्रतिशतता इस प्रकार थी—

1 अप्रैल 1961 और 1 अप्रैल 1971 को भारत मे कृषि श्रमिको व कृषको का अनुपात

क्र०	राज्य	वर्ष 1961	वर्ष 1971
1.	आन्ध्र प्रदेश	0 76	1.18
2.	आसाम	0.07	0.18
3	बिहार	0.41	0.90
4	गुजरात	0.31	0.52
5.	हरियाणा	0.13	0 33
6	हिमाचल प्रदेश	0.02	0 06
7.	जम्मू काश्मीर	0.03	0.05
8.	कर्नाटक	0 28	0 67
9.	केरल	0.90	1 72
10	मध्य प्रदेश	0.29	0.50
11.	महाराष्ट्र	0.51	0 83
12	उडीसा	0.24	0 58
13.	पंजाब	0.24	0 47
14.	राजस्थान	0.07	0.14
15	तमिलनाडु	0.47	0.97
16.	उत्तर प्रदेश	0.16	0.35
17.	पश्चिमी बंगाल	0.41	0.83
	अखिल भारतीय	0.33	0.61

उपर्युक्त सारणी के आँकडो से स्पष्ट है कि कृषि श्रमिको और कृषको के अनुपात मे 1961 और 1971 के बीच के वर्षों मे वृद्धि हुई है परन्तु यह वृद्धि राज्यो मे समान रूप से नही हुई है। अनुपात मे सबसे अधिक वृद्धि हिमाचल प्रदेश मे हुई है। कृषि श्रमिको और कृषको के अनुपात मे जिन राज्यो मे काफी वृद्धि हुई है वे राज्य अवरोही क्रम से आसाम, कर्नाटक, उडीसा और बिहार है।

योजना आयोग के सर्वेक्षण के अनुसार कृषि श्रमिको की संख्या 1977-78 मे बढकर 530 लाख हो गई है। इस प्रकार भारतवर्ष मे कृषि श्रमिको की संख्या मे वृद्धि हो रही है। इसका अर्थ यह है कि ऐसे करोडो किसान, विशेषकर सीमान्त और छोटे किसान अपने खेतो से बेदखल कर दिये गये है जिनके पास भूमिहीन श्रमिको की श्रेणी मे आने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही था।

मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया गया है कि भारतवर्ष मे कुल कार्यशील जनसख्या का $\frac{1}{4}$ से अधिक भाग कृषि मजदूर है। ग्रामीण क्षेत्रो मे यह अनुपात 30 प्रतिशत से अधिक है।

भारतीय कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के कारण

विगत वर्षों मे भारत मे कृषि श्रमिको की संख्या निरन्तर वृद्धि हुई है। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है :—

(1) **कुटीर उद्योगों का पतन**—कुटीर उद्योग-धन्धो के पतन के कारण बहुत से कारीगर बेरोजगार हो गये और उन उद्योगो से बेकार हुए श्रमिक कृषि कार्य करने लगे। डा० बुचेन का कथन है कि उनके स्वयं के रोजगार नष्ट हो चुके थे। आधुनिक उद्योगो का उस समय (19वी शताब्दी मे) विकास नही हुआ था, जबकि उनके पास इतने साधन नही थे कि वे खेत लेकर उसे जोतने की व्यवस्था कर पाते। किन्ही कारणो से उन्हे कृषि श्रमिक बनने के अतिरिक्त और कोई चारा नही था।

(2) **कृषि पर जनसंख्या का दबाव**—भारत मे बढती हुई जनसंख्या के कारण कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढता जा रहा है, परन्तु दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था होने के कारण भूमि का केन्द्रीयकरण कुछ ही हाथो मे होता रहा और कृषि श्रमिको की संख्या मे वृद्धि होती गयी।

(3) **खेतों का छोटा आकार**—भारतीय कृषि की एक विशेषता यह है कि यहाँ अधिकाश खेत छोटे आकार के होते हैं। खेतो के छोटे होने के कारण कृषक को पर्याप्त आय नही हो पाती फलतः उसे अपने खेत के अतिरिक्त दूसरे खेतो पर मजदूरी पर कार्य करना होता है।

(4) **ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषको की एक महत्त्वपूर्ण समस्या ऋणग्रस्तता रही है। ये अधिकाश ऋण साहूकारो से लेते है जिनकी ब्याज की दर इतनी अधिक होती है कि कृषकों को अपनी जमीन मूलधन और ब्याज के भुगतान मे बेचनी पड़ती है। इस परिस्थिति के कारण भी कृषि श्रमिकों की संख्या मे काफी वृद्धि हुई है।

(5) **बेरोजगारी की मजबूरी में कृषि कार्य**—भारत मे बेरोजगारी की सम-

स्या ने विस्फोटक रूप ले लिया है, फलत. व्यक्तियो को सरलता से रोजगार नही मिल पाता। ऐसी परिस्थिति मे बेरोजगार व्यक्ति मजबूरी मे कृषि कार्य करने को तैयार हो जाता है और फलत: कृषि श्रमिको की संख्या मे वृद्धि होती रही है।

(6) **सरकारी फार्मों पर खेती**—भारत मे योजना अवधि मे सरकारी फार्मों (खेतो) की सख्या मे वृद्धि हुई है। इन फार्मों मे भी काफी संख्या मे लोगो को रोजगार मिलता है।

(7) **दूषित भूमि व्यवस्था**—डा० देसाई ने लिखा कि अंग्रेजो द्वारा लागू की गई भूमि व्यवस्था भी किसी सीमा तक भूमिहीन किसानो की संख्या मे वृद्धि करने के लिए उत्तरदायी थी। इसके कुछ ऐसे व्यक्ति भी जैसे—जमीदार जागीरदार व रिसालदार आदि होते है जो किसानो पर मनमाना अत्याचार करते थे जिसके कारण बहुत से किसान गाँव छोडकर दूसरी जगह चले जाते थे और वहाँ मजदूरी करना प्रारम्भ कर देते थे।

(8) **कृषि मे अनिश्चितता की स्थिति**—भारत की कृषि हमेशा प्राकृतिक दशाओ पर आश्रित रहती है। मानसून की अनिश्चितता के कारण फसल नष्ट हो जाती है जिससे उसकी हानि होती है। जोत का आधार छोटा होने से दशा और गम्भीर हो जाती है। एक तरफ किसान ऋणी हो जाता है और दूसरी ओर उसे अपनी भूमि पर साल भर काम नही मिलता जिससे किसान की आर्थिक स्थिति सुधर सके। अत. किसान मजदूरी करके अपनी जीविका चलाने को बाध्य हो जाता है।

कृषि श्रमिको की आर्थिक दशाएँ—कृषि श्रम की आर्थिक दशाओ का ज्ञान विभिन्न तथ्यो की जानकारी से हो सकता है, इसमे से कुछ प्रमुख तथ्य निम्नलिखित है :—

1. **परिवार का आकार**—कृषि श्रमिको के परिवार के आकार को मापने के लिए कोई सुव्यवस्थित प्रयत्न नही किए गए। डा० एच० लक्ष्मी नारायण ने उत्तर प्रदेश, पजाब और हरियाण के तीन गाँवो मे कृषि श्रमिको की बदलती हुई दशाओ का अध्ययन किया। उनके अनुसार उत्तर प्रदेश में कृषि श्रमिको के परिवार का औसत आकार 1958-59 मे 6 था जो कि 1972-73 मे घटकर 4 45 रह गया है। पंजाब मे यह औसत आकार 1956-57 मे 5·34 था जो कि 1971-72 मे बढ़कर 8·65 हो गया। हरियाणा मे यह आकार 1959-60 मे 5·32 था जो कि 1971-72 मे 6 48 हो गया। उत्तर प्रदेश मे परिवार के औसत आकार मे कमी का मुख्य कारण इस क्षेत्र मे शिशु मृत्यु दर का ऊँचा स्तर था। ऊँची शिशु मृत्यु दर कृषि श्रमिको की निर्धनता और पिछडेपन का परिचायक है।

2. **शिक्षा**—कृषि श्रमिक परिवारो के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण सूचना एक स्कूली शिक्षा की प्रगति से प्राप्त होती है। हरियाणा में कृषि करने वाले परिवारो मे 4 स्कूल मे जाने की उम्रवाली लडकियो मे से एक लड़की ही स्कूल जाती है जबकि मजदूरी करने वाली श्रम परिवार मे प्रति 25 स्कूल जाने की उम्रवाली लड़कियो मे से केवल एक ही स्कूल जाती है इसी प्रकार पंजाब मे कृषक परिवारो के 78%

बच्चे स्कूल जाते है जबकि श्रम परिवारो मे केवल 40% बच्चे ही स्कूल जाते है ।

यद्यपि कृषि श्रमिक परिवारो मे स्कूल जाने वाले बच्चो की संख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है किन्तु इसका कुल साक्षरता की दर पर कोई धनात्मक प्रभाव नही पड रहा है ।

3 **ऋणग्रस्तता**—पहली जाँच समिति के अनुसार 1950-51 मे लगभग 445% कृषि परिवार ऋणग्रस्त थे प्रति परिवार ऋण की औसत मात्रा बढकर 105 रुपये थे । दूसरी जाँच समिति के अनुसार 1956-57 मे लगभग 64% कृषि परिवार ऋणग्रस्त थे तथा प्रति परिवार ऋण की औसत मात्रा बढकर 138 रुपये हो गई । सन् 1964-65 मे ऋणग्रस्तता के इस प्रतिशत मे कमी हुई है और यह 61% रह गया लेकिन औसत ऋण की मात्रा 138 से बढकर 244 रुपये हो गई । सन् 1971-72 मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ने अखिल भारतीय ऋण एवं निवेश सर्वे का आयोजन किया जिसके अनुसार 35·33% कृषि परिवार ऋणग्रस्त थे तथा प्रति परिवार औसत ऋण की मात्रा 161·96 रुपये थी ।

उपर्युक्त सर्वेक्षण मे यह भी बताया गया है कि अब भी बहुत से कृषि परिवार देशी महाजनो के चगुल मे फसे हुए हैं यद्यपि 1960 के बाद से सस्थागत साख एजेन्सियो के द्वारा पर्याप्त मात्रा मे कृषि साख की व्यवस्था की गई है ।

4. **रोजगार एवं बेरोजगारी**—भारतीय कृषि मौसम पर निर्भर करती है अत· फसल की कटाई के दिनो मे ही श्रमिको की आवश्यकता होती है । ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कृषि श्रमिक वर्ष मे 4-5 महीनो तक बेकार रहते है । प्रथम कृषि आयोग (1950-51) के अनुसार पुरुष श्रमिको को वर्ष मे केवल 200 दिन मजदूरी पर काम मिलता था । द्वितीय कृषि आयोग (1956-57) की जाँच के अनुसार पुरुष श्रमिको को वर्ष मे केवल 197 दिन मजदूरी पर कार्य मिलता था। ग्रामीण जाँच समिति (1963-64) के अनुसार एक पुरुष कृषि श्रमिक को एक वर्ष मे 240 दिन तथा स्त्री श्रमिको को159 दिन रोजगार प्राप्त होता है । योजना आयोग के अनुसार प्राय: 16% व्यक्तियो की पूरे वर्ष भर कोई कार्य नही मिलता ।

उपर्युक्त आँकडो से स्पष्ट है कि मजदूर को एक वर्ष मे लगभग 4 महीने बेरोजगार रहना पडता है। इस अवधि मे उसे ग्रामीण जीवन की सभी बुराइयो का सामना करना पडता है ।

5. **कार्य करने का समय एव दशाएँ**—कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार "कार्य के घन्टे मे कोई नियमितता नही थी और यह श्रमिको और सेवायोजको के मध्य सहयोग, विश्वास तथा स्थानीय रीति-रिवाजो पर निर्भर करती थी फसल की कटाई और सफाई के समय अनियमित कृषि श्रमिको को प्रतिदिन 10-11 घन्टे कार्य करना पडता था । स्पष्ट है कि कृषि श्रमिक की कार्य करने की दशाएँ प्रकृति पर निर्भर करती है चूंकि कृषि श्रमिक खुले हुए वातावरण में कार्य करते हैं इसलिए उन्हे गर्मी और वर्षा दोनो मे ही काम करना पडता है ।"

6. **मजदूरी एवं आय**—प्रथम जाँच समिति ने बताया है कि 1950-51 मे

पुरुष श्रमिक की औसत मजदूरी 1·09 रुपये प्रतिदिन थी। दूसरी जांच समिति के अनुसार 1956-57 मे घटकर 0·90 रुपये प्रतिदिन रह गयी, तथा ग्रामीण जाँच समिति के अनुसार यह 1964-65 मे 1·43 रुपये आँकी गई। स्त्री कृषि श्रमिको के लिए 1950-51 मे यह 0·68 रुपये, 1956-57 मे 0·59 रुपये और 1964-65 मे यह 0·95 रुपये थी, यद्यपि समयावधि 1950-51 से 1964 65 के दौरान पुरुष और स्त्री दोनो ही प्रकार के कृषि श्रमिको की मौद्रिक मजदूरी मे वृद्धि हुई है लेकिन कीमतो मे वृद्धि होने के कारण 1964-65 मे वास्तविक मजदूरी 1950-51 की तुलना मे कम हो गई।

जहाँ तक कृषि श्रमिको की आय का प्रश्न है पहली कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार कृषि श्रम की सभी स्रोतो से वार्षिक आय 1950-51 मे 447 रुपये थी। दूसरी जाँच समिति के अनुसार कृषि श्रम की वार्षिक आय 1964-68 मे 660 रुपये थी इससे श्रमिको की मौद्रिक आय मे वृद्धि का आभास होता है। लेकिन यदि मौद्रिक आय मे इस वृद्धि की कीमत वृद्धि के साथ तुलना करे तो विदित होता है कि कृषि श्रम की वास्तविक आय मे कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही हुई है।

7 **उपभोग व जीवन-स्तर**—एक तो कृषि श्रमिको की मजदूरी बहुत कम होती है। दूसरे ये वर्ष मे काफी दिन बेकार रहते है फलस्वरूप इनकी आय इतनी कम हो जाती है कि इनके न्यूनतम उपयोग का खर्च भी पूरा नही हो पाता और विवश होकर उसे उपभोग के लिए भी उधार लेना पडता है द्वितीय कृषि श्रम जाँच समिति का अनुमान था कि सन् 1956-57 मे प्रति परिवार उपभोग पर वार्षिक व्यय 617 रुपये था तथा परिवार औसत वार्षिक आय 437 रुपये थी इस प्रकार प्रति परिवार औसत घाटा 180 रुपये का था।

कृषि श्रमिको के उपभोग व्यय मे सबसे महत्वपूर्ण वस्तु भोजन है। कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार "कृषि परिवार अपने उपभोग व्यय का 8.53% भोजन, 6·3% कपडो व जूनो तथा 65% सेवाओ व अन्य कार्यों पर खर्च करते है।" इस उपभोग व्यय के स्वरूप मे कृषि श्रमिको की पिछडी हुई दशा एवं बेरोजगारी मिलती है।

कृषि श्रमिकों की समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ
(Problems and Difficulties of Agricultural Labourers)

योजना आयोग ने लिखा है, "कृषि श्रमिको की समस्याएँ हमारे लिये एक चुनौती है और इन समस्याओं का समुचित निदान खोजने की जिम्मेदारी संपूर्ण समाज पर है। अर्थात् कृषि श्रमिको की समस्याओं की ओर हमें तत्काल ध्यान देना चाहिये।" केन्द्रीय कृषि मंत्रालय द्वारा कृषि-श्रमिकों की समस्याओ के समाधान पर किये गये एक अध्ययन के ये विचार महत्त्वपूर्ण है, "समस्या का समाधान विस्तृत रूप से प्रभावशाली और सुविचारित ढङ्ग से किया जाना चाहिये। ऐसा न करने का परिणाम ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना होगा कि ग्रामीण क्षेत्र का असन्तुष्ट वर्ग मजबूर होकर सग-

,ठित होगा और एक दिन विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर देगा।"[1] भारतीय श्रमिको की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित है—

(1) **मौसमी व छिपी बेरोजगारी**—कृषि श्रमिको को वर्ष पर्यन्त कार्य नही मिलता। द्वितीय कृषि जाँच समिति के अनुमान के अनुसार कृषि श्रमिको को वर्ष भर मे केवल 197 दिन ही काम मिलता है और शेष समय वह बेकार रहता है। अन्यत्र रोजगार मिलने की सम्भावनाएँ कम होने से कृषि श्रमिको का भार आवश्यक रूप से अधिक हो जाता है और कुछ श्रमिक यद्यपि कार्यरत दिखाई देते है तथापि कृषि उत्पादन मे उनका अंशदान नही के बराबर है जिसके फलस्वरूप छिपी बेरोजगारी की समस्या पायी जाती है। भारतीय कृषि श्रमिको मे मौसमी बेरोजगारी, अर्द्ध बेरोजगारी और छिपी हुई बेरोजगारी तीनो ही समस्याये जटिल रूप मे पायी जाती हैं।

ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगार के अनुमान का प्रयास नेशनल सैम्पल सर्वे (N.S.S.) ने अपने 19वे सत्र मे जुलाई 1964 से जून 1975 के मध्य किया। इसका प्रतिवेदन 1970 मे प्रकाशित हुआ। उसके अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो मे श्रमशक्ति कुल जनसख्या की 40 15 प्रतिशत थी जिसमे से 38.4 प्रतिशत लाभप्रद रोजगार मे थे, जबकि बेरोजगार रोजगार के लिये उपलब्ध व्यक्ति 1 75 प्रतिशत थे। सप्ताह मे 4 दिन या उससे कम तथा एक दिन तक काम करने वाले व्यक्तियो का प्रतिशत कुल जनसंख्या का 10.24 प्रतिशत था।

(2) **भूमिहीनता**—भारत मे अधिकांश· कृषि श्रमिक भूमिहीन है और जिनके पास भूमि है वह प्राय· इतनी कम मात्रा मे है कि न तो उन्हे उस पर वर्ष भर कार्य मिल सकता है और न वह आर्थिक इकाई के रूप मे जोती जा सकती है।

(3) **अस्थायी श्रमिकों का आधिक्य**—भारत मे अधिकाश कृषि श्रमिको को अस्थायी रूप से ही खेतो पर कार्य मिलता है और भारत मे अस्थायी कृषि श्रमिकों का ही आधिक्य है; 1970-71 मे लगभग 70 प्रतिशत कृषि श्रमिक अस्थायी थे। अस्थायी होने से उनकी दशा दयनीय है।

(4) **कार्य के अनियमित घण्टे**—कृषि श्रमिको के कार्य के घण्टे भिन्न-भिन्न स्थान, ऋतु और फसलो के लिए एक से नही है। वैसे तो कृषि मजदूरो को वर्ष भर काम नही मिलता, किन्तु जब वह खेतों पर काम करता है तो उसके प्रतिदिन काम का समय काफी लम्बा होता है। औद्योगिक श्रमिको की तरह इनके काम के घण्टे निश्चित किये गये हैं।

(5) **संगठन का अभाव**—कृषिक श्रमिक अनपढ और अजागरूक है। वे बिखरे कर हुए गाँवों मे असगठित रूप से रहते हे। वे अपने को सघो के रूप मे संगठित नही

---

1. The Causes and Nature of Current Agrarian Tensions, (Ministry of Home Affairs, Govt. of India, 1969, p. 37.)

पाये है । संगठन के अभाव के कारण वे भूमिपतियो से अपने अधिकारो की प्रभावशाली ढङ्ग से मांग नही कर पाते ।

(6) **ऋणग्रस्तता**—कृषि श्रमिक बुरी तरह ऋणग्रस्त है । भारतीय कृषि श्रमिक की प्रति व्यक्ति आय का अनुमान 140 रुपये लगाया गया है । सन् 1972-73 के अनुमान के अनुसार भारत के समस्त कृषि परिवारो को राष्ट्रीय आय का केवल 8 3 प्रतिशत ही प्राप्त हुआ । इतनी कम आय होने के कारण कृषको के लिये अपना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है, फलत उसे ऋण लेना पडता है । एक बार ऋणी होने के बाद कृषि श्रमिक को जीवन भर छुटकारा नही मिलता । कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार हमारे देश मे कृषि श्रमिको के लगभग 45 प्रतिशत परिवार ऋणग्रस्त है और प्रति परिवार और औसत ऋण का अनुमान 105 रुपया है ।

सन् 1971-72 मे लगभग 60 प्रतिशत कृषि मजदूर परिवारो पर ऋण का काफी भार रहा । ऐसे प्रत्येक परिवार पर औसतन 138 रुपये ऋण रहा ।

(7) **निम्न सामाजिक स्थिति**—अधिकाश कृषि श्रमिक युगो से उपेक्षित एव दलित जातियो के सदस्य है जिनका सदियो म शोषण किया गया है । इसके कारण इनका सामाजिक स्तर नीचा रहता है ।

(8) **आवास समस्या**—भूमिहीन कृषि श्रमिको के सामने आवास की समस्या भी है । उन्हे या तो भूमिपतियो की या ग्राम संस्थाओ के स्वामित्व की भूमि पर उनकी स्वीकृति लेकर मकान या झोपडियाँ बनाकर रहना पडता है । ये झोपडियाँ अत्यन्त छोटी होती है । कृषि श्रमिको की आवास-व्यवस्था की दयनीय अवस्था के सम्बन्ध मे **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** ने लिखा है, "इन झोपडियो मे श्रमिक केवल पैर फैला कर सो सकता है । एक ही झोपडी मे अनेक व्यक्तियो के सोने से मर्यादा भी समाप्त हो जाती है ।···शुद्ध वायु तथा रोशनी के लिये खिडकियो का पता नही होता ।" इस व्यवस्था का श्रमिको और उनके बच्चो के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है ।

(9) **बेगारी की समस्या**—अभी कुछ समय पहले तक भारत के लगभग सभी भागो मे कृषि श्रमिको से बेगारी (Forced Labour) मे कार्य लेने की प्रणाली प्रचलित थी । इसकी भीषणता गुलामी से कुछ कम अवश्य थी, किन्तु इस प्रथा मे कृषि श्रमिको को ऋणग्रस्तता के कारण मालिक के खेत या घर पर स्थायी रूप से काम करना पड़ता था जिसके लिये उन्हे नाममात्र की मजदूरी मिलती थी । अब कानून बनाकर इस प्रथा का अन्त कर दिया गया है ।

(10) **मजदूरी की निम्न दर**—कृषि श्रमिको की मजदूरी की दर भारत मे बहुत कम है । इसके कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :—

(अ) कृषि श्रमिकों का अशिक्षित व असंगठित होना, (ब) भारतीय कृषि का मौसमी स्वरूप, (स) श्रमिकों का आधिक्य, (द) सघन खेती और व्यापारिक फसलो की कमी । मजदूरी का स्तर नीचा रहने से श्रमिको की कार्यक्षमता कम रहती है और भावी संतति के विकास पर कुप्रभाव पडता है ।

(11) **गैर-कृषि व्यवसायो की कमी**—ग्रामो मे गैर कृषि व्यवसायो की कमी भी कृषि श्रमिको की कम मजदूरी और हीन आर्थिक दशा के लिए उत्तरदायी है। ग्रामो मे जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण भूमिहीन श्रमिकों की संख्या भी बढती जा रही है। परन्तु दूसरी ओर गैर-कृषि पर जनसंख्या का दबाव भी बढता जा रहा है। यदि बाढ, अकाल इत्यादि के कारण फसल नष्ट हो जाय तो कृषि श्रमिको का जीवन-निर्वाह करना भी कठिन हो जाता है।

(12) **कृषि-श्रमिको में स्त्री और बच्चो का आधिक्य**—भारतीय कृषि मे वैसे ही श्रमिको की संख्या अनावश्यक रूप से अधिक है तथा स्त्री और बच्चो के खेतो पर कार्य करने से कृषि श्रमिको की पूर्ति और प्रतियोगिता अधिक बनती है जिसका बुरा प्रभाव उनकी मजदूरी और बच्चो के शिक्षा-स्तर पर पड़ता है।

(13) **मशीनीकरण से बेरोजगारी समस्या**—नियोजन काल मे कृषि मे नवीन यन्त्रो और वैज्ञानिक उत्पादन पद्धति का उपयोग किया जा रहा है। इससे अशिक्षित कृषि श्रमिको के समक्ष बेरोजगारी की समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गयी है।

कृषि श्रमिकों की समस्याओ के समाधान के सुझाव
(Suggestions to Solve the Problems of Agricultural Labour)

कृषि श्रमिको की समस्याओ को हल करने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है :—

(1) **जनसंख्या नियंत्रण**—भारतवर्ष मे कृषि या अन्य क्षेत्रो मे रोजगार बढ़ाने के लिए बहुत से प्रयत्न किये गये है तथापि बेरोजगारो की सख्या कृषि व गैर-कृषि क्षेत्रो मे बढती जा रही है। इसलिये आवश्यक है कि बढती हुई जनसख्या को नियन्त्रित करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे परिवार नियोजन कार्यक्रम को तेजी से कार्यान्वित किया जाय।

(2) **कृषि क्षेत्र में रोजगार बढ़ाया जाय**—कृषि क्षेत्र मे ही रोजगार बढ़ाने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम किये जा सकते है—(अ) कृषि क्षेत्र मे सिंचाई की सुविधा बढाकर उन्नत बीज, खाद आदि आवश्यक वस्तुएँ किसानो को उपलब्ध कराकर सघन खेती को प्रोत्साहन देना चाहिये। (ब) अधिक से अधिक क्षेत्र मे प्रतिवर्ष एक से अधिक फसलें बोने के लिये सघन फसल कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाना चाहिए। (स) ग्रामो मे कृषि उद्योग जैसे मुर्गी पालन, मधुमक्खी पालन, सुअर पालन, गो-पालन आदि का व्यवसाय किया जाना चाहिये। (द) लोक निर्माण कार्यक्रम शुरू किया जाना चाहिये। सरकार गाँवो मे अपनी परियोजनाये इस तरीके से कार्यान्वित करे कि बेकार समय (off Season) मे खाली श्रमिको को रोजगार मिल सके। सड़कें बनाना, तालाबो तथा नहरो की खुदाई और उन्हें गहरा करना, वनारोपण आदि ऐसी ही परियोजनाएँ हैं।

(3) **गैर-कृषि-क्षेत्र में रोजगार बढ़ाना**—इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं : (अ) देश मे बडे-बड़े उद्योग स्थापित किये जाने चाहिए जिससे गैर-कृषि

क्षेत्र में रोजगार बढेगा और कृषि-श्रमिक भी उनकी और आकर्षित होगे। (ब) बहु उद्देशीय नदी-घाटी परियोजनाओ को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इनसे प्रत्यक्ष रूप से रोजगार मे वृद्धि होगी और साथ ही परोक्ष रूप से ग्रामीण विद्युतीकरण और सिंचाई की सुविधाएँ बढाने से भी सघन कृषि और ग्रामीण उद्योग प्रोत्साहित होगे जिनसे रोजगार अवसरो का विस्तार होगा। (स) कताई, बुनाई, मिट्टी का काम, बाँस और लकडी का काम आदि कुटीर उद्योग, यन्त्रो के पुर्जे बनाने व छोटे-छोटे यंत्रो का निर्माण करने हेतु लघु उद्योगो तथा धान, तिलहन, कपास, फल, दालें आदि पर प्रक्रिया करने के कृषि उद्योगो को प्रोत्साहन देना चाहिये।

(4) **शिक्षा का प्रसार**—कृषि श्रमिको की विभिन्न समस्याओ और कठिनाइयो के समाधान की दृष्टि से उनमें व्यापक रूप से शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिये जिससे वे भूमिपतियो के शोषण से बच सके, अपनी मजदूरी की सही गणना कर सकें और कृषि मे हो रही हरित् क्रान्ति के अनुरूप अपने को कार्य करने के योग्य बना सके।

(5) **कृषि कार्य मे कार्य के घंटों का नियमन**—इटली, जर्मनी आदि कई विकसित देशो मे कृषि कार्य के घण्टे नियमित किये गये है। अत· भारतवर्ष मे भी कृषि श्रमिको के कार्य के घण्टो का नियमन किया जाना चाहिये और निर्धारित समय से अधिक कार्य करने पर अतिरिक्त मजदूरी की व्यवस्था होनी चाहिये।

(6) **काम की परिस्थितियो मे सुधार**—काम की प्रतिकूल परिस्थिति के बुरे प्रभाव से बचने के लिये जाडे, गर्मी व वर्षा के मौसम मे आवश्यकतानुसार सरक्षक वस्त्र तथा अन्य सुविधाये श्रमिको को उपलब्ध होनी चाहिये। उनसे बेगार नही ली जानी चाहिए, अवकाश की व्यवस्था होनी चाहिए तथा दुर्घटना इत्यादि पर सहायता का प्रावधान होना चाहिये।

(7) **न्यूनतम मजदूरी का प्रभावशाली क्रियान्वयन**—यद्यपि सरकार द्वारा कृषि श्रमिको के सम्बन्ध मे भी न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था की गई है परन्तु केवल न्यूनतम मजदूरी अधिनियम बना देना पर्याप्त नही है, बल्कि उसे प्रभावपूर्ण ढग से लागू करने के उपाय भी किये जाने चाहिये।

(8) **भूमिहीन कृषि कृमिकों के लिए भूमि की व्यवस्था**—कृषि श्रमिको की दशा सुधारने के लिये भूमिहीन कृषि श्रमिको को भूमि देना आवश्यक है। वर्तमान समय मे भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारण तथा भूदान आन्दोलन द्वारा यह व्यवस्था की गई है, परन्तु जैसा चरण सिंह ने लिखा है, "अधिकतम सीमा निर्धारण के बाद जो अतिरिक्त भूमि प्राप्त हुई वह भूमिहीनो मे वितरित करने का प्रबन्ध योजना काल मे किया गया था, किन्तु इससे भूमिहीनो की समस्या के हल करने की सम्भावनाएँ सीमित है।"[1] कारण यह है कि अधिकाश भूमिहीन निम्न श्रेणी की होने से तथा

1. Charan Singh : India's Poverty and Solution, P. 178.

बैल, औजार और वित्त के अभाव मे भूमिहीन श्रमिक भूदान से प्राप्त भूमि से अधिक लाभ न उठा सकेंगे।

(9) **स्त्री श्रमिको की रक्षा**—औद्योगिक श्रमिको की भाँति कृषि श्रमिको को सम्पूर्ण सुविधाएँ मिलनी चाहिये, विशेष रूप से **'प्रसव अवकाश'** आदि का प्रबन्ध कम से कम सहकारी व अन्य निजी तथा बडे खेतो पर उपलब्ध होने चाहिए।

(10) **श्रम सहकारिताओं का निर्माण**—कृषि श्रमिको को श्रम सहकारिताओ का निर्माण करना चाहिये और सरकार को सार्वजनिक निर्माण तथा अन्य कार्यों मे इन श्रम सहकारिताओ को प्राथमिकता देनी चाहिये।

(11) **ग्रामीण रोजगार केन्द्रो की स्थापना**—ग्रामीण रोजगार केन्द्रो की स्थापना की जानी चाहिए, ताकि कृषि श्रमिको की गतिशीलता बढे और रोजगार के सम्बन्ध मे उन्हे जानकारी उपलब्ध हो सके।

(12) **कृषि श्रम कल्याण केन्द्र की स्थापना**—खण्ड अथवा ब्लाक-स्तर पर कृषि श्रम कल्याण केन्द्रो की स्थापना की जानी चाहिये जहाँ पर श्रमिको को मनोरंजन तथा अन्य सुविधाएँ उपलब्ध हो।

(13) **कृषि श्रम संगठन की स्थापना**—औद्योगिक श्रमिको की भाँति कृषि श्रम संगठनो की स्थापना की जानी चाहिये जिससे कृषि श्रमिक अपने अधिकारो को सुरक्षित रख सकें।

कृषि श्रमिको की उन्नति के लिए उठाए गये कदम

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्र तथा राज्य सरकारो ने कृषि श्रमिको की दशा सुधारने के लिए निम्न कार्य किये है :—

(1) **कृषि-दास-प्रथा**—भारतीय संविधान ने कृषि-दास-प्रथा को अपराध घोषित कर दिया है, जिससे कि कृषि श्रमिको की दशा सुधरे तथा पूर्णकालीन रोजगार मिल सके।

(2) **न्यूनतम मजदूरी अधिनियम एव कृषि श्रमिक**—सन् 1948 मे न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पारित किया गया, जिसके अधीन तमिलनाडु और महाराष्ट्र को छोडकर शेष सभी राज्यो और संघीय क्षेत्रो मे कृषि मजदूरो की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की गई है। केन्द्रीय सरकार द्वारा कृषि शोधन संस्थाओ तथा सैनिक फार्मों पर काम करने वाले श्रमिको की भी न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है। अधिनियम मे जीवन निर्वाह व्यय मे हुई वृद्धि को ध्यान मे रखते हुए 5 वर्ष की अवधि मे न्यूनतम मजदूरी की समीक्षा करने की भी व्यवस्था है।

(3) **श्रमिक सहकारिता का संगठन**—श्रम या सेवा सहकारी समितियो की स्थापना के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इन समितियों के सदस्य स्वयं श्रमिक ही होते हैं और सडको का निर्माण, नहरो और तालाबो की खुदाई, वन-रोपण आदि सहकारी परियोजनाओ के ठेके लेती है।

(4) **भूदान आन्दोलन**—भूदान, ग्रामदान व प्रखण्डदान आदि आन्दोलनों से

भी कृषि श्रमिको की दशा को सुधारने मे बडी सहायता मिल रही है । इन आदोलनो मे प्राप्त हुई भूमि के हस्तान्तरण व प्रबन्ध के लिए राज्यो ने आवश्यक कानून बना दिये है ।

(5) **कृषि मजदूर विकास सस्था**—अखिल भारतीय कृषि ऋण पुनरवलोकन समिति ने सिफारिश मे ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटे किसानो की विकास सस्था द्वारा उनकी मदद करने को कहा था । भारत सरकार ने उसे स्वीकृत ही नही किया बल्कि उससे एक कदम आगे भूमि-रहित मजदूर तथा बहुत छोटे किसानो के लिए भी विकास संस्था खोलने का निश्चय किया और इस निश्चय के आधार पर ऐसी सस्था को सगठित कर दिया गया जो भूमि-रहित तथा छोटे-छोटे काश्तकारो के लिए सहायता प्रदान करेगी । संस्था का मुख्य ध्येय उन्हे रोजगार तथा साधन प्रदान करना है । अगामी 4 वर्षों मे देश मे इस प्रकार की 40 परियोजनाएँ स्थापित करने का प्रस्ताव है ।

(6) **ग्रामीण वर्क्स कार्यक्रम**—कृषि श्रमिको को बेरोजगारी के दिनो मे उनके लिए रोजगार की व्यवस्था करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने ग्रामीण वर्क्स कार्यक्रम की योजना तैयार की है । इस कार्यक्रम मे लघु और मध्यम स्तरीय सिंचाई साधनो का विकास, भूमि सरक्षण, इत्यादि सम्मिलित है । यह अनुमान है कि प्रति एक करोड़ रुपये का व्यय सम्बन्धित कार्य विधि मे 25 हजार से 30 हजार व्यक्तियो को रोज-गार उपलब्ध करेगा ।

(7) **ग्राम आवास निर्माण योजना**—अक्टूबर 1957 मे यह योजना प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत भूमिहीन कृषि श्रमिको को नि.शुल्क या नाम मात्र कीमत पर मकान प्रदान करने के लिए राज्य सरकारो को अनुदान दिया जाता है ।

(8) **रोजगार गारन्टी योजना**—महाराष्ट्र सरकार ने रोजगार गारन्टी योजना शुरू की है । इस योजना के अनुसार सरकार को प्रार्थी को उसके निवास स्थान के 5 किलोमीटर के बीच रोजगार उपलब्ध कराना होगा । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को विभिन्न सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम सम्बन्धी योजनाएँ (अर्थात् सडक सिंचाई आदि) तैयार करनी होगी । इसमे मजदूरी की दर ऐसी नही होगी जिससे कृषि क्रियाओ मे सामान्य रोजगार प्राप्त श्रमिक आकर्षित हो सकें । यह सभी व्यक्तियो को रोजगार उपलब्ध कराने का अभिनन्दनीय कदम है । यह आशा की जाती है कि अन्य सभी राज्य भी ऐसी ही योजनाएँ चालू करेगे ।

(9) **बीस सूत्रीय कार्यक्रम**—प्रधान मन्त्री के 20 सूत्रीय कार्यक्रम मे भी भूमिहीन श्रमिको एवं समाज के अन्य निर्बल वर्गों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कई उपाय किये गये हैं इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(i) कृषि भूमि की अधिकतम सीमा के कानूनों को लागू करना तथा अति-रिक्त भूमि को भूमिहीनो मे तेजी से वितरण करने की कार्यवाही करना और अभिलेख को पूर्ण करना ।

(ii) भूमिहीनो व समाज के निर्बल वर्गों को मकानो की जगहे तेजी से वितरित करना।

(iii) बन्धुआ श्रम को गेर कानूनी घोषित करना।

(iv) ग्रामीण ऋणग्रस्तता को समाप्त करना। देहातो मे भूमिहीन मजदूरो, दस्तकारो और छोटे किसानो से ऋण वसूली पर रोक लगाने के लिए कानून बनाकर प्रतिबन्ध लगाना।

(v) समग्र ग्रामीण विकास एवं राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम को सुदृढ एवं अधिक विस्तृत करने की योजना।

(vi) कृषि मजदूरो को न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी कानूनो की समीक्षा और उनका असरदार तरीके से क्रियान्वयन।

(vii) बन्धुआ मजदूरो के पुनर्वास की व्यवस्था।

(viii) ग्रामीण क्षेत्रो के भूमिहीनो को आवासीय भूमि देने और मकान बनाने सम्बन्धी कार्यक्रम का विस्तार।

(ix) अनुसूचित जाति और अनुसूचित जन-जातियो के विकास से सम्बद्ध कार्यों मे तेजी।

विशेष क्षेत्र कार्यक्रम—प्रारम्भ मे ग्राम पुनर्निर्माण के लिए सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमो को प्रारम्भ किया जिसमे कृषि श्रमिको की आर्थिक दशा मे सुधार की भी व्यवस्था की गई थी। लेकिन इसके बाद यह निश्चय किया गया कि ये कार्यक्रम कुछ विशेष जिलो तथा क्षेत्रो मे ही लागू किये जाने चाहिए। इस योजना को ध्यान मे रखकर कई विशेष क्षेत्र कार्य क्रम आरम्भ किये गये इन कार्यक्रमो मे छोटे किसान, विकास एजेन्सियो सीमान्त कृषक एव कृषि श्रमिक विकास एजेन्सी कार्यक्रम आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(10) **सीमान्त कृषक और श्रमिक योजना**—सीमान्त कृषको तथा कृषि श्रमिको की सहायता के लिए सरकार द्वारा देश के 41 चुने हुए जिलो मे पायलट प्रोजेक्ट्स शुरू किये जायेंगे और प्रत्येक जिले मे 20 हजार सीमान्त कृषक और कृषि श्रमिको को वित्तीय सहायता दी जायेगी।

(11) **कुटीर व लघु उद्योगो का विकास**—कृषि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने के लिए सरकार ने हमेशा लघु और कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन दिया है। ग्रामीण क्षेत्रो मे ग्रामीण औद्योगिक बस्तियाँ भी स्थापित की गई है।

(12) **कृषि श्रमिकों की स्थायी समिति**—केन्द्रीय सरकार ने विद्यमान कृषि श्रमिकों सम्बन्धी कानूनो एवं व्यवस्थाओ की समीक्षा एवं विस्तृत अधिनियमो की रूपरेखा बनाने के लिए एक स्थायी समिति की नियुक्ति की है।

(13) **बन्धुआ मजदूर प्रथा का अन्त**—1976 मे बन्धुआ मजदूर उन्मूलन अधिनियम पारित कर बन्धुआ मजदूरी प्रणाली गैर कानूनी घोषित कर दी गई है—जिसके फलस्वरूप अब कोई भी व्यक्ति ऋणो के चुकाने के लिए मजदूर के रूप मे कार्य करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता है।

(14) **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की स्थापना**—ग्रामीण क्षेत्रो मे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित की गई है जो ग्रामीण क्षेत्रो मे वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करती है।

(15) **ऋण मुक्ति कानून**—वे भूमिहीन श्रमिक व शिल्पकार जिनकी आय 2,400 रुपए वार्षिक या इसमे कम है इन्हे पुराने ऋणो से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न राज्यो ने अध्यादेशो के माध्यम से कानून बनाये है जिनके अनुसार अब इस प्रकार के ऋणो की वसूलयाबी नही हो सकती है और यदि कोई डिग्री भी हो गई है तो भी उसकी वसूलयाबी नही हो सकती है।

पचवर्षीय योजनाओं में कृषि श्रमिक

प्रथम योजना मे कृषि-श्रमिक की स्थिति मे सुधार लाने के उद्देश्य से कई कार्य किये गये, जैसे—कम मजदूरी वाले क्षेत्र मे न्यूनतम मजदूरियाँ निश्चित करना, निवास स्थान के सम्बन्ध मे श्रमिको को दखली अधिकार देना, श्रमिक सहकारिताओ का संगठन करना तथा भूमिहीन श्रमिको हेतु पुनर्वास योजना बढाना, जिस पर लगभग 1 करोड रुपये व्यय किये गये। परन्तु इस योजनावधि मे कृषि श्रमिक की स्थिति मे कोई विशेष प्रगति नही हुई।

प्रथम योजना क ल मे भूमिहीन मजदूरो के पुनर्वास के लिए 2 करोड रुपये व्यय का एक कार्यक्रम तैयार किया गया था जिमे आगे कम कर केवल 1·5 करोड रुपये का ही रखा गया। किन्तु योजनाकाल मे इस मद मे एक करोड रुपये से भी कम रकम खर्च की गयी। प्रथम योजना मे तमिलनाडु व आन्ध्र प्रदेश मे भूमिहीन श्रमिको को बसाने के कार्यक्रम लागू किये गये। भोपाल मे केन्द्रीय सरकार ने 10,000 एकड के फार्म पर भूमिहीन श्रमिको को बसाया।

द्वितीय योजना मे श्रम सहयोग समितियो की स्थापना, कुटीर व लघु उद्योगो को प्रोत्साहन द्वारा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करना, भूमि के पुनर्वितरण व शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओ के विस्तार पर विशेष जोर दिया गया। योजना काल में 1 लाख एकड भूमि पर 10 000 भूमिहीन मजदूर परिवारो को बसाने के लिये लगभग 5 करोड रुपये व्यय किये गये। इसके अतिरिक्त, इसी योजनावधि मे पिछडे वर्गों के उद्धार के लिये लगभग 90 करोड व्यय किये गये।

इस योजनावधि मे पजाब, आन्ध्र प्रदेश, बम्बई व बिहार मे श्रम-सहकारी समितियाँ स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की गई। बिहार मे 10 हजार परिवारो को भूदान से प्राप्त भूमि पर बसाया गया। आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर व पंजाब में खेतिहर मजदूरों को मकान की जगह दिलाने मे सफलता मिली।

तृतीय योजना मे कृषि श्रमिको की स्थिति सुधारने पर पर्याप्त जोर दिया गया और इसलिए विशाल विनियोग की व्यवस्था की गई। विभिन्न विकास-कार्यक्रमो, जैसे कुटीर एवं लघु उद्योगो का विकास, गाँवो का विद्युतीकरण, ग्रामीण आवास, पीने के पानी की व्यवस्था, सिंचाई कृषि-उत्पादन मे वृद्धि, शिक्षा आदि से कृषि श्रमिको की स्थिति मे कुछ सुधार अवश्य हुआ है। योजनाकाल में कृषि श्रमिको को बसाने के

लिए 12 करोड रुपये व्यय करने थे और 50 लाख एकड भूमि पर 7 लाख कृषि-श्रमिक परिवारो को बसाने की व्यवस्था थी। पिछड़ी हुई जातियो के कल्याणार्थ 19 41 करोड रुपये व्यय किये गये।

तृतीय योजना मे जो लक्ष्य निर्धारित किए गए वे प्राप्त नही किये जा सके है। अनुमान है कि योजनाकाल के 15 वर्षो मे भूमिहीन मजदूरो को एक करोड एकड भूमि वितरित की जा चुकी है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—इस योजना मे कृषि-श्रमिको के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार किया गया जिसके अन्तर्गत (1) भूमि सुधार कार्यक्रम को प्रभावी ढंग से लागू करने पर जोर दिया गया, एव (11) कृषि-श्रमिको को अन्य रोजगारो मे लगाने पर ध्यान दिया गया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना—इस समस्या का स्थायी हल निकालने के लिए 18 सदस्यीय कृषि-श्रम तदर्थ समिति बनायी गयी। साथ ही इस योजना मे आवास व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया।

छठी योजना तथा कृषि श्रमिक—छठी योजना मे पिछडे वर्ग के उत्थान के लिए जो कार्यक्रम बनाए गये है उनमे कृषि श्रमिक को सम्मिलित किया है। योजना मे यह उल्लेख किया गया है कि देश की लगभग 20% जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रो मे रहने वाली अनुसूचित जातियो और जन जातियो की है, ये जनसंख्या के निर्धनतम वर्ग का निर्माण करती है। इनके पास साधनो का अभाव है और प्रमुख रूप से ये कृषि पर निर्भर रहते है इस योजना में इस वर्ग के आर्थिक विकास के लिए पुनर्वितरण के कार्यों को प्राथमिकता प्रदान की गई है इस योजना मे सामान्य विकास कार्यक्रमो के साथ ही कमजोर वर्ग के विकास को जोडा गया है।

इस योजना मे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम हेतु भी पर्याप्त मात्रा मे परिव्यय का प्रावधान है। क्षेत्रीय विकास हेतु ब्लाको और कार्यक्रमो का चयन इस प्रकार किया जायेगा ताकि कमजोर वर्ग के लोगों को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके इसके साथ ही निर्बल वर्गों को लाभ प्राप्त हो सकेगा।

न्यूनतम आवश्यकताओ के संशोधित कार्यक्रम (R M N P) मे प्राथमिक और प्रौढ शिक्षा के विकास के लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई है जिन क्षेत्रो मे पिछडी हुई जनसंख्या का प्रभाव अधिक है और शिक्षा की सुविधाएँ नही हैं वहाँ प्राथमिक शिक्षा के विकास को प्राथमिकता दी जायेगी। इस कार्यक्रम मे भूमिहीन श्रम आयास योजना के लिए 500 करोड रुपये का प्रावधान किया गया है इससे भी निर्बल वर्ग के लोगो की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध हो सकेगी इसके अतिरिक्त गन्दी बस्तियो के वातावरण में सुधार एवं अनुपूरक पोषण आदि के प्रावधान से भी निर्बल वर्ग के लोगो को लाभ प्राप्त होगा।

स्पष्टत छठी योजना मे निर्बल लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई है। केवल सामान्य विकास कार्यक्रमों व कल्याणकारी कार्यक्रमो से ही नही अपितु रोजगारोन्मुख कार्यक्रमो के विकास से भी निर्बल वर्ग के

लोगो को लाभ प्राप्त हो सकेगा । इसी तरह सहायक व्यवसायो मे व ग्रामीण उद्योगो के विकास से भी उन्हे पर्याप्त लाभ प्राप्त हो सकेगा ।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत मे कृषि श्रमिको की समस्याओ का उल्लेख कीजिए और इन समस्याओ को सुलझाने के उपाय बताइए ।

2. भारत मे कृषि श्रमिको की निम्न आर्थिक दशा के कारण बताइए तथा इसकी दशा सुधारने के सुझाव दीजिए ।

3 भारतीय कृषि मे कृषि श्रमिको की समस्या का परीक्षण कीजिए । यह समस्या कैसे हल हो सकती है ?

4 देश में कृषि श्रम समस्या की संक्षेप मे विवेचना कीजिए । क्या वह कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था मे आवश्यक ढांचे मे परिवर्तन के बिना हल की जा सकती है ?

21

कृषि-कीमत एवं उनका स्थिरीकरण

(Agricultural Prices and Their Stability)

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश मे कृषि-वस्तुओ की कीमतो का विशेष महत्त्व है। कारण यह है कि कृषि वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले परिवर्तन अन्य वस्तुओ की कीमतो को भी प्रभावित करते है और सामान्य कीमत स्तर मे होने वाले उच्चावचन आर्थिक विकास को प्रभावित करते है।

कृषि-कीमतों के कार्य या महत्त्व

कृषि कीमतें अनेक कार्य सम्पन्न करती है जिनमे से कुछ आर्थिक विकास की प्रक्रियाओ के लिए विशेष महत्त्व के हैं। कृषि-कीमतो के मुख्य कार्य ये है—

1 **कीमती आय वितरक के रूप मे**—कृषि-कीमतें अर्थव्यवस्था के आय वितरण को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए उत्पादक की आय उपज के उस भाग के अनुपात मे प्रभावित होती है जो वे बाजार मे विक्रय करते हैं तथा उपभोक्ताओ की वास्तविक आय उनकी आय के उस भाग के अनुपात मे प्रभावित होगी जो वे कृषि पदार्थों पर व्यय करते है। इस प्रकार जब कीमतो मे वृद्धि होती है तो इससे बड़े उत्पादको को जिनके पास विक्रय-योग्य काफी अतिरेक रहता है, लाभ होता है परन्तु छोटे किसानो को अधिक लाभ नही होता क्योकि विक्रय-योग्य अतिरेक की मात्रा उनके पास कम होती है। कृषि वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि से कम आय वाले नगरीय उपभोक्ता की वास्तविक आय मे काफी कमी आ जाती है क्योकि वे अपनी आय का अधिकाश भाग खाद्य पदार्थों के क्रय पर व्यय करते है। यह भी हो सकता है कि बढ़ती हुई कीमतो के फलस्वरूप उन्हे अपने घरेलू उपभोग मे कमी करनी पडे जो बिलकुल वाछनीय नही है।

2. **कीमत पूँजी निर्माण के उद्दीपक के रूप मे**—कृषि-कीमतें आर्थिक विकास के लिए अतिरिक्त संसाधनो के उत्पादन मे महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। वे इस भूमिका को पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित करके निभाती हैं। ऊँची कीमतो के फलस्वरूप उत्पादन की कीमतो मे वृद्धि हो जाती है और अधिक आय प्राप्त होती है। फलतः बचत और विनियोग-दरो मे वृद्धि होती है।

3 **कीमतें संसाधनो के आवण्टक के रूप में**—कृषि कीमते देश के आर्थिक साधनो के बँटवारे या आवण्टन को प्रभावित करती है। किसान उन वस्तुओ के उत्पादन को प्राथमिकता देता है जिसकी कीमत अधिक होती है अथवा जिनकी कीमत बढने की आशा होती है। इस सम्बन्ध मे एक प्रमुख तथ्य यह है कि कृषि वस्तुओ की कीमत मे वृद्धि का प्रभाव उन वस्तुओ के उत्पादन पर बहुत अधिक नही होता जो उपभोग के लिए आवश्यक होती है तथा जिनका सम्पूर्ण कृषि उत्पादन मे बहुत बडा भाग होता है जैसे गेहूँ व चावल आदि। कीमत वृद्धि का प्रभाव व्यापारिक फसलो के उत्पादन पर अपेक्षाकृत अधिक होता है।

कृषि वस्तुओं की कीमत में उतार-चढ़ाव के कारण
(Causes of Fluctuation in Agricultural Prices)

1 **कृषि उपज की पूर्ति में परिवर्तन**—कृषि अधिकाशतः प्रकृति पर निर्भर रहती है, फलत. प्रतिकूल और अनुकूल मौसम के कारण कृषि उपज मे प्रतिवर्ष परिवर्तन होते रहते हैं। बाढ, सूखा, व्यापक पौध रोग आदि के कारण कृषि पैदावार कम हो जाती है जिसका कृषि उपज की पूर्ति पर घातक प्रभाव पडता है, जिससे कृषि-कीमतो मे काफी वृद्धि होती है। कभी-कभी अनुकूल मौसम से कृषि उपज बढती है, जिससे मडी मे कृषि उपज की पूर्ति बढ़ जाती है। फलतः कृषि कीमतो मे कमी आ जाती है।

2 **कृषि उपज की माँग में परिवर्तन**—कृषि उपज की माँग मे वृद्धि होने पर भी कृषि वस्तुओ की कीमत मे वृद्धि होती है। कृषि वस्तुओ की माँग मे वृद्धि के साधारणतया दो कारण होते हैं—(i) जनसख्या मे वृद्धि (ii) लोगो की आय मे वृद्धि।

जनसंख्या में वृद्धि—जनसंख्या मे वृद्धि के कारण भी कृषि उपज की माँग मे वृद्धि होती है तथा कृषि उपज की माँग मे वृद्धि के कारण कृषि-कीमतो मे वृद्धि होती है।

लोगों की आय में वृद्धि—भारतवर्ष ने पञ्चवर्षीय योजनाओ मे बहुत अधिक व्यय किए जाने के कारण लोगो की आय मे वृद्धि हुई। आय मे वृद्धि होने के कारण भारत मे खाद्यान्नो की माँग और कीमत में भी वृद्धि हुई है।

3. **औद्योगिक विकास**—भारतवर्ष मे बहुत से ऐसे उद्योगो का विकास हुआ है, जिनको कच्चा माल कृषि से प्राप्त होता है जैसे चीनी, पटसन व कपड़ा उद्योग इत्यादि किन्तु इन उद्योगो के विकास ने देश के फसलो के ढाँचे को प्रभावित किया है। जैसे खाद्यान्नो के अन्तर्गत क्षेत्र कम होता गया है और व्यापारिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई है फलतः खाद्यान्नो की कीमतें बढ़ी है।

4. **सरकार की मौद्रिक एव राजकोषीय नीति**—सरकार की मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति का भी कृषि कीमतों पर प्रभाव पडता है—

(अ) **मौद्रिक नीति**—देश मे जब वास्तविक उत्पादन की वृद्धि की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि अधिक होती है तो कीमते बढ़ती हैं। भारत मे पञ्चवर्षीय योजनाओं मे भारी व्यय के कारण मुद्रा की पूर्ति वास्तविक उत्पादन से सदैव अधिक रही है फलतः कृषि कीमतो मे बढ़ने की प्रवृत्ति रही है।

रिजर्व बैंक की साख-नीति का प्रभाव कृषि-कीमतो की नीति पर पडता है। यदि साख-नीति उदार होती है अर्थात् नीचे ब्याज की दर पर ऋण मिल जाता है और ऋण लेने पर कोई प्रतिबन्ध नही होता तो व्यापारियो को सट्टेबाजी व जमाखोरी को प्रोत्साहन मिलता है। फलत. कीमते बढ़ती हैं। रिजर्व बैंक ने कृषि-कीमतो मे वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए चयनात्मक साख-नीति का उपयोग किया है।

(ब) राजकोषीय नीति—भारत ने अपनी पञ्चवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए भारी मात्रा मे हीनार्थ-प्रबन्धन का सहारा लिया है। इसके अन्तर्गत सरकार अपनी आय से अधिक व्यय करने के लिए कागजी मुद्रा का निर्गमन करती है जिसके कारण बाजार मे मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाती है। मुद्रा की पूर्ति अधिक होने पर कीमतो मे वृद्धि होने लगती है।

5. साख, विपणन, यातायात, संग्रह आदि की सुविधाओं में वृद्धि—किसानो को साख, विपणन, यातायात, संग्रह आदि की जो सुविधाएँ योजनाकाल मे प्रदान की जा रही है, उससे किसानो की अनुकूल मूल्य मिलने तक उपज अपने पास रोकने की क्षमता बढी है। फलत कृषि कीमतो मे अनावश्यक रूप से वृद्धि हुई है।

6 उचित कृषि-कीमत नीति का अभाव—भारत मे कृषि वस्तुओ की कीमत मे उच्चावचन का एक कारण यह भी रहा है कि या तो सरकार ने उचित कृषि-कीमत नीति नही अपनाई अथवा यदि अपनाई तो उसे कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त कदम नही उठाए। फलत' कृषि-कीमतो मे वृद्धि या भारी गिरावट होती रही।

7. अपूर्ण या सगठित बाजार—भारत मे सगठित बाजार नही है। यहाँ कृषि विपणन मे मध्यस्थो की लम्बी शृङ्खला है और विभिन्न प्रकार की कुप्रथाएँ प्रचलित है। फलत कृषि पदार्थों की कीमतो मे भारी अस्थिरता रहती है।

कृषि-कीमत में परिवर्तनों के दुष्परिणाम

कृषि-कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो के दुष्परिणामो का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत कर सकते है।

1 कृषि अर्थ-व्यवस्था के विकास में बाधक—कृषि-कीमतों में होने वाले परिवर्तनो का कृषि विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योकि किसानो को मिलने वाली कृषि उपज कीमतो मे बार-बार उच्चावचन आने से किसानो की आय मे अस्थिरता तथा अनिश्चितता बढ जाती है।

किसानो की आय मे अस्थिरता कृषि अर्थव्यवस्था को मुख्यतः निम्न दो प्रकार से प्रभावित करती है—

(अ) कृषि क्षेत्र में बचत व विनियोग का अभाव—कृषि-कीमतो की अस्थिरता के कारण किसानो की आय मे जो अनिश्चितता आ जाती है, उसके कारण किसान बचत करने व कृषि पूजी लगाने मे हिचकते है। स्पष्टतः कृषि-कीमतो मे समय-समय पर होने वाला परिवर्तन कृषि क्षेत्र मे विनियोग बढ़ाने के मार्ग मे बाधक है।

(ब) उत्पादन कम व ऋण के भार में वृद्धि—यदि कृषि-पदार्थों की कीमतें

बहुत कम हो जाती है तो किसानो की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। किसान-वर्ग पर दुख की छाया फैल जाती है। किसान की भू-राजस्व, सिचाई, मजदूरी इत्यादि पर एक निश्चित राशि व्यय करनी पडती है, किन्तु कृषि वस्तुओ की कीमतें गिर जाने के कारण उसकी आय बहुत कम हो जाती है। फलत: किसानो पर ऋण का भार बढ जाता है।

2 **उपभोक्ताओं को हानि**—भारत जैसे निर्धन देशो मे व्यक्तियो की आय का अधिकाश भोजन, कपडा आदि प्राथमिक आवश्यकताओ पर व्यय किया जाता है, जिनके कारण इन वस्तुओ की माँग बेलोचदार होती है। इसका अर्थ यह है कि इन वस्तुओ की कीमतें बढने पर व्यय की मात्रा बढ जाती है। अत: कृषि वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि के कारण व्यय की मात्रा बढने पर एक ओर उपभोक्ताओ को हानि होती है और दूसरी ओर उनका जीवन-स्तर गिर जाता है।

3. **आयात-निर्यात-नीति के क्रियान्वयन मे कठिनाई**—कृषि-कीमतो मे अस्थिरता के कारण सरकार को आयात-निर्यात नीति का उचित ढग से बनाना और क्रियान्वित करना कठिन हो जाता है। उसमे निरन्तर परिवर्तन करने पडते है, जिसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पडता है।

4. **जमाखोरी-मुनाफाखोरी व सट्टेबाजी में वृद्धि**—कृषि-कीमतो मे अस्थिरता के कारण उत्पादको की आय अनिश्चित हो जाती है, उपभोक्ताओ के उपभोग का स्तर अनिश्चित हो जाता है और व्यापारियो के व्यापार की स्थिति भी अनिश्चित हो जाती है। इनका सयुक्त प्रभाव यह होना है कि देश मे जमाखोरी, मुनाफाखोरी व सट्टेबाजी की क्रियाओ को प्रोत्साहन मिलता है जिसके कारण व्यापारी वर्ग को तो लाभ होता है परन्तु उत्पादक व उपभोक्ता वर्ग को हानि उठानी पडती है।

5. **देश के आर्थिक नियोजन कार्यक्रम में बाधा**—कृषि-कीमतो की अस्थिरता के कारण देश के आर्थिक नियोजन कार्य मे कई बाधाएँ आती है। उदाहरण—कृषि पदार्थो की कीमते बढने के कारण जीवन-निर्वाह का व्यय अधिक हो जाता है। फलतः मजदूरो की मजदूरी मे वृद्धि करनी होती है। मजदूरी मे वृद्धि होने के कारण उत्पादन लागत मे वृद्धि हो जाती है जिससे निर्मित वस्तुओ की कीमते और बढ़ जाती है और मजदूरो की मजदूरी मे पुन. वृद्धि करनी पडती है। इस प्रकार कीमत वृद्धि का दूषित-चक्र चलता रहता है जिसके कारण आर्थिक नियोजन के कार्यक्रमो को क्रियान्वित करना कठिन हो जाता है।

कृषि-कीमतों के स्थिरीकरण का आशय
(Meaning of Stability in Agricultural Prices)

कृषि एक मौसमी उद्योग होने के कारण तथा भारतीय कृषि की मानसून पर अत्यधिक निर्भरता के कारण कृषि उत्पादन मे और उसके फलस्वरूप कृषि-कीमतो मे उतार-चढ़ाव आना स्वाभाविक है। अत. कृषि वस्तुओ की कीमतों के स्थिरीकरण का यह आशय नही है कि इनकी कीमतो को किसी विशेष बिन्दु पर स्थिर रखा जाय

बल्कि इसका तात्पर्य कृषि-कीमतो के अन्यधिक उतार-चढाव को कम करके एक निर्धारित सीमा के अन्दर नियमित करने से है। अशोक मेहता कमेटी के अनुसार "एक विकासशील अर्थव्यवस्था की कठिनाइयाँ विभिन्न कीमत असमानताओ मे प्रतिबिम्बित होती है। इन असमानताओ को एक सीमा के भीतर ही रखना ही कीमत स्थिरीकरण है।"

कृषि कीमत-स्थिरता के उद्देश्य

कृषि कीमत मे स्थिरता के निम्नलिखित उद्देश्य है—

1 कृषि-कीमतो मे मौसमी उतार-चढावो को न्यूनतम करना।

2 कृषि से उत्पादित वस्तुएँ तथा कृषि आवश्यकताओ के बीच उचित कीमत सम्बन्ध स्थापित करना।

3. कृषि-कीमतो मे भारी व एकतरफा परिवर्तनो को रोकना।

4 ऐसे पदार्थों के उत्पादन को बढाना जिससे जन साधारण के उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो सके तथा उद्योगो को पर्याप्त मात्रा मे कच्चा माल उपलब्ध हो सके।

5 विभिन्न प्रतियोगी फसलो की माँग व उत्पादन मे समायोजन करने के लिए इन प्रतियोगी फसलो की कीमतो मे उचित सम्बन्ध बनाये रखना।

6 कृषको को अपनी उपज की लाभप्रद न्यूनतम कीमत प्राप्त हो सके तथा उपभोक्ताओ को उचित कीमत पर पर्याप्त मात्रा मे कृषि-वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें।

7. किसानो से बाजार मे विपणन योग्य बचत नियमित रूप से आती रहे इसलिए देश के विभिन्न क्षेत्रो की कृषि-कीमतो मे समन्वीय स्थापित करना।

8 मुद्रा स्फीति के दबाव पर नियन्त्रण रखना।

9. कृषि उत्पादित वस्तुओ का मुख्यनया व्यापारिक फसलो का निर्यात स्तर बनाए रखना तथा प्रोत्साहित करना। अस्थिर कृषि-कीमतो का कृषि वस्तुओ के निर्यात पर बुरा प्रभाव पडता है। अत· निर्यात प्रोत्साहन के लिए कृषि-कीमतो का स्थिरीकरण आवश्यक है।

भारत में कृषि-कीमतो की प्रवृत्तियाँ

प्रथम योजना के आरम्भ मे कृषि-कीमत काफी ऊँची थी, लेकिन योजना मे कृषि उत्पादन मे वृद्धि होने तथा सरकार द्वारा मुद्रा स्फीति विरोधी नीति अपनाने से योजना के अन्त मे कृषि कीमतो मे 20% की कमी हुई। **द्वितीय योजना** मे कृषि उत्पादन मे आशानुकूल वृद्धि न होने तथा मुद्रा प्रसारजन्य दबावो के कारण, कृषि-कीमतो मे लगभग 39% की वृद्धि हुई। **तृतीय योजना** मे भी कृषि उपज की कीमतो मे बढने की प्रवृत्ति थी।

1965-66 के बाद कृषि उपज की कीमतो एवं सामान्य कीमत स्तर मे अत्यधिक वृद्धि हुई, जिसके मुख्य कारण इस प्रकार थे—(i) भारत-पाक युद्ध (ii) 1965

के बाद दो वर्ष लगातार सूखा पडने के कारण मध्यप्रदेश, बिहार व राजस्थान मे फसलो का नष्ट हो जाना (iii) बजट मे भारी कराधान (iv) 1971 मे बगलादेश से भारी मात्रा मे शरणार्थियो का आगमन (v) 1971 मे भारत-पाक युद्ध (vi) 1971-72 के बाद लगातार प्राकृतिक आपदाओ के कारण फसलो का नष्ट होना तथा (vii) सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा मे मुद्रा-पत्रो का निर्गमन अर्थात् मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि, संग्रह करने की प्रवृत्ति मे वृद्धि, खाद्यान्नो के उत्पादन मे कमी एव हीनार्थ-प्रबन्धन इत्यादि।

जनवरी सन् 1977 से 1970-71 को आधार वर्ष मानकर थोक मूल्य सूचकाको की एक नई श्रृङ्खला प्रारम्भ की गई जिसके अनुसार कृषि मूल्यो की प्रवृत्ति को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

कृषि मूल्य की प्रवृत्ति
1970-71 = 100

वर्ष	खाद्यान्न	दाले	तिलहन
1971-72	103	111	90
1975-76	174	182	126
1976-77	153	146	151
1977-78	170	215	184
1979-80	215	315	236

उपर्युक्त सारिणी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अल्पकालीन उच्चावचनो को छोडकर कीमतो की सामान्य प्रवृत्ति बढने की रही है।

कृषि-कीमतों में स्थिरता लाने के लिए उपाय एवं विभिन्न समितियों के सुझाव

भारत सरकार ने समय-समय पर कीमत स्थायीकरण के सम्बन्ध मे अध्ययन करने और सुझाव देने हेतु विभिन्न समितियो की नियुक्ति की है। इन विभिन्न समितियो द्वारा कृषि-कीमत के सम्बन्ध मे दिये गये सुझाव निम्नलिखित है—

1 **कृष्णमाचारी कीमत उप समिति**—सन् 1944 मे श्री कृष्णमाचारी की अध्यक्षता मे कृषि-कीमतो के सम्बन्ध मे एक कीमत उपसमिति नियुक्त की गई थी। इस समिति के कृषि-कीमतो के स्थायीकरण के सम्बन्ध मे मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—(i) कृषको को कीमत सम्बन्धी गारण्टी सरकार प्रदान करे (ii) उपभोक्ताओ के हितों की रक्षा हेतु अधिकतम कीमत भी निर्धारित की जानी चाहिये (iii) न्यूनतम कीमत निर्धारित करते समय लागत को ध्यान मे रखा जाना चाहिए, (iv) कृषि पदार्थों का सरकार द्वारा क्रय-विक्रय करके कीमतो को निर्धारित सीमा मे ही रखा जाना चाहिए। (v) एक अखिल भारतीय कृषि कीमत परिषद बने जो कृषि कीमत नीति निर्धारित करे (vi) न्यूनतम व अधिकतम सीमाओ के मध्य एक उचित कीमत निर्धारित की जानी चाहिए। (vii) आधिक्यों के आधार पर अन्न के सुरक्षित भण्डार बनाये जाने

चाहिये (viii) कीमतो मे कमी एक फसल मे $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत से अधिक न हो।

2. **अशोक मेहता खाद्यान्न जाँच समिति**—1957 मे श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता मे खाद्यान्न जाँच समिति की नियुक्ति की गई, जिसने खाद्यान्न कीमत स्थायीकरण के लिए निम्न सुझाव दिये थे—(i) कीमत स्थायीकरण के कार्यक्रम की एक सामान्य रूपरेखा तैयार करने के लिए एक उच्च अधिकार प्राप्त सत्ता 'कीमत स्थिरीकरण बोर्ड' की स्थापना की जाये। (ii) खाद्यान्न स्थायीकरण सगठन की स्थापना की जाय जो कि खाद्यान्नो के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित नीति को कार्यान्वित करे (iii) एक कीमत अनुसधानशाला संगठित की जाये जो कि कीमतो से सम्बन्धित आँकडो का सग्रह करे। (iv) खाद्यान्नो के वितरण हेतु उचित कीमत की दुकाने खोली जायँ।

3. **फोर्ड फाउन्डेशन दल के विचार**—कृषि-कीमतो के स्थिरीकरण के सम्बन्ध मे फोर्ड फाउन्डेशन दल ने अपनी रिपोर्ट जो 1959 मे प्रस्तुत की जिसमे निम्न सुझाव दिये थे—(i) कीमत-नीति के निर्धारण करने हेतु एक स्थायी संगठन बनाया जाना चाहिये। (ii) प्रारम्भ मे अखिल भारतीय स्तर पर गेहूँ और चावल की और क्षेत्रीय आधार पर अन्य फसलो की न्यूनतम कीमत निर्धारित की जाय। (iii) कीमत निर्धारित करते समय घरेलू एवं विश्व की परिस्थितियो को ध्यान मे रखा जाय।

खाद्यान्न वसूली के सुझाव—प्रो० डी० आर० गाडगिल का मत था कि खाद्यान्नो की न्यायोचित वितरण नीति को सफल बनाने के लिए आतरिक कृषि उपज वसूली का होना अनिवार्य है। **प्रो० गाडगिल** का विचार था कि कृषको द्वारा विक्रय की जाने वाली कुल उपज का लगभग 30 प्रतिशत सरकार को वसूली के माध्यम से प्राप्त करना चाहिये। आयातो के साथ-साथ घरेलू उत्पादन आधिक्य के माध्यम से समीकरण भंडार बनाना चाहिये तथा इन भण्डारो का उपयोग कमी के समय आवश्यकता पडने पर करना चाहिए। सफल कीमत नीति के समय समीकरण भण्डार योजना बहुत आवश्यक है।

खाद्यान्न नीति समिति 1966—मार्च 1966 मे भारत सरकार ने **श्री बी० वेंकटैया** की अध्यक्षता मे खाद्यान्न नीति समिति नियुक्त की जिसके मुख्य उद्देश्य प्रचलित खाद्य क्षेत्र व्यवस्था व खाद्यान्न वसूली व वितरण व्यवस्था की जाँच करना तथा देश के विभिन्न राज्यो व वर्गों के बीच उचित कीमतो पर खाद्यान्न वितरण के उचित प्रबन्ध के लिए आवश्यक सुझाव देना था। इस समिति ने समन्वित खाद्य नीति का सुझाव दिया था, जिसके मुख्य तत्त्व निम्न प्रकार दिये गये है—

1. आवश्यक पूर्ति के लिए खाद्यान्नो की वसूली की जाय।
2. अन्तर राज्य खाद्यान्न शक्तियो पर नियंत्रण रखा जाय।
3. समीकरण भण्डार योजना को सफल बनाया जाय, जिससे कठिन समय मे खाद्यान्नो की पूर्ति की जा सके।
4. न्यायोचित बँटवारे की दृष्टि से सार्वजनिक वितरण की व्यवस्था को अपनाया जाय।
5. इस समिति ने 'राष्ट्रीय खाद्य-प्रबध' का नवीन विचार रखा। इस हेतु

एक राष्ट्रीय खाद्य बजट बनाया जाय जिससे कि उपलब्ध खाद्य सामग्रियो का न्यायोचित वितरण हो सके ।

कृषि-कीमतों में स्थिरता लाने के लिए सरकार द्वारा उठाये गये कदम

देश मे कृषि-कीमतो के स्थायीकरण के महत्त्व को अनुभव करते हुए सरकार ने समय-समय पर विभिन्न कदम उठाये है, जिनमे से कुछ प्रमुख निम्नलिखित है—

1 कृषि उत्पादन मे वृद्धि ।

2 अन्तर्देशीय वसूली ।

3. खाद्यान्नों का आयात ।

4. राशन व्यवस्था तथा उचित कीमत की दुकान ।

5 खाद्यान्न व्यापार-निगम की स्थापना ।

6 गेहूँ के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण ।

7 साख-नियंत्रण ।

उपर्युक्त बिन्दुओ पर पर्याप्त प्रकाश **'भारत मे खाद्य समस्या'** नामक अध्याय मे डाला जा चुका है ।

सरकार की कृषि-मूल्य नीति की समीक्षा

सरकार द्वारा जो कृषि-मूल्य नीति अपनाई गई है उसके पक्ष मे और विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है—

पक्ष में तर्क—1 उपभोक्ता को उचित मूल्य की दूकानो से उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ मिलते रहे है । यदि यह नीति न अपनाई जाती तो मूल्यो मे काफी उच्चावचन होते ।

2 इस नीति से कृषि उत्पादन मे वृद्धि हुई है ।

3. कृषि पदार्थों के मूल्य न तो अत्यधिक बढ़े है और न अत्यधिक घटे । उनमे एक सीमा तक स्थायित्व आया है ।

4. खाद्यान्नो के उत्पादन कम होने की स्थिति मे खाद्यान्नो का आयात कर देश को अकाल से बचाया है ।

5. उद्योगो को भी कृषि पदार्थ उचित मूल्य पर उपलब्ध कराये गये है, जिससे उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओ के मूल्यो मे भी स्थायित्व रहा है तथा औद्योगिक शाति रही है ।

6. कृषको को आवश्यक आदान उपलब्ध किये हैं । उन्नत-बीज दिये गये हैं । सिंचाई सुविधाओ में विस्तार किया गया है । भूमि सुधार करके कृषक को स्वामित्व दिलाया गया है आदि ।

विपक्ष में तर्क—सरकार की कृषि-मूल्य नीति के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है—

1. कृषि मूल्य कभी भी स्थिर नहीं रहे है इससे सभी के मन मे अनिश्चितता रहती है ।

2. खुले बाजार मे कृषि पदार्थ सदैव ही उपलब्ध रहे है चाहे उनकी कीमतो मे कितनी भी वृद्धि हो गई हो लेकिन सरकार मूल्य वृद्धि के समय पूरा-पूरा खाद्यान्न देने मे असफल रही है।

3. उपभोक्ता को सदैव ही कठिनाइयो का सामना करना पडता है। राशन की दूकानो पर पूरा राशन नही मिल पाता क्योकि वहाँ सदा ही राशन कार्डों की माँग से कम ही स्टाक रहता है।

4. कृषि उत्पादन मे जो वृद्धि हुई है वह सरकार के प्रयत्नो से नही बल्कि कृषको के प्रयत्नो व प्राकृतिक सहयोग से हुई है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष के रूप मे हम यह कह सकते है कि सरकार की कृषि-मूल्य नीति से कृषि पदार्थों की कीमतो मे स्थिरता तो आयी है लेकिन जिस स्तर तक हम चाहते थे वैसा नही हो पाया है। "कृषि पदार्थों की कीमतो की समस्या मुख्यतया उत्पादन एव वितरण की समस्या है, अत मूल्यो मे स्थायित्व रखने के लिए उत्पादन तथा पूर्ति का स्राव नियमित एवं निश्चित होना चाहिये ताकि असामाजिक तत्त्वो को अभाव का लाभ उठाने का अवसर मिल सके। वस्तुतः कृषि मूल्यो की वृद्धि की समस्या का समाधान अधिक उत्पादन तथा सरकार को निश्चित नीति तथा उसे दृढता-पूर्वक क्रियान्वित करने मे सन्निहित है।

छठवीं योजना में कृषि मूल्य सम्बन्धी नीति

छठवी योजना मे कृषि मूल्यो मे स्थानीयकरण की नीति अपनाई जायेगी। इस नीति में समर्थित मूल्य बफर स्टाक क्रियाएँ और आवश्यक होने पर आयात की व्यवस्था शामिल होगी। इस नीति मे केवल गेहूँ और चावल को ही नही, वरन् कपास और जूट को भी शामिल किया जायेगा। वित्तीय और प्रशासकीय क्षमता के आधार पर दालो और तिलहनो को भी शामिल किया जा सकता है। प्रतियोगी फसलो मे मूल्य के तुलनात्मक निर्धारण का प्रयास किया जायेगा ताकि विभिन्न फसलो में क्षेत्र-फल का वितरण नियोजित व्यवस्था के अनुसार बना रहे।

परीक्षा प्रश्न

1. 'कीमत स्थिरीकरण' से आप क्या समझते है? प्रमुख कृषि उपजों की कीमतों को स्थिर करने के लिए किये गये उपायो का विवरण दीजिए।

2. उन विभिन्न रीतियो का वर्णन कीजिये जिनके द्वारा कृषि उपज के मूल्य स्थिर रखे जा सकते है? क्या आपके विचार मे मूल्यो का ऐसा स्थिरीकरण भारतीय किसान के हित मे होगा? कैसे?

22

भारत में प्रमुख बृहत् उद्योग

(Majoı Industrıes of Indıa)

लोहा तथा इस्पात उद्योग

(Iron and Steel Industry)

लोहा एवं इस्पात उद्योग भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण और आधारभूत उद्योगो मे से एक है। देश की औद्योगिक प्रगति के लिए इस उद्योग का विकास अनिवार्य है। देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी इस उद्योग का बहुत महत्त्व है क्योकि प्रत्येक प्रकार की लड़ाई के अस्त्र-शस्त्रो मे लोहे का प्रयोग होता है। इसलिए यदि वर्तमान युग को 'लोहा व इस्पात युग' कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

संक्षिप्त इतिहास—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हमारा देश लोहे व इस्पात के उद्योगो के लिए प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। दिल्ली का लौह स्तम्भ ससार के वैज्ञानिको एवं इजीनियरो के लिए सदैव आश्चर्य की वस्तु रहा है। **प्रो० विल्सन** के शब्दो मे "लोहे की ढलाई तो इंगलैण्ड मे थोडे ही वर्षों से आरम्भ की गई है, परन्तु हिन्दू लोग लोहा गलाने, ढालने और इस्पात बनाने की कला का ज्ञान प्राचीन काल से रखते हैं।" **वाडिया व मर्चेंट** के अनुसार "भारतवर्ष मे चौथी व पाँचवी शताब्दी में भी टिकाऊ व सुन्दर लोहे की वस्तुओ का उत्पादन होता था तथा ये वस्तुएँ विदेशों को पर्याप्त मात्रा में निर्यात की जाती थी।" इस प्रकार, भारत प्राचीन काल से ही लोहा बनाने की पद्धति से परिचित था, परन्तु आधुनिक ढङ्ग से लोहा बनाने का प्रथम प्रयास सन् 1830 मे किया गया, जो कि असफल रहा। सन् 1847 मे बगाल मे **बराकर आयरन वर्क्स** की स्थापना की गई परन्तु यहाँ केवल लोहा ही बनाया जा सकता था, इस्पात नही। इसके पश्चात् निम्न कारखानो की स्थापना की गई—1857 मे, आसनसोल मे बगाल आयरन कम्पनी, 1875 में बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, 1908 मे जमशेदपुर में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, 1918 में हीरापुर मे इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी 1923 मे भद्रावती मे मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स।

ये कारखाने निजी क्षेत्रों में स्थापित किए गए थे। केवल भद्रावती का कारखाना मैसूर सरकार द्वारा आरम्भ किया गया था।

प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात्

प्रथम महायुद्ध ने इस उद्योग को, जो अपने बाल्यकाल मे ही था, अधिक उन्नति करने का अवसर प्रदान किया। युद्ध के कारण लोहे एवं इस्पात का आयात घट गया। दूसरी ओर, देश मे युद्ध की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए माँग मे वृद्धि हो रही थी। साथ ही साथ अन्य देशो मे भी लोहे तथा इस्पात की माँग बढ रही थी। सन् 1915 मे कच्चे लोहे का उत्पादन 1 62 लाख टन था, जो सन् 1916-17 मे बढकर 2.32 लाख टन हो गया। युद्ध-काल मे टाटा कम्पनी ने उन्नति की। टाटा कम्पनी ने अपने विस्तार कार्यक्रम को सन् 1921-22 तक पूरा किया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध ने इसकी नीव को पूर्णरूप से सुदृढ बना दिया।

युद्ध के उपरान्त अन्य उद्योगो की तरह लोहा एवं इस्पात उद्योगो को भी कठिन परिस्थितियो का सामना करना पडा। क्योकि युद्ध समाप्त होने के बाद लोहे एवं इस्पात की सैनिक माँग समाप्त हो गई और साथ ही साथ इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का भी सामना करना पडा। अत' उद्योग की रक्षा के लिए संरक्षण की माँग की जाने लगी और सन् 1934 मे इस उद्योग को 3 वर्ष के लिए सरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण के अधीन उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनो में ही वृद्धि हुई। सन् 1927 मे संरक्षण की अवधि 7 वर्षों के लिए बढा दी गई। परन्तु यह सरक्षण 31 मार्च सन् 1947 तक चलता रहा। इस प्रकार, 23 वर्ष तक इस उद्योग को बराबर सरक्षण मिलता रहा।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्

द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग की उन्नति एवं विकास मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। माँग मे आशातीत वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप कीमतो मे भी वृद्धि हुई। अत बाध्य होकर सरकार को सन् 1944 मे इसके उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण लगाना पडा। इससे उत्पादन की मात्रा के साथ ही माँग की किस्म मे भी सुधार हुआ।

किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद अनेक कारणो से जैसे, माँग में कमी, मुद्रा स्फीति, देश का विभाजन, मशीनो की पुनर्स्थापना की समस्या, कच्चे माल की कठिनाई, श्रम समस्या आदि के कारण इस उद्योग को गम्भीर संकट का सामना करना पडा। उद्योग का उत्पादन घटने लगा। यह स्थिति सन् 1948 तक चलती रही। स्वतन्त्रता से पूर्व इस उद्योग मे निम्न बडे कारखाने थे। जिनका उत्पादन कुल मिलाकर लगभग 10 लाख टन था—(क) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, जमशेदपुर, (TISCO); (ख) स्टील कार्पोरेशन आफ बंगाल (SCOR)—जिसे सन् 1953 से बर्नपुर की इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (HSCO) में मिला दिया गया है; (ग) भद्रावती, मैसूर मे मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स।

योजनाकाल में इस्पात उद्योग

1 **प्रथम योजना**—इस योजना मे सिर्फ निजी क्षेत्र के इस्पात कारखानो के विस्तार पर जोर दिया गया। (TISCO), (IISCO) तथा (MISW) (अब मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी) के विस्तार एव आधुनिकीकरण के लिए योजनाएँ बनाई गयी। टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विकास कार्यक्रम पर 34.14 करोड रुपये और मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विस्तार कार्यक्रम पर 13.86 करोड रुपये खर्च किए गए।

2 **द्वितीय योजना**—वस्तुतः इस उद्योग के विकास के लिए ठोस कार्यक्रम द्वितीय योजना मे ही लागू किया गया। प्रथम योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे तीन कारखानो की स्थापना के समझौते किए गए थे। उनका निर्माण द्वितीय योजना की अवधि मे ही किया गया—(i) राउरकेला स्टील प्लान्ट (उडीसा) जर्मनी के दो फर्म—Krupf तथा Demag की सहायता से (ii) भिलाई स्टील प्लान्ट (मध्यप्रदेश) रूस सरकार की सहायता से (iii) दुर्गापुर स्टील प्लान्ट (पश्चिम बगाल) ब्रिटेन की सहायता से सार्वजनिक क्षेत्र के तीनो कारखानो का प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड (HSC) के अधीन रखा गया।

द्वितीय योजना के अन्त मे सन् 1960-61 मे कच्चा लोहा 1 140 लाख टन स्टील 3.870 लाख टन तथा निर्मित स्टील 2.980 लाख टन उत्पादित किया गया।

3 **तृतीय योजना**—इस योजना काल मे निम्नलिखित प्रगति हुई—(i) इस्पात का उत्पादन 34 लाख टन से बढकर 62 लाख टन हो गया। (ii) भिलाई कारखाने की उत्पादन क्षमता 10 लाख मीट्रिक टन से बढ़ाकर 27 7 मीटरिक टन कर दी गई। (iii) राउरकेला मे सन् 1965 मे 10 7 लाख मीट्रिक टन लोहा और 10 8 लाख टन इस्पात की सिल्लियाँ उत्पन्न की गयी। (iv) बोकारो कारखाना इस योजना काल मे पूर्ण न हो सका।

4. **चतुर्थ योजना**—(i) चतुर्थ योजना मे इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य 81 लाख टन रखा गया है। बोकारो स्टील प्लान्ट (रूस सरकार की सहायता से) की स्थापना का कार्यक्रम बनाया गया लेकिन 1973-74 मे तैयार इस्पात का उत्पादन 44·7 लाख ही हो सका। (ii) इस योजना की एक उल्लेखनीय बात यह थी की बोकारो मे 1·7 मिलियन टन की प्रथम चरण की योजना का निर्माण कार्य काफी पूरा हो गया था। (iii) इसी योजना काल मे सलेम (तमिलनाडु), विजयनगर (कर्नाटक) एव विशाखापटनम् (आन्ध्र प्रदेश मे) तीन नए इस्पात कारखानों की स्थापना के लिए योजना तैयार की गई ताकि पाँचवी योजना की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें (iv) 1972 मे इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को केन्द्र ने अपने हाथ मे ले लिया।

5. **पाँचवीं व छठवीं योजना**—इस योजना में लोहा एव इस्पात उद्योग के सार्वजनिक कारखानों के विकास के लिए 1622 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान था। योजना के अन्त तक 28 लाख मीटरिक टन इस्पात के उत्पादन का अनुमान था।

इस्पात का उत्पादन 1976-77 (70 लाख टन) मे लगातार घटता जा रहा

है। 1977-78 में यह 69 लाख टन हुआ तो 1978-79 मे घटकर 60 लाख टन रह गया। छठी योजना मे बिक्री योग्य इस्पात व बिक्री योग्य कच्चा लोहा के उत्पादन का अनुमान नीचे सारणी मे दर्शाया गया है।

(लाख टनो में)

वर्ष	बिक्री योग्य इस्पात	बिक्री योग्य कच्चा लोहा
1979-80	60 39	9·76
छठी योजना		
1980-81	73·20	14·00
1984-85	97 10	14·00
सातवीं योजना (अनुमानित)		
1985-86	105	20 05
1989-90	155·80	19·70

वर्तमान स्थिति

(1) **कारखानों की संख्या**—इस उद्योग मे लगभग 720 फैक्ट्रियाँ कार्य कर रही है, जिनमे 3056 करोड रुपये से अधिक पूंजी लगी है। इस उद्योग मे लगभग 3 लाख व्यक्ति कार्यरत हैं।

(ii) **वर्तमान करखाने**—लोहा-इस्पात के कारखानो को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है · (अ) सरकारी क्षेत्र के कारखाने (ब) निजी क्षेत्र के कारखाने। इस समय देश मे 6 इस्पात कारखाने है जिनमे से 5 सरकारी क्षेत्र और 1 निजी क्षेत्र में है।

वर्तमान में देश में लोहा एवं इस्पात उत्पन्न करने वाली प्रमुख इकाइयो का सक्षिप्त विवरण निम्न है—

इकाई का नाम	स्थापना	उत्पादन क्षमता इस्पात पिण्ड (लाख टन)	विक्रय योग्य इस्पात (लाख टन)
निजी क्षेत्र—			
टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	1907	20.00	15.00
सार्वजनिक क्षेत्र			
(i) भिलाई	1959	25 00	19.65
(ii) राउरकेला	1960	18 00	12.25
(iii) दुर्गापुर	1959	16.00	12.39
(iv) बोकारो	1965	25.00	20.00
(v) इडियन आयरन एण्ड स्टील कं०	1919	10 00	8 00

(iii) **नये प्रस्तावित कारखाने**—नये प्रस्तावित कारखाने निम्नलिखित 3 है।

(अ) **सेलम इस्पात कारखाना**—मार्च 1977 मे सरकार ने सेलम कारखाने मे 2.2 लाख टन चादरे और पट्टियो की चीजें बनाने की स्वीकृति दी है।

(ब) **विशाखापतनम इस्पात कारखाना**—जून 1979 मे सरकार ने लगभग 34 लाख टन क्षमता वाले सम्पूर्ण इस्पात कारखाने को विशाखापतनम में स्थापित करने की मंजूरी दी है।

(स) **विजयनगर इस्पात परियोजना**—विजयनगर कारखाने की विस्तृत रिपोर्ट जो सलाहकारो द्वारा अद्यतन की गई है, परीक्षणाधीन है। यह भी निर्णय लिया गया है कि परादीप मे समुद्र के किनारे एक इस्पात कारखाना लगाया जायेगा।

(iv) **उत्पादन**—1980 मे इस्पात पिण्ड का उत्पादन 8028 हजार टन और विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन 6039 हजार टन था।

(v) **खपत**—भारत मे प्रति व्यक्ति एक किलो ग्राम इस्पात कार्य मे आता है, जबकि विकसित देशो मे प्रति व्यक्ति खपत 800 कि० ग्रा० है।

(vi) **आयात-निर्यात**—विगत वर्षों मे भारत को बडे पैमाने पर इस्पात का आयात करना पड़ा तथा देश में लोहा-इस्पात की कमी के कारण इसके निर्यात मे कमी हुई है।

(vii) **लघु इस्पात सयंत्र**—इस समय देश में 147 लाइसेन्सशुदा लघु इस्पात संयत्र हैं जिनकी कुल वार्षिक क्षमता 33 2 लाख टन की है। 1978-79 में उनका उत्पादन लगभग 17 लाख टन था।

(viii) **भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि० (सेल)**—लोहा-इस्पात उद्योग को कच्चा माल एवं अन्य सामग्री प्रदान करने वाले सम्बन्धित क्षेत्रो के बीच समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से सरकार ने 'एक स्टील होल्डिंग कम्पनी' के रूप में जनवरी सन् 1973 को भारतीय इस्पात प्राधिकरण लिमिटेड की स्थापना की गई। अक्टूबर 1977 मे सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के इस्पात कारखानो और सेल के ढांचे और कार्यकलापों का पुनरीक्षण किया और यह महसूस किया गया कि इस्पात मंत्रालय और उद्योग के बीच एक संग्रहकर्ता (होल्डिंग) कम्पनी की कोई आवश्यकता नही। तदनुसार 1 मई 1978 से लागू होने वाले सार्वजनिक क्षेत्र की लोहा और इस्पात कम्पनी (पुनर्गठन) और सामान्य प्रावधान अधिनियम 1978 के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में स्थिति इस्पात उद्योग का पुनर्गठन किया गया। इस प्रकार सेल अपने सार्वजनिक क्षेत्र में स्थिति पांच इस्पात स्कन्धो जिनमें भारतीय लोहा और इस्पात कम्पनी (इस्को) भी शामिल है, के साथ एक संगठित इस्पात कम्पनी के रूप मे उभरी। इसका उद्देश्य बेहतर प्रबन्ध और इनके परिचालन मे अधिक कुशलता सुनिश्चित करना है।

लोहा एवं इस्पात उद्योग की समस्याएँ एवं इनका समाधान

1. **कच्चे कोयले की कमी**—भारत मे लोहे को गलाने के लिए कच्चे कोयले का बहुत अभाव है। इस्पात उद्योग की प्रगति के साथ कोयले की मांग, पूर्ति की अपेक्षा

अधिक बढ रही है। अच्छे कोयले की कमी के कारण घटिया किस्म के कोयले को काम मे लाना पडता है, जिसमे राख का अंश अधिक होता है। इससे उत्पादन कम होता है तथा लागत मे वृद्धि होती है।

उपाय—इस समस्या को हल करने लिए कोयले धोने वाले कारखानो को स्थापित किया जा रहा है। बिजली की भट्ठियाँ तैयार करके ईंधन की समस्या का आंशिक समाधान सम्भव है। सरकारी क्षेत्र मे इस्पात कारखानो को धुला कोयला उपलब्ध कराने के लिए हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के दुर्गापुर, दुगड़ा, पाथरडीह तथा भोजूडीह मे अपना कोयला धुलाई घर है।

2. **परिवहन रुकावटें**—अच्छी परिवहन सुविधाओ के अभाव के कारण कच्चे मालो की पूर्ति मे अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं।

उपाय—उद्योग मे प्रयुक्त खनिज लोहा, कोयला, चूना, मैंगनीज आदि को ढोने के लिए रेलवे या जल यातायात की व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि ये सभी भारी कच्चे माल है। कोयले तथा खनिज लोहे की लगातार कुशल पूर्ति के लिए अधिक रेलवे वैगनो की व्यवस्था की जाये। बार-बार रेलवे परिवहन मे आने वाली रुकावटो को दूर कराने की आवश्यकता है। पिछले 2 वर्षों मे कोयले की ढुलाई व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार हुआ है।

3. **तकनीकी व प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव**—इस उद्योग के लिए उच्च कोटि की तकनीक व प्रशिक्षित कर्मचारी देश मे नही मिल पाते फलस्वरूप बहुत अधिक वेतन देकर विदेशो से इन्हे बुलाना पडता है।

उपाय—ज्यो-ज्यो देश में प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढती जाएँगी, यह समस्या इतनी गम्भीर नही रहेगी। हमारी योजनाओं के अन्तर्गत इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं।

4. **सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानो में अप्रयुक्त क्षमता का अधिक होना**—देश मे एक तरफ इस्पात की कमी है तथा दूसरी तरफ सार्वजनिक क्षेत्र के बडे कारखानो मे अप्रयुक्त क्षमता बनी हुई है।

उपाय—अप्रयुक्त क्षमता के प्रयोग के उपाय किये गये हैं, परन्तु अभी भी 35 40 प्रतिशत क्षमता अप्रयुक्त है। सम्भवतया आवश्यक कार्यवाही करने पर 1978-79 तक प्रयुक्त क्षमता 90 प्रतिशत तक पहुँच जायेगी।

5. **ऊँची लागत समस्या**—भारत मे इस्पात निर्माण की लागत दुनिया के अन्य देशो की तुलना मे अधिक है जबकि खनिज पदार्थों की उपलब्धि को देखते हुए यह बहुत कम होनी चाहिए। खनिज लोहे मे एल्यूमिनियम तत्त्व का अधिक होने, कोकिंग कोयले का अभाव, श्रमिकों की उत्पादकता कम होने आदि के कारण लागत अधिक है। मुद्रा-स्फीति, उत्पादन कर, भाडा व कस्टम आदि मे वृद्धि के कारण भी लागत बढ़ी है अतः इन तत्त्वो पर सख्त नियंत्रण की आवश्यकता है।

6 **श्रम अशांति**—भारत मे लोहे एवं इस्पात उद्योग मे श्रम अशान्ति की एक

विकट समस्या है। श्रम अशान्ति सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानो मे और विशेषत: दुर्गापुर सयन्त्र मे अधिक है।

उपाय—श्रम सघो से इस समस्या के समाधान के लिए दीर्घकालीन समझौते किये जायँ तथा मजदूरी को उत्पादकता से सम्बन्धित कर दिया जाना चाहिए। श्रम संघो को समय की पुकार को समझकर उत्पादन बढ़ाने एवं शाति बनाये रखने मे अपना योगदान देना चाहिये।

7. अन्य समस्याएँ—इस्पात के उचित वितरण, मूल्य नियंत्रण, मशीनों का अभाव, पूंजी की कमी आदि अनेक समस्याएँ भी इस उद्योग के विकास मे बाधक हैं। सरकार को इन सब समस्याओ का समाधान करने के लिये आवश्यक सहायता प्रदान करनी चाहिये। विदेशो से आयात किये गये इस्पात का मूल्य कम बैठता है परन्तु इसका विक्रय मूल्य आन्तरिक उत्पादन मूल्य के अनुसार बढाकर निर्धारित किया जाता है और इस प्रकार उपलब्ध आधिक्य इस्पात विकास कोष मे डालकर इस्पात उद्योग के विकास से सम्बन्धित कार्यों पर व्यय किया जाता है।

भविष्य—इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। इस्पात उद्योग के विकास के लिए सभी प्रकार का कच्चा माल देश मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। नये इस्पात कारखानो के लिए तकनीकी कुशलता भी देश के अन्दर विकसित हो चुकी है। इस्पात कारखानो के लिए आवश्यक यन्त्रो और उपकरणो का निर्माण भी देश मे होने लगा है और योजनाबद्ध रीति से इस्पात उत्पादन को बढाने के लिए कार्यक्रम चल रहा है।

2 सूती वस्त्र उद्योग
(Cotton Textile Industry)

सूती वस्त्र उद्योग भारत का सबसे प्राचीन और प्रमुख राष्ट्रीय उद्योग है। इसको औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था मे जीवन डालने वाला उद्योग भी कहा जाता है। **बुकानन** के शब्दो में—"सूती वस्त्र उद्योग भारत के प्राचीन युग का गौरव और वर्तमान मे कष्टो का कारण किन्तु मदा की आशा है।"

संक्षिप्त इतिहास—सूती वस्त्र उद्योग लगभग एक शताब्दी पुराना है। भारत में सूती कपडे की प्रथम मिल सन् 1818 मे कलकत्ते के पास हुसरी नामक स्थान पर बनी थी, परन्तु प्रथम सफल मिल सन् 1845 मे बम्बई मे स्थापित की गयी थी। धीरे-धीरे इस उद्यम का विकास बम्बई तथा अहमदाबाद मे होने लगा। सन् 1861 तक बम्बई मे 9 तथा अहमदाबाद और बडौदा में 1-1 मिल खुल चुकी थी।

अमेरिका के गृहयुद्ध के कारण कुछ काल के लिए इसकी प्रगति रुकी रही, किन्तु सन् 1870 के बाद इस उद्योग ने पुनः प्रगति करना आरम्भ किया। 19वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे भारत मे कई बडे अकाल पडे, जिनका सूती वस्त्र उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। परन्तु 20 वी शताब्दी के प्रारम्भ में स्वदेशी आन्दोलन विद्युत शक्ति का आविष्कार, बढी हुई माँग आदि के कारण इस उद्योग को काफी

प्रोत्साहन मिला। सन् 1905 से सन् 1910 की अवधि मे धागा व्यापार और बुनकर मिलो के वस्त्र को ऊँचे लाभ के लिए सम्मिलित करना था। सन् 1914 मे मिलो की सख्या 274 थी और ससार के सूती वस्त्र उद्योग मे भारत का चतुर्थ स्थान था।

20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे इस उद्योग की दो विशेषताएँ थी—(1) तकुवे की तुलना मे मिलो की संख्या मे अत्यधिक वृद्धि। (2) उत्तम धागो का उत्पादन।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—प्रथम महायुद्ध के समय आयात मे कटौती हो जाने, विदेशी बाजार के विस्तार तथा युद्ध सम्बन्धी माँग की वृद्धि के कारण इस उद्योग के विकास को अच्छा अवसर मिला। परन्तु युद्ध के उपरान्त स्थिति बिगडने लगी, विशेषकर जापान की प्रतिस्पर्धा तेज होने के कारण भारतीय धागे के निर्यात मे भारी कमी आई।

संरक्षण—सूनी वस्त्र उद्योग की स्थिति इतनी खराब थी कि श्रमिकों की मजदूरी घटानी पडी, जिसके परिणामस्वरूप श्रमिको ने सामान्य हडताल की और सन् 1926 मे उद्योग ने सरक्षण के लिए प्रार्थना की। सन् 1927 मे उद्योग की संरक्षण की माँग स्वीकृत हुई; जिमके अनुसार विदेशी कपडे के आयात पर कर लगाया गया। सरक्षण के अन्तर्गत इस उद्योग की प्रगति बडी तेजी से हुई। मिलो, करघो, तकुओ आदि की सख्या मे वृद्धि हुई और आयात कम होता गया।

द्वितीय महायुद्ध—द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग को साँस लेने का अवसर दिया और इसकी दशा को सुधारने मे अत्यधिक सहायता की। इस युद्ध काल मे जापान से कपडे का आयात बन्द कर दिया गया और मित्र देशो की सेनाओ के लिए कपडे के विशाल आर्डर प्राप्त हुए। इस प्रकार, कपडो की माँग मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। सन् 1944 मे 485 करोड गज कपडे का उत्पादन हुआ जो, अब तक हुए उत्पादन मे सबसे अधिक था। किन्तु फिर भी देश मे कपडे की अत्यधिक कमी के कारण मूल्यो मे वृद्धि हुई, जिसकी रोक-थाम के लिए सन् 1943 में भारत सरकार ने सूती वस्त्र और धागा नियन्त्रण आदेश पारित किया।

मूल्य, उत्पादन तथा वितरण पर लगाए गए नियंत्रण कई वर्षों तक चलते रहे। सन् 1947 मे देश-विभाजन से सूती कपड़े-उद्योग को बहुत अधिक धक्का लगा, क्योकि मिलें तो भारतीय क्षेत्र मे स्थित थी, जबकि लम्बी कपास उत्पन्न करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार मे चला गया। अविभाजित भारत कपास का निर्यात करता था, परन्तु अब कपास का आयात करना पड़ा। सन् 1947 में सूती कपड़ा उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। सन् 1949 मे भारत ने रुपये का अवमूल्यन किया, परन्तु पाकिस्तान ने सन् 1955 तक अपने रुपये का अवमूल्यन नही किया और साथ ही व्यापारिक समझौतो के अन्तर्गत किए गये वादो का भी पालन नही किया। सन् 1950 का वर्ष भी हड़ताल तथा कपास की कमी के कारण अच्छा नही रहा। इस प्रकार, विभिन्न कारणो से सन् 1944 के उपरान्त कपड़े का उत्पादन कम रहा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—सन् 1951 से लेकर सूती कपडा उद्योग ने बहुत उन्नति की है। इस योजना को चलाते समय यह ध्यान रखा गया कि सूती वस्त्र उद्योग द्वारा देश की अतिरिक्त माँग की पूर्ति हो सके तथा पर्याप्त मात्रा मे निर्यात भी किया जा सके। इस योजना काल मे अच्छी फसलो और बढते हुए सरकारी व्यय के कारण कपडे की आतरिक माँग मे बहुत वृद्धि हुई, जिससे सूती कपडा उद्योग के उत्पादन मे, योजना के लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई। सन् 1951 मे कपडे का उत्पादन 373 करोड मीटर था जो बढ़कर 1955 मे 468 करोड मीटर हो गया। यह अब तक का सर्वाधिक उत्पादन है। इस योजना के आरम्भ मे प्रति व्यक्ति कपडे की खपत 10·98 मीटर थी, परन्तु योजना के अन्त मे प्रति व्यक्ति औसत खपत बढ कर 14·34 मीटर हो गई।

द्वितीय पचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना मे यह लक्ष्य निर्धारित किया गया था कि देश मे प्रति व्यक्ति वस्त्र की वार्षिक खपत 14·3 मीटर से बढकर 17 2 मीटर हो जानी चाहिए। प्रति वर्ष सौ करोड़ रुपये के निर्यात का लक्ष्य भी रखा गया। परन्तु माँग की कमी के कारण कई मिले तो बन्द हो गई और कुछ केवल नाम मात्र की ही चल रही थी। मिलो मे कपडे का भण्डार जमा हो गया था। सन् 1960 मे हमारे कपड़े का उत्पादन केवल 461 करोड मीटर ही था। यद्यपि इस योजना अवधि मे कपडो का उत्पादन माँग से अधिक था, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि कपडे के मूल्यो मे कमी नही हुई।

तृतीय पचवर्षीय योजना—इसमे सूती वस्त्र का उत्पादन 1965-66 ई० मे 550 करोड मीटर करने का आयोजन था। अनुमान लगाया गया था कि 1965-66 ई० मे आतरिक उपभोग के लिए 805 करोड मीटर तथा निर्यात के लिए 80 करोड मीटर कपडे की आवश्यकता पडेगी, यानी 1965-66 ई० मे कुल 885 करोड मीटर तथा विकेन्द्रित क्षेत्र का 335 करोड मीटर निश्चित किथा गया। किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूरा नही हो सका तथा 1965-66 ई० मे सूती वस्त्र का उत्पादन 440 करोड मीटर तथा सूत का उत्पादन 90·8 करोड किलोग्राम ही हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—इस योजना मे मिल क्षेत्र के उत्पादन को मार्च 1974 तक 510 करोड मीटर तक बढाने का आयोजन किया गया था। परन्तु इस योजना मे सूती वस्त्र की प्रगति बहुत ही असंतोषजनक रही है और लक्ष्य पूरे नही हो सके हैं।

पंचम पंचवर्षीय योजना[2]—पाँचवी योजना मे सूती वस्त्र के कुल उत्पादन को 950 करोड मीटर करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, लेकिन योजना के अन्तिम वर्ष 1977-78 मे सूती वस्त्र का उत्पादन केवल 844 करोड़ मीटर था।

षष्टम योजना—इस योजना मे सूती वस्त्र उत्पादन का लक्ष्य 864 करोड मीटर रखा गया है जिसमे से विकेन्द्रित तेज का अंश 534 करोड़ मीटर है।

योजनावधि के दौरान सूती वस्त्र उद्योग मे उत्पादन प्रगति को आगे तालिका द्वारा दर्शाया गया है :—

योजनावधि में सूती वस्त्र के उत्पादन में प्रगति

(करोड मीटर)

वर्ष	मिलो का उत्पादन	हेण्डलूम और पावरलूम का उत्पादन	कपड़े का कुल उत्पादन
1951	372·7	101 3	474 0
1960-61	464 9	208·9	673·8
1970-71	405 5	354 1	759·6
1977-78	412·9	430 6	843·5
1979-80	406·8	430·2	837·0

वर्तमान स्थिति

(1) **मिलों की संख्या**—वर्तमान समय मे कपडा की 704 मिले है।

(2) **रोजगार और पूंजी**—इस उद्योग मे 10 लाख से अधिक व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। लगभग 330 करोड रुपए के विनियोग वाला यह उद्योग देश का सबसे बडा उद्योग है।

(3) **उत्पादन**—1980 मे हमारे देश मे कपडे का उत्पादन 837 करोड मीटर का है। इसमें 406 8 मीटर कपडा मिलो मे और 430·2 करोड मीटर कपडा बिजली चालित करघो पर तैयार हुआ।

(4) **कपड़े की खपत**—भारत मे कपड़े की खपत अत्यन्त कम है। 1980 मे प्रति व्यक्ति कपडे की खपत 14·6 मीटर थी।

(5) **निर्यात**—भारत अपने कुल उत्पादन का लगभग 8% ही निर्यात कर पा रहा है। गत वर्षों मे भारतवर्ष के निर्यात की मात्रा मे निरन्तर गिरावट आयी है। सूत के निर्यात मे कुछ वृद्धि हुई है।

(6) **वितरण**—भारत मे सूती कपड़ा के व्यवसाय मे महाराष्ट्र का स्थान सर्वप्रथम है। इसके पश्चात् गुजरात, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, व राजस्थान का स्थान है। विभिन्न राज्यो मे वस्त्र उद्योग के प्रमुख क्षेत्रो को निम्नलिखित सारिणी द्वारा दर्शाया गया है :—

राज्य	प्रमुख क्षेत्र
महाराष्ट्र	बम्बई, पूना, शोलापुर, नागपुर, वर्धा
गुजरात	अहमदाबाद, सूरत, बड़ौदा, राजकोट, भावनगर, पोरबन्दर
पश्चिमी बंगाल	कलकत्ता, हावड़ा, चौबीस परगना
उत्तर प्रदेश	कानपुर, वाराणसी, सहारनपुर, मोदीनगर, हाथरस
पंजाब	अमृतसर, लुधियाना
राजस्थान	जयपुर, अजमेर, ब्यावर, कोटा, किसनगढ़

तमिलनाडु	मद्रास, कोयम्बटूर, त्रिचनापल्ली, सलेम, पाण्डिचेरी
मध्यप्रदेश	जबलपुर, इन्दौर, ग्वालियर, भोपाल, रायपुर
आंध्रप्रदेश	हैदराबाद, सिकन्दराबाद, औरंगाबाद, गंटूर
हरियाणा	भिवानी, हिसार
दिल्ली	दिल्ली
बिहार	गया
केरल	क्विलोन
कर्नाटक	मैसूर और बंगलौर
असम	सिल्चर

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग की मुख्य समस्याएँ

इस समय हमारे सूती वस्त्र उद्योग के सम्मुख निम्नलिखित समस्याएँ है, जिनके समाधान से ही इस उद्योग की आशातीत उन्नति की जा सकती है ।

(1) **पुरानी मशीनो के प्रतिस्थापन की समस्या**—द्वितीय महायुद्ध काल मे सूती वस्त्र मिलो मे दो-दो अथवा तीन-तीन पालियो तक काम हुआ जिससे अधिकाश मशीने प्रायः जीर्ण-शीर्ण हो गईं । अत मिलो की सबमे बडी समस्या मशीनो के पुरानेपन की है । राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् के एक हाल के सर्वेक्षण का निष्कर्ष है कि सूती कपड़ा मिलो के 'रुग्ण' हो जाने का सबसे बडा कारण मालिको और प्रबन्धको द्वारा मशीनो तथा अन्य उपकरणो की दीर्घकाल से चली आ रही गम्भीर उपेक्षा है । परिषद् के अध्ययन के अनुसार आज सूती कपड़ा उद्योग में जो मशीने है । उनमे से 60 प्रतिशत से अधिक 30 वर्षों से अधिक पुरानी है । 20 प्रतिशत मशीने कमजोर इकाइयो के पास है । इसका अर्थ यह है कि केवल 20% मशीने बेहतर हालत मे है । इस स्थिति का नतीजा सामने है । अनेक मिलें संकट मे है । कपडे का उत्पादन 1963 की तुलना मे 1975 में 40 करोड मीटर कम रहा और मजदूरो की सख्या 1963 से 8 लाख से घटकर 7 80 लाख रह गई है । अनेक कम्पनियो के सारे सचित कोष ही नहीं उनकी पूंजी तक खत्म हो गयी है । उत्पादकता परिषद् का अनुमान है कि पुरानी और लगभग बेकार हो गयी मशीनों के कारण उद्योग का सालाना 38 करोड़ 40 लाख किलो सूत के उत्पादन की हानि हो रही है । अतः सरकार द्वारा मिलों की पुरानी मशीनें बदलने के लिये उचित ब्याज पर ऋण देना चाहिए । राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, सूती वस्त्र उद्योग को इस कार्य मे सहायता दे रहा है । सरकार द्वारा स्थापित सूती वस्त्र निगम से भी अत्यधिक सहायता की आशा की जाती है ।

(2) **वैज्ञानिकीकरण और आधुनिकीकरण**—हमारी वर्तमान मशीनें न केवल पुरानी ही हैं, बल्कि पुराने ढंग की भी हैं । विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए पुरानी मशीनों का आधुनिकीकरण अत्यन्त आवश्यक है । राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा नियुक्त अध्ययन दल का मत था कि मिलो के पूर्ण आधुनिकीकरण

के लिए 800 करोड रुपये की आवश्यकता होगी। भारतीय सूती मिलो के सघ का मत है कि सन् 1965-71 की अवधि मे ही 400 करोड रुपये की आवश्यकता होगी। परन्तु इस सम्बन्ध मे तीन कठिनाइयाँ है. पहली तो यह कि मिलो के पास आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त कोष नही है। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की ओर से नई मशीने लगाने के लिए पूँजी की व्यवस्था की जा रही है। दूसरी बड़ी कठिनाई सूती वस्त्र उद्योग सम्बन्धी मशीनो की उपलब्धि है। निर्यात सहायता योजना के अधीन आधुनिकीकरण के लिए सूती कपडा उद्योग मशीनरी के आयात के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। तीसरी बडी कठिनाई यह है कि वैज्ञानिकीकरण तथा आधुनिकीकरण कार्यक्रम का विरोध स्वय सगठित श्रम द्वारा किया जा रहा है, क्योकि इससे बेरोजगारी बढ़ जाने की सम्भावना है। जोशी समिति की सिफारिश पर मिलो को इस शर्त पर स्वचालित करघे लगाने की स्वीकृति दी गई है कि इन नए करघों का समस्त उत्पादन निर्यात किया जाएगा।

(3) **विदेशी प्रतियोगिता तथा निर्यात**—विदेशी बाजार मे स्पर्धा बढ़ रही है। गत कुछ वर्षों से जापान, हागकाग, पाकिस्तान और ब्रिटेन से प्रतियोगिता का सामना करना पड रहा है। भारतीय कपडा हागकाग, ताइवान, पाकिस्तान, कोरिया आदि की तुलना मे 40% मँहगा होने से विदेशो मे उसकी माँग घटती जा रही है। कपडा उत्पादन मे 60% व्यय कपास पर ही होता है। मैक्सिको, मिस्र, अर्जेंटाइना तथा ब्राजील इत्यादि देशो मे सूती कपड़े उद्योग की स्थापना एव विस्तार किया जा रहा है। पाकिस्तान मे भी इस उद्योग के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इगलैड के योरोपीय साझा बाजार मे शामिल हो जाने के कारण भारत से कपड़े के निर्यात मे और भी कमी हो जाने की सम्भावना है, क्योकि भारत द्वारा निर्यात किए गए सूती वस्त्रो का लगभग एक तिहाई भाग इगलैड को ही जाता है। निर्यात जिस तेजी से घट रहे है उससे उद्योग व सरकार दोनो ही चिंतित हैं। निर्यात मे कमी का मुख्य कारण है उत्पादन की लागत मे निरतर वृद्धि, रुई की कीमत व ईंधन आदि की लागत मे लगातार वृद्धि।

(4) **कच्चे माल का अभाव**—कपास के सम्बन्ध में आज भी हमारा देश स्वावलम्बी नही हो पाया हैं। देश-विभाजन के कारण भारत में कपास का अभाव हो गया है, जिससे भारतीय सूती वस्त्र उद्योग को कपास के अभाव का सामना करना पड़ रहा है। सन् 1965 के अन्त तथा सन् 1966 के प्रारम्भ मे कपास के पर्याप्त स्टाक न होने के कारण बम्बई और गुजरात की मिलें कुछ काल के लिए बन्द करनी पडी अथवा उनमें काम कम कर दिया गया। इस समय हम लगभग 20 करोड रुपये से लेकर 80 करोड़ रुपये का कपास बाहर से आयात करते है।

रुई की खेती का सबसे असंतोषजनक पहलू यह है कि जहाँ भारत के पास रुई की खेती के लिए सबसे अधिक क्षेत्रफल (अर्थात् विश्वक्षेत्र का 26 प्रतिशत) 1967 मे उपलब्ध था, वही रुई का उत्पादन कुल विश्व-उत्पादन का केवल 10 प्रतिशत था।

(5) **हाथ करघा एवं मिल उद्योग के समन्वय की समस्या**—भारत में कुल

सूती वस्त्र के उत्पादन का प्राय. 45% भाग विकेन्द्रित क्षेत्र, विशेषत. हाथ करघा व बिजली से चलने वाला करघा उद्योग द्वारा उत्पन्न किया जाता है। हाथ करघा उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार द्वारा मिल उद्योग के कपड़े के मूल्य, उत्पादन तथा किस्म पर कई प्रकार से प्रतिबन्ध लगाये गये, जिससे प्राप्त आय का उपयोग हाथ करघा उद्योग के विकास के लिए किया जाता है। हाथ करघा उद्योग को प्रोत्साहन देना उचित है। परन्तु मिल मालिको का कहना है कि मिलो के उत्पादन की सीमा निर्धारित करके व कर लगाकर हाथ करघा उद्योग का विकास करना उचित नही है। मिल उद्योगो के हितो की भी रक्षा की जानी चाहिए। अत. सूती कपड़ा उद्योग के विभिन्न क्षेत्रो मे समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है।

(6) **अकुशल तथा अलाभप्रद मिलो की समस्या**—भारत मे सूती वस्त्र उद्योग मे 125 मिलें ऐसी है जिनका आकार छोटा है तथा जिनकी उत्पादन लागत अधिक है और उत्पादित कपड़े का गुण न्यून है। आर्थिक दृष्टि से ये अलाभप्रद इकाइयाँ मानी जाती हैं। अतः ऐसी अनार्थिक इकाइयो को या तो समाप्त कर देना चाहिए या उनका सुधार या विस्तार कर उन्हे लाभप्रद तथा आर्थिक इकाइयाँ बनाना चाहिए।

अनार्थिक और बीमार मिलो की समस्या के समाधान के लिए सरकार ने 1968 मे 'राष्ट्रीय सूती वस्त्र निगम' की स्थापना की है। कुछ राज्य सरकारो ने भी राज्य वस्त्रोद्योग निगमो की स्थापना की है। इन निगमो की स्थापना से बीमार मिलो की समस्या का काफी सीमा तक समाधान हो रहा है।

(7) **अन्य समस्याएं व कठिनाइयाँ**—(अ) सरकार सूती कपड़े पर उत्पादन शुल्क मे निरन्तर वृद्धि करती जा रही है जिससे इसके मूल्य मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। 1963 और अगस्त 1974 के बीच उत्पादन-लागत मे 50 प्रतिशत वृद्धि हुई है, परन्तु इसके विरुद्ध कपड़े की कीमत मे लगभग 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परिणामतः लाभ की मात्रा और भी कम हो गयी (ब) भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग के श्रमिको की उत्पादकता अत्यन्त न्यून है। उदाहरण के लिए अमेरिका मे एक हजार तकुओ की देखभाल के लिए दो श्रमिको की आवश्यकता होती है, जबकि भारत मे इसी कार्य के लिए 10 श्रमिक रखे जाते है। (स) भारतीय सूती वस्त्र के सामने एक समस्या प्राविधिक जानकारी की कमी है। इसके लिए नयी प्राविधिक उद्योग प्रशिक्षण संस्थायें स्थापित की जानी चाहिए। (द) सूती कपड़ा उद्योग को पर्याप्त तथा निरन्तर बिजली व शक्ति न मिलने के कारण भी बहुत-सी कठिनाइयाँ होती है। (य) सूती वस्त्र उद्योग को कृत्रिम रेशा वस्त्रोद्योग जैसे टैरीकाट, टैरीलीन इत्यादि से काफी प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही है, क्योकि कृत्रिम रेशो का उपयोग और उत्पादन बढ़ रहा है (र) श्रमिक संकट मँहगाई के कारण दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। (ल) इस उद्योग को ऋण देने की नीति बहुत कठोर बना दी गई है। ऋणो की मार्जिन और ब्याज की दरें काफी बढ़ गई हैं। फलतः उद्योगो के सामने वित्तीय कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई है। (व) वर्तमान समय में राष्ट्रीयकृत मिलो के पास अर्थात् राष्ट्रीय वस्त्र निगम के पास बिना बिके कपड़े का अम्बार लगा हुआ है।

समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

सूती वस्त्र उद्योग की समस्याओ के समाधान के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते है—

1. **आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन**—प्रत्येक सुदृढ मिल के लिए कानूनी रूप से यह आवश्यक कर दिया जाना चाहिए कि वह अगले दस वर्षों मे अपनी आधुनिकीकरण करने की योजना बनाए और सरकार से स्वीकार करा कर इस सन्दर्भ मे उचित कदम उठाए। इसके लिए केन्द्र व राज्यो मे आवश्यक सरकारी मशीनरी की व्यवस्था सरकार द्वारा की जानी चाहिए।

2. **बीमार मिलों का निदान**—बीमार मिलो को सुदृढ मिलो मे मिलाने की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि वे भी सुदृढ मिलो के साथ मिलकर अपना कार्य कर सके। इनकी व्यवस्था सरकार को भी अपने हाथो मे ले लेना चाहिए ताकि इनकी उत्पादन क्षमता मे वृद्धि की जा सके और उत्पादन को लाभदायक बना सके।

3. **लागत में कमी**—ऊँची लागत को कम करने और उद्योग की लाभदायकता को बढाने के लिए उद्योग को आधुनिकीकरण के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ जैसे मशीनरी आयात, विदेशी मुद्रा, वित्तीय प्रबन्ध आदि उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

4. **कपास उत्पादन हेतु प्रोत्साहन**— कपास की पूर्ति मे वृद्धि करने के लिए किसानो को अधिक कपास उत्पादन की प्रेरणा दी जानी चाहिए इसके लिए समर्पित मूल्यो (Support Prices) मे वृद्धि की जानी चाहिए। देश मे कपास की सामान्यतया कमी रहती है अतः उसको समय से पूर्व आयात करके, भण्डारण के रूप मे रखने की व्यवस्था 'भारतीय कपास निगम' के द्वारा प्रभावी ढग से की जानी चाहिए जिससे कि मिलो को कपास निरन्तर अपनी आवश्यकतानुसार मिलती रहे।

5. **शक्ति की पर्याप्त मात्रा में व्यवस्था**—उद्योगो के लिए शक्ति की पर्याप्त मात्रा मे व्यवस्था की जानी चाहिए। ईंधन और विद्युत समयान्तर्गत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जाना चाहिए। विद्युत कटौती की प्रथा समाप्त की जानी चाहिए।

6. **उत्पादन करों से छूट**—सूती वस्त्रो पर उत्पादन करो का बोझ अधिक है अतः उन्हें उत्पादन करो से भी छूट प्रदान की जानी चाहिए जिससे कि सूती कपडा सस्ता हो सके और माँग मे वृद्धि होने से उद्योग भी अपनी उत्पादकता व लाभदायकता मे वृद्धि कर सके।

7. **विनियोग एवं विकास छूट प्रदान करना**—जो मिल आधुनिकीकरण करने मे जितना धन लगाये उस पर उसके आयकर अधिनियम के अन्तर्गत ऊँची दर से विनियोग या विकास छूट दी जानी चाहिए।

8. **निर्यात वृद्धि हेतु प्रोत्साहन**—निर्यात मे वृद्धि के लिए प्रोत्साहन कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। विदेशों मे सर्वेक्षण कराया जाना चाहिए ताकि सूचियो एवं माँग के अनुरूप उत्पादन को समायोजित किया जा सके।

भविष्य—भारत मे सूती वस्त्र उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में वस्त्र की बढती हुई माँग के अतिरिक्त देश की बढ़ती हुई जनसंख्या, सस्ती

जल-शक्ति की उपलब्धि, लम्बे रेशे के कपास की खेती मे वृद्धि, विदेशी निर्यात को बढावा आदि के कारण सूती वस्त्र उद्योगो का विस्तार एवं विकास स्वाभाविक है।

3 चीनी उद्योग
(Sugar Industry)

संक्षिप्त इतिहास—देश के संगठित उद्योगो मे चीनी उद्योगो का स्थान तीसरा है। चीनी उद्योग भारत का अत्यन्त प्राचीन उद्योग है। परन्तु आधुनिक ढङ्ग से चीनी का उत्पादन वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से ही शुरू हुआ। प्रथम चीनी मिल तो सन् 1903 मे स्थापित हुई, परन्तु भारतीय चीनी उद्योग के विकास का इतिहास वस्तुत· 1921 से ही आरम्भ होता है, जबकि इस उद्योग को सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण मिलने के पश्चात् चीनी मिलो तथा उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। सन् 1931-32 ई० मे भारत मे चीनी के केवल 32 कारखाने थे, जिनका उत्पादन केवल 1 6 लाख टन था। देश की आन्तरिक माँग की पूर्ति के लिए लगभग 6 लाख टन चीनी आयात की जाती थी। परन्तु सन् 1939-40 मे कारखानो की संख्या बढकर 145 और उत्पादन 12.4 लाख टन हो गया। इससे स्पष्ट है कि चीनी उद्योग को सरक्षण से पर्याप्त लाभ हुआ। सरक्षण के कारण चीनी उद्योग के विकास को देखते हुए कहा जाता है कि भारतीय चीनी उद्योग सरक्षण का शिशु है। सन् 1950 मे यह संरक्षण समाप्त कर दिया गया है। सक्षेप मे, चीनी उद्योग सन् 1932 से 1950 तक 18 वर्षों तक सरक्षण के अधीन रहा और इस काल मे उद्योग ने बहुत उन्नति की।

द्वितीय महायुद्ध तथा इसके पश्चात्—सन् 1939 से द्वितीय महायुद्ध आरंभ हुआ। तब से लेकर प्रथम योजना के प्रारम्भ होने तक माँग और पूर्ति को ध्यान में रखकर चीनी के वितरण के सम्बन्ध मे सरकार ने कभी नियन्त्रण कभी विनियन्त्रण और कभी पुन. नियन्त्रण की नीति अपनाई।

सन् 1941-42 से लेकर 1950 51 तक चीनी उद्योग की स्थिति निम्न प्रकार रही—

चीनी उद्योग प्रगति

वर्ष		चीनी का उत्पादन	(लाख टनो मे) उपभोग
1941-42	नियन्त्रण	7.63	7.72
1942-43	,,	10.69	8.37
1943-44	,,	12.20	8.47
1944-45	,,	9.36	7.87
1945-46	,,	9.57	8.60
1946-47	,,	9.16	7.08
1947-48	विनियन्त्रण	10.92	10.62
1948-49	,,	10.27	12·01
1949-50	नियन्त्रण	9.91	12.03
1950-51	आंशिक नियन्त्रण	11.18	12.14

युद्धकाल की स्थिति को सम्हालने के लिये सरकार ने चीनी नियन्त्रण आदेश के अन्तर्गत 15 अप्रैल सन् 1942 को उद्योग पर नियंत्रण लगा दिया, जिसके अधीन गन्ने और चीनी की कीमत के अलावा वितरण को भी नियन्त्रित कर दिया गया। उपभोक्ताओ के लिए सफेद चीनी का राशन कर दिया गया। चीनी के मूल्यो पर नियन्त्रण तथा इसका राशन सन् 1947 तक चलता रहा। सन् 1947 मे, जबकि देश स्वतन्त्र हुआ, महात्मा गाँधी के प्रयत्न से चीनी के मूल्य तथा वितरण पर से नियंत्रण हटा लिया गया, परन्तु इससे मूल्य बहुत बढ गये और अन्य कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। अतः सन् 1949 मे चीनी पर पुन नियंत्रण लगाया गया तथा चीनी मूल्य निर्धारण व वितरण का दायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। चीनी का उत्पादन सन् 1943-44 मे 12 लाख टन से कम होकर सन् 1946-47 मे केवल 9 लाख टन रह गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में प्रगति

प्रथम योजना में चीनी उद्योग—प्रथम योजना की अवधि में चीनी उद्योग मे, बहुत अधिक प्रगति हुई। प्रथम योजना प्रारम्भ करते समय (1950-51) चीनी का उत्पादन 11 लाख टन था, जबकि चीनी के कारखानो की उत्पादन-क्षमता 15.4 लाख टन थी। प्रथम योजना के अन्त मे चीनी का उत्पादन बढ़ कर 18.6 लाख टन हो गया। अर्थात् योजना मे निर्धारित लक्ष्य से भी उत्पादन अधिक था। इसका प्रमुख कारण योजना के अन्तिम दो वर्षों मे गन्नें की बहुत अच्छी फसल का होना था।

द्वितीय योजना में चीनी उद्योग—इस योजना मे चीनी उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया। योजना काल मे चीनी के उत्पादन को बढाकर 22.5 लाख टन करने का आयोजन था। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरानी मिलो के विकास तथा उनकी मशीनो के नवीनीकरण के लिए योजनाएँ बनाई गयी और सहकारिता के आधार पर 35 नई मिले स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में चीनी उद्योग—चूंकि तृतीय योजना आरम्भ होने के समय मिलो के पास जमा चीनी का स्टाक बहुत अधिक था, इसलिए तृतीय योजना मे चीनी के उत्पादन का लक्ष्य कम रखा गया अर्थात् 30 से 35 लाख टन तक। तृतीय योजना काल मे, 1965-66 मे चीनी का उत्पादन 35 लाख टन हुआ था।

तीनो वर्षीय योजनाओं में—तीसरी योजना के बाद चीनी उद्योग की स्थिति खराब हो गई। सन् 1966-67 और 1967-68 मे चीनी का उत्पादन क्रमशः 21.47 लाख टन और 22.27 लाख टन था। सन् 1968-69 के अन्त मे मिलो के पास स्टाक की अनुमानित मात्रा 13 लाख टन थी।

चतुर्थ योजना में चीनी का उत्पादन लक्ष्य 47 लाख टन निर्धारित किया गया था लेकिन योजना के अन्तिम वर्ष में चीनी का उत्पादन 39.48 लाख टन हुआ था।

पाँचवी योजना—पाँचवी योजना में चीनी का लक्ष्य 54 लाख टन रखा गया गया था और अतिरिक्त क्षमता के निर्माण मे सहकारी क्षेत्र को प्राथमिकता दी गई थी ।

विभिन्न वर्षों में चीनी का उत्पादन नीचे सारणी में दर्शाया गया है ।

वर्ष (अक्टूबर-सितम्बर)	1965-66	1970-71	1975-76	1980-81
कुल उत्पादन (मिलियन टन)	123.99	126.37	140.60	153.00

छठा योजना के अन्त तक देश के अन्दर घरेलू माँग कुल 68.00 लाख टन की होगी तथा कुल उत्पादन 76 लाख टन होगा । इस प्रकार हम 8 लाख टन चीनी का निर्यात भी करेंगे ।

वर्तमान स्थिति

(i) **मिलों की संख्या**—सन् 1980 मे देश मे कुल 307 मिलें थी जिसमे से 140 मिलें सहकारी क्षेत्र मे थी जिनका उत्पादन कुल चीनी उत्पादन का 52% था ।

(ii) **पूँजी और रोजगार**—इस उद्योग में लगभग 500 करोड़ रुपये की पूँजी विनियोजित है और लगभग 300 लाख व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ है ।

(iii) **उत्पादन**—विश्व के प्रमुख चीनी उत्पादको मे भारत का पंचम स्थान है । चीनी का उत्पादन 1950-51 मे 11.3 लाख टन ही था जो 1977-78 में बढ़कर 64.62 लाख टन हो गया, लेकिन इसके बाद उत्पादन में कमी आ गयी जिसका मुख्य कारण गन्ने की खेती के क्षेत्र मे कमी हो जाना था । 1979-80 में चीनी का उत्पादन 39 लाख टन ही था ।

(iv) **निर्यात**—भारत चीनी का एक बड़ा निर्यातक भी है, लेकिन विगत वर्षों मे चीनी के निर्यात मे कमी आयी है । 1979-80 में 2.90 लाख टन चीनी का निर्यात हुआ जबकि 1978-79 मे 8.63 लाख टन चीनी निर्यात की गयी थी ।

(v) **सरकारी नियंत्रण**—16 अगस्त 1978 से 16 अगस्त 1979 की संक्षिप्त अवधि के लिए चीनी पर पूरी तरह से नियन्त्रण हटा लेने के बाद सरकार 17 दिसम्बर 1979 से फिर चीनी पर आंशिक नियन्त्रण लागू कर दिया और दोहरी मूल्य नीति अपनाई । इस नीति के अन्तर्गत चीनी मिलो के कुल उत्पादन का 65% सरकार नियंत्रण मूल्य पर लेवी के रूप मे खरीद लेती है और शेष 35% उत्पादन को बिना किसी प्रकार के मूल्य नियन्त्रण के खुले बाजार मे बेचने की अनुभूति दी जाती है ।

(vi) **वितरण**—चीनी उद्योग की विभिन्न राज्यों मे स्थिति अग्रलिखित प्रकार है—

(अ) **उत्तर प्रदेश**—उत्तर प्रदेश चीनी उद्योग में सबसे आगे है। यहाँ भारत की कुल उत्पादित चीनी का लगभग 62% उत्पन्न होता है। इस प्रदेश मे चीनी के कारखाने प्रमुख रूप से दो क्षेत्रो मे हैं—प्रथम गगा-यमुना दोआब क्षेत्र और द्वितीय तराई क्षेत्र। गंगा-यमुना दोआब के मुख्य जिले मेरठ और सहारनपुर हैं और तराई क्षेत्र के अन्तर्गत गोरखपुर तथा रुहेलखड के क्षेत्र आते है, जिसके मुख्य जिले गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, गोडा, शाहजहाँपुर, रामपुर, बरेली, सीतापुर, सलेमपुर और बिजनौर है। इसके अतिरिक्त, मध्यवर्ती क्षेत्र कानपुर, मुरादाबाद तथा लखनऊ मे भी चीनी की मिले है।

(ब) **बिहार**—चीनी के उत्पादन मे दूसरा स्थान बिहार का है। इस राज्य मे भारत की लगभग 15% चीनी बनाई जाती है। बिहार मे इस उद्योग के मुख्य केन्द्र चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर और दरभगा है।

(स) **महाराष्ट्र**—चीनी के उत्पादन मे महाराष्ट्र का तीसरा स्थान है। इस प्रदेश मे उत्तम प्रकार का गन्ना उत्पन्न किया जाता है अत यह प्रस्ताव रखा गया है कि चीनी उद्योग को इस क्षेत्र मे बढाया जाय। यहाँ के प्रमुख केन्द्र मनमाण्ड, अहमदनगर, नासिक और पूना है।

(द) **पश्चिम बगाल**—यहाँ चीनी के कारखाने बेलडाँगा, नदिया तथा चौबीस परगना जिलो मे स्थित है।

(य) **तमिलनाडु**—इस प्रदेश के उत्तरी अरकाट, दक्षिणी अरकाट, कोयम्बटूर, मदुरा और तिरुचिरापल्ली जिलो मे यह उद्योग स्थित हैं।

(र) **आंध्र-प्रदेश**—यहाँ चीनी के अधिकतर कारखाने विशाखापटनम, विजयवाडा हास्पेट, कोट, टावुक, सामलकोट, हैदराबाद आदि में स्थित है।

(ल) **पजाब**—अमृतसर, जगाधरी, फगवाडा, हमीरा, भोगपुर जिलों में चीनी की अनेक मिले हैं।

चीनी उद्योग की समस्याएँ और उनका समाधान

1. **गन्ने सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—भारत मे चीनी मिलो का भाग्य गन्ने के उत्पादन पर आधारित है। गन्ने के अभाव के कारण चीनी का उत्पादन कम होता है और कारखानो को हानि होती है। भारत मे गन्ना कम होने के कारण, गन्ने की प्रति हेक्टेयर उपज का कम होना है। भारत मे गन्ने की प्रति एकड उपज ही कम नहीं है यहाँ गन्ने का गुण अत्यन्त न्यून है जिससे गन्ने से उपलब्ध चीनी का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है।

उपाय—गन्ने के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए वैज्ञानिक आधार पर कृषि की जानी चाहिए। इसके लिए उत्तम खाद और बीज तथा पर्याप्त पानी का प्रबन्ध करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मिलो के भी अपने गन्ना उत्पादन फार्म होने चाहिये।

2. **उप-उत्पादकों की समस्या**—चीनी बनाते समय कई सहायक उत्पादन प्राप्त

होते है जैसे छोई (Bagasses) तथा शीरा (Molasses)। इनका प्रयोग कई उपयोगी वस्तुएँ बनाने के लिए किया जा सकता है जैसे—छोई से कागज, गत्ता आदि बनाया जा सकता है तथा शीरे से अल्कोहल व उर्वरक।

उपाय—चीनी उद्योग में उत्पादन-व्यय कम से कम करने के लिए गन्ने की छोई और शीरे जैसी उपोत्पत्ति का कागज, सोख्ता, खाद, गत्ता एवं अल्कोहल आदि वस्तुएँ बनाने मे उपयोग करना चाहिए।

3. **गुड़ तथा खाँडसारी से प्रतियोगिता**—चीनी को गुड तथा खाँडसारी से प्रतियोगिता करनी पडती है। इनमे प्रतियोगिता का मुख्य कारण उनके मूल्यो में अंतर पाया जाना है।

उपाय—प्रतिस्पर्द्धा की समाप्ति—चीनी, गुड, एवं खाडसारी की प्रतियोगिता को समाप्त किया जाना चाहिए जिससे उत्पादन में अनिश्चितता न रहे। इसके लिए गुड खाँडसारी एवं चीनी मिल क्षेत्र के विकास हेतु एक संग्रहीत योजना तैयार किया जाना चाहिए।

4. **आधुनिकीकरण की समस्या**—भारत मे चीनी मिलो मे मशीने काफी पुरानी हो गई हैं तथा घिस चुकी हैं, इसमे उत्पादन व्यय अधिक होता है। अत उत्पादन लागत को कम करने के लिए इस उद्योग के आधुनिकीकरण की आवश्यकता के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होगी जिसका सर्वथा अभाव है।

उपाय—पुरानी चीनी मिलो का शीघ्रातिशीघ्र आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए।

5. **अनार्थिक कठिनाइयाँ**—भारत मे बहुत-सी चीनी मिलें ऐसी है जिनका आकार छोटा है और आर्थिक दृष्टि से वे अलाभप्रद इकाइयाँ मानी जाती है।

उपाय—सरकार को इन अलाभप्रद इकाइयो को या तो इनका आकार बढाकर इन्हें लाभप्रद बनाने का प्रयत्न करना चाहिए अथवा इन्हे समाप्त कर देना चाहिए।

6. **कम उत्पादन क्षमता**—भारतीय चीनी मिलो की उत्पादन क्षमता बहुत कम है। अतः अन्य देशो की अपेक्षा चीनी का उत्पादन भारत मे बहुत कम है।

उपाय—कारखानों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाया जाना चाहिए और नवीन मिलो को अनुमति देते समय इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि उनकी क्षमता 1500 टन प्रति-दिन से कम न हो।

7. **कारखानों का दूर होना**—भारत मे चीनी के अधिकाश कारखाने गन्ने के खेतों से दूर हैं। अतः गन्ने को कारखानों तक पहुँचाने मे बहुत व्यय होता है और मार्ग मे गन्ने का रस काफी सूख जाता है।

उपाय—चीनी की नयी मिलो की स्थापना उन्ही क्षेत्रों में की जानी चाहिए जहाँ गन्ने के खेत हैं।

8. **कम अवधि**—भारत मे चीनी के कारखाने नवम्बर से फरवरी तक लगभग 120 दिन कार्य करते हैं। अर्थात् वर्ष में अधिकांश समय वे बेकार रहते हैं।

अतः गन्ने की जल्दी तथा देर से पकने वाली किस्मों को बोने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

(9) **परिवहन सम्बन्धी असुविधा**—भारत मे गन्ना उत्पादन क्षेत्र और चीनी की मिलो के बीच काफी दूरी है। इस दूरी को तय करने के लिए परिवहन के सस्ते और उपयुक्त साधनो का अभाव है।

उपाय—परिवहन के सस्ते और उपयुक्त साधनो को जुटाना चाहिए तथा ग्रामीण सडको की मरम्मत की जानी चाहिए।

(10) **अनुसधान सम्बन्धी अभाव**—भारत मे अनुसंधान सम्बन्धी अभाव के कारण गन्ने की किस्म मे सुधार नही हो पाता। अतः इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि गन्ना मोटा, मीठा और रसदार उत्पन्न किया जा सके।

4. पटसन या जूट उद्योग
(Jute Industry)

संक्षिप्त इतिहास—भारतवर्ष मे आधुनिक जूट उद्योग लगभग 100 वर्ष पुराना है देश मे जूट उद्योग सन् 1855 मे आरम्भ हुआ जब **जार्ज आकलैंड** ने पश्चिमी बङ्गाल मे जूट मिल स्थापित की। इसके पश्चात् इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् 1913-14 मे भारत मे कुल 64 जूट मिले थी जिनमे 43 3 लाख गाँठ कच्चे जूट की खपत हुई थी तथा २8.3 करोड रुपये के जूट का सामान निर्यात किया गया था।

प्रथम महायुद्ध एव उसके बाद की प्रगति—प्रथम महायुद्ध तक जूट उद्योग की प्रगति काफी धीमी रही। परन्तु प्रथम महायुद्ध ने, अन्य उद्योगो की तरह जूट उद्योग को भी प्रोत्साहित किया और इसने अच्छी उन्नति की। यह समृद्धि काल, युद्ध के उपरान्त भी जारी रहा। परन्तु सन् 1929 की आर्थिक मन्दी का प्रभाव इस उद्योग पर पडा और इस उद्योग को काफी क्षति पहुँची। आर्थिक मन्दी के कारण जूट की वस्तुओ का निर्यात बहुत घट गया। मन्दी के कारण जूट के कारखानो मे प्रति सप्ताह काम के घण्टो को घटा दिया गया तथा कुछ करघो को बन्द भी कर दिया गया। सन् 1936 मे जूट के उत्पादन मे वृद्धि करने के उद्देश्य से एक भारतीय केन्द्रीय जूट समिति की स्थापना हुई। सन् 1938 ई० मे विदेशी व्यापार की अनिश्चितता तथा मिलों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण जूट उद्योग को भीषण संकट का सामना करना पडा। यह स्थिति द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक बनी रही।

द्वितीय महायुद्ध काल—द्वितीय महायुद्ध ने पुन इस उद्योग को जीवन प्रदान किया, क्योकि युद्ध के कारण सैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जूट की वस्तुओ की माँग अत्यधिक बढ गई जिससे जूट और जूट की वस्तुओ के मूल्य मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई। फलतः उत्पादन एव निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। सन् 1939-40 मे जूट की वस्तुओ का उत्पादन 12.8 लाख टन तथा निर्यात 11 लाख टन था। सन् 1940 के पश्चात् विदेसी माँग मे बहुत कमी हुई। सन् 1942 मे भारत मे अकाल

पडा और कोयला तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयो के कारण जूट उद्योग के सामने पुनः संकट उपस्थित हुआ। इस प्रकार, द्वितीय महायुद्ध काल मे जूट उद्योग अच्छी तथा विपत्तिपूर्ण दोनो ही अवस्थाओ से गुजरा।

देश-विभाजन का प्रभाव—सन् 1947 मे भारत के विभाजन से इस उद्योग को भारी क्षति हुई। विभाजन के फलस्वरूप 75% कच्चा जूट उत्पादित करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया किन्तु लगभग सभी मिले भारतीय क्षेत्र मे रही। अतः जूट उद्योग को कच्चे माल की समस्या का सामना करना पडा। समस्या का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् 1950-51 मे जहाँ कच्चे जूट की माँग 70% लाख गठो की थी वहाँ पूर्ति केवल 31 लाख गाँठो की थी। सन् 1949 से सन् 1951 तक भारत तथा पाकिस्तान मे तनावपूर्ण वातावरण के कारण स्थिति बहुत गम्भीर रही। सन् 1949 मे भारत ने, पाकिस्तान के विपरीत, रुपये का अवमूल्यन कर दिया जिससे कच्चे माल के आयात मे और भी कठिनाई हुई क्योकि पाकिस्तानी जूट भारत के लिए 44% महगा हो गया। ऐसी परिस्थिति मे देश के भीतर ही जूट का उत्पादन बढाने की दिशा मे विविध प्रयास किए गए और नये क्षेत्रो मे जूट की खेती का विस्तार किये जाने लगा और वास्तव मे इस क्षेत्र मे पर्याप्त सफलता भी मिली है।

पंचवर्षीय योजनाओं में जूट उद्योग

प्रथम पंचवर्षीय योजना—जिस समय प्रथम पचवर्षीय योजना कार्यान्वित की जा रही थी उस समय जूट उद्योग के सामने सबसे गम्भीर समस्या कच्चे जूट के अभाव की थी। इसलिए प्रथम योजना मे कच्चे जूट का उत्पादन बढाने पर विशेष जोर दिया गया था। प्रथम योजना के प्रारम्भ होने के पूर्व, सन् 1950-51 मे कच्चे जूट का उत्पादन 33 लाख गाँठ था। इस योजना काल मे इसे बढाकर 53.7 लाख करने का लक्ष्य था। किन्तु वास्तविक उत्पादन 42 लाख गाँठ के बराबर ही हो सका। इन प्रकार, प्रथम योजना काल मे निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति नही हो मकी। जूट के सामान को निर्यात करने का लक्ष्य 10 लाख टन करने का था, किन्तु वास्तविक रूप मे सन् 1955-59 मे जूट के निर्यात की मात्रा 8.75 लाख टन के बराबर ही थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना काल मे कच्चे जूट के सम्बन्ध में देश को आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य 55 लाख गाँठ रखा गया। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति भी नही हो सकी। वास्तविक उत्पादन लगभग 33 लाख गाँठ के बराबर ही था। इस प्रकार, द्वितीय योजना पूर्ण होने पर भी हमारा देश कच्चे जूट मे आत्मनिर्भर नही हो सका। योजना-काल में उत्पादन व्यय कम करने, मशीनो का आधुनिकीकरण करने तथा निर्यात के प्रयत्नों पर जोर दिया गया। सन् 1957 मे भारत सरकार ने एक जूट जाँच समिति नियुक्त की। जूट के उत्पादन की मात्रा एवं गुण को सुधारने के लिए इस समिति ने

सुझाव दिया कि किसानो को बहूद्देशीय सहकारी समितियो का निर्माण करना चाहिए तथा उन्हे अच्छे बीज व अच्छी खाद का भी उपयोग करना चाहिए।

तृतीय योजना—तृतीय योजना मे उद्योग के विकास के लिए कोई कार्यक्रम नही बनाया गया। केवल वर्तमान उत्पादन क्षमता के पूर्ण उपयोग के लक्ष्य प्राप्त करने व कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाने पर जोर दिया गया। जूट की वस्तुओ का उत्पादन लक्ष्य 13 लाख टन रखा गया। सौभाग्यवश वह लक्ष्य 1960-465 मे ही प्राप्त कर लिया गया। परन्तु इसके पश्चात् उत्पादन मे गिरावट आयी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—चतुर्थ योजना में जूट वस्तुओ के उत्पादन का लक्ष्य 14 लाख टन रखा गया। सन् 1971-72 मे उत्पादन स्तर 12.29 लाख टन तक पहुँचा, लेकिन 1973-74 में उत्पादन केवल 9.49 लाख टन ही रह गया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना—पाँचवी पचवर्षीय योजना में जूट की वस्तुओ के उत्पादन का लक्ष्य 1280 हजार टन निर्धारित किया गया था। जूट कमिश्नर द्वारा देश मे नवीनतम तकनीको एवं मशीनो से सुसज्जित 5 जूट मिलों की स्थापना करने की योजना थी।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओ मे जूट वस्तुओ का उत्पादन और निर्यात निम्न सारणी के अको के अनुसार था।

जूट वस्तुए : उत्पादन व निर्यात

वर्ष	उत्पादन (लाख टन मे)	निर्यात (करोड रुपये मे)	कुल निर्यात का प्रतिशत
1960-61	10.23	135.15	21.0
1970-71	9.68	190.44	12.4
1979-80	11.53	275.00	4.6

छठवीं पचवर्षीय योजना—इस योजना के अन्त मे जूट वस्तुओ के उत्पादन का लक्ष्य 15,000 हजार टन निर्धारित किया गया है। देश मे इस उद्योग मे पहले ही पर्याप्त उत्पादन क्षमता की स्थापना के कारण विस्तार की कोई विशेष सम्भावना नही है।

•

वर्तमान स्थिति

(i) **मिलों की संख्या और रोजगार**—जूट उद्योग में 115 मिलें हैं जिनमे लगभग 8 लाख श्रमिको को रोजगार मिला हुआ है।

(ii) **वार्षिक उत्पादन**—पटसन की वस्तुओ का वास्तविक उत्पादन 1950-51 में 837 हजार टन था जो बढ़कर 1979-80 मे 1355 हजार टन हो गया।

(iii) **निर्यात**—जूट उद्योग विदेशी मुद्रा के अर्जन का एक प्रमुख स्रोत

है। यह उद्योग प्रतिवर्ष लगभग 250 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा का अर्जन करता है।

(iv) **उत्पादन**—यह उद्योग प्रधानत: टाट बोरे एवं गलीचो की परत का उत्पादन करता है। अन्य वस्तुओ मे परदे, फर्श पर बिछाने के मेटिंग, सुतली आदि का भी उत्पादन करता है।

(v) **क्षमता**—उद्योग की पंजीकृत अथवा लाइसेंसिंग क्षमता 20 लाख टन की है किन्तु प्राप्त लाइसेंसो के अनुरूप वास्तविक क्षमताओ का सृजन नही किया जा सका है।

(vi) **विपणन व्यवस्था**—पटसन के आयात-निर्यात और देश के भीतर इसकी पणन व्यवस्था के लिए 1971 मे पटसन विभाग की स्थापना की गई। 1977-78 मे यह कच्चे पटसन की कीमतो को स्थिर रखने मे, विशेषकर असम और त्रिपुरा के कुछ भागो में, सफल रहा।

(vii) **वितरण**—जूट उद्योग पश्चिमी बंगाल मे हुगली नदी के दोनों किनारो पर केन्द्रित है। बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश व आंध्र प्रदेश मे भी जूट के कारखाने विद्यमान हैं, लेकिन वे अल्प सख्या मे है।

जूट उद्योग के विकास कार्यक्रम

जूट उद्योग के विकास के लिए समय-समय पर अनेक कार्यक्रम अपनाए गए है, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(1) **बाजार विकास कार्यक्रम**—निर्यात को बनाए रखने व बढाने की दृष्टि से बाजार विकास कार्यक्रम अपनाया गया है। भारतीय जूट मिल सङ्घ ने अमेरिका व इंग्लैण्ड मे अपना शाखा कार्यालय खोल रखा है। इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण बाजारो मे समय-समय पर शिष्ट मण्डल भेजे जाते रहे हैं।

(2) **शोध एव विकास**—भारतीय जूट मिल सङ्घ द्वारा संचालित एक शोध केन्द्र कलकत्ता मे कार्य कर रहा है। इस केन्द्र मे बीजो को सुरक्षित रखने, वैज्ञानिक बुनाई, रेशा निकालने की नवीन विधियो इत्यादि पर शोध कार्य हो रहा है।

(3) **किस्म नियन्त्रण**—निर्यात (किस्म नियन्त्रण और निरीक्षण) अधिनियम 1905 के अन्तर्गत सभी प्रकार की सैकिंग और हेसियन का निर्यात से पूर्व परीक्षण होना आवश्यक है।

(4) **जूट टैक्सटाइल्स परामर्श परिषद**—इस परिषद् की स्थापना जुलाई सन् 1969 मे विदेश व्यापार मन्त्री की अध्यक्षता में हुई। यह परिषद् भारत सरकार को जूट उद्योग की विभिन्न समस्याओ के सम्बन्ध मे परामर्श देती है।

(5) **जूट निगम की स्थापना**—फरवरी सन् 1971 मे जूट निगम की स्थापना 5 करोड रुपये की अधिकृत पूंजी से की गई। इस निगम के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं :—निश्चित मूल्यो पर कच्चा जूट क्रय करना, बफर स्टाक बनाना, जूट वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहित करना तथा विदेशो से कच्चे जूट का आयात करना।

(6) **विकास परिषद**--जूट के सामानो पर 1 मार्च 1976 से एक वर्ष की अवधि के लिए शुल्क लगा दिया गया है। जूट के सामानो के लिए एक विकास परिषद् की स्थापना की गई है जो इस शुल्क से प्राप्त राशि का उपयोग अनुसन्धान तथा विकास कार्यक्रमो मे करेगी। यह परिषद् उत्पादन लक्ष्य निर्धारित करने के साथ ही उत्पादन कार्यक्रमो मे तालमेल स्थापित करेगी तथा समय-समय पर इसमे हुई प्रगति की समीक्षा करेगी।

जूट उद्योग की प्रमुख समस्याएँ

वर्तमान समय मे भारतीय जूट उद्योग की निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ है :—

(1) **कच्चे जूट का अभाव**—देश के विभाजन के बाद जूट उद्योग के सम्मुख सबसे बडी समस्या कच्चे माल के अभाव की रही है। कच्चे माल के अभाव के कारण भारत मे उत्पादन कुशलता को क्षति पहुँची है और विश्व बाजार मे भारत की प्रतियोगिता सामर्थ्य घट गई है।

जूट के उत्पादन को पश्चिमी बगाल के अतिरिक्त अन्य राज्यो मे बढाने का प्रयास करना चाहिए। इस दिशा मे असम, बिहार व उडीसा की राज्य सरकारें प्रयत्नशील हैं। हाल ही मे उत्तर प्रदेश व आन्ध्र-प्रदेश भी इस प्रयास मे सम्मिलित हो गए है। साथ ही हमे अपने देश मे उत्पन्न जूट की किस्म में भी सुधार करना चाहिए।

(2) **जूट उद्योग के आधुनिकीकरण की समस्या**—भारतीय जूट उद्योग काफी पुराना होने के कारण इस उद्योग मे अधिकाश मशीनें काफी पुरानी है, जिससे उत्पादन लागत बहुत अधिक है। विदेशी प्रतियोगिता मे टिकने के लिए उत्पादन लागत को कम करना आवश्यक है, जो तब तक सम्भव नही है जब तक पुरानी और जीर्ण-शीर्ण मशीनो की जगह नई मशीने नही लगाई जाती है। मिलो के आधुनिकीकरण के मार्ग का सबसे बडा रोडा वित्त की कमी है। बावजूद इसके मिलो ने अपने कोष से पूंजीगत व्यय के रूप मे इस कार्य पर 1958 और 1975 के बीच 135 करोड़ रु० का व्यय किया है। सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए मिलो के नवीकरण एवं आधुनिकीकरण के लिए औद्योगिक वित्त निगम के जरिए 250 करोड़ रु० की स्वीकृति दी है। इसमे 100 करोड रुपये का व्यय ऐसी मशीनरी के आयात पर किया जायेगा जिसका निर्माण देश मे नही होता। लेकिन आयात शुल्क 45% होने के कारण विदेशो से मशीनरी का आयात करना बहुत ही व्ययसाध्य होगा। सरकार को इस उद्योग की समस्याओ पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए।

(3) **स्थानापन्न वस्तुओं की समस्या**—अनेक पश्चिमी देशो ने जूट के स्थानापन्न पदार्थों का उपयोग आरम्भ कर दिया है। संयुक्त राज्य अमेरिका, फिलीपाइन्स, ब्राजील इत्यादि देशों मे पैकिंग के लिए बरलप (Burlap) तथा विशेष प्रकार का

कागज प्रयोग मे लाया जा रहा है। अभी कुछ समय पूर्व ही **पोली प्रीफिलिन** (Poly-prophylene) नाम का नया रेशा निकाला गया है जो गलीचे के नीचे (जूट वस्त्र के स्थान पर) लगाया जा सकता है। अन इस उद्योग के लिए स्थानापन्न वस्तुओं का प्रयोग भी बडा खतरा है। इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है जब जूट की वस्तुओ की कीमत सस्ती की जाय। जब तक भारतीय जूट की बनी हुई वस्तुएँ सस्ते मूल्यो पर बिकती रहेगी तब तक इसे स्थानापन्न वस्तुओ की प्रतियोगिता का कोई भय नही है।

(4) **निर्यात की समस्या**—भारत का जूट उद्योग मुख्य रूप से एक निर्यातक उद्योग है। परन्तु यह एक चिन्ता की बात है कि इसका निर्यात निरन्तर घटता जा रहा है। सिंथेटिक पदार्थों एव बंगला देश से तीव्र प्रतियोगिता के कारण उद्योग की बिक्री से आय बहुत घट गई है।

सिंथेटिक रेशे और बगला देश से प्रतियोगिता वास्तव मे 'मूल्य युद्ध' है। मूल्य को प्रतियोगितात्मक स्तर पर बनाए रखने के लिए उत्पादन व्यय को कम करने के प्रयास करने होगे।

(5) **असन्तोषजनक वित्तीय स्थिति**—भारतीय जूट उद्योग के लाभ व वित्तीय स्थिति 1950 और 1965 के मध्य सामान्य रहे। परन्तु उसके बाद इस उद्योग को निम्न लाभ के कारण असंतोषजनक वित्तीय स्थिति का सामना करना पड रहा है। जूट मिलो की कमजोर आर्थिक स्थिति इस तथ्य से स्पष्ट हो रही है कि यह उद्योग लाभो का पुनर्विनियोजन नही कर पा रहे है। इन मिलो द्वारा पटसन के स्टाक करने तथा माँग के अभाव मे निर्मित माल को रोके रखने मे भारी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है।

(6) **बीमार मीलो की समस्या**—जूट उद्योग मे कच्चे माल की समस्या और लागत विधि की कठिनाई के कारण बीमार मिलो की समस्या भी उत्पन्न हो गई है। सन् 1978-79 मे ऐसी बीमार मिलो की इकाइयाँ 32 थी। जिनमे से दो इकाइयो को सरकार ने अधिग्रहीत कर लिया है।

सरकार को चाहिए कि ऐसी इकाइयो को जीवित रखने के लिए उचित ब्याज दर पर वित्त उपलब्ध कराये तथा वर्ष भर इन्हे उचित कीमतो पर जूट निगम से पटसन उपलब्ध कराया जाय।

(7) **श्रम असन्तोष**—भारत की अधिकाश जूट मिलें पश्चिमी बंगाल मे ही है जहाँ पर श्रम समस्या काफी गम्भीर है जिसका श्रमिको की उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पडता है।

(8) **अनुसंधान की समस्या**—देश मे जूट उद्योग से सम्बन्धित अनुसंधान के लिए पर्याप्त सुविधाएँ नही है। इण्डियन जूट इण्डस्ट्रीज रिसर्च एसोसियेशन के नाम से एक संस्था की स्थापना कुछ वर्षों पूर्व की जा चुकी है किन्तु यह देश की आवश्यकताओ के लिए अपर्याप्त है। इस संस्था ने संयुक्त राज्य अमरीका में फैवरिफ रिसर्च लेबोरेट-रीज आफ डैडहम की अनुसंधानशाला मे शोध सम्बन्धी समझौता किया है।

(9) **अतिरिक्त क्षमता तथा बन्द मिलो की समस्या**--जूट उद्योग मे अतिरिक्त क्षमता तथा बन्द मिलो की समस्या भी विद्यमान है। सन् 1966-67 मे जूट मिलो की कुल उत्पादन-क्षमता का लगभग 92% उपयोग मे लिया गया था, परन्तु सन् 1979-80 मे यह उपयोग घटकर 82% रह गया।

(10) **दोषपूर्ण कर नीतियाँ**—इस उद्योग मे आने वाले ज्वार-भाटे का उत्तरदायित्व सरकार की कर नीतियो पर भी है। जब-जब हमारे जूट उत्पादन का निर्यात बढा है, सरकार ने इतना अधिक निर्यात कर लगाया कि उद्योग के विस्तार को धक्का पहुँचा है। परन्तु अब भारत सरकार ने जूट से बनी सभी वस्तुओ पर से निर्यात शुल्क हटाकर भारतीय पटसन की अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे व्याप्त कठोर प्रतिद्वन्द्विता के सामने टिक सकने योग्य बनाने के लिये रचनात्मक कदम उठाया है।

जूट उद्योग की समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

जूट उद्योग की समस्याओ के समाधान हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जाते है —

(1) **कच्चे जूट के उत्पादन को प्रोत्साहन**—कच्चे माल की पूर्ति हेतु कृषको को कच्चा जूट अधिक उत्पादित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। गत दशक मे प्रति एकड जूट का उत्पादन लगभग 2.79 गाँठ था जिसको 4 61 गाँठ तक बढ़ाया जा सकता है। इसके लिये अच्छे किस्म के बीज एवं उन्नत खादो की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(2) **मण्डी विकास कार्यक्रम**—जूट निर्मित माल के निर्यात के प्रोत्साहन हेतु मण्डी विकास कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। भारतीय जूट मिल्स संघ ने इस उद्देश्य से ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त राज्य अमरीका मे अपनी शाखाएँ स्थापित की है। जूट के सामान के बाजारो मे भी समय-समय पर प्रदर्शनियो का आयोजन किया जाता है। इस कार्यक्रम को और अधिक सक्रिय बनाया जाना चाहिए।

(3) **बीमार मिलों को आर्थिक सहायता**—सरकार को चाहिए कि बीमार मिलो को आर्थिक सहायता देकर उन्हे पुन. कार्यशील बनाये।

(4) **पर्याप्त मात्रा में शक्ति की व्यवस्था**—जूट उद्योग की पर्याप्त मात्रा मे शक्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि मिले अधिक से अधिक इन कार्यशील रहकर अपने उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकें।

(5) **आवश्यक साख की व्यवस्था**—जूट के उत्पादन मे वृद्धि, जूट वस्तुओ के निर्माण एवं निर्यात मे वृद्धि के लिए आवश्यक है कि उन्हे आवश्यक साख की सुविधा प्रदान की जाय।

(6) **शोध एवं विकास**—कृत्रिम रेशो के प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिये जूट उद्योग द्वारा अनुसंधान एवं विकास पर अधिक व्यय करके ऐसी तकनीक का विकास करना चाहिए जिससे जूट की वस्तुएँ कृत्रिम रेशे की वस्तुओ से टिकाऊ एवं सस्ती पड़ें जिससे कि प्रतिस्पर्धा का मुकाबला किया जा सके।

(7) **आन्तरिक माँग की वृद्धि**—आन्तरिक माँग मे वृद्धि हेतु इस उद्योग मे लगने वाले कर को सरकार यदि पूर्णतया समाप्त न कर सके तो इसमे कमी अवश्य करनी चाहिए।

(8) **आधुनिकीकरण एवं अभिनवीकरण**—जूट उद्योग के विकास हेतु आधुनिकीकरण एव अभिनवीकरण के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था की जानी चाहिए। अभी तक इस क्षेत्र मे जो प्रगति हुई है वह लाभकर हो रही है, अतः इस दिशा मे और भी महत्त्वपूर्ण प्रयास किये जाने चाहिए।

(9) **आन्तरिक बचतों में वृद्धि**—जूट की वस्तुओ की बढती हुई लागत व गिरते हुए लाभो के नियन्त्रण हेतु आन्तरिक बचतो को बढ़ाने हेतु प्रयास किये जाने चाहिए।

(10) **गुणात्मक नियन्त्रण**—जूट की वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि के लिए इस उद्योग में किस्म नियन्त्रण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

भविष्य—यद्यपि जूट उद्योग वतमान समय मे सकट से गुजर रहा है परन्तु इसका भविष्य उज्ज्वल है। भारत का जूट उद्योग कृत्रिम धागो व बंगला देश से सफलतापूवक प्रतिस्पर्द्धा कर सकता है, यदि अनुसंधान व विकास के द्वारा जूट के माल का मूल्य विश्व के बाजार मे उचित स्तर पर रखा जावे। पश्चिमी यूरोपीय देशो और संयुक्त राज्य अमरीका मे वर्तमान समय मे मुक्त प्रसार की प्रवृत्ति विस्तृत हो रही है। अतः भारत के जूट के सामान विक्रय के लिए अच्छा क्षेत्र है। सोवियत रूस आस्ट्रेलिया व सूडान भारत के लिए नये महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं।

5. कोयला उद्योग
(Coal Industry)

कोयला उद्योग भारत का एक आधारभूत उद्योग है। किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए कोयले एवं लोहे की आवश्यकता पड़ती है। कोयले का प्रयोग औद्योगिक शक्ति के साधन के रूप मे किया जाता है। कुल मिलाकर देश मे 13900 करोड़ टन कोयले के भण्डार का अनुमान लगाया गया है।

संसार के कोयला उत्पादन मे भारत का आठवां स्थान है। कोयले के प्रधान केन्द्र बङ्गाल व बिहार राज्य मे हैं। कोयले का क्षेत्र दामोदर घाटी मे फैला हुआ है। रानीगंज व झरिया की खानो से देश के कुल उत्पादन का क्रमशः 30 या 40 प्रतिशत कोयला निकाला जाता है। कोयले की छोटी-छोटी खाने असम, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उडीसा, आन्ध्र-प्रदेश, तमिलनाडु, राजस्थान, गुजरात, जम्मू व काश्मीर मे भी पायी जाती हैं।

संक्षिप्त इतिहास

भारत मे कोयला उद्योग का आरम्भ सन् 1814 मे हुआ, जबकि सर्वप्रथम रानीगंज की खानो में कोयला निकाला गया। परंतु 1853 तक इस उद्योग का विकास नहीं किया जा सका। सन् 1853 के पश्चात् भारत मे रेलो का विकास किया

जाने लगा। जब रेले बनी तो पहले कोयला इंगलैण्ड से मँगाया गया। वह कोयला बहुत महँगा पडता था। अत ईस्ट इडिया कपनी ने भारत में खानो का पता लगाया और कोयला खोदना आरम्भ किया। कोयले का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ा। भारतीय कोयला सस्ता होने के कारण विदेशो जैसे लका, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह आदि को भी भेजा जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने के पूर्व कोयले का वार्षिक उत्पादन एक करोड सैतालीस लाख टन तक पहुँच गया। प्रथम महायुद्ध मे विदेशो से कोयला आना बन्द हो जाने के कारण इस उद्योगो ने पर्याप्त प्रगति की। परन्तु युद्ध समाप्त होने पर अफ्रीका का सस्ता कोयला भारत मे आने लगा और भारतीय कोयले को अफ्रीका के कोयले से प्रतियोगिता करने मे बडी कठिनाई का सामना करना पडा। सन् 1927-30 के बीच अफ्रीका के कोयले की माँग कम हो जाने के कारण भारतीय कोयला उद्योग ने अपने खोए हुए बाजार को पुन प्राप्त कर लिया और कोयले के उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई। इसके पश्चात् मन्दी का युग आया और कोयले की माँग मे अत्यधिक कमी आ गयी, फलत: कोयले की बहुत-सी खानो मे काम बन्द हो गया।

सन् 1934 से कोयला उद्योग ने पुन: उन्नति करना शुरू किया। बन्द हुई खानें पुन चालू की गई और कोयले की माँग पुन बढ जाने के कारण कोयले का उत्पादन फिर बढ गया। विदेशो को भी कोयला निर्यात होने लगा। द्वितीय महायुद्ध काल मे माल के डिब्बे की कमी ने एक समस्या उत्पन्न कर दी। उधर लोहा इस्पात उद्योग की सरकारी माँग पूरा करने के लिए अधिक कोयले की आवश्यकता थी। सन् 1944 मे कोयले पर नियन्त्रण लगा दिया गया, परन्तु कोयले का उत्पादन बढ़ता रहा। सन् 1945 मे पिछले वर्षों की अपेक्षा कोयला का उत्पादन 30 लाख टन अधिक हुआ। उस समय कई खानो से घटिया किस्म का कोयला निकाला जाने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त इस उद्योग की दशा मे कोई उल्लेखनीय सुधार नही हुआ है।

योजना काल में कोयला उद्योग

प्रथम योजना काल के आरम्भ मे भारत मे अनेक कोयले का उत्पादन लगभग 344 लाख टन था, जो सन् 1955-56 में बढकर 384 लाख टन हो गया।

द्वितीय योजना के लिए कोयले उत्पादन का लक्ष्य 6 करोड टन रखा गया था, किन्तु कुछ कठिनाइयो के कारण कुल कोयले का उत्पादन 5.6 करोड टन ही हुआ। घटिया कोयले को धोकर अच्छा कोयला बनाने के लिये योजना अवधि मे चार केन्द्रीय धुलाई के कारखाने खोले गए और एक धुलाई केन्द्र दुर्गापुर के इस्पात के कारखाने मे खोला गया। दूसरी योजना काल मे ही राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना की गई।

तीसरी योजना के लिए कोयले के उत्पादन का लक्ष्य 9 7 करोड टन था, लेकिन वास्तविक उत्पादन 6.7 करोड़ टन ही हुआ। 1968-69 तक योजना अवकाश के तीन वर्षों की अवधि से कुल मिलाकर कोयला निकालने में 40 लाख टन की वृद्धि हुई और इससे कुल प्राप्ति 7.1 करोड़ टन हो गई।

चौथी योजना की अवधि मे कोयला प्राप्ति का लक्ष्य तीसरी योजना के लक्ष्य से भी कम 9.35 करोड टन रखा गया। 1973-74 मे लगभग 800 लाख टन कोयला प्राप्त किया गया। इस मात्रा मे लगभग 50 लाख टन की वह वृद्धि भी शामिल है जो साख्यिकीय हिसाब-किताब से अपेक्षित है ।

पाँचवीं योजना इस योजना के अन्तिम वर्ष 1978-79 मे कोयला के उत्पादन लक्ष्य 1240 लाख टन निर्धारित किया गया था। लेकिन योजना की समाप्ति (1977-78) पर कोयला का उत्पादन 1010 लाख टन था।

छठवीं पंचवर्षीय योजना—इस पंचवर्षीय योजना के अंत तक भारत मे कोयले की माँग 1505 लाख टन हो जाने का अनुमान है। माँग मे इस तीव्र वृद्धि का कारण खनिज तेल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो मे बेहताशा वृद्धि हो जाना है। इस योजना मे 1650 0 लाख मीट्रिक टन कोयले के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विशेष प्रयास करने होगे। विद्यमान खानो तथा निर्माणाधीन खानो की क्षमता के पूर्ण उपयोग के अतिरिक्त नवीन खानें भी खोली जायेंगी जिससे अतिरिक्त उत्पादन का 50 प्रतिशत कोयला निकाला जायेगा।

योजना काल में कोयला (लिगनाइट के अतिरिक्त) का उत्पादन लक्ष्य एवं उत्पादन (लाख टन)

वर्ष	उत्पादन
1950-51	328 0
1960-61	557 2
1973-74	781.7
1979-80	1039.6
1984-85	1650.0

वर्तमान स्थिति

1. **कोयले का भण्डार**—विश्व मे कोयले का प्रत्याशित भण्डार 67,12501 मिलियन टन और लिग्नाइट के भण्डार 29,41,401 मिलियन टन अनुमानित किये गये है। भारत मे कोयले के भण्डार 82,771 मिलियन टन, लिग्नाइट के भंडार 2,100 मिलियन टन और टैरीशरी कोयला का भण्डार 902 मिलियन टन अनुमानित किया गया है ।

2. **खान की संख्या व रोजगार**—देश मे 843 कोयला खाने है जिसमे 6 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है।

3. **क्षेत्र**—भारत मे प्रमुख कोयला क्षेत्र बङ्गाल तथा बिहार राज्य मे है। रानीगंज (पश्चिमी बंगाल) तथा झरिया (बिहार) की खानो से देश के कुल उत्पादन का क्रमशः 30 प्रतिशत या 40 प्रतिशत कोयला निकाला जाता है।

4. **उत्पादन**—इस समय वार्षिक उत्पादन 10 करोड टन से कुछ अधिक है।

सन् 1984-85 तक 1650 लाख मीट्रिक टन कोयले के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया है।

5. विदेशी व्यापार—भारत के निकटवर्ती देशो मे कोयले की कमी के कारण भारतीय कोयले की माँग रहती है। दूसरी ओर, यूरोप के औद्योगिक देश भी इसकी माँग करते हैं, अत भारत कोयले का निर्यात भी करता है। नीचे की तालिका मे भारत से कोयले के निर्यात की मात्रा बतलाई है—

भारत से कोयले का निर्यात

वर्ष	मात्रा
1975-76	4.4 लाख टन
1976-77	6.2 लाख टन
1977-78	6.3 लाख टन

भारतीय कोयले का सबसे बडा आयातकर्ता बङ्गला देश (लगभग 33%) है। श्री लंका, बर्मा अन्य आयातकर्ता देश हैं। फ्रास भी भारतीय कोयले का बडा आयातकर्ता है। पश्चिमी जर्मनी, इटली व बेल्जियम अन्य देश है जो भारतीय कोयले का आयात करते हैं।

यह ध्यान रहे कि भारत कोयले का बडा निर्यातक कभी नही हो सकता ।

6. कोयले का प्रयोग—कोयला उत्पादन का सबसे अधिक भाग (लगभग 35%) रेले काम में लाती है और दूसरा इस्पात उद्योग का है। इनके अतिरिक्त, विद्युत उत्पादन व अन्य उद्योगो मे इनका प्रयोग होता है।

7 **कोयला उद्योग का संगठन**—पिछले पाँच दशको मे कोयला खान उद्योग के सम्बन्ध मे गठित अनेक समितियो ने इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने की सिफारिश की जिसको ध्यान मे रखते हुये भारत सरकार ने राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना 1956 मे की। तत्पश्चात् देश मे कोयले की बढती हुई माँग को देखते हुये, माँग के अनुरूप पूर्ति को बनाये रखने तथा इस्पात उद्योग की नियमित रूप से बढिया कोयले देते रहने के लिये 17 अक्टूबर 1977 को भारत सरकार ने कोक बनाने योग्य 214 कोयले की खानो (बिहार की 211 एव प० बङ्गाल की 3) एवं 12 कोक ओवेन संयन्त्रो का राष्ट्रीयकरण कर लिया। 31 जनवरी 1973 को सरकार ने अध्यादेश के द्वारा 644 गैर कोकिंग कोयला खानो का भी नियन्त्रण अपने हाथो मे ले लिया। वर्तमान समय मे कोयला उद्योग का सम्पूर्ण प्रबन्ध कोल इडिया लिमिटेड नामक होल्डिग कम्पनी करती है। इसको पाँच सहायक कम्पनियाँ क्रमश (क) भारत कोकिंग कोल लिमिटेड (ख) ईस्टर्न कोल फील्ड्स लिमिटेड (ग) सेन्ट्रल-कोल फील्ड्स लिमिटेड (घ) वेस्टर्न कोल फील्ड्स लिमिटेड तथा (च) केन्द्रीय खान आयोजन और डिजाइन संस्थान हैं। इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने के पीछे माँग के अनुसार उत्पादन करना, खान मालिको द्वारा श्रमिको का शोषण, आधुनिक तकनीक द्वारा उत्पादन करना तथा खान मालिको पर राज्य सरकार का भी बकाया

आदि मुख्य कारण थे। निजी क्षेत्र द्वारा खान सुरक्षा नियमो का उल्लंघन करने से दुर्घटनाओ मे भी भारी वृद्धि हो रही थी उसे रोकना जरूरी था। मुख्य उद्देश्य इस महत्त्वपूर्ण साधन का संरक्षण और आधुनिक तरीके से विकास था।

कोल इण्डिया लिमिटेड की कुल अधिकृत पूंजी 1,000 करोड रुपये निर्धारित की गयी। राष्ट्रीयकरण के बाद यह आशा की गई थी कि मांग के अनुसार उत्पादन होगा तथा कोकिंग और गैर-कोकिंग कोयले के मूल्य स्थिर रहेगे परन्तु अनुमान, अनुमान ही रह गया।

केन्द्र सरकार ने कोल इण्डिया लिमिटेड के अन्तर्गत भारत कोकिंग कोल के वर्तमान प्रशासनिक ढांचे मे बड़े परिवर्तन की घोषणा की है। सरकारी क्षेत्रो मे देश की सबसे बडी कोयला कम्पनी भारत कोकिंग कोल को दो भागो मे बांटने की घोषणा की गयी है जो पूर्व और पश्चिम खंड के नाम से जाने जाएँगे।

8. **कोयला धोवन शालाएँ (Coal Washeries)**—कोक योग्य कोयले की कमी को पूरा करने के लिए उत्तम और निम्न श्रेणी के कोयलो का मिश्रण करके उससे ब्लैण्डिग कोयला प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार अधिक राख वाले कोयले को धोकर उसे उद्योगो मे प्रयुक्त किया जाता है। इस उद्देश्य हेतु अब तक 14 कोयला शोधन शालाएँ जिनकी कि क्षमता 2 करोड टन से अधिक है, स्थापित की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त गैर-कोकिंग कोयले को साफ करने के लिए भी एक छोटी शाधनशाला स्थापित की गई है।

कोयला उद्योग की समस्याएँ एवं उपचार

1. **खानों का अनार्थिक आकार**—भारत मे अनेक कोयला खानो का आकार अनार्थिक है। इसके कारण इन खानो मे आधुनिक मशीनो के प्रयोग की सम्भावनाएँ बहुत कम है।

उपाय—अत' यह आवश्यक है कि छोटी-छोटी आर्थिक आकार की इकाइयो का एकीकरण करके उन्हें आर्थिक इकाई का रूप दिया जाय तथा इनका आधुनिकीकरण किया जाय। ऐसा करने से उत्पादन लागत कम होगी तथा उद्योगो को सस्ते मूल्य पर कोयला उपलब्ध हो सकेगा जो देश के औद्योगीकरण मे सहायक होगा।

2. **यातायात की समस्या**—कोयला उद्योग के विकास मे सस्ते, सुगम एवं द्रुतगामी साधनो का कोयले के समान वितरण के लिए विशेष महत्त्व है। देश मे इन साधनो के अभाव के कारण एक ओर तो कोयला खानो पर खुदा पडा रहता है तथा दूसरी ओर देश के विभिन्न क्षेत्रो मे अनेक उद्योग या तो बन्द हो जाते है या अपनी क्षमतानुसार उत्पादन करने मे असमर्थ रहते हैं। इसका प्रभाव विदेशी व्यापार पर भी पड़ता है।

उपाय—वर्तमान कोयले की ढुलाई का अधिकांश कार्य रेलवे उद्योग करता है किन्तु आवश्यकतानुसार रेलवे उद्योग सफलतापूर्वक कोयले की ढुलाई का कार्य करने मे पूर्णतः सफल नही हो रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कोयला

ढुलाई की व्यवस्था मे सडक परिवहन व जल परिवहन का भी सहयोग लिया जाय ।

3. **कोयला क्षेत्रों का असमान वितरण**—देश के अधिकाश कोयले के भंडार बिहार व पश्चिम बंगाल मे केंद्रित है । कुछ कोयला मध्य प्रदेश, उडीसा, मद्रास और असम से भी प्राप्त होता है । अन्न राज्यो मे कोयले का उत्पादन बहुत कम है किन्तु कोयले की मांग देश के प्रत्येक क्षेत्र मे है । अत. कोयले के वितरण मे अत्यधिक ढुलाई व्यय आता है ।

उपाय—इस समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि कोयले की ढुलाई के लिए यातायात के सस्ते साधन उपलब्ध होने चाहिए तथा उद्योग को प्रादेशिक आधार पर संगठित करना चाहिए । इसके अतिरिक्त कोयले के भण्डारो की खोज अन्य प्रदेशो मे भी की जानी चाहिए ।

4. **आधुनिकीकरण की समस्या**—भारत मे कोयले की लागत अधिक है । इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण खानो मे मशीनीकरण की कमी है, जिसके फलस्वरूप खानो के निचले भाग से कोयला नही निकाला जा सकता । भारत मे केवल 25 प्रतिशत कोयला मशीनो द्वारा निकाला जाता है, जबकि पश्चिमी जर्मनी मे रूस की खानो मे 80 प्रतिशत कोयला मशीनो से निकाला जाता है ।

5. **कोयला भण्डारो का दुरुपयोग**—भारत मे कोयले के भण्डार सीमित है और आशा की जानी है कि 150 वर्ष मे समाप्त हो जायेगे । इसके बावजूद भी खादान मालिक केवल ऊपरी सतहो मे कोयला निकालकर छोड देते हैं । क्योकि नीची खुदाई करने पर उत्पादन लागत बढने लगती है । कोयला निकालने की रीति भी अवैज्ञानिक व त्रुटिपूर्ण है ।

6. **खान दुर्घटनाओ पर नियन्त्रण**—कोयला उद्योग मे दुर्घटनाएँ अन्य उद्योगो की अपेक्षा अधिक रही है, किन्तु सुरक्षा के उचित उपाय अपना कर दुर्घटनाओ को पर्याप्त कम किया जा सकता है । अब विभिन्न सुरक्षा समितियो द्वारा दिये गये सुझावो के आधार पर खानो मे दुर्घटनाओ की रोक-थाम के लिए निरन्तर देख-रेख किये जाने की व्यवस्था की गई है ।

7. **घटिया किस्म का कोयला**—भारत मे जो कोयला खनन किया जाता है वह अत्यधिक राख वाला है ।

8. **श्रमिक समस्या**—इस उद्योग मे लगे श्रमिको की दशा सोचनीय है एव प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव है । सरकार इनकी दशा सुधारने के लिए काफी प्रयत्नशील है । इनके लिये सरकार ने वेतन बोर्ड भी बना दिया है ।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त इंधन नीति की कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशे इस प्रकार हैं :—

(i) विभिन्न प्रकार के कोकिंग कोयले का उत्पादन इस्पात कारखानो की आवश्यकता के अनुसार आयोजित किया जाना चाहिए ।

भविष्य

वस्तुत· भारतीय कोयले के निर्यात की सम्भावना काफी अधिक है। तेल की कीमते बेतहाशा बढ जाने से 'काले हीरे' का भविष्य पुन: उज्ज्वल हो गया है। केवल भारत ही नही समृद्ध देश भी तेल पर निर्भरता कम करके कोयले के उपयोग की ओर झुक रहे है। यूरोपीय साझा बाजार के देश ऊर्जा की कुल खपत मे तेल का अंश 1974 के 58 प्रतिशत से घटाकर 1980 मे 51 प्रतिशत और 1985 तक 48 प्रतिशत ले आना चाहते है। जाहिर है कि उन्हे कोयले का इस्तेमाल बढ़ाना होगा। तेल के उपयोग का तरजीह देने की अब तक की नीति के कारण पश्चिम योरोप के कोयला उद्योग के विकास की अब तक उपेक्षा सी की गयी, यहाँ तक कि कितनी ही खाने बन्द कर दी गयी। ऐसी हालत मे इन देशो को आयात करना ही पडेगा। पोलैंड आवश्यक मात्रा मे कोयला दे नही सकेगा। आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका का कोयला मँहगा पडेगा। भारतीय कोयले के पक्ष मे एक बात यह भी है कि उसमें गन्धक की मात्रा कम है। पर्यावरण दूषण के प्रति अत्यधिक सचेत हो गए ये देश इस कारण से भी भारतीय कोयले की तरजीह देंगे। भारतीय कोयले मे राख तत्त्व अधिक होता है, परन्तु पश्चिम योरोप के बिजली कारखानो की इससे कोई असुविधा नही होती। घटिया किस्म के भारतीय कोयले के लिए अच्छा बाजार मिल जायेगा।

हमारी खानो मे लगभग 9,196 करोड टन कोयला है। तेल के बढ़ते हुए मूल्य के विकल्प के रूप मे कोयला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगामी 200 वर्षों तक यह ऊर्जा के विकल्प के रूप में कार्य करने मे सक्षम है। औद्योगिक का विकास भी इसी पर आधारित है। जब तक बिजली, सौर ऊर्जा आदि के उत्पादन में वृद्धि नही होती है तब तक हमे कोयले के उत्पादन मे ही निर्भर करना होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि कोयला उत्पादन को माँग के अनुरूप बढ़ाया जाए।

6. सीमेंट उद्योग
(Cement Industry)

ऐतिहासिक विकास—भारत मे सीमेन्ट उद्योग का विकास 1904 मे हुआ जबकि मद्रास में **साउथ इण्डिया इन्डस्ट्रियल लिमिटेड** की स्थापना हुई लेकिन शीघ्र ही यह प्रयास असफल हो गया। इसके एक दशक पश्चात् अक्टूबर 1914 मे सीमेंट उद्योग की भारत मे नीव पडी, जबकि **इण्डियन सीमेंट कम्पनी लिमिटेड** (एजेन्ट्स-टाटा सन्स एन्ड कम्पनी) ने पोरबन्दर के कारखाने मे पहला सीमेंट का थैला पैक किया। दो वर्ष के अन्दर ही (1914-19 के बीच) खटाऊ ने कटनी मे तथा किलिक निक्सन ने लखेरी (बूँदी, राजस्थान) मे सीमेन्ट के कारखाने स्थापित किए। इन तीनो कारखानों की उत्पादन-क्षमता 1918 में जबकि प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ 25,000 टन वार्षिक थी। 1919-24 के मध्य गुजरात, मध्यप्रदेश और बिहार में तीन नवीन सीमेन्ट इकाइयों की स्थापना की गई तथा पुरानी तीन इकाइयों का विस्तार किया गया। 1924 में देश में सीमेन्ट उद्योग की उत्पादन क्षमता 5 6 लाख टन थी, परन्तु वास्त-

विक उत्पादन इसके आधे से भी कम रहा। माँग की कमी और देशी सीमेन्ट के प्रति उपभोक्ताओ की उदासीनता के कारण सीमेट की बिक्री लागत से कम दाम पर होने लगी। फलत अनेक कम्पनियाँ बन्द हो गयी। ऐसी दशा मे भारत सरकार ने हस्तक्षेप किया तथा सीमेट उद्योग की जाँच टैरिफ बोर्ड द्वारा करायी गई। टैरिफ बोर्ड ने सरक्षण देने के अतिरिक्त उद्योग की विद्यमान इकाइयो मे आपसी सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया। परिणामस्वरूप 1925 मे **भारतीय सीमेट निर्माता संघ** की स्थापना की गई जिसका कार्य सीमेन्ट की कीमतो का नियन्त्रित करना था। 1927 मे कंकरीट एसोसियेशन ऑफ इन्डिया का गठन हुआ, जिसका प्रमुख कार्य सदस्यो के उत्पादन का विज्ञापन एव वितरण करना था। विपणन व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए 1930 मे सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेट की स्थापना की गई जिससे नियन्त्रित कीमत पर सीमेन्ट की बिक्री तथा वितरण को प्रोत्साहन दिया जा सके। सीमेन्ट उद्योग के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण घटना सन् 1936 मे एसोसियेटेड कम्पनी को स्थापना होना है। सगठन एव वितरण सम्बन्धी विवेकीकरण की दशा में यह महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इस कम्पनी की स्थापना के बाद देश का सीमेन्ट उद्योग दो समूहो—ए० सी० सी० ग्रुप और डालमिया-जैन ग्रूप मे बँट गया। सन् 1936 में ही राजस्थान मे सवाई माधोपुर नामक स्थान पर जयपुर उद्योग लिमिटेड की स्थापना हुई। सन् 1937 मे डालमिया-जैन ग्रुप द्वारा बिहार मे कल्यान नामक स्थान पर लाइम और सीमेन्ट वर्क्स लिमिटेड की स्थापना की गई। सन् 1938 मे मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के भद्रावती के कारखाने मे सीमेन्ठ का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र मे यह पहला सीमेन्ट कारखाना था। सन् 1938-39 मे डालमिया-जैन ग्रुप द्वारा बिहार मे डालमिया नगर, मद्रास में डालमियापुरम और हरियाणा मे दादरी नामक स्थान पर एक नवीन सीमेन्ट इकाई स्थापित हो गई। ए० सी० सी० ग्रुप ने भी इसी अवधि मे सीमेन्ट उद्योग मे तीन इकाइयो की वृद्धि की जो कि हरियाणा, बिहार और आन्ध्र प्रदेश मे स्थापित की गई।

सन् 1947 मे देश का विभाजन हुआ और फलस्वरूप सीमेट के कुल 24 कारखानो मे से 6 कारखाने पाकिस्तान मे चले गए और शेष 18 भारत में रहे। डालमिया समूह और ए० सी० सी० ग्रुप में सन् 1938 की तरह 1948 मे पुनः आन्तरिक प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई, जिसका उद्योग पर बुरा प्रभाव पडा।

पंचवर्षीय योजनाओं में सीमेंट उद्योग

प्रथम योजना—प्रथम योजना के आरम्भ में सीमेण्ट का उत्पादन लगभग 30 लाख टन था। प्रथम योजना मे सीमेण्ट उद्योग के 45 लाख टन से अधिक की उत्पादन क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, परन्तु 45 लाख टन की क्षमता ही स्थापित की जा सकी।

द्वितीय योजना—इस योजना मे सीमेट की माँग काफी थी जिससे लक्ष्य को

बढाकर 160 लाख टन कर दिया गया, परन्तु वास्तविक उत्पादन क्षमता 92 लाख टन ही रही।

तृतीय योजना—इस योजना मे 150 लाख टन की उत्पादन क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया, परन्तु 116 लाख टन की ही उत्पादन क्षमता स्थापित की जा सकी।

चतुर्थ योजना—इस योजना मे 1973-74 तक 215 लाख टन की उत्पादन क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया था, परन्तु 197·5 लाख टन की ही उत्पादन क्षमता स्थापित की जा सकी। इस प्रकार इस उद्योग के विकास का क्रम सदैव ही लक्ष्य से पीछे रहा है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक सीमेट उत्पाद का लक्ष्य 20.8 मिलियन टन निर्धारित किया गया। वर्तमान सीमेट मिलो की क्षमता मे विस्तार करने के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र मे भारतीय सीमेट निगम द्वारा 6 नई इकाइयाँ स्थापित करने की योजना थी।

योजनाओ मे सीमेन्ट उद्योग की प्रगति दर्शायी गई है।

वष	1951-52	1960-61	1970-71	1980-81	1984-85 (लक्ष्य)
उत्पादन (लाख टन)	27.0	79 0	144 0	210.0	345 0

छठीं (1980-85) याजना मे कुल सीमेन्ट का उत्पादन लक्ष्य 345 लाख टन रखा गया है। इस योजना मे मांग और पूर्ति के अन्तराल को कम किया जायेगा। सीमेन्ट का इस योजना मे एक महत्त्वाकाक्षी कार्यक्रम बनाया गया है और 300 करोड रुपये का निवेश किया जायेगा।

वर्तमान स्थिति

(i) **कारखानो की संख्या**—इस समय भारत मे सीमेण्ट के 65 कारखाने हैं जिनमे से 9 कारखाने सरकारी क्षेत्र मे तथा शेष निजी क्षेत्र मे हैं।

(ii) **पूंजी विनियोग एवं रोजगार**—इस उद्योग मे लगभग 280 करोड रुपये की पूंजी लगी है तथा 85 हजार श्रमिक कार्यरत है।

(iii) **उत्पादन**—1979-80 में सीमेण्ट का कुल उत्पादन 1.76 करोड टन था जबकि 1950-51 में केवल 20 लाख टन था।

(iv) **उत्पादन क्षमता**—सीमेण्ट कारखानों की कुल प्रस्थापित क्षमता 2.58 करोड टन वार्षिक है।

(v) **निर्यात**—भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओ मे सीमेन्ट अभी कुछ वर्षों से ही शामिल हुआ है। यहाँ से पाकिस्तान, बांगलादेश, श्रीलंका, अफगानिस्तान व ईरान आदि देशो को सीमेण्ट भेजा जाता है।

(vi) **उपभोग**—भारत मे सीमेण्ट का उपभोग प्रति व्यक्ति 27 किलोग्राम वार्षिक है, जबकि स्विटजरलैण्ड मे यह संख्या 753 व पश्चिम जर्मनी में 598 है।

(vii) **भारतीय सीमेण्ट निगम**—केन्द्रीय क्षेत्र मे सीमेण्ट उद्योग का एक ही अभिकरण 'भारतीय सीमेण्ट निगम' नई दिल्ली है। इसके 6 कारखाने है—कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश और असम मे एक-एक कारखाना है और 3 कारखाने मध्य प्रदेश मे हैं।

(viii) **वितरण**—भारतवर्ष मे अधिकाश सीमेण्ट कारखाने बिहार मे है। ये कारखाने सिन्द्री, खलारी, डालमियानगर, कल्याणपुर, जापला, झाझर, चायबासा मे हैं। बिहार मे सीमेण्ट उद्योग केन्द्रित होने के निम्नलिखित कारण है—(1) जिप्सम, राजस्थान के जोधपुर और बीकानेर जिलो से उपलब्ध हो जाता है। (2) कोयले की खाने बिहार मे पायी जाती हैं। सीमेण्ट के उत्पादन के लिए इसका विशेष महत्त्व है। (3) चूने का पत्थर सीमेण्ट के कारखाने के समीप मिल जाता है।

सीमेण्ट के अन्य कारखाने निम्नलिखित राज्यो मे हैं—

राज्य	प्रमुख क्षेत्र
मध्य प्रदेश	कटनी, सतना, कैमोर
उडीसा	राजगंगपुर
राजस्थान	जयपुर, लखेरी, सवाई माधोपुर
गुजरात	द्वारका, ओखामण्डल, जामनगर, सेवालिया
पंजाब	सूरजपुर, भूपेन्द्र नगर
तमिलनाडु	डालमियापुरम, तिन्नेवली, मधुकराय
कर्नाटक	भद्रावती, वागलकोट
पश्चिमी बंगाल	चौबीस परगना
आन्ध्र प्रदेश	कृष्ण, वेजवाडा, शाहबाद
उत्तर प्रदेश	चुर्क
केरल	कोटयाम
असम	उमती नगर

सीमेंट उद्योग की समस्याएँ

भारत के सीमेण्ट उद्योग के समक्ष निम्नलिखित समस्याएँ हैं जिनका तत्काल समाधान आवश्यक है—

(1) **उद्योग के विकास की धीमी गति**—भारत एक विकासोन्मुख देश है और यहाँ आर्थिक विकास के लिए सीमेण्ट का बहुत महत्त्व है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत जिस गति से बहुमुखी योजनाओं तथा भवनो का निर्माण कार्य कार्यान्वित किया जाता है, उसको देखते हुए सीमेण्ट का उत्पादन अत्यन्त तेजी से बढाया जाना

आवश्यक है, परन्तु भारत में सीमेण्ट उद्योग का विकास निम्नलिखित कारणो से तीव्र गति से नही हो सका है—

(अ) **निम्न लाभदायकता**—सीमेण्ट उद्योग मे लाभ अन्य उद्योगो की अपेक्षा काफी कम है। लाभो की कमी के कारण उद्योग आन्तरिक कोषो का सृजन नही कर पाता है सीमेण्ट एक पूंजी सघन उद्योग है और जब तक समुचित प्रत्याय का आकर्षण नही होगा तब तक इसे समुचित मात्रा मे पूंजी भी प्राप्त नही हो सकेगी।

उद्योग की निवेश पर पर्याप्त आय सुनिश्चित करनी होगी जिसमे कि विकास को प्रोत्साहन मिल सके। सरकार की वर्तमान नीति के अनुसार नई क्षमता पर 14 प्रतिशत आय प्राप्त होती है। लेकिन सीमेण्ट उद्योग का कहना है कि यह आय पर्याप्त इसलिए नही है क्योकि सयन्त्र की स्थापना पर व्यय प्रति टन 650 रुपये हो गया है जबकि पहले व्यय 250 रुपये ही था। ऐसे समाचार है कि सरकार इस तरह के प्रस्ताव पर विचार कर रही है कि सीमेण्ट उद्योग को कर के बाद 12 से 14 प्रतिशत तक लाभ मिल सके। लेकिन नई सरकार नए निवेश पर आय सुनिश्चित करने मे सिर्फ सिमेण्ट उद्योग ही नही वरन् अन्य उद्योगो के लिए भी कुछ समय लेगी। यदि तत्काल कोई निर्णय ले भी लिया जाता है तो नयी इकाइयो के लिए माँग और पूर्ति के बीच की खाई को पूरा कर पाना सम्भव नही हो पायेगा क्योकि इनमे उत्पादन आरम्भ करने मे समय लगेगा।

(ब) **अत्यधिक नियन्त्रण**—उद्योग की मन्द-गति मे प्रगति होने का एक मूल कारण यह भी है कि इस उद्योग पर सरकार का अत्यधिक नियन्त्रण रहा है। इसकी स्थापना, इसकी कीमत, ईंधन, वितरण और यहाँ तक इसकी पैकिंग भी सरकार द्वारा नियन्त्रित की जाती है। इन अत्यधिक एवं अनावश्यक प्रतिबन्धो ने उद्योग के विकास को रोका है तथा नए उपक्रमो की स्थापना को हतोत्साहित किया है।

(स) **अव्यावहारिक औद्योगिक लाइसेन्स प्रथा**—सरकार की औद्योगिक लाइसेन्स देने की प्रथा सीमेन्ट उद्योग के सम्बन्ध मे बडी अव्यावहारिक रही है। लाइसेन्स के साथ अनेक शर्तें लगा दी जाती है, विदेशी विनिमय कम मात्रा मे दिया जाता है जिसके कारण उद्यमी इस उद्योग की स्थापनान मे अधिक रुचि नही लेते।

(2) **कच्चे माल की कमी**—सीमेण्ट उद्योग की एक अन्य समस्या कच्चे माल की कमी है। सीमेण्ट के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल कैलकेरिया पदार्थ (चूने का पत्थर, कैलकेरियस् रेत तथा सामुद्रिक शेल) तथा अन्य पदार्थ (क्ले, शेल, बाक्साइट, जिप्सम तथा कायला या फर्नेस तेल) है। वास्तविकता यह है कि उच्च कोटि का कच्चा माल देश के सभी प्रदेशो में उचित रूप मे बिखरे होने के बजाय कुछ ही क्षेत्रों मे केन्द्रित है। इसके कारण यातायात व्यय अधिक पडता है। अत॰ घटिया किस्म के कच्चे माल का प्रयोग होता है।

(3) **क्षमता का अल्प उपयोग**—देश में सीमेण्ट की पर्याप्त माँग होने पर भी सीमेण्ट उद्योग में स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग नही हो पा रहा है। सीमेण्ट उद्योग की 88 प्रतिशत स्थापित क्षमता का उपयोग हो रहा है।

(4) **प्रादेशिक असंतुलन**—सीमेण्ट उद्योग प्रादेशिक असंतुलन अर्थात् दोषपूर्ण क्षेत्रीय वितरण की समस्या से भी ग्रस्त है। यह उद्योग मुख्य रूप से दक्षिणी एवं पश्चिमी क्षेत्र मे केन्द्रित है जिससे इन दो क्षेत्रो मे उत्पादन का आधिक्य है लेकिन पूर्वी क्षेत्र तथा उत्तरी क्षेत्र मे सीमेण्ट का अभाव है। सीमेण्ट जैसे भारी यातायात व्यय वाले उद्योग मे इन क्षेत्रीय असमानताओ को कम करने की आवश्यकता है।

(5) **परिवहन की कठिनाइयाँ**—सीमेण्ट उद्योग एक भारी कच्चे पदार्थ वाला उद्योग होने के साथ-साथ भारी निर्मित पदार्थ उद्योग है जिसके कारण इस उद्योग मे परिवहन की पर्याप्त सुविधाओ का होना बहुत आवश्यक है। लेकिन भारतीय सीमेण्ट उद्योग में परिवहन की कठिनाई एक महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका प्रभाव उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनो पर ही पडता है। वैगनो की कमी तो सदैव ही रहती है और कभी-कभी यातायात की सुविधा न मिलने के कारण फैक्ट्री को अपने उत्पादन मे कटौती करनी पडती है। यद्यपि हाल मे इस दिशा मे काफी सुधार हुआ है किन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। यह आवश्यक है कि रेल भाडा नीति ऐसी हो जिससे कि सभी स्थानो पर सीमेन्ट को बिना मूल्य बढाए आसानी से पहुँचाया जा सके। यह भी आवश्यक है कि सीमेण्ट उद्योग की भावी विस्तार की सभी योजनाएँ परिवहन के विस्तार की योजनाओ के साथ ही बनाई जायँ।

(6) **ऊँची उत्पादन लागत**—भारत मे सीमेण्ट की प्रति टन उत्पादन लागत अन्य देशो की अपेक्षा बहुत अधिक है। बढती हुई उत्पादन लागत से सीमेण्ट उत्पादको के लाभ मे कमी आयी है क्योकि सीमेन्ट का और अधिक मूल्य बढाना सम्भव नही हो सकता है।

(7) **सीमेण्ट मशीनरी का अभाव**—सीमेण्ट उद्योग का विकास करने हेतु अभी भी अधिकाश मशीनरी का हमे विदेशो से आयात करना पडता है। इस हेतु विदेशी मुद्रा की उपलब्धि मे कठिनाई होती है। देश मे सात स्वदेशी फर्में इस मशीनरी का उत्पादन करती हैं परन्तु घरेलू मशीनरी की न केवल कीमत अधिक है बल्कि इसका उत्पादन भी माँग की अपेक्षा कम है, फिर भी सीमेण्ट मशीनरी के उत्पादन मे तेजी से वृद्धि हो रही है।

(8) **अनुसंधान एवं तकनीकी सेवाओं की आवश्यकता**—सीमेण्ट उद्योग के लिए अनुसंधान और तकनीकी सेवाओ का भी पर्याप्त महत्त्व है। सभी प्रमुख उत्पादन इकाइयो मे शोध की व्यवस्था है जिसमे सीमेण्ट के उत्पादन सम्बन्धी बातो के सम्बन्ध मे अनुसंधान किया जाता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि एक **'केन्द्रीय सीमेण्ट शोध संस्थान'** की स्थापना की जानी चाहिए जो सीमेन्ट के नए-नए कच्चे माल तथा उत्पादन तकनीक अनुसंधानो की व्यवस्था करे।

(9) **अन्य समस्याएँ**—(अ) भारतीय सीमेण्ट उद्योग पर कर भार बहुत अधिक है जिसको घटाया जाना चाहिए।

(ब) सीमेण्ट की लागत अधिक होने के कारण इसका पर्याप्त निर्यात नही हो पा रहा है।

उद्योग के विकास के लिए निम्नलिखित उपायो को अपनाने के सुझाव दिए जा सकते है—

1. वर्तमान संस्थापित क्षमता के अप्रयुक्त भाग का अधिक से अधिक प्रयोग करके उत्पादन मे वृद्धि की जानी चाहिए।

2 विद्यमान इकाइयो के विस्तार को प्राथमिकता के आधार पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

3. कार्यक्षमता मे वृद्धि करने तथा लागत व्यय को कम करने के उद्देश्य से उद्योग को अपनी मशीनो का आधुनिकीकरण करना चाहिए।

4. राज्य सरकारो को चाहिए कि दीर्घकालीन पट्टे देकर इस उद्योग की उन्नति मे सहायता दे।

5. अभी तक सीमेण्ट निर्माण मे चूना पत्थर का ही प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसके लिए अन्य कच्चे माल जैसे स्लैग (लोहा एव इस्पात उद्योग का अवशिष्ट भाग) आदि के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

6. उचित मूल्य-नीति द्वारा उपलब्ध तकनीकी ज्ञान का उपयोग नए कारखानो की स्थापना मे किया जाना चाहिए।

7 विद्युत-शक्ति के प्रसार एवं प्रयोग से दक्षिण मे इस उद्योग के प्रसार की सम्भावनाएँ बढ गई हैं। अत. इस उद्योग को सस्ती कीमत पर बिजली उपलब्ध करायी जानी चाहिए।

8. सीमेण्ट का उत्पादन बढाने के लिए मिनी इस्पात संयंत्रो की भाँति मिनी सीमेन्ट संयंत्रों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। रीजनल रिसर्च लेबोरेटरी, जोरहट मे छोटे आकार के सीमेण्ट संयत्र का डिजाइन तैयार किया गया है जिसे विकसित करके उपयोग मे लाया जा सकता है। अनुमान लगाया गया है कि छोटे आकार के संयत्रो मे प्रतिटन मशीनरी लागत कम होगी। प्रयोग के रूप मे इस प्रकार के कुछ मिनी सीमेण्ट सयत्रो की स्थापना की जा सकती है।

9 सरकार की लाइसेन्स नीति को अधिक व्यावहारिक बनाना चाहिए।

10 देश मे सीमेण्ट मशीनरी का उत्पादन बढाया जाय इसके बावजूद भी यदि सीमेण्ट मशीनरी का आयात करना पडे तो उसके लिए उदारता से विदेशी मुद्रा उपलब्ध करायी जाय।

भविष्य—भारत मे सीमेण्ट उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है क्योकि (अ) पक्के मकानों के निर्माण के लिए सीमेण्ट की माँग बढेगी, (ब) सडको व बाँधो के निर्माण हेतु भी सीमेण्ट की अधिकाधिक जरूरत होगी, (स) विदेशो मे भी भारतीय सीमेण्ट की माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही हैं।

इंजीनियरिंग उद्योग
(Engineering Industry)

किसी राष्ट्र से औद्योगीकरण मे इंजीनियरिंग उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज विश्व मे समृद्ध कहे जाने वाले राष्ट्रो की तीव्र प्रगति का रहस्य उनके इंजीनिय-

रिंग उद्योग की आश्चर्यजनक क्षमता मे छिपा हुआ है। वस्त्र, पटसन, सीमेंट, कागज, कोयला, लोहा व इस्पात, चीनी आदि सभी उद्योग मशीनो पर निर्भर हैं। इन उद्योगो मे प्राय: बहुत बडे आकार की मशीनो की आवश्यकता पडती है। पाश्चात्य देशो मे कृषि की सम्पूर्ण क्रियाएँ मशीनो द्वारा की जाती है। इजीनियरिंग उद्योग तो एक ऐसा उद्योग है जिसके विकास के बिना देश मे मशीन का एक पहिया भी नही चल सकता। भारत मे भी इंजीनियरिंग उद्योग को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

संक्षिप्त इतिहास

इजीनियरिंग उद्योग का प्रारम्भ मुख्य रूप से कलकत्ता मे हुआ, जहाँ बर्न एण्ड कम्पनी, जैसप एण्ड कपनी, बेथवेट एण्ड कम्पनी इत्यादि ब्रिटिश फर्में स्थापित हुई। 1924 मे देश मे 40 इन्जीनियरिंग फर्में थी जिसमे 75,000 व्यक्ति कार्यरत थे। 1929 व 1934 मे सामान्य मन्दी के समय सरकार एवं रेलवे की माँग मे कमी होने से इस उद्योग को भारी हानि सहन करना पडा। लेकिन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण उद्योग को प्रोत्साहन मिला, जिससे इकाइयो की संख्या बढकर 58 व श्रमिको की सख्या 84,000 हो गयी। 1943 मे यह संख्या क्रमश. 87 व 15,000 थी। इनमे से अधिकाश इकाइयाँ कलकत्ता, मद्रास व बम्बई के चारो ओर ही केन्द्रित थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् उद्योग मे तीव्र प्रगति हुई। भारत ने विभिन्न प्रकार के उपकरण एवं मशीनरी पिन से वायुयान तक का उत्पादन किया। द्वितीय महायुद्ध की अवधि, इस योजना के लिए एक वरदान सिद्ध हुई और उसके पश्चात् पचवर्षीय योजनाओ मे इस आयोग को प्राथमिकता प्रदान की गई।

योजनावधि में विकास

प्रथम योजना मे कृषि विकास पर अधिक ध्यान देने से इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास पर विशेष ध्यान नही दिया गया। सूती वस्त्र मशीनरी के उत्पादन मे कुछ प्रगति अनुभव की गई जिसका उत्पादन मूल्य 1950-51 मे 4 करोड रु० से बढकर 1955-56 मे 11 करोड रु० हो गया। सीमेंट, जूट एवं शक्कर मशीनरी का निर्माण भी व्यापक स्तर पर होने लगा।

द्वितीय योजना मे भारी व आधारभूत उद्योगो के विकास पर भारी महत्त्व देने के कारण इस उद्योग को भी प्राथमिकता दी गई। इस अवधि मे वर्कशाप भारी फाउण्डरी, ढाँचा दुकानो की स्थापना की गयी। मशीनीकरण एवं विद्युत इंजीनियरिंग उद्योग मे तीव्र प्रगति हुई। डीजल इन्जिन के उत्पादन मे तीव्र वृद्धि हुई।

तृतीय योजना मे ढाँचा इंजीनियरिंग उद्योग के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। निजी क्षेत्र के विकास पर जोर दिया गया और सार्वजनिक क्षेत्र मे अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की गयी जैसे कि हिन्दुस्तान केबिल्स लि० हैवी प्रेशर एवं पम्प, बॉल एवं रॉलर, बीयरिंग, महत्त्वपूर्ण इन्स्टुमैंट फैक्टरी व सर्जीकल उपकरण आदि।

योजना काल मे मशीनीकरण, इजीनियरिंग व विद्युत इजीनियरिंग उद्योग के उत्पादन मे अपार वृद्धि हुई।

चतुर्थ योजना मे विद्यमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के प्रयास किये गये। प्रमुख रूप से योजनाओ का पूर्ण करने मे विनियोग किये जायेंगे तथा शेष विनियोग कुछ विद्यमान इकाइयो का विवर्तन करने मे किया जायेगा जैसे कि हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, खदान एव सहायक मशीनरी निगम एवं भारत हैवी विद्युतीकरण आदि। मशीन टूल्स उत्पादन, परिवहन एव सवहन, उपकरण एवं कृषि मशीनरी का भी विस्तार किया गया।

पाँचवीं योजना—पाँचवी योजना मे इजीनियरिंग उद्योग मे स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग करने उत्पादनो का विविधीकरण करने तथा मशीन निर्माण क्षमता की कमी को पूरा करने पर जोर दिया गया। पाँचवी योजना के अन्त तक इस उद्योग के निर्यात लगभग 400 करोड रु० करने का लक्ष्य रखा गया था।

छठवीं योजना—छठवी योजना मे इन्जीनियरिंग उद्योग के सामान की पूर्ति हेतु अप्रयुक्त क्षमता के पूर्ण उपयोग पर जोर दिया गया है। यन्त्रो के नवीनीकरण, भारत हैवी इलेक्ट्रीकल्स के विस्तार और हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की घड़ी निर्माण करने वाली एक नवीन इकाई की स्थापना के अतिरिक्त शेष पारव्यय, राजकीय क्षेत्र की चालू योजनाओ को पूरा करने मे लगाया जायेगा। इस क्षेत्र का निर्यात वृद्धि मे विशेष योगदान रहेगा। विशाखापट्टनम एव कोचीन के जहाज बनाने वाले कारखानो का विस्तार किया जायेगा तथा इलेक्ट्रोनिक्स उद्योगो का विकास किया जायेगा।

इन्जीनियरिंग उद्योग का स्थानीयकरण[1]

इजीनियर उद्योग का स्थानीयकरण मुख्यत. बड़े नगरो मे हुआ है। इजीनियरिंग उद्योग के मुख्य केन्द्र एवं वहाँ के विशिष्टीकरण निम्न प्रकार है—

1 **बम्बई (महाराष्ट्र)**—वस्त्रोद्योग मशीनरी, स्वत:चालित वाहन, पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्तीकरण, पोत निर्माण, सूक्ष्म उपकरण, विद्युत वस्तुएँ एवं छोटी मशीनें।

2 **बंगलौर (कर्नाटक)**—वायुयान मशीन टूल्स, रेलवे डिब्बे, दूर सन्देश उपकरण एवं इलैक्ट्रानिक्स।

3. **कलकत्ता (पश्चिमी बंगाल)**—स्वत चालित वाहन, पार्ट्स निर्माण एवं सयुक्तीकरण। विद्युत वस्तुएँ, सूक्ष्म उपकरण एवं वस्त्रोद्योग मशीनें।

4 **देहली**—विद्युत वस्तुएँ एव छोटी मशीनरी।

5. **मद्रास (तमिलनाडु)**—स्वतः चालित वाहन पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्ती-

1. Based on Economic Geography of India by V. S. Gananathan P. 77-78

करण, ट्रक्स पार्ट्स निर्माण एव सयुक्तीकरण, मोटर साइकिल, रेलवे, डिब्बे, साइकिल, डीजल इजन, विद्युत वस्तुएँ, छोटी मशीनरी, शल्य चिकित्सा उपकरण।

6 अहमदाबाद (गुजरात)—वस्त्र उद्योग मशीने।

7 बड़ौदा (गुजरात)– वस्त्रोद्योग मशीनरी।

8 भोपाल (मध्य प्रदेश)—भारी विद्युत (ब्रिटिश सहयोग से स्थापित केन्द्रीय सरकार की परियोजना)

9 चितरंजन (पश्चिमी बंगाल)—स्टीम एव विद्युत इंजन।

10. जमशेदपुर (बिहार)—स्टीम इजन, डीजल ट्रक्स पार्ट्स निर्माण एव सयुक्तीकरण।

11 कानपुर (उत्तर प्रदेश)—सुरक्षा साज सामान।

12. मैसूर (कर्नाटक)—मोटर साइकिल पार्ट्स निर्माण एवं सयुक्तीकरण।

13 नाहन (हिमाँचल प्रदेश)—कृषि उपकरण विद्युत मोटर्स

14 पिंजौर (पंजाब)—मशीन टूल्स

15. पूना (महाराष्ट्र)—डीजल इंजिन और पम्प, आटोमोबाइल्स जीपे, मशीन टूल्स, इलैक्ट्रीकल्स, सुरक्षा साज सामान।

16 राँची (बिहार)—भारी इञ्जीनियरिंग।

17 रूपनारायणपुर (पश्चिमी बंगाल)—केबिल्स और वायर्स।

18 सिकन्दराबाद (आन्ध्र प्रदेश)—औजार और सुरक्षा साज सामान।

19 त्रिपुरापल्ली (तमिलनाडु)—बॉयलर्स और रेलवे साज सामान।

20 विशाखापट्टनम (आन्ध्र प्रदेश)—पोत निर्माण।

वर्तमान स्थिति

1 रोजगार एवं पूँजी—भारत मे इन्जीनियरिंग उद्योग मे लगभग 20 लाख व्यक्ति कार्यरत है और इसमे लगभग 8,000 करोड रुपये की उत्पादक पूँजी लगी है। देश के निर्माणी उद्योग मे इन्जीनियरिंग उद्योग का भाग पूँजी मे लगभग 35% और रोजगार मे लगभग 30% है।

2 उत्पादन—1950-51 मे इन्जीनियरिंग उद्योग का उत्पादन केवल 50 करोड रुपये का था जो 1974-75 वर्ष में बढ़कर 3,603 करोड़ रुपये का हो गया था जिसके 1978-79 मे लगभग 6,000 करोड रुपये हो जाने का अनुमान है।

3. निर्यात—1955-56 मे इन्जीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात केवल 5.16 करोड़ था जो बढ़कर 1980-81 मे लगभग 900 करोड रु० हो गया। नीचे सारिणी मे इन्जीनियरिंग वस्तुओ के निर्यात को दर्शाया गया है—

निर्यात की दिशा

क्षेत्र	निर्यात 1956-57 मे कीमत (मिलियन रु० मे)	कुल निर्यात मे प्रतिशत	निर्यात 1980-81 मे कीमत (मिलियन रु० मे)	(अनुमानित) कुल निर्यात मे प्रतिशत
1. एशिया	37.60	72.86	3477.70	48.50
2 अफीका	12 00	23 23	1501.50	20 97
3 यूरोप	negligible	0 21	1426.80	19.90
4. अमेरिका	negligible	0.36	581.80	8.11
5. ओसीनिया	1 00	1 96	77.10	1.07
6 आस्ट्रेलिया	negligible	1 38	104.40	1.45
कुल	51 60	100.00	7169.30	100.00

समस्याएँ

वर्तमान मे भारतीय इन्जीनियरिंग उद्योग की निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ है :

1. **कच्चे माल का अभाव**—इस्पात तथा अलौह धातुएँ इन्जीनियरिंग उद्योग की आधारभूत आवश्यकताएँ है परन्तु भारत मे विभिन्न कारणो से इन धातुओ का अभाव बना हुआ है । फलत इन आधारभूत वस्तुओ के अभाव मे हमारे निर्यात भी कम हो जाते हैं ।

2. **आन्तरिक माँग में अनियमितता**—भारत मे मानसून की अनिश्चितता के कारण कृषि एवं उद्योगो की इन्जीनियरिंग माल की माँग मे अनियमितता बनी रहती है । जिस वर्ष वर्षा ठीक नही होती तो कृषि उत्पादन मे कमी के कारण कृषको की आय भी कम हो जाती है फलत' कृषि उपकरणो जैसे ट्रैक्टर्स, थेसर्स आदि की माँग कम हो जाती है और इन्जीनियरिंग उद्योग मे माँग मन्दी उत्पन्न हो जाती है । ऐसे समय मे निर्यात ही उद्योग को बढावा दे सकते है ।

3. **ऊँची उत्पादन लागत**—भारत मे विगत वर्षों मे इस्पात एव अलौह धातुओ के कीमतो मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है इसके अतिरिक्त विद्यु्त व कच्चे माल के अभाव मे इन्जीनियरिंग इकाइयाँ अपनी पूर्ण क्षमता का उपयोग कर पाने मे असमर्थ रहती है । फलतः इनकी उत्पादन लागत ऊँची हो जाती है । जो हमारे निर्यातो पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है ।

4. **पूंजी का अभाव**—भारी इन्जीनियरिंग उद्योग की स्थापना एवं उसके विकास के लिए अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता होती है जबकि भारत मे पूंजी का अभाव है ।

5. **अत्यधिक कर भार**—इस उद्योग पर भारी मात्रा मे कर लगाए जाते हैं। करो से इस उद्योग की वस्तुओ की उत्पादन लागत मे वृद्धि हो जाती है जिससे इन वस्तुओ को देश मे बेचने तथा निर्यात करने मे कठिनाई का सामना करना पडता है।

6. **यायायात की कठिनाई**—भारत मे अधिकाश इजीनियरिंग केन्द्रो तक रेल लाइने है, परन्तु वे अत्यन्त अपर्याप्त है। सरकार को चाहिए कि इन उद्योगो के उत्पादन केन्द्रो तक दोहरी लाइने बिछाये तथा इन उद्योगो को रेल के डिब्बे उपलब्ध कराने मे कुछ प्राथमिकता देने की व्यवस्था करे।

7. **बिजली तथा अन्य शक्तियो की समस्या**—इन्जीनियरिंग उद्योगो के लिए कोयला व सस्ती बिजली की पर्याप्त मात्रा मे उपलब्धि होना जरूरी है परन्तु देश मे अधिकाश भागो मे इनका अभाव होने के कारण भारी औद्योगिक इकाइयो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। अत सरकार को चाहिये कि सभी भारी मशीन उद्योगो को बिजली तथा कोयले की पूर्ति पर्याप्त मात्रा मे करे।

8. **निर्यात में कठिनाई**—विगत वर्षों मे भारत से डीजल इन्जिन्स और माल के डिब्बे इत्यादि अनेक वस्तुओ का निर्यात आरम्भ हुआ है, परन्तु इनमे से बहुत-सी वस्तुओ का निर्यात राज्य व्यापार निगम के माध्यम से होता है जिससे माल की बिक्री मे अनावश्यक देरी होती है व उद्योगपतियो को समय पर भुगतान नही मिलता। अत यह आवश्यक है कि राज्य व्यापार निगम अपनी कार्य प्रणाली को अधिक कुशल बनाये।

उपर्युक्त कठिनाइयो के अतिरिक्त (अ) इन्जीनियरिंग उद्योग मे काफी क्षमता प्रयुक्त पड़ी है इसका उचित उपयोग किया जाना चाहिये। तथा (ब) इस उद्योग मे अनेक अनार्थिक इकाइयाँ है जिनको आर्थिक बनाने का प्रयास किया जाना चाहिये।

उद्योग की दशा सुधारने के लिए उपाय

उद्योग के सुधार के लिए सुधार इस प्रकार दिए जा सकते है।

(i) चूंकि इन्जीनियरिग उद्योग एक निर्यात प्रधान उद्योग है, सरकार को इस उद्योग की निर्यात प्रधान इकाइयो को नियन्त्रित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा मे इस्पात व अलौह धातुओ को उपलब्ध कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ii) सरकार को चाहिए कि कर भार मे कुछ कमी कर दे जिससे कि देश के अन्दर उन वस्तुओ की माँग बढ सके व निर्यात व्यापार मे वृद्धि हो सके।

(iii) इनके पूर्ण उत्पादन क्षमता पर कार्य करने के लिए शक्ति व कच्चा माल पर्याप्त मात्रा मे दिया जाना चाहिए।

(iv) पूंजी की कमी की पूर्ति के लिए वित्तीय सस्थाओ व सरकार द्वारा मिलकर प्रबन्ध करना चाहिए।

(v) विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला उन्नत तकनीक, कम मूल्य, क्वालिटी नियन्त्रण एवं गारण्टी से किया जा सकता है।

भविष्य

भारत का इन्जीनियरिंग उद्योग निकट भविष्य मे ही उज्ज्वल कीर्तिमान स्थापित करने की ओर क्रियाशील दिखता है। सरकारी इकाइयो और निजी क्षेत्र की इकाइयो मे एक प्रकार से स्वागत योग्य प्रतियोगिता बढती जा रही है। निजी क्षेत्र के अलावा सरकारी क्षेत्र को हैवी इजीनियरिंग आदि तथा मशीनें तथा औजार तैयार करने वाली इकाइयो को विदेशो से काफी बड़े आर्डर मिल रहे हैं। बोकारो का माल अमेरिका तक को निर्यात हो रहा है। इधर अरब देशो मे औद्योगिक विकास की जो लहर आयी है और भारतीय इजीनियरिंग और तकनीकी ज्ञान और माल की जैसी माँग बढती जा रही है उससे उत्साहित होकर कुछ इजीनियरिंग इकाइयो ने एक सघ (कन्सोर्टियम) भी बनाया है।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत के लोहा और इस्पात उद्योग का सक्षिप्त विवरण दीजिए। भारत की अर्थ-व्यवस्था के विकास मे इसका क्या योगदान है ?

अथवा

भारत मे लोहा एव इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं समस्याओ का परीक्षण कीजिये।

अथवा

स्वतन्त्रता के समय से भारत मे लोहा और इस्पात उद्योग के विकास का सक्षिप्त ब्योरा दीजिए तथा इसकी मुख्य वर्तमान समस्याओ का उल्लेख कीजिए।

2 भारत मे शक्कर उद्योग की वर्तमान समस्याओ और भावी सम्भावनाओ की विवेचना कीजिए। क्या आप इस उद्योग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है ?

अथवा

भारतीय चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति, समस्याओ तथा उसके भविष्य की व्याख्या कीजिए।

3 सन् 1951 से भारत के सूती वस्त्र उद्योग के विकास का विवरण दीजिए। इस उद्योग की वर्तमान समस्याओ की विवेचना कीजिए।

अथवा

भारत मे सूती वस्त्र उद्योग के विकास, वर्तमान स्थिति और समस्याओ की विवेचना कीजिये।

4. भारत मे जूट उद्योग के विकास एव वर्तमान स्थिति पर एक विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

अथवा

जूट उद्योग की प्रगति पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

5. भारत में कोयला उद्योग के विकास तथा उन्नति के बारे मे लिखिए तथा इस उद्योग की समस्याओं का वर्णन कीजिए।

अथवा

भारत मे उद्योग के विकास तथा समस्याओ की चर्चा कीजिए ।

6 भारत जैसे देश के लिए इजीनियरिंग उद्योग का क्या महत्त्व है ? विवेचना कीजिए । एव नियोजन काल मे इस उद्याग की प्रगति का मूल्याकन कीजिये ।

अथवा

भारत मे इजीनियरिग उद्योग के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए तथा इसकी मुख्य वर्तमान समस्याओ का उल्लेख कीजिए ।

7 सीमेट उद्योग की प्रगति पर आलोचनात्मक लेख लिखिए ।

अथवा

भारतीय सीमेट उद्योग की समस्याओ, वर्तमान स्थिति और भविष्य का विवेचन कीजिए ।

23

भारत में सार्वजनिक उपक्रम—महत्व एवं प्रगति

(Public Enterprise in India—Importance and Progress)

सार्वजनिक उपक्रम का अर्थ—जिन उपक्रमो या उद्योगो पर सरकार अथवा स्थानीय संस्थाओ आदि सार्वजनिक संस्थाओ का स्वामित्व तथा प्रबन्ध होता है उन्हे सार्वजनिक उपक्रम कहा जाता है। सार्वजनिक उपक्रम की विभिन्न विद्वानो द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाएँ निम्नलिखित है—

1. **रायचौधरी और चक्रवर्ती के** अनुसार, "सार्वजनिक उपक्रम व्यवसाय का ऐसा स्वरूप है जो सरकार द्वारा नियन्त्रित और सचालित होता है और सरकार का या तो उस पर पूर्ण एकाधिकार होता है या इसके अधिकाश अंग सरकार के हाथ मे होते है।"

2. **टी० आर० शर्मा के शब्दों में**, "सार्वजनिक उपक्रम एक ऐसी संस्था है जिस पर या तो राज्य का स्वामित्व हो अथवा जिसकी प्रबन्ध, व्यवस्था राजकीय यंत्र द्वारा सचालित की जाती हो अथवा ये दोनो ही राज्य के अधीन हो।"

3 **एस० एस० खेरा के** अनुसार, "सार्वजनिक उपक्रमो से आशय केन्द्रीय सरकार द्वारा या राज्य सरकार द्वारा या उनके द्वारा मिलकर संचालित औद्योगिक, वाणिज्यिक और आर्थिक क्रियाओ से है।"

संक्षेप मे "उन सभी उपक्रमो को सार्वजनिक उपक्रम कहा जाता है जिन पर पूर्णतया अथवा अधिकाश सार्वजनिक स्वामित्व हो तथा जिन पर नियन्त्रण एवं सचालन सरकार का ही हो।" इन्हे उद्योगो को **राष्ट्रीयकरण** अथवा **समाजीकरण** भी कहते है। सरकारी स्वामित्व तथा सरकारी प्रबन्ध सामान्यतः साथ-साथ ही चलते हैं। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि यह आवश्यक नही है कि सार्वजनिक उद्योगो का स्वामित्व एव सचालन दोनो ही एक साथ राज्य के पास हो। उदाहरण के लिए भारत मे स्वतंत्रता के पूर्व कुछ रेलें सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत थी, परन्तु उनकी व्यवस्था का भार सरकार ने निजी कम्पनियो के हाथ मे दे रखा था।

बहुत समय तक भारत मे उद्योगों का स्वामित्व और संचालन निजी क्षेत्र के अधीन रहा, परन्तु ऐसा अनुभव किया गया कि जब तक सरकार औद्योगिक क्षेत्र मे सक्रिय भाग न लेगी, देश का औद्योगिक ढांचा सुदृढ न होगा और न ही देश का

आर्थिक विकास हो सकेगा। इसलिए स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र मे विशेष रुचि दिखाई और सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार हुआ।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व

भारत जैसे विकासोन्मुख देश मे सार्वजनिक क्षेत्र का बहुत अधिक महत्त्व है। भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के महत्त्व या आवश्यकता का निम्नलिखित दृष्टिकोण मे से अध्ययन कर सकते है—

(अ) आर्थिक नियोजन के दृष्टिकोण से महत्त्व, (ब) समाजवादी समाज की स्थापना के दृष्टिकोण से महत्त्व, (स) सामान्य महत्त्व के दृष्टिकोण से महत्त्व।

आर्थिक नियोजन के दृष्टिकोण से महत्त्व

भारत आर्थिक नियोजन के युग से गुजर रहा है और आर्थिक नियोजन की सफलता मे सार्वजनिक उपक्रमो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। प्रो० हैन्सन के शब्दो में "बिना योजनाओ के सार्वजनिक उद्योग कुछ प्राप्त कर सकते है लेकिन बिना सार्वजनिक उद्योगो के योजना सम्भवत: कागज पर ही रह जायेगी।" निम्नलिखित तथ्यों से आर्थिक नियोजन मे सार्वजनिक उपक्रमों का महत्त्व स्पष्ट हो जायेगा।

(1) **साधनो के वितरण का स्वरूप व सरकारी उद्यम**—**प्रो० वी० वी० रामानाथम्** के शब्दो में, "सरकारी क्षेत्र के विस्तार का मुख्य कारण योजनाओ के अधीन निर्धारित साधनो के आवंटन के ढाँचे मे निहित है।" प्रथम योजना मे कृषि के विकास पर बल दिया गया था किन्तु द्वितीय योजना मे उद्योगो के विकास पर जोर दिया गया है। द्वितीय योजना के पूर्व तक निजी क्षेत्र के उद्योगो का प्रभुत्व था। किन्तु द्वितीय योजना से स्थिति सर्वथा विपरीत हो गई अर्थात् सार्वजनिक उपक्रमो का अब प्रभुत्व हो गया है।

(2) **आर्थिक विकास की गति तीव्र करना**—आर्थिक विकास की गति तीव्र करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विकास आवश्यक है क्योकि सरकार द्वारा निर्धारित आर्थिक विकास की गति का लक्ष्य केवल निजी क्षेत्र के प्रयत्नो से प्राप्त करना कठिन है। अन्य शब्दो मे आर्थिक विकास की गति की ऊँची दर को जिसे सरकार ने सम्भवत: जान बूझ कर ऊँचा रखा है, प्राप्त करने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र आवश्यक है। रूस ने लगभग 40 वर्ष की अल्पावधि में ही आश्चर्यजनक आर्थिक विकास किया है और यह सब सरकारी क्षेत्र का विस्तार और विकास करके ही किया जा सका है। **आर्थर लुइस** के शब्दो में, "आर्थिक क्रिया को बढ़ावा देने या निरुत्साहित करने में सरकार का योग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना उद्यमकर्ताओ, माता-पिताओ, वैज्ञानिकों या पुरोहितो का होता है।"

(3) **विशिष्ट और भारी उद्योग**—प्रत्येक विकासशील देश में सडक, विद्यालय, सिंचाई साधन, प्रशिक्षण व्यवस्था आदि का अभाव रहता है। ये उद्योग जनोपयोगी सेवाओं की श्रेणी में आते हैं। परन्तु ये उद्योग ऐसे हैं जिनका संचालन न-लाभ

न-हानि के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है जो कि केवल सरकार द्वारा ही चलाये जा सकते है। क्योकि ऐसे उद्योगो मे पूंजी विनियोग के लिए निजी उद्योग-पति इच्छुक नही होते।

जिन उद्योगो मे अधिक पूंजी विनियोग की आवश्यकता होती है जैसे इस्पात, भारी मशीनरी, जहाज आदि बनाने के उद्योग, उनका विकास सार्वजनिक क्षेत्र मे ही हो सकता है क्योकि एक निजी विनियोगकर्ता के लिये इतना बडा कारखाना स्थापित करना सरल नही होता क्योकि उनके पास इतनी अधिक पूंजी नही होती है। साथ ही निजी साहसी ऐसे उद्योगो की स्थापना अथवा विकास में पूंजी लगाना चाहते है जिनमे पूंजी का प्रतिफल शीघ्रता से प्राप्त होता है।

(4) **क्षेत्रीय असमानताओ का निराकरण**—सार्वजनिक क्षेत्र के विकास का एक मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास की दृष्टि से देश के विभिन्न भागो मे पाई जाने वाली विषमताओ को दूर करना है। केन्द्रीय सरकार अपने सरकारी उपक्रमो को उन क्षेत्रो मे स्थापित कर सकती है जो कि अल्प विकसित है, जहाँ कि स्थानीय ससाधन पर्याप्त नही है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद बहुत से ऐसे पिछडे हुए क्षेत्रो के विकास के लिए वहाँ बडे-बडे कारखाने स्थापित किये गये हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर मे तीन इस्पात के कारखाने खोलना है।

(5) **आर्थिक विकास के लिए वित्त के स्रोत**—सार्वजनिक उपक्रमो से जो लाभ प्राप्त होते हैं उसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार योजना के लिए वित्तीय साधनो की उपलब्धि मे सार्वजनिक उपक्रम अपना महत्त्वपूर्ण योग देते है।

(6) **प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग**—देश मे उपलब्ध प्राकृतिक साधनो का उपयोग सार्वजनिक उपक्रमो की सहायता से आवश्यक कार्यों पर लगाया जाता है जिससे अधिकतम सामाजिक कल्याण हो तथा विकास अवसरो मे वृद्धि हो।

(7) **अधिकतम उत्पादन**—सार्वजनिक उद्योगो द्वारा अधिकतम मात्रा मे वस्तुओ एव सेवाओ का उत्पादन किया जाता है जिससे न केवल आन्तरिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है बल्कि अतिरेक उत्पादनो का निर्यात कर बहुमूल्य विदेशी मुद्रा की प्राप्त की जाती है।

(8) **विदेशी सहायता का समुचित उपयोग**—सार्वजनिक उद्योगो के विकास हेतु प्राप्त विदेशी सहायता का उपयोग सार्वजनिक उद्योगो के विकास एवं कल्याण-कारी कार्यों मे किया जाता है जिससे विदेशी सहायता का समुचित उपयोग होने के साथ-साथ कल्याणकारी कार्यों मे वृद्धि भी होती है।

(9) **व्यापार संतुलन मे सहायता**—सामान्यत. सार्वजनिक क्षेत्र मे ऐसे उद्योगो के विकास पर विशेष बल दिया जाता है जिनका विकास नही हो पाया है तथा इसी कारण आन्तरिक माँग की पूर्ति आयातो के माध्यम से पूरी की जाती है। ऐसे उद्योगो का विकास करके आयातो मे पर्याप्त कमी लाई जा सकती है तथा कुछ अवधि के

पश्चात् इन उद्योगो मे उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने पर आन्तरिक भाग को पूरा करने के बाद शेष उत्पादन को निर्यात किया जा सकता है।

समाजवादी समाज की स्थापना के दृष्टिकोण से महत्त्व

भारत सरकार ने देश मे समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत लिया है और समाज के समाजवादी स्वरूप के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक विकास का दायित्व पूर्णतया सरकार के हाथ मे रहे।

सार्वजनिक उपक्रमो के विस्तार से समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे निम्नलिखित लाभ प्राप्त होगे—

(अ) आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण पर नियंत्रण—सार्वजनिक उपक्रमो के विकास से आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को नियन्त्रित किया जा सकता है। यदि सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना न की जाय तो उनमे से अनेक उपक्रम निजी क्षेत्र मे स्थापित होगे जिससे निजी क्षेत्र मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को बढावा मिलता है। समाजवादी समाज की स्थापना मे यह प्रवृत्ति बाधक होती है।

(ब) उपक्रमों के लाभों का सार्वजनिक हित में प्रयोग—सार्वजनिक उपक्रमो में होने वाले लाभो का उपयोग जन सामान्य के हित के लिए किया जाता है, जिससे समाजवादी समाज की स्थापना मे सहायता मिलती है।

(स) श्रमिको को लाभ—सार्वजनिक उपक्रमो मे श्रमिको का शोषण नही होता क्योकि सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना का एक उद्देश्य सरकार द्वारा आदर्श सेवायोजक की भूमिका निभाना होता है।

(द) उपभोक्ताओं को लाभ—सार्वजनिक उपक्रम से उपभोक्ताओ को भी लाभ होता है क्योकि वे पूंजीपतियों द्वारा शोषित होने से बच जाते हैं।

(य) रोजगार में वृद्धि—सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा देश का तीव्र आर्थिक विकास होने से रोजगार में वृद्धि होती है जिससे समाजवादी समाज की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है।

(र) शहरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन—जिन क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना की जाती है वहाँ विद्युत, परिवहन, पर्याप्त जल आपूर्ति, शिक्षा संस्थानों तथा स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना एवं विकास किया जाता है जिससे साधारण क्षेत्र भी शहरों में परिवर्तित हो जाते हैं। शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार आदि सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण वहाँ की जनता पर भी अनुकूल प्रभाव पडता है जिससे महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन भी सम्भव होते हैं।

सामान्य महत्त्व के दृष्टिकोण से महत्त्व

उपर्युक्त महत्त्व के अतिरिक्त सार्वजनिक उपक्रमों के कुछ सामान्य लाभ भी हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(अ) राज्य के पास विशाल साधन होने के कारण वह अनुसंधान व उन्नति

हेतु अधिक व्यय कर सकता है और वह अल्पकालीन हानि उठाकर भी अनुसंधान कार्य चालू रख सकता है। (ब) इन उद्योगो से आत्मनिर्भरता होती है और ये अधिकाधिक उत्पादन करके सस्ते दामो मे वस्तुएँ उपलब्ध करा सकते है। (स) सरकारी उद्योगो के द्वारा अर्द्धविकसित देशो मे सरकार भविष्य के लिये देश की आर्थिक व्यवस्था के ढाँचे का निर्धारण कर सकती है, क्योकि सरकारी उद्यम निजी उद्यम की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी होते हैं। वे सोच सकते है कि अगले दस-पन्द्रह वर्षों मे किस-किस दिशा मे क्या-क्या विकास होना परम आवश्यक है और फिर उसी प्रकार कार्य कर सकते है।

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का उद्गम एवं विकास
(Growth and Development of Public Sector in India)

यदि भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य अत्यन्त प्राचीन-काल से ही आर्थिक व सामाजिक जीवन मे हस्तक्षेप करता रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् देश मे सार्वजनिक उपक्रमो का तीव्र गति के साथ विकास एवं विस्तार हुआ है।

स्वतन्त्रता से पूर्व जब देश मे ब्रिटिश शासन था तो सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार अत्यन्त सीमित होने का मुख्य कारण यह था कि विदेशी सरकार आर्थिक विकास के प्रति अत्यन्त उदासीन थी। इसके परिणाम स्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति तक सार्वजनिक क्षेत्र की क्रियाएँ रेल, बन्दरगाह, सचार, प्रसारण, सिंचाई, एव शक्ति और कुछ विभागीय औद्योगिक संस्थानो जैसे अस्त्र-शस्त्र का निर्माण करने वाली फैक्टरियो, रेलवे वर्कशाप एव डाक तार विभाग तक ही सीमित थी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् विकास

स्वतन्त्रता के पश्चात् और विशेष रूप से नियोजन काल मे देश मे सार्वजनिक उपक्रमो का विकास तीव्र गति से हुआ। प्रथम योजना के प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार के उपक्रमो की संख्या केवल 5 थी जिनमें 29 करोड रुपए विनियोजित थे। 1 अप्रैल 1979 मे सार्वजनिक उपक्रमो की संख्या बढकर 176 हो गई जिनमे कुल विनियोजित पूँजी 15602 करोड रुपए थी। सार्वजनिक उपक्रमों के विकास का ज्ञान निम्न-तालिका से हो सकता है।

सार्वजनिक उद्योगों की संख्या व विनियोग

	इकाइयो की संख्या	कुल विनियोग रुपए
1. प्रथम योजना शुरू होने पर (1-4-51)	5	29
2. दूसरी योजना शुरू होने पर (1-4-56)	21	81
3. तीसरी योजना शुरू होने पर (1-4-61)	48	953
4. चौथी योजना शुरू होने पर (1-4-69)	85	3092
5. पाँचवी योजना शुरू होने पर (1-4-74)	122	6237
6. छठी योजना के आरम्भ मे (1-4-80)	186	18225

भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का स्थान अथवा योगदान

योजना-काल मे भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपक्रमों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वस्तुत देश का वर्तमान औद्योगिक एवं आर्थिक ढांचा पर्याप्त सीमा तक सार्वजनिक क्षेत्र के योगदान का परिणाम है। सरकार की आय, रोजगार मे वृद्धि, विदेशी मुद्रा की प्राप्ति, पिछडे एवं अर्द्धविकसित क्षेत्रो का विकास एवं सामाजिक न्याय के रूप मे इन उपक्रमो ने अपना योगदान दिया है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

1 **राष्ट्रीय आय में योगदान**—कुल राष्ट्रीय आय मे सरकारी उद्यमो का भाग यद्यपि अभी बहुत अधिक नही है परन्तु यह निरंतर बढ रहा है। 1960-61 मे शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे सरकारी क्षेत्र के उद्यमो का भाग लगभग 10 6% था जो 1978-79 मे बढकर लगभग 20% हो गया है।

2. **रोजगार में वृद्धि**—सरकारी औद्योगिक संस्थाओ में प्रायः पार्किन्सन का नियम लागू होता है जिसके अनुसार क्षमता बढाने के लिए कर्मचारियो की संख्या में निरंतर वृद्धि होती रहती है। सन् 1961-62 मे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो मे 2 67 लाख व्यक्तियो को रोजगार मिला हुआ था जिनकी सख्या 1978-79 मे बढ कर 7.20 लाख हो गई। इस समय सार्वजनिक उपक्रमो मे रोजगार पाने वालो की संख्या कुल रोजगार का लगभग एक-चौथाई है।

3 **उत्पादन में वृद्धि**—सार्वजनिक क्षेत्र के उत्पादन मे तेजी से वृद्धि हो रही है। प्रथम योजना के प्रारम्भ मे इन उपक्रमो के उत्पादन का मूल्य लगभग 290 करोड रुपया था जो बढ कर तीन गुने से भी अधिक हो गया है। कुल घरेलू उत्पादन मे योगदान की दृष्टि से भी इस क्षेत्र का महत्त्व लगातार बढता जा रहा है। प्रथम योजना मे यह योगदान केवल 3% था जोकि अब बढ कर 14% से भी अधिक हो गया है।

4. **आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण रोकना**—महत्त्वपूर्ण कच्चे माल और बुनियादी मालो के उत्पादन मे सार्वजनिक उपक्रमो के भाग से उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कार्य मे यह एक सहायक स्थिति है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपक्रम के उत्पादन का प्रतिशत इस प्रकार है—हाइड्रो टरबाइन, जहाज निर्माण, अखबारी कागज, अमोनिया सल्फेटिक नाइट्रेट उर्वरक, स्टीम टरबाइन, टेलीफोन उपकरण, एक्सरे फिल्मे, टेलीप्रिंटर उपकरण 100 प्रतिशत, ताम्र अयस्क 98, कोयला 96, इस्पात 85, नाइट्रोजनीय उर्वरक 50, ट्रासफार्मर 37, फास्फेटिक उर्वरक 36, कैपेसिटर्स 35, अल्युमीनियम 10। इनके माध्यम से सार्वजनिक उपक्रम जिस शक्ति का सृजन कर रहे हैं वह हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था मे सम्भवत स्थिरता प्रदान करने वाले तत्त्वो में एक है।

5. **क्षेत्रीय तथा सामाजिक उपक्रम को कम करना**—सार्वजनिक क्षेत्र का एक

उल्लेखनीय योगदान यह भी रहा है कि इसमे संतुलित प्रादेशिक विकास के लक्ष्य को ध्यान मे रखकर पिछडे एवं अविकसित क्षेत्रों के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र परियोजनाओ मे विनियोग का अधिकाश भाग पिछडे एवं अविकसित राज्यो मे हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से विनियोजन के वितरण से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

6. **सामाजिक न्याय**—सामाजिक न्याय की दिशा मे भी सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान अत्यन्त महत्त्व का है। इस क्षेत्र का प्रादुर्भाव ही जनता के साधनो से जनता का कल्याण करने के लिये हुआ है। आज सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानो मे अनेक सामाजिक सुविधाओ का ध्यान रखा जाता है। श्रम-सन्नियम के अन्तर्गत मिलनेवाली सुविधाओ के अतिरिक्त कर्मचारियो को अतिरिक्त छुट्टियो की सुविधा, चिकित्सा, आवास, आदि की सुविधाएँ भो प्रदान की जा रही है। नगर निर्माण, सस्ते परिवहन एवं सस्ते जलपान, गृह शिक्षा आदि सामाजिक उपरि-व्यय पर प्रति वर्ष करोडो रुपये से भी अधिक व्यय हो रहा है। कर्मचारियो को दी जाने वाली बोनस की राशि मे भी निरंतर वृद्धि हो रही है। कुछ उपक्रमो ने तो दुर्घटना होने पर कर्मचारियों के आश्रितो को प्रदान करने हेतु हितकारी विधि की भी व्यवस्था की है।

7 **प्रबन्धकीय विकास**—सार्वजनिक उपक्रमो मे एक भारी किन्तु नीरव प्रबंधकीय क्रान्ति भी है। केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आने वाले सार्वजनिक उपक्रमो मे प्रबन्धकीय समूह की संख्या एक लाख से अधिक है, जो अखिल-भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओ के प्रबन्धकीय अधिकारियो की संख्या के लगभग तिगुनी है। यही नही भारत के सार्वजनिक उपक्रमो ने देश में कुछ ऊँचे दर्जे के प्रबन्धक दिये है, इसमें संदेह नही जिनसे सार्वजनिक उपक्रमों के नये प्रबन्धकीय अधिकारी प्रेरणा लेंगे।

8. **निर्यात प्रोत्साहन**—विगत वर्षों मे सरकारी उद्योगो का निर्यात-निष्पादन (Export Performance) काफी सराहनीय रहा है। राजकीय व्यापार निगम और खनिज एवं धातु व्यापार निगम ने विश्व के सभी भागो मे प्रशंसनीय कार्य किया है। भारतीय हस्तशिल्प की वस्तुओ, हल्की इन्जीनियरिंग वस्तुओ और निर्यात की कई नयी मदों को बढाने मे काफी सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय तेल निगम ने पेट्रोल के पदार्थों, भारतीय टेलीफोन कम्पनी ने टेलीफोन तथा हिन्दुस्तान मशीनी टूल्स ने मशीनी औजारों व घडियो का निर्यात किया। भारतीय हस्तशिल्प की वस्तुओ, हल्की इन्जीनियरिंग वस्तुओ और निर्यात की गई मदो को बढ़ाने मे काफी सफलता प्राप्त हुई है। केन्द्रीय सरकार के उद्योगो ने 1977-78 मे निर्यात द्वारा 1562 करोड रु० मूल्य की विदेशी मुद्रा अर्जित की जब कि 1974-75 मे 375 करोड रु० की विदेशी मुद्रा कमाई थी।

9. **आयात-प्रतिस्थापना में प्रगति**—सार्वजनिक क्षेत्रो मे उद्योगो के विस्तार मे देश मे विदेशी विनिमय (मुद्रा) की बचत हुई है। हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स लि० और इण्डियन ड्रग्ज और फार्मेस्यूटिकल्स लि० के औषध निर्माण मे प्रवेश के कारण विदेशी मुद्रा की बचत हुई है। इसी प्रकार भारत मे मशीनी औजारो का आयात

पहले से काफी कम हो गया है और मिट्टी के तेल को छोडकर पेट्रोल की अन्य वस्तुओ का आयात भी घट गया है। इन सबसे विदेशी मुद्रा की बचत हुई है।

यही नही, इस क्षेत्र के उदय से तकनीकी विकास के क्षेत्र मे भी हमने अत्यधिक प्रगति की है। विदेशी ज्ञान तथा विदेशी विशेषज्ञो पर निर्भरता को कम करके भी विदेशी मुद्रा की बचत की जा सकती है तथा धीरे-धीरे हम उस स्थिति तक पहुँचने वाले है, जहाँ हमे वस्तुओ के रूप मे न केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सकेगी, अपितु तकनीकी योग्यता के क्षेत्र मे भी हम आत्म-निर्भर हो जाएँगे।

10 **अवस्थापन का विकास**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत मे औद्योगिक विकास के लिए विद्युत, शक्ति, यातायात, ईंधन, महत्त्वपूर्ण औद्योगिक कच्चा माल एवं टेक्नोलाजी के रूप में अवस्थापन नाम मात्र को था। भारी उद्योगों के विकास द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो ने इसमे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन उपक्रमों द्वारा शोध एवं विकास (R and D) पर विशेष जोर दिया गया।

11. **लघु एवं सहायक उद्योगों के विकास में योगदान**—सार्वजनिक उद्योगो ने अपने निर्देशन मे अपने उत्पादन से सम्बन्धित लघु और सहायक औद्योगिक इकाइयो की स्थापना मे उल्लेखनीय योगदान दिया है। जिन उपक्रमो ने इस काल में विशेष सहयोग दिया है उनमे बोकारो स्टील लि०, भारत हैवी इलैक्ट्रीकल्स हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, इण्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज इत्यादि महत्त्वपूर्ण है।

12. **लाभ-हानि**—सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानो को होने वाली हानि या इनमे किए गए पूंजी निवेश पर मिलने वाले लाभ की कम दर के बारे मे सार्वजनिक क्षेत्र की प्राय. आलोचना की जाती रही है। उपलब्ध आंकडो के अनुसार 1978-79 मे 31 96 करोड रुपए का शुद्ध घाटा हुआ। लेकिन साथ ही साथ यह बात भी ध्यान मे रखी जानी चाहिए कि इसी वर्ष सार्वजनिक क्षेत्र के 88 चालू प्रतिष्ठानो ने 4475 करोड रु० का लाभ कमाया था। ऐसे प्रतिष्ठानो मे तेल और प्राकृतिक गैस आयोग, इंडियन आयल, कारपोरेशन भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि० एयर इण्डिया, इण्डियन एयर लाइन्स आदि शामिल है। बडी संख्या मे अन्य प्रतिष्ठानो को वास्तव मे इस वर्ष के दौरान 516.71 करोड रुपए की हानि हुई। इस हानि मे कोल इण्डिया लि० और इसके सहायक प्रतिष्ठानो का बहुत बडा भाग था। इसके अतिरिक्त शिपिंग कारपोरेशन, हैवी इन्जीनियरिंग कारपोरेशन इण्डिया आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को भी काफी हानि हुई।

संक्षेप मे, "सार्वजनिक क्षेत्र राष्ट्र मे नवीन अर्थव्यवस्था की आधार-शिला स्थापित कर रहा है, नये साधनो की खोज कर रहा है और नवीन सभावनाओ का पता लगा रहा है। यह क्षेत्र सामर्थ्य एव सूक्ष्म तकनीकी शक्ति का निर्माण कर रहा है और देश को औद्योगिक प्रगति के नये युग की ओर ले जा रहा है। जहाँ भी कोई सार्वजनिक क्षेत्र का उद्योग स्थापित हो जाता है, नया जीवन स्पदित होना प्रारम्भ हो जाता है, भिलाई, राउरकेला, रुद्र सागर, बरौनी, नामरूप, नगल और कोयली आदि

अज्ञात कस्बे उद्योग के बडे जीवन्त केन्द्र बन गये है। यहाँ विपुल संख्या मे कुशल तथा अकुशल कर्मचारी रोजगार के लिए खिंचे चले आ रहे है।"

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों की समस्याएँ
(Problem of State Enterprises in India)

भारत मे सार्वजनिक उपक्रमो का इतिहास अधिक पुराना नही है क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद से ही सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना का कार्य शुरू किया जा सका है। वैसे विकास की प्रारम्भिक व्यवस्था मे औद्योगिक संगठन के किसी भी स्वरूप मे कुछ कमियाँ होना स्वाभाविक ही है। लेकिन भारत मे सार्वजनिक उपक्रम अपेक्षाकृत अधिक आलोचना के विषय रहे है। वस्तुत. इन उपक्रमो की अपनी कुछ समस्याएँ हैं जिनके कारण से सफलता के वाछित स्तर को प्राप्त करने मे असमर्थ रहे है। सरकारी उपक्रमो की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित है—

(1) **संगठन के प्रारूप की समस्या**—भारतवर्ष मे अब तक जितने भी सार्वजनिक उपक्रम स्थापित किए गए है उनमे किसी सिद्धान्त के रूप मे उनका प्रारूप निश्चित नही किया गया। सगठन के प्रारूप का निर्धारण मात्र एक सयोग अथवा सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। स्वतन्त्रता पश्चात् के प्रारम्भिक वर्षों मे सार्वजनिक निगम के प्रारूप को प्राथमिकता दी गई थी और वर्तमान मे कम्पनी के प्रारूप को प्राथमिकता दी जा रही है। वास्तव मे सरकार की यह अविवेकपूर्ण नीति उचित नही कही जा सकती क्योकि सार्वजनिक-क्षेत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या प्रबन्ध और संगठन की समस्या है। श्री नवगोपाल दास के शब्दो मे, 'सार्वजनिक क्षेत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या प्रबन्ध और सगठन की है अर्थात् किस प्रकार समाजीकृत उद्योगो का सगठन और प्रबन्ध किया जाय कि मितव्ययिता एव क्षमता का त्याग किए बिना सामाजिक कल्याण मे वृद्धि की जा सके।"[1]

(2) **प्रबन्ध के स्वरूप की समस्या**—श्री गोरवाला के शब्दो मे, "चाहे स्वरूप कैसा भी क्यो न हो प्रबन्ध के उच्च स्तर अर्थात् सचालक मण्डल या प्रशासन मण्डल पर योग्य व्यक्तियो के बिना उपक्रम की सफलता की आशा कम होती है। वस्तुतः उच्च प्रबन्धक वर्ग की कुशलता पर ही उपक्रम की सफलता निर्भर करती है परन्तु भारतीय सार्वजनिक उपक्रमो मे इस तरह की कुशल प्रबन्ध क्षमता का अभाव रहा है। भारत मे प्रायः आई० ए० एस० अधिकारियो द्वारा सार्वजनिक उपक्रमो का प्रबंध चलाया जा रहा है जिनको उद्योग एवं व्यवसाय का कोई ज्ञान और अनुभव नही होता। फलस्वरूप सार्वजनिक उपक्रम अधिक सफल नही हुए हैं। लोक सभा की **प्राक्कलन समिति** ने अपनी 16वी रिपोर्ट में बताया था कि "विभिन्न सार्वजनिक उपक्रमो में जो संचालक मंडल नियुक्त किए जाते हैं उन्होने कोई उपयोगी भूमिका अदा नहीं की है क्योकि वे सभी सरकार द्वारा मनोनीत होते है।" **राष्ट्रीय श्रम आयोग** के

---

1. N. Das : The Public Sector in India, P. 53.

अध्यक्ष श्री गजेन्द्र गडकर के शब्दो मे "सचिवालय का कार्य चलाना एक और बात है तथा कारखानो का सचालन बिलकुल ही अलग चीज है । इसलिए आई० ए० एस० सब रोगो की दवा नही बन सकते । इसके लिए विशेषज्ञ अलग ही तैयार करने होगे ।"

(3) **प्रबन्ध की स्वतन्त्रता की समस्या**(Autonomy of Management)—सार्वजनिक उपक्रमो का मुख्य उद्देश्य न्यूनतम लागत पर उचित प्रकार की वस्तुएँ एव सेवाए उपलब्ध करना होता है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उपक्रम का सगठन और प्रबन्ध निष्कलक हो । निष्कलंक सगठन एवं प्रबन्ध के लिए प्रबन्धकीय स्वतन्त्रता आवश्यक होती है । **प्रो० एम० सी० शुक्ला** के शब्दो मे, "यदि इन सार्वजनिक उपक्रमो को उचित स्वतन्त्रता दी जाय तो एक व्यापारिक कंपनी की भाँति ये पूरी क्षमता से कार्य कर सकते है ।" इस सम्बन्ध मे प्रश्न यह उठता है कि क्या सार्वजनिक उपक्रमो को पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए अथवा इस स्वतन्त्रता की कोई सीमा होनी चाहिए **प्रो० ए० अप्पलवी** ने इस सदर्भ मे लिखा है, "यह तो निर्विवाद सत्य है कि सार्वजनिक उपक्रमो मे पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न नही उठता क्योकि प्रजातान्त्रिक देश मे सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक होता है । तथापि प्रशासन सम्बन्धी स्वतन्त्रता का आशय केवल यह है कि सरकार के उच्च अगो को यह बात सिखा दी जाय कि हस्तक्षेप करने मे आत्म-सयम से काम ले और बहुत ही महत्त्वपूर्ण मामलो मे ही हस्तक्षेप करे ।"

(4) **संसदीय नियन्त्रण एवं सार्वजनिक जवाबदेही की समस्या**—सार्वजनिक उपक्रमो की एक वास्तविक समस्या संसदीय नियन्त्रण एवं सार्वजनिक जवाबदेही की समस्या है । ब्रिटिश ट्रान्सपोर्ट कमीशन के **अध्यक्ष लार्ड हरकोम्ब** ने सिलेक्ट कमेटी के समक्ष बोलते हुए कहा था, "अन्ततोगत्वा एक बहुत ही वास्तविक समस्या संसद के प्रति जवाबदेही की है ।" इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि संसद को सार्वजनिक उपक्रमो पर नियन्त्रण का अधिकार मिलना ही चाहिए क्योकि सार्वजनिक उपक्रमो मे जनता का धन लगा होता है और ससद जनता की एक प्रतिनिधि संस्था है । परन्तु ऐसा होने पर हमे इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि एक तरफ संसदीय नियन्त्रण और दूसरी ओर उपक्रमो की स्वतन्त्रता एवं लोच मे पूर्णतया विरोधाभास है । यदि ससदीय नियन्त्रण को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया जाता है तो लोच एवं स्वतन्त्रता मे कमी आना स्वाभाविक है ।

(5) **अंकेक्षण और मूल्यांकन की समस्या**—वर्तमान मे सार्वजनिक उपक्रमों का अकेक्षण भारत के कम्पट्रोलर एण्ड ऑडीटर जनरल के परामर्शपर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त अंकेक्षको द्वारा किया जाता है। कुछ लोग अंकेक्षण की इस वर्तमान पद्धति को उचित नही मानते । इनकी दृष्टि सेअकेक्षण की उचित व्यवस्था तभी हो सकती है जबकि उपक्रम के आन्तरिक एव बाह्य अंकेक्षण को पृथक् कर दिया जाय और बाह्य अंकेक्षण निजी क्षेत्र के कुछ मान्यता प्राप्त अकेक्षको द्वारा कराया जाय ताकि वास्तविकता का ज्ञान हो सके । रूस में Khozrachyot एक विशिष्ट संस्था है जो सार्वजनिक उपक्रमो की वित्तीय ही नही बल्कि कार्य-क्षमता का भी अंकेक्षण करती है

भारतीय सार्वजनिक उपक्रमो मे इसका अभाव है। अमरीका ने भी निष्पादन अंकेक्षण (Perfoımance Audıt) की व्यवस्था की गई। प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव पर भारत मे ऑडिट बोर्ड बन गया है जो सार्वजनिक उपक्रमो के कार्य निष्पादन का अंकेक्षण भी करता है। इस बोर्ड मे सम्बन्धित उद्योग के विशेषज्ञो तथा तकनीकी व्यक्तियो को शामिल किया जाता है।

(6) **श्रम समस्याएँ**— यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र आदर्श सेवा-योजक का प्रतीक है परन्तु फिर भी भारत मे सार्वजनिक उपक्रमो मे दो प्रकार की श्रम सम्बन्धी समस्याएँ पायी जाती है—प्रथम, इन उपक्रमो मे कार्य करने वाले कर्मचारियो में योग्यता, कुशलता और दक्षता का अभाव है। सार्वजनिक उपक्रमो के लिए व्यावहारिक अर्थशास्त्रियो, लागत लेखापालो बाजार अनुसन्धान एव सचालन अनुसधान के विशेषज्ञो, कम्पनी सचिवो, माल एव प्रबध सम्बन्धी विशेषज्ञो इत्यादि की आवश्यकता होती है लेकिन प्रशिक्षित मानवीय ससाधन के अभाव के कारण सार्वजनिक उपक्रमो के संचालन एव विकास मे काफी बाधा होती है।

दूसरी समस्या कुशल से विवर्गीय प्रबन्ध अर्थात् श्रम-प्रबन्ध सहयोग के अभाव की समस्या है। सार्वजनिक उपक्रम भी निजी क्षेत्र की भाँति घेराव, हडताल और तालाबन्दी जैसे रोगो से ग्रस्त है।

सार्वजनिक उद्योगो की असफलता के कारण

(1) **लाल फीताशाही**—सरकारी कार्यालयो मे व्याप्त लाल फीताशाही भारत के सार्वजनिक उद्योगो मे व्यापक रूप से व्याप्त है जिसके कारण न तो उत्पादन, क्रय-विक्रय आदि सम्बन्धी निर्णय समय पर होते है, न ही इन उद्योगो मे काम करने वाले कर्मचारी ईमानदारी से परिश्रम करके उत्पादन बढाने की चिन्ता करते हैं।

(2) **प्राविधिक कुशलता का अभाव**—सार्वजनिक उद्योगों का प्रबन्ध प्राय सरकारी अधिकारियो और राजनीतिज्ञो को सौपा जाता है जिन्हे व्यापार तथा व्यवस्था का तनिक भी अनुभव नही होता। यह काम अनुभवी, निजी उद्यमियों तथा कुशल प्रबन्धको का होता है।

(3) **संगठन में असमान नीति**—भारतीय सार्वजनिक उद्योगो के संगठन मे समान नीति का व्यवहार नही किया जाना। सुविधानुसार प्रत्येक व्यवसाय की प्रगति और महत्ता पर विचार करके ही यह निर्णय लिया जाता है कि किस सार्वजनिक उद्योग का क्या स्वरूप रखा जाय।

(4) **प्रेरणा का अभाव**—सार्वजनिक उद्योगो मे प्रेरणा का अभाव रहता है क्योकि जो व्यक्ति सरकारी उद्योगो को चलाते है उनको कोई व्यक्तिगत जोखिम नही रहता है। संस्थान चाहे लाभ पर चले या हानि पर, उन्हे तो महीने के अन्त में अपना वेतन मिल ही जाता है।

(5) **संसद का अपर्याप्त नियन्त्रण**—सरकारी निगमो की कार्य-प्रणाली पर

संसद का कोई नियन्त्रण नही है । जो है, वह भी अपर्याप्त है । इसके परिणामस्वरूप लागत बढ जाती है और उनके सम्पूर्ण होने मे विलम्ब होता है ।

(6) **निगमों तथा मंत्रालयों में पारस्परिक सहयोग का अभाव**—निगमो तथा मंत्रालयो मे पारस्परिक सहयोग का अभाव है । निगम को अपनी आंतरिक स्वतन्त्रता का गर्व है तो मन्त्रालयो को अपने प्रभुत्व का । इसका दुष्परिणाम उनकी कार्य-कुशलता पर पडता है और विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है ।

(7) **अधिक पूँजीगत व्यय**—अनेक परियोजनाओ मे पूँजीगत व्यय काफी अधिक होने से अति पूँजीकरण की समस्या उत्पन्न हो गई है । उदाहरण के लिए हैवी इन्जीनियरिंग कॉरपोरेशन, फर्टिलाइजर कॉरपोरेशन, हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स इत्यादि मे अति पूँजीकरण की स्थिति पाई जाती है ।

(8) **प्रबन्धकीय व तकनीकी साधनो के विकास में असफलता**—सार्वजनिक क्षेत्र की एक असफलता यह भी रही है कि यह प्रबंधकीय एवं प्राविधिक कर्मचारियो के सम्बन्ध मे अपने आन्तरिक साधन आवश्यक सीमा तक विकसित नही कर सका है । परिणामत इसे निरन्तर विदेशी विशेषज्ञो और सरकार से डेपुटेशन पर आये हुए कर्मचारियो पर निर्भर रहना पडता है ।

(9) **क्षमता का पूर्ण उपयोग न होना**—अनेक सार्वजनिक उपक्रम अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नही कर पा रहे है । ऐसा अनुमान है कि यदि ये उपक्रम अपनी क्षमता का 80% का भी उपयोग कर ले तो उत्पादन मे लगभग 1000 करोड रुपये की वृद्धि हो सकती है ।

(10) **उपभोक्ताओं की सतुष्टि न होना**—कुछ सार्वजनिक उपक्रम माल की किस्म व कीमत की दृष्टि से पूर्ण संतोष नही दे पाये है । इस्पात व उर्वरको की कीमतें भी बहुत अधिक निश्चित की गई है । भारत के निर्धन किसान दुनिया मे सबसे मँहगी खाद खरीदते है ।

(11) **प्रतियोगिता का अभाव**—सरकारी उद्योग अधिकाशत एकाधिकारी है । प्रतियोगिता के अभाव के कारण उपभोक्ताओ के प्रति लापरवाही और अकार्यक्षमता उत्पन्न हो जाती है ।

(12) **अन्य कारण**—सार्वजनिक उद्योगो की असफलता तथा मन्द प्रगति के कारण इस प्रकार है :—

(i) बहुत से उद्योगो की स्थापना आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बातो को ध्यान में रखकर नही बल्कि व्यावसायिक राजनीतिज्ञों द्वारा सरकारी क्षेत्रो मे अपनी राजनैतिक शक्ति निर्माण करने का आधार बनाने के लिए की गई है ।

(ii) इनके आयोजन मे बहुत से दोष पाये जाते हैं जो केवल योजनाओ को कार्यान्वित करने के समय सामने आये है । इसके अतिरिक्त बाजार में माँग के अनुकूल समायोजन भी नही है ।

(iii) सार्वजनिक उपक्रमो को चालू करने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है और इनकी लागत अनुमानो से अधिक हो जाती है ।

(iv) सार्वजनिक उद्योगो मे **श्रम सम्बन्ध** भी अनुकूल नही है ।

सार्वजनिक उपक्रमो की कार्य-कुशलता बढ़ाने के सुझाव

(1) **संसद का नियन्त्रण**—प्रत्येक सार्वजनिक उद्योग को संसद के नियन्त्रण मे रखना चाहिए । उद्योगो को वार्षिक रिपोर्ट और खातो पर संसद का निरीक्षण होना चाहिए । लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक है कि सार्वजनिक उद्योगो को पर्याप्त आतरिक स्वतन्त्रता रहनी चाहिए और संसद का दैनिक कार्यों मे हस्तक्षेप नही होना चाहिए । कम्पनी के अध्यक्ष तथा संचालक मडल को कम्पनी के उत्पादन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए समुचित स्वातन्त्र्य होना चाहिए, क्योकि ऐसी स्वतन्त्रता के बिना कोई भी व्यक्ति समुचित परिणाम कैसे प्राप्त कर सकता है ? सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो के प्रबन्धको को कम-से-कम उतनी स्वतन्त्रता तो रहनी ही चाहिए जितनी कि निजी क्षेत्र के प्रबन्धको के हाथो मे होती है ।

(2) **उच्च प्रबन्ध व्यवस्था**—अत्यन्त सावधानी से उच्च प्रबन्धको का चुनाव किया जाना चाहिए तथा प्रबन्धको की एक व्यवस्थित सेना पैदा करने के लिए औद्योगिक इकाई मे प्रबन्धक प्रतिक्षण दिया जाय । अब समय आ गया है कि उद्यम की प्रत्येक इकाई मे आधुनिक प्रबन्ध व्यवस्था कायम की जाय । नियोजन, कच्चे माल की खरीद मे Inventory Control, उत्पादन नियोजन तथा Plant Layout आदि पर अत्यन्त नवीन ढंग से ध्यान दिया जाना चाहिए ।

प्रबन्ध कौशल के विकास की दिशा मे हम आज प्रयत्नशील हैं । कलकत्ता, अहमदाबाद, दिल्ली, बम्बई आदि विश्वविद्यालयो मे प्रबन्ध के क्षेत्र मे एक नई पीढी तैयार हो रही है । प्रबन्ध-व्यवस्था को सुधारने की दिशा मे **मैनजमेण्ट एक्जीक्यूटिव ट्रेनिंग** व्यवस्था भी अनेक औद्योगिक इकाइयो मे चालू हुई है । इस दिशा मे सार्वजनिक उद्योग ब्यूरो भी समुचित ध्यान दे रहा है ।

यह असन्तोष का विषय है कि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र की कमियो व दोषो के प्रति स्वयं जागरूक है । कुछ समय पूर्व श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा था, "सार्वजनिक क्षेत्र के परिणाम कुल मिलाकर हमारी आशाओ से नीचे रहे है । कुछ उपक्रमो ने काफी अच्छा कार्य किया है । अन्य बहुत बुरी तरह असफल रहे हैं तथा बहुत से उपक्रम अपेक्षित प्रगति कर रहे है ।" इस सम्बन्ध मे सरकार को इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि सार्वजनिक क्षेत्र स्वयं मे किसी समस्या का समाधान नही है । वह तो केवल ऐसी परिस्थितियो को उत्पन्न कर देता है जिससे अर्थ-व्यवस्था मे आधारभूत सुधार किए जा सके । लेकिन यह तभी हो सकता है जबकि सार्वजनिक क्षेत्र क्षमता और योग्यता से कार्य करें ।

(3) **कार्य-कुशलता की जाँच**—सार्वजनिक उद्योगो मे कार्य-कुशलता की जाँच प्रति वर्ष की जानी चाहिए । गुण नियन्त्रण पर खास ध्यान देना चाहिए ।

(4) **सचालक मण्डल का चुनाव**—सार्वजनिक उद्योगो का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा किया जाना चाहिए जिससे उद्योग विशेष के अनुभवी व्यक्तियो का

प्रतिनिधित्व हो तो अधिक अच्छा रहेगा। निजी क्षेत्र के व्यक्तियो को भी इस सचालक मण्डल मे स्थान दिया जाय।

(5) **लागत रेखा**—सहकारी क्षेत्र के उद्यागो मे प्रबन्धक लेखपाल रखे जाने चाहिए और इन विशेषज्ञो की सहायता से निर्मित वस्तुओ के उचित मूल्यो का निर्धारण किया जाना चाहिए।

(6) **नवीनतम प्रविधियाँ**—इन सरकारी उपक्रमो मे उत्पादन की नवीनतम प्रविधियो को काम मे लाना चाहिये और व्यवस्था मे भी नवीनता का सचार होते रहने देना चाहिए।

(7) **अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति मे सावधानी**—सार्वजनिक उद्योगो मे अन्य कर्मचारियो की नियुक्तियाँ योग्यता अनुभव, प्रशासन क्षमता के आधार पर होनी चाहिए। प्रत्येक औद्योगिक इकाई मे इस प्रकार की व्यवस्था रहनी चाहिए कि योग्य एवं प्रतिभावान तथा परिश्रमी व्यक्ति सर्वोच्च स्थान तक पहुँच सके।

(8) **श्रम सम्बन्ध**—सार्वजनिक क्षेत्र मे श्रमिक सम्बन्धो को सुधारने की दृष्टि से प्रबन्धकीय स्टाफ तथा श्रमिको मे उद्योग के प्रति गहरा लगाव एवं अनुभूति पैदा होने की आवश्यकता है। प्रबन्धको तथा श्रमिको के आपसी सम्बन्धो के बारे मे जो दृष्टिकोण चल रहे है—उनमे भी आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। श्रमिको व प्रबन्धको की कुशलता मे वृद्धि तभी संभव है, जबकि प्रशिक्षण, आधुनिक तकनीकी तथा कार्य करने की अन्य वैज्ञानिक प्रणालियो को दिन प्रति दिन के कार्यों मे अपनाया जाय।

(9) **उपभोक्ता उद्योग में प्रवेश**—सार्वजनिक क्षेत्र को कुछ चुने हुए उपभोक्ता उद्योगो मे भी बडे तथा मध्यम रूप मे प्रवेश करना चाहिये। इससे एक लाभ यह होगा कि उपभोक्ताओ के हित के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण पदार्थों की कीमतो पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा तथा इन उद्योगो से शीघ्र लाभ पैदा करके सार्वजनिक क्षेत्र अपनी आलोचनाओ का उत्तर भी दे सकेगा।

(10) **अन्य सुझाव**—

(अ) बड़े उपक्रमो मे वित्तीय मामलो के अधिकार अपेक्षाकृत अधिक होने चाहिए। वित्तीय सलाहकार की परिषद् बनाई जाय जो प्रबन्धको को वित्तीय परामर्श दे।

(ब) नये उपक्रमो को खोलने के पहले विद्यमान उपक्रमो को सगठित किया जाना चाहिए।

(स) कुछ सरकारी उपक्रमो को कम से कम 25 से 30 वर्षों की अवधि के लिए निजी उद्योगपतियो के पट्टे पर देना चाहिये।

(द) कुछ सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो के 40% अंशो को जनता मे बेच देना चाहिए। जनता अंशधारियो के रूप मे सतर्क रहेगी और इस तरह प्रबन्धको को कार्य कुशल बने रहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

(य) इन उद्योगो के प्रमुख संचालक के रूप मे रिटायर्ड अधिकारियो तथा

डेपुटेशन के आधार विभिन्न मत्रालयो के लोगो का भेजना बन्द किया जाना चाहिए।

(र) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमो मे जहाँ पर श्रमिको की सुख-सुविधा आदि के बारे मे पूर्ण ध्यान देने की आवश्यकता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उद्योगो मे हडताल आदि को अवैधानिक घोषित कर दिया जाय।

समय-समय पर विभिन्न समितियो और आयात आयोगो ने जैसे छागला आयोग 1945, कृष्ण मेनन समिति 1949, प्राकलन समिति 1960, योजना आयोग, भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग सरकारी उपक्रमों को अधिक कुशल बनाने के लिए सुझाव दिए है जिनके साराश कुछ सुझाव के रूप मे दिए गए है।

परीक्षा प्रश्न

1 भारतवर्ष मे सार्वजनिक उद्योगो की समस्याओ की विवेचना कीजिए और उनकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए सुझाव दीजिए।

2. क्या आप इस पक्ष मे है कि भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र को बढाया जाए ? सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो को किन आधारो पर अक्षम बताया गया है ?

3. भारत मे सार्वजनिक उद्योगो का संगठन किन ढगो से हुआ है ? संक्षेप मे प्रकाश डालिए।

4 'भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र इतना सफल नही रहा है, जितना निजी क्षेत्र।' व्याख्या कीजिए तथा सार्वजनिक क्षेत्र की कमियो पर प्रकाश डालिए।

5 'सार्वजनिक व निजी दोनो ही क्षेत्रो को राष्ट्र हित मे एक दूसरे से सहयोग करना चाहिए, प्रतिस्पर्द्धा नही।' विवेचना कीजिए।

24

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of the Government of India)

औद्योगिक नीति का अर्थ—औद्योगिक नीति एक व्यापक विषय है। इसके अन्तर्गत उन सभी सिद्धातो, सरकारी नीतियो एव नियमो को सम्मिलित किया जाता है जो औद्योगिक विकास के लिए सरकार द्वारा कार्यान्वित किए जाते है। उचित औद्योगिक नीति से ही आज के अर्द्धविकसित राष्ट्र आर्थिक विकास के क्षेत्र मे आगे बढ़ सके है। अत' भारत जैसे अर्द्धविकसित देश के लिए औद्योगिक नीति का अत्यधिक महत्त्व है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार की औद्योगिक नीति—15 अगस्त 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। उस समय देश मे औद्योगिक सकट बढ़ा हुआ था। देश-विभाजन के कारण औद्योगिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी और औद्योगिक दशा गिरती जा रही थी। देश के औद्योगिक क्षेत्र मे अनिश्चितता का वातावरण बना हुआ था। इस अनिश्चितता और अशान्ति को दूर करने के लिए दिसम्बर सन् 1947 मे एक औद्योगिक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन ने यह राय दी कि भारत सरकार को शीघ्रता से स्पष्ट औद्योगिक नीति की घोषणा करनी चाहिए, ताकि देश का औद्योगिक विकास सुव्यवस्थित ढङ्ग से हो सके। अनेक राजनैतिक उलझनो के होते हुए भी, 6 अप्रैल सन् 1948 को तत्कालीन उद्योग मंत्री **डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी** ने भारत की औद्योगिक नीति की घोषणा की।

सन् 1948 की औद्योगिक नीति

सन् 1948 की औद्योगिक नीति मे जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया उसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न थी :—

1. **उद्देश्य**—इस औद्योगिक नीति के उद्देश्य थे—(1) सबके लिए न्याय एवं अवसरो की समानता वाली सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना, (2) देश के ससाधनों के सदुपयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि करके जीवन-स्तर ऊँचा उठाना, (3) सभी को समाज की सेवा मे काम करने का अवसर उपलब्ध कराना।

2. **औद्योगिक वर्गीकरण**—उद्योगों को निम्न चार भागो मे बाँटा गया :—

(i) **एकमात्र सरकारी एकाधिकार वाले उद्योग**— इस श्रेणी मे 3 उद्योग रखे गए—अस्त्र-शस्त्र का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन और रेलवे एवं यातायात तथा डाक-तार। यह निश्चित किया गया कि इसकी स्थापना और विकास का दायित्व पूर्णरूप से सरकार के एकाधिकार मे ही रहेगा।

(ii) **सरकार नियन्त्रित क्षेत्र**—इस श्रेणी के अन्तर्गत 6 उद्योग रखे गए—कोयला, लोहा व इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज-निर्माण, टेलीफोन तथा बेतार उपक्रमो का निर्माण। इन उद्योगो के सम्बन्ध मे तीन महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थी --

(अ) इस श्रेणी के उद्योगो मे नयी इकाइयो की स्थापना केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो अथवा अन्य सार्वजनिक संस्थाओ द्वारा की जा सकती है।

(ब) इन उद्योगो से सम्बन्धित वर्तमान इकाइयो को दस वर्ष तक विकसित होने का पूर्ण अवसर दिया जाएगा। दस वर्षों के पश्चात् ही इन उद्योगो के राष्ट्रीय-करण के प्रश्न पर विचार किया जाएगा। यदि राज्य किसी औद्योगिक इकाई को अपने अधिकार मे लेगा तो उसका उचित मुआवजा दिया जाएगा।

(स) सिद्धान्त के रूप मे सरकारी उपक्रम राज्य के नियन्त्रण मे सार्वजनिक निगमो के रूप मे चलाए जाएँगे।

(iii) **सरकारी नियन्त्रण तथा नियमन के अन्तर्गत उद्योग—इन श्रेणी मे** 15 आधारभूत महत्त्व के उद्योग सरकार के नियन्त्रण तथा निर्देशन मे रखे गए, तथा इस श्रेणी मे रखे गए प्रमुख उद्योग ये थे · नमक, मोटर, ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिकल्स इजीनियरिंग भारी रसायन, भारी मशीन, अल्कोहल, सूती तथा ऊनी वस्त्र, सीमेट, चीनी, कागज, जल तथा वायु-यातायात आदि। ये उद्योग निजी क्षेत्र मे रहेगे और इनको राष्ट्रीय-करण का कोई भय नही रहेगा। परन्तु इन उद्योगो मे भी सरकार नई इकाइयाँ स्थापित कर सकती है।

(iv) **अन्य उद्योग**—शेष सभी उद्योग सामान्यत निजी तथा सहकारी उपक्रम के लिए छोड दिए गए। यदि किसी उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक नही रही तो सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

3 **कुटीर तथा लघु उद्योग**—औद्योगिक नीति मे इन उद्योगो के महत्त्व को स्वीकार किया गया। क्योकि इनमे व्यक्तिगत, ग्रामीण तथा सहकारी उपक्रम सभव होते है। ऐसे उद्योग स्थानीय साधनो के पूर्ण उपभोग तथा कुछ उपभोग-योग्य वस्तुओ के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दृष्टि से उपयोगी होते है। प्रस्ताव मे यह भी कहा गया है कि विशाल उद्योगो के साथ इनका समन्वय किया जाना चाहिए।

4 **श्रमनीति**—औद्योगिक विकास के लिए श्रम के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया और कहा गया कि सरकार श्रमिको की स्थिति सुधारने का प्रयत्न करेगी। उद्योगों के लाभ मे श्रमिको को भी हिस्सा मिलेगा। उद्योगों मे संचालन के लिए श्रमिको को भागीदार बनाने का प्रयत्न किया जाएगा। औद्योगिक झगड़ो के फैसले

के लिए उचित व्यवस्था की जाएगी तथा श्रमिको की गृह-समस्या के समाधान के लिए आगामी 10 वर्षों मे 10 लाख मकान बनाए जाएँगे।

5. **तटकर नीति व कर नीति**—सरकार की तटकर नीति इस प्रकार की होगी कि उपभोक्ताओ पर अनावश्यक भार डाले बिना, देश के साधनो का उपभोग किया जा सके और अनावश्यक विदेशी प्रतिस्पर्धा को रोका जा सके। यह भी कहा गया कि करप्रणाली मे आवश्यक सुधार किया जाएगा, ताकि पूंजीगत-नियोजन व बचत मे वृद्धि हो सके और कुछ व्यक्तियो के हाथ मे ही सम्पत्तियो का संकेन्द्रण न हो सके।

6. **विदेशी पूँजी**—सरकार विदेशी पूंजी का स्वागत करेगी यदि उसे राष्ट्र के हित मे समझा गया। यदि विदेशी पूंजी का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उचित मुआवजा दिया जायगा।

7. **वितरण**—प्रस्ताव मे कहा गया कि वर्तमान समय मे उत्पादन वृद्धि पर जो दिया जायगा और वितरण की समस्या पर भविष्य मे विचार किया जाएगा।

सन् 1948 की नीति की आलोचनात्मक समीक्षा—सन् 1948 की नीति पर टीका-टिप्पणी मिश्रित रही। कुछ व्यक्तियो ने इसका स्वागत किया। **श्री मीनू मसानी** के अनुसार "इस नीति के द्वारा प्रजातंत्रात्मक समाजवाद की नीव डाली गयी।" **प्रो० रगा** के अनुसार "यह नीति गाँधीवाद की विजय थी।" इसके विपरीत कुछ प्रमुख पूंजीपतियो ने इसको एक-मार्गीय तथा निजी उपक्रमो के प्रति पक्षपात कहकर इसकी निन्दा की। **प्रो० के० टी० शाह** के अनुसार, "यह वह नीति नही थी जिसे एक प्रगतिशील तथा उन्नति की आशा रखने वाले देश को अपनाना चाहिए।" **श्री वी० के० आर० वी० राव** ने इस औद्योगिक नीति को 'ढुलमुल' बताया था।

भारत सरकार की सन् 1956 की औद्योगिक नीति

सन् 1948 की औद्योगिक नीति लगभग 8 वर्षों तक चलती रही, परन्तु इन वर्षों मे भारत की राजनैतिक एव आर्थिक व्यवस्था मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनके कारण औद्योगिक नीति मे परिवर्तन की आवश्यकता पडी। सक्षेप मे सन् 1948 की औद्योगिक नीति मे सशोधन की अनिवार्यता के प्रमुख कारण निम्न थे :—

(1) **भारतीय संविधान**—भारत का नवीन संविधान 26 जनवरी सन् 1950 को लागू किया गया, जिसमे जनता को कुछ मौलिक अधिकारो का आश्वासन दिया गया और राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वो का उल्लेख किया गया। अत: यह आवश्यक समझा गया कि संविधान की धाराओ के अनुसार ही औद्योगिक नीति को रखा जाय।

(2) **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—देश में आर्थिक नियोजन का कार्य संगठित ढंग से 1 अप्रैल 1956 से आरम्भ हुआ। योजना के अनुभवो को ध्यान मे रखते हुए भारत में औद्योगिक विकास आवश्यक समझा गया।

(3) **समाजवादी समाज की स्थापना**—दिसम्बर सन् 1953 में भारतीय संसद ने देश में समाजवादी ढांचे की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण अपनी सामा-

जिक तथा आर्थिक नीति के रूप में स्वीकार किया। अतः सरकारी कार्यक्षेत्र बढाना आवश्यक हो गया।

(4) **अन्य कारण**—

(अ) द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे उद्योग-धन्धो के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई, जिसके अनुरूप ही औद्योगिक नीति का होना आवश्यक था।

(ब) निजी क्षेत्र मे प्रथम औद्योगिक नीति के परिणामस्वरूप कुछ अनिश्चितता और आशकाएँ उत्पन्न हो गई थी जिनको दूर करना भी आवश्यक हो गया, ताकि सरकारी क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र भी औद्योगीकरण मे पूरा सहयोग दे सके।

उपर्युक्त परिवर्तन के फलम्वरूप देश के लिए एक नई औद्योगिक नीति की घोषणा अनिवार्य हो गई और 30 अप्रैल सन् 1956 को एक औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा देश की नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा कर दी गई।

सन् 1956 की नवीन औद्योगिक नीति की विशेषताएं—सन् 1956 की नवीन औद्योगिक नीति की कुछ प्रमुख बाते इस प्रकार है—

(1) **नीति का उद्देश्य**—इस नीति के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—

(अ) आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना,

(ब) आधारभूत उद्योगो और मशीन-निर्माण उद्योगो का विकास करना,

(स) एक विशाल एवं प्रगतिशील सहकारी क्षेत्र की स्थापना करना,

(द) आय तथा सम्पत्ति की असमानता को घटाना,

(य) निजी अधिकारो को रोकना और आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर अकुश लगाना।

(2) **उद्योगो का वर्गीकरण**—इस नीति के अन्तर्गत उद्योगो को निम्न तीन श्रेणियो मे वर्गीकृत किया गया—

(अ) वे उद्योग जो पूर्णरूप से राज्य के एकाधिकार में रहेंगे उद्योगो की सूची अ (Schedule A) मे रखे गए 17 महत्त्वपूर्ण और आधारभूत उद्योग पूर्णरूप से राज्य के एकाधिकार मे रहेगे। ये उद्योग इस प्रकार है—अस्त्र-शास्त्र एवं सैनिक उपकरण, अणुशक्ति, लोहा और इस्पात, इस्पात के पिंडो की ढलाई, भारी मशीनरी निर्माण भारी विद्युत् मशीनें, कोयला और भूरा कोयला, खनिज-तेल, खनिज लोहे की खुदाई, गंधक, मैगनीज एवं कुछ अन्य खनिज तथा उनकी सफाई जैसे हीरा, सोना, ताँबा, मीमा आदि, आणविक खनिज, वायुयान निर्माण, वायु यातायात, रेल यातायात, जहाज निर्माण, टेलीफोन एवं दूर-संचार उपकरण, विद्युत् उत्पादन व वितरण। इस श्रेणी के सभी नए उद्योग सरकार द्वारा स्थापित किए जाएँगे, परन्तु इस नीति मे सन् 1948 की नीति की भाँति वर्तमान इकाइयो के लिए राष्ट्रीयकरण की कोई चर्चा नही थी।

(ब) वे उद्योग जिनके विकास में सरकार भविष्य मे उत्तरोत्तर अधिक भाग लेगी—उद्योगो की द्वितीय सूची में 92 उद्योग रखे गए जिन पर धीरे-धीरे सरकार

का स्वामित्व हो जाएगा, तथा इस श्रेणी मे नए कारखाने स्थापित करने मे सरकार ही अगुआ रहेगी। परन्तु साथ-साथ निजी क्षेत्र भी चालू रहेगा और इस श्रेणी मे निजी साहसियो को भी विकास का अवसर दिया जाएगा, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सरकार की साझेदारी मे। द्वितीय सूची के प्रमुख उद्योग अल्यूमिनियम तथा लोह धातुएँ, मशीन औजार निर्माण एव औजारीय धातुएँ, जीवनदायक तथा अन्य दवाएँ, रासायनिक खाद, कृत्रिम रबड, कोयले का कोक बनाना, रासायनिक लुगदी, सडक और परिवहन तथा अन्य खनिज पदार्थ जो सूची अ मे न हो।

(स) अन्य समस्त उद्योग जो सामान्यतः निजी क्षेत्र के लिए सुरक्षित रहेंगे—शेष सब उद्योग तृतीय श्रेणी मे रखे गए, जिनका विकास निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया। इस श्रेणी मे विशेषतः सभी उपभोक्ता उद्योग आ जाते है। यद्यपि इन उद्योगो का क्षेत्र पूर्णतः निजी उद्यमियो के लिए खुला रहेगा, परन्तु सरकार पचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित कार्यक्रमो के अनुसार इन उद्योगो के विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान करेगी। साथ ही निजी क्षेत्र के लिए यह आवश्यक है कि वह पंचवर्षीय योजनाओ के निर्धारित कार्यक्रमो के अनुसार चले और उद्योग विकास एव नियमन अधिनियम सन् 1951 के अन्तर्गत लगाए गए नियन्त्रणो का अनुसरण करे।

(3) **कुटीर तथा लघु उद्योग (Cottage and Small-scale Industries)**—इस नीति मे भी कुटीर तथा लघु उद्योग के विकास पर पुनः जोर दिया गया और बेकारी को दूर करने, स्थानीय साधनों का पूर्ण उपभोग करने व राष्ट्रीय आय के अधिक समान वितरण के लिए इनका महत्त्व स्वीकार किया गया। यह व्यवस्था की गई कि सरकार इन उद्योगो की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को सुधारने वाले उपायो पर जोर देगी। इसके लिए वह मुख्यतः निम्न कदम उठाएगी। कठिनाइयो का निवारण, उत्पादन तकनीकी मे सुधार, औद्योगिक बस्तियो और ग्रामीण सामूहिक वर्कशापो की स्थापना, बिजली की सुविधाओ का विस्तार और सस्ती दर पर बिजली प्रदान करना, वित्तीय एव विक्रय सुविधाएँ उपलब्ध करना और औद्योगिक सहकारी समितियो का संगठन करना।

(4) **क्षेत्रीय विषमताओ को दूर करना**—नवीन औद्योगिक नीति मे यह निश्चय किया गया कि सरकार पिछडे हुए क्षेत्र के औद्योगिक विकास पर विशेष ध्यान देगी, ताकि देश मे औद्योगिक विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय विषमताएँ दूर हो जायें। इस उद्देश्य से औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए क्षेत्रो के लिए सरकार बिजली, पानी तथा परिवहन की सुविधाओं मे वृद्धि करेगी विशेषकर, ऐसे क्षेत्रो में जहाँ रोजगार बढाने की बहुत आवश्यकता है।

(5) **सहकारी सिद्धान्त**—यथासम्भव सहकारिता का सिद्धान्त लागू किया जाएगा तथा निजी क्षेत्र में अधिक से अधिक कार्यों को सहकारी ढंग पर विकसित करने का प्रयास किया जाएगा।

(6) **श्रम नीति**—औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए श्रमिको और उद्योग-पतियों के बीच सम्बन्धों को सुधारा जाएगा और इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया

जाएगा कि दोनो पक्ष अपने-अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से समझे। इस दृष्टि से श्रमिको के रहन-सहन मे सुधार, श्रमिको और तकनीकी कर्मचारियो के औद्योगिक प्रबन्ध मे सहयोग तथा इनकी कुशलता मे सुधार होना आवश्यक है।

(7) **कर्मचारियो का प्रशिक्षण**—इस नीति मे तकनीकी और प्रबन्ध सम्बन्धी कर्मचारियो की बढती माँग की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढाने तथा विश्व-विद्यालयो और अन्य सस्थाओ मे प्रबन्ध विशेषज्ञो की शिक्षा की सुविधा प्रदान करने का सुझाव दिया गया।

(8) **राष्ट्रीयकरण न करने का आश्वासन**—सन् 1956 की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत, प्रथम औद्योगिक नीति जो द्वितीय क्षेणी के निजी उद्योगो के स्पष्टीकरण के बारे मे, 10 वर्ष बाद पुनः विचार करने का प्रावधान था, उससे मुक्ति प्रदान कर दी गई।

(9) **सत्ता का विकेन्द्रीयकरण**—यह भी कहा गया है कि सरकारी उपक्रमो की सफलता के लिए सत्ता का विकेन्द्रीयकरण किया जाएगा और प्रबन्ध कार्य व्याव-सायिक आधार पर चलाया जाएगा।

सन् 1956 की औद्योगिक नीति का आलोचनात्मक विश्लेषण

यद्यपि इस नीति ने सरकारी और निजी क्षेत्र का स्पष्टीकरण कर दिया है, तथापि निजी क्षेत्र के समर्थको ने इस नीति की आलोचना की है। कुछ प्रमुख आलोच-नाएँ इस प्रकार है —

(अ) **निजी क्षेत्र के प्रतिकूल**—ऐसा कहा गया है कि सरकार के विस्तृत कार्य-क्षेत्र तथा उसके बढते हुए नियन्त्रण तथा नियमन अधिकारो मे परोक्ष रूप से राष्ट्रीय-करण का संकेत मिलता है, जिससे निजी क्षेत्र मे पूँजी-सचय कार्यक्रमो को कुछ क्षति पहुँचेगी। **श्री० सी० एच० भाभा** (C. H. Bhabha) के मतानुसार "यह नीति देश मे राजकीय पूँजीवाद का आरम्भ और निजी उद्योगियो की समाप्ति की शुरुआत है।" विश्व बैङ्क के भूतपूर्व अध्यक्ष **श्री यूजीन ब्लैक** ने बताया है कि "इस नीति मे निजी क्षेत्र के विकास के लिए पर्याप्त अवसर नही दिया गया, सरकार के काम अधिकाधिक बढ रहे हैं। अतः निजी क्षेत्रो को अपना भविष्य निराशाजनक प्रतीत होता है।"

(ब) **अनिश्चित प्रावधान**—यह भी कहा जाता है कि इस नीति मे अनेक प्राव-धान अनिश्चित और अस्पष्ट हैं। प्रत्येक वर्ग के उद्योगो मे कुछ ऐसे वाक्याश जोड दिए गए हैं जिनसे उद्योगो के वर्गीकरण की रेखा स्पष्ट नही है। जैसे, द्वितीय वर्ग के सम्बन्ध मे यह लिखा गया है "निजी क्षेत्रो से यह आशा की जायेगी कि वह राज्य के प्रयत्नो को आगे बढाने मे सहयोग देगा।" इसी प्रकार तीसरी श्रेणी के उद्योगो के लिए कहा गया है कि "सामान्यत. इस वर्ग के उद्योगो का विकास निजी क्षेत्र के उप-क्रम द्वारा भी किया जाएगा।" फिर भी इस वर्ग मे उद्योगो का विकास सरकारी उपक्रम द्वारा भी किया जाएगा। इस तरह के वाक्याशो से निश्चितता नहीं आ पाती।

(स) सहकारिता के नाम पर राजकीय पूंजीवाद—इस नीति मे सहकारी क्षेत्र के विस्तार की जो बात प्रस्ताव मे कही गयी है वह भ्रामक है, क्योंकि वास्तव मे सहकारी क्षेत्र सरकार के निर्देशन पर ही कार्य करेगा। इस प्रकार भारत मे सहकारिता के नाम पर राजकीय पूंजीवाद (State Capitalism) को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(द) विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नहीं—इस औद्योगिक नीति में विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही की गई, जबकि प्रथम नीति मे ऐसा किया गया था। आलोचको का कहना है कि यदि विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे नीति स्पष्ट होती तथा राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र निश्चित किया गया होता तो विदेशी पूंजीपति निःशंक होकर भारत मे अपनी पूंजी विनियोजित करते और निजी विदेशी विनियोग बहुत अधिक बढ़ सकता था।

(य) कठिन दायित्व—सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए उद्योगो का एक विशाल क्षेत्र इस नीति के अन्तर्गत सुरक्षित कर लिया है, किन्तु सीमित साधनो और प्रबन्ध-कुशलता के अभाव मे सहकारी उद्योग निजी उद्योगो की अपेक्षा अधिक उत्तम सेवा प्रदान नही कर सकेंगे।

(र) अस्थिर नीति—आलोचको का यह भी कहना है कि देश की औद्योगिक नीति में शीघ्रता से परिवर्तन नही होने चाहिए। केवल 8 वर्ष की अल्प अवधि के बाद नवीन नीति का निर्माण, सरकारी नीतियो की अस्थिरता को प्रकट करता है और निजी क्षेत्र के लोगो मे अविश्वास उत्पन्न करता है।

औद्योगिक नीति 1977
(Industrial Policy)

1956 की औद्योगिक नीति की कमियो को दूर करने और जनता की आर्थिक विकास सम्बन्धी आकाक्षाओ को पूरा करने के लिए तत्कालीन उद्योग मत्री श्री जार्ज फर्नांडीज ने 23 दिसम्बर, 1977 को एक नई औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार थे :—(i) एकाधिकारवादी प्रवृत्ति और कुछ हाथो मे आर्थिक शक्ति के जमाव को रोकना। (ii) उद्योगो को सामाजिक आवश्यकताओ के अनुरूप बनाना। (iii) उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करना। (iv) मानवीय तथा राष्ट्रीय साधनो का पूर्ण उपयोग करना। (v) रोजगार प्रदान करने वाले उद्योगों का तीव्रता से विकास करना।

औद्योगिक नीति 1977 के प्रमुख तत्त्व
(Main Features of Industrial Policy 1977)

औद्योगिक नीति 1977 के प्रमुख तत्त्वो का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

1. लघु एवं कुटीर उद्योगो को अत्यधिक महत्त्व—इस नीति मे लघु उद्योगों

द्वारा देश के औद्योगिक विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा किए जाने पर जोर दिया गया। सरकार ने अपनी नीति मे यह स्पष्ट कर दिया था कि अधिक से अधिक वस्तुओ का उत्पादन इस क्षेत्र के लिए पूर्णतया आरक्षित किया जाएगा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु लघु उद्योगो के लिए सुरक्षित वस्तुओ को 108 से बढ़ाकर 504 कर दिया गया। (वर्तमान मे इन वस्तुओ की सख्या 708 हो गई है।)

2. **बहुत छोटे अर्थात् टाइनी क्षेत्रो (Tiny Sectors) को औपचारिक मान्यता**—इस औद्योगिक नीति मे लघु उद्योगो की विद्यमान परिभाषा को ही स्वीकार किया गया। लेकिन इसमे भी टाइनी क्षेत्र की इकाइयो की ओर विशेष ध्यान दिया गया। टाइनी क्षेत्र के अन्तर्गत ऐसी इकाइयो को रखा गया जिससे मशीनो और उपक्रमो मे विनियोग की राशि एक लाख रुपये से अधिक नही है और जो गाँवो या ऐसे कस्बों मे स्थित है जिनकी जनसख्या 1971 की जनगणना के अनुसार 50,000 से कम है।

3 **कुटीर उद्योग (Cottage Industries)**—कुटीर एवं गृह उद्योगो के संरक्षण के लिए एक विशेष कानून बनाए जाने का आश्वासन दिया गया ताकि अधिक सख्या मे व्यक्तियो को स्वयं रोजगार तथा औद्योगिक विकास मे उचित स्थान प्राप्त हो सके।

4. **बृहत् औद्योगिक घराने**—औद्योगिक नीति मे बडे औद्योगिक घरानो और गैर आनुपातिक विकास को रोकने मे सरकारी नीति की असफलता पर चिन्ता व्यक्त की गई और भविष्य में इन घरानो के विकास पर निम्न प्रतिबन्ध लगाए जाने के लिए कहा गया—

(i) विद्यमान उपक्रमो का विस्तार एव नए उपक्रमो की स्थापना एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम (M R T P Act) के अधीन की जा सकेगी परन्तु अब इस अधिनियम के प्रावधान कडाई से लागू किए जाएँगे।

(ii) विद्यमान उपक्रमो द्वारा नई वस्तुओ के उत्पादन तथा नई औद्योगिक इकाइयो की स्थापना के लिए बडे औद्योगिक घरानो को केन्द्रीय सरकार की विशेष स्वीकृति प्राप्त करनी होगी।

(iii) औद्योगिक इकाइयो की स्थापना अथवा विस्तार के लिए इन बडे औद्योगिक घरानो को अपने आन्तरिक वित्तीय साधनो पर आश्रित होना होगा। सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओ द्वारा इन घरानो को प्रदत्त ऋण की सुविधाएँ कम की जाएगी। उर्वरक, कागज, सीमेण्ट, जहाजी यातायात, पेट्रो-रसायन आदि पूँजी गहन उद्योगो को छोडकर शेष अन्य उद्योगो मे ऋण पूंजी अनुपात इस प्रकार निश्चित किया गया जिससे अन्य औद्योगिक घरानो को आन्तरिक वित्तीय साधनो को अपेक्षाकृत अधिक जुटाना पडे।

(iv) सरकार द्वारा यह प्रयास किया जाएगा कि कोई भी व्यावसायिक समूह एकाधिकारिक शक्ति प्राप्त न कर सके। लाइसेस नीति के अन्तर्गत इन घरानो के उद्योगो की क्रियाओ पर नियन्त्रण रखा जाएगा।

(5) **स्वदेशी और विदेशी तकनीक (Indigenous aud Foreign Techno-**

logy)—इस नीति मे कहा गया कि देश का भावी औद्योगिक विकास स्वदेशी तकनीक पर आधारित होना चाहिए और इसे विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। जिन जटिल तथा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो मे भारतीय दक्षता एवं तकनीक पर्याप्त नही है, उनके लिए सरकार सर्वश्रेष्ठ तकनीक दक्षता का आयात इस नीति मे रखा गया।

(6) **विदेशी विनियोग** (Foreign Investment)—इस औद्योगिक नीति मे यह कहा गया कि विद्यमान **विदेशी कम्पनियों पर विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम** (Foriegn Exchange Ragulation Act) की शर्तों को कठोरता से लागू किया जाएगा। यदि विदेशी कम्पनियो की समता अश पूंजी 40% से अधिक होगी तो उनके साथ भारतीय कम्पनियो के समान व्यवहार किया जाएगा अर्थात् इन कम्पनियो पर विस्तार के वही सिद्धान्त लागू होगे जो भारतीय कम्पनियो के विस्तार के लिए है। विदेशी विनियोग एवं तकनीक की अनुमति सरकार द्वारा राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से निर्धारित शर्तों पर दी जाएगी। जहाँ विदेशी जानकारी एनं तकनीक की आवश्यकता नही है वहाँ चालू समझौतो का पुन: नवीनीकरण नही किया जाएगा।

(7) **संयुक्त उपक्रम** (Joint Ventures)—भारतीय उद्योगपतियो ने विदेशो मे वहा के स्थानीय उद्योगपतियो के सहयोग से बहुत सारे उद्योग स्थापित किए है। इस सम्बन्ध मे इस औद्योगिक नीति मे यह स्पष्ट किया गया कि ऐसे संयुक्त उपक्रमो की दशा मे मशीन, साज-सज्जा तकनीकी ज्ञान, प्रबन्धकीय ज्ञान आदि का निर्यात तो सम्भव होगा परन्तु रोकड विनियोग की सिर्फ कुछ आवश्यक दशाओ मे एक निश्चित सीमा तक ही अनुमति प्रदान की जाएगी क्योकि भारत जैसे विकासशील, देश से अत्यधिक पूंजी का निर्यात न तो सम्भव है और न वाछनीय।

(8) **आयातो में उदारता की नीति**—इस नीति में इस बात पर जोर दिया गया कि जिन परियोजनाओ को कार्यान्वित करने मे रुकावटे आ रही है अथवा जिन क्षेत्रो में घरेलू उत्पादक मूल्य बढाकर अनुचित लाभ कमा रहे है वहाँ आयात प्रतिबन्ध मे छूट दी जाएगी। यह छूटे ऐसे क्षेत्रो मे दिए जाने की योजना थी जहाँ विद्यमान मात्रात्मक नियन्त्रण भावी विकास मे सहायक होने के स्थान पर बाधक सिद्ध हो रहे है।

(9) **उद्योगों के लिए स्थान निर्धारण**—सरकार द्वारा सम्पूर्ण देश के सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की आवश्यकता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जिसमे विभिन्न क्षेत्रो मे विषमताओ को धीरे-धीरे कम किया जा सके। इस दृष्टि से सरकार ने यह निश्चय किया कि 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले महानगरो तथा 5 लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहरी क्षेत्रो मे एक निश्चित परिधि तक औद्योगिक इकाइयी की स्थापना के लिए नया लाइसेंस निर्गमित न किया जाय। सरकार द्वारा बडे पैमाने की ऐसी विद्यमान इकाइयो को सहायता देने के प्रश्न पर विचार किया गया जो महानगरों से पिछडे क्षेत्रो मे स्थानान्तरण चाहेगी।

(10) **मूल्य नीति**—देश मे ऐसी सुदृढ मूल्य नीति अपनाए जाने पर बल दिया गया जिससे मूल्यो में वाछनीय स्थायित्व कायम रह सके और कृषि तथा औद्यो-

गिक उत्पादो के मूल्यो मे उचित समता (Fair Parity) रखी जा सके। इसके लिए यह निश्चय किया गया कि नियन्त्रित कीमत मे पूंजी पर उचित प्रतिफल जोडा जाय परन्तु सरकार द्वारा अत्यधिक लाभ अर्जित करने की अनुमति न प्रदान की जाय।

(11) **श्रमिको की सहभागिता**—इस नीति मे बडे औद्योगिक घरानो के प्रबन्ध के व्यवसायीकरण पर बल दिया गया। श्रमिको को अपने कारखानो की अंश पूंजी मे हिस्सा लेने के साथ-साथ उन्हे प्रबन्ध मे भी भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

औद्योगिक नीति की 1977 की प्रमुख आलोचनाएं—निम्नलिखित है—

(1) **लघु उद्योगो से सम्बन्धित नीति की आलोचनाएँ**—यद्यपि इन औद्योगिक नीति मे लघु उद्योगो को स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। और सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक सुदृढ बनाने की बात की गई है परन्तु यह सब दिखावा और ढकोसला मात्र ही है।

(2) **विदेशी कम्पनियो को छूट**—इस औद्योगिक नीति के अनुसार विदेशी कम्पनियो की भारत मे शत-प्रतिशत स्वामित्व के आधार पर भी पूंजी लगाने की छूट रहेगी और भारत से लाभ, रायल्टी लाभाश और पूंजी अपने देश भेजने की पूर्ण छूट रहेगी। औद्योगिक नीति मे विदेशी कम्पनियो के लिए जो अत्यन्त उदारतापूर्ण नीति अपनायी गई है, इससे हो सकता है कि आरम्भ के एक-दो वर्षों मे औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिले लेकिन 5-7 वर्षों के अन्दर ही संकट पैदा हो जाएगा, देश की अपनी कोई मौलिक औद्योगिक पद्धति नही बन पाएगी। बुनियादी उत्पादन मे विदेशी कम्पनियो की घुसपैठ बढ जाएगी व देश की पूंजी भी बाहर जाने लगेगी।

इस औद्योगिक नीति मे कहा गया है कि पूंजी की रकम पर सीमा लगायी जायेगी लेकिन सीमा क्या होगी ? यह नही बताया गया है। बिदेशी कम्पनियो के प्रभाव से सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व और घटेगा। इन सबका मिला-जुला परिणाम देश की अर्थव्यवस्था के लिए बहुत घातक होगा। देश की राजनीति पर भी विदेशी प्रभाव और देश के व्यापारियो का प्रभाव बढेगा।

(3) **सार्वजनिक क्षेत्र की अस्पष्ट भूमिका**—इस औद्योगिक नीति मे सार्वजनिक उद्योगो की भूमिका के सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है। सरकार ने इन सार्वजनिक उद्योग के क्षेत्र को सीमित कर दिया है जो कि अनुचित है।

(4) **मध्य स्तर के उद्योगो की अनिश्चित भूमिका**—इस नीति मे मध्य स्तर के उद्योगो के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख नही किया गया है, जबकि इनके द्वारा देश के कुल उत्पादन का समुचित भाग उत्पादित किया जा रहा है। यदि बड़े पैमाने का उद्योग मान कर इन पर ही वे नियन्त्रण लगाए जाएँगे तो वह अनुचित होगा।

(5) **छोटी औद्योगिक तकनीक सम्भव नहीं**—छोटे उद्योगो की परिभाषा के अन्तर्गत छोटी औद्योगिक तकनीक का विकास सम्भव नही है। यद्यपि यह कहा गया है कि हम किसी खास प्रकार की तकनीक से बचेगे नही, जो भी उपयोगी साबित होगी उसी से काम लेंगे लेकिन हम यह जानते है कि प्रचार, घूस और आकर्षण की

शक्तियाँ हमेशा बडी तकनीक की ही उपयोगी साबित करती है। छोटे उद्योगो के विकास के लिए छोटी तकनीक के प्रति प्रेम और लगन की आवश्यकता है।

(6) **छोटे उद्योगो की उपेक्षा**—इस नीति मे ग्रामीण एव कुटीर उद्योगो को ही कानूनी सरक्षण दिया गया है, छोटे उद्योगो को नही। छोटे उद्योग सहकारी क्षेत्र मे होगे या निजी क्षेत्र मे। इसक सम्बन्ध मे नीति स्पष्ट नही है।

नई औद्योगिक नीति, 1980
(New Industrial Policy, 1980)

24 जुलाई 1980 को सरकार द्वारा नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। नयी औद्योगिक नीति का निर्माण औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 के आधार पर किया गया है।

(1) **नीति के उद्देश्य**—औद्योगिक नीति वक्तव्य 1980 मे निम्नलिखित सामाजिक एव आर्थिक उद्देश्यो का समावेश किया गया है—

(i) उद्योगो की वर्तमान उत्पादन क्षमता का अधिकतम सम्भव उपयोग करना;

(ii) उद्योगा की उत्पादकता एव उत्पादन क्षमता बढाना,

(iii) अर्थव्यवस्था मे अधिकतम सम्भव रोजगार के अवसर उत्पन्न करना,

(iv) एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण का विरोध करना,

(v) ऊँची कीमतो तथा खराब किस्म की वस्तुओ से उपभोक्ताओ के हितो की सुरक्षा करना;

(vi) निर्यात-उन्मुख और आयात-प्रतिस्थापना उद्योगो का तेजी से विकास करना;

(vii) कृषि जन्य उद्योगो को प्राथमिकता प्रदान करके कृषि-आधार को मजबूत बनाना और अन्तर-क्षेत्रीय सम्बन्धो का विकास करना।

(viii) औद्योगिक रूप से पिछडे हुए क्षेत्रो के विकास को प्राथमिकता प्रदान करके क्षेत्रीय असन्तुलनो को दूर करना।

(2) **नीति मे निर्दिष्ट उपाय**—उपरोक्त उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए औद्योगिक नीति 1980 मे कई उपाय सुझाए गए है जिनमे से प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं—

(1) **सार्वजनिक क्षेत्र पुनर्पूर्वाभिमुखीकरण**—सार्वजनिक क्षेत्र के पुनर्पूर्वाभिमुखीकरण—सार्वजनिक क्षेत्र के पुनर्पूर्वाभिमुखीकरण के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाए गए है—

(क) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो का इकाई-दर इकाई गहन अध्ययन किया जाएगा तथा जहाँ भी उनकी क्षमता को विकसित करने की आवश्यकता होगी वहाँ समय बद्ध कार्यक्रमो का आयोजन किया जायेगा।

(ख) कार्यात्मक क्षेत्रो जैसे कि कार्य विधि, वित्त, विपणन तथा सूचना प्रणाली मे प्रबन्धकीय व्यवस्था के विकास के लिए समुचित कदम उठायें जायेगे।

(ग) जो सार्वजनिक उद्यम हानि में चल रहे है उनको व्यवहार्य बनाने के

लिए उनका पुनर्संगठन किया जायेगा और उनको गतिशील एवं कुशल प्रबन्ध प्रदान किया जायेगा।

(2) **लघु-स्तरीय उद्योगो को प्रोत्साहन**—औद्योगिक नीति 1980 मे लघु एवं बड़े उद्योगो के कृत्रिम वर्गीकरण को समाप्त कर दिया गया है। लघु उद्योगो के विकास के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाएँ गये है—

(क) लघु उद्योगो मे विनियोग की जाने वाली पूँजी की अधिकतम सीमा 10 लाख रुपये से बढाकर 20 लाख रुपये कर दी गयी है।

(ख) अति लघु उद्योगो मे लगायी जाने वाली पूँजी की अधिकतम मात्रा 1 लाख रुपये से बढाकर 2 लाख रुपये कर दी गई है।

(ग) सहायक उद्योगो मे विनियोजित पूँजी की अधिकतम राशि 15 लाख रुपये से बढाकर 25 लाख रुपये कर दी गई है।

(3) **निजी क्षेत्र के विकास के लिए सहायता**—औद्योगिक नीति 1980 मे निजी क्षेत्र के विकास मे सहयोग के लिए निम्नलिखित क्षेत्रो का अभियान किया गया है—

(क) उद्योगो को दिए गए विभिन्न प्रोत्साहनो का नियमित रूप से मूल्यांकन किया जायेगा ताकि निर्दिष्ट लक्ष्यो की प्राप्ति हो सके।

(ख) उद्योगो की बढी हुई उत्पादन क्षमता को स्वीकार करके उसे नियमित कर दिया जायेगा तथा प्रतिवर्ष 5 प्रतिशत क्षमता के विस्तार की अनुमति प्रदान की जायेगी।

(ग) प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए "आधुनिकीकरण के उपायो" को अपनाया जायेगा।

(घ) निर्यात-उन्मुख उद्योगो मे उच्चतर तकनीको का उपयोग किया जायेगा।

(4) **बीमार इकाइयाँ**—बीमार इकाइयो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित उपायो का सुझाव दिया गया है—

(क) यदि जानबूझकर कुप्रबन्ध और वित्तीय कुव्यवहारो को अपनाने से बीमार इकाइयो की समस्या उत्पन्न होती है तो ऐसे मामलो को सख्ती से निपटाया जायेगा।

(ख) जैसे ही किसी औद्योगिक इकाई में बीमारी के चिह्न दृष्टिगोचर होते है तो तत्काल ही इसके उपचार के लिए प्रयास किए जायेगे।

(ग) जिन बीमार इकाइयो मे पुनर्जागृति की सम्भावनाएँ विद्यमान है उनको कुशल इकाइयो के साथ मिला दिया जायेगा ताकि इनको पुनः कार्यशील इकाइयो मे परिणित किया जा सके।

(5) **आर्थिक अवस्थापना**—1980 की औद्योगिक नीति मे यह स्वीकार किया गया है कि आर्थिक अवस्थापना की असफलता के कारण देश मे ऊर्जा, कोयला तथा परिवहन का संकट उत्पन्न हो गया है। अतः इस नीति मे आर्थिक अवस्थापना के समुचित विकास के प्रयत्नो को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ऊर्जा के साधनो के अनुकूलतम प्रयोग और ऊर्जा के विभिन्न साधनों के विदोहन में प्रयुक्त होने वाली तक-

नीक के विकास के लिए विशेष सहायता दी जायेगी तथा सरल शर्तों पर वित्त प्रदान करने की व्यवस्था भी की जायेगी। ऊर्जा संरक्षण ऊर्जा के गैर परम्परागत साधनो की खोज तथा जलवायु प्रदूषण के नियंत्रण से सम्बद्ध तकनीको के समुचित विकास हेतु सरल शर्तों पर ऋण प्रदान करने की संभावना पर भी सरकार द्वारा विचार किया जायेगा।

(6) **नाभिकीय संयन्त्रो की स्थापना** (Nucleus Plants)—सरकार का यह प्रयत्न होगा कि लघु तथा मध्यम उद्योगो के बीच इस गलत धारणा से कि वे परस्पर विरोधी है। कृत्रिम विभाजन पैदा करने के गत तीन वर्षों के रूप को बदला जाय। औद्योगिक विकास की दशा मे भी आवश्यक प्रयत्न करते रहने के साथ यह प्रस्ताव है कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रत्येक जिले मे नाभिकीय संयंत्रो की स्थापना द्वारा अधिक से अधिक सहायक तथा लघु एव कुटीर उद्योगो को अपनाने का अवसर देकर आर्थिक सघीयता (Economic Federalism) की विचारधारा को घोषित किया जाय।

ये नाभिकीय सयन्त्र वृहत् आकार के उपक्रम होगे और ये अधिकाशत: संयोजन (Assembling) का कार्य करेगे जैसे मोटरकार, स्कूटर, मशीन निर्माण उद्योग आदि। इस प्रकार ये सयन्त्र छोटे-छोटे पुर्जे निर्माण करने वाली विभिन्न लघु इकाइयो को जन्म दे सकेंगे। इसके अतिरिक्त नाभिकीय संयन्त्रो की स्थापना मे इस बात का भी ध्यान रखा जायेगा कि वे इन लघु उद्योगो मे काम आने वाली वस्तुओ (Inputs) का निर्माण करे ताकि आयातीय उपक्रमो व सामग्री पर आश्रितता कम हो सके। उदाहरण के लिए मशीन, निर्माण सयन्त्र जहाँ एक ओर विभिन्न कल पुर्जे लघु उद्योग क्षेत्र से प्राप्त करेगा वही वह लघु इकाइयो की मशीनरी की आवश्यकताओ की पूर्ति भी करेगा।

(7) **आधुनिकीकरण** (Modernisation)—इस नीति मे आवश्यकतानुसार आधुनिकीकरण कार्यक्रम निरूपित किया जाएगा जिसमे उद्योगो मे मशीनीकरण करते समय ऊर्जा के अनुकूलतम उपयोग, टेक्नॉलॉजी तथा उत्पादन के आकार की उपयुक्तता आदि से सम्बन्धित तथ्यो को भी ध्यान मे रखा जाएगा। बड़े उपक्रमो के साथ-साथ लघु क्षेत्र की इकाइयो को भी आधुनिकीकरण की ओर प्रेरित किया जाएगा। इस प्रकार नवीन प्रक्रिया एवं टेक्नॉलॉजी के प्रयोग तथा सुधरे हुए यन्त्रो व औजारो के प्रयोग द्वारा इन लघु एव ग्राम उद्योगो की उत्पादकता मे सुधार किया जाएगा।

(8) **शोध एवं विकास कार्य** (Research and Development Activities)—नवीन औद्योगिक नीति मे इस बात पर जोर दिया गया है कि भारतीय उद्योगो को टेक्नॉलॉजी सम्बन्धी शोध एवं विकास के कार्यों के लिए पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था की जानी चाहिए। भारत सरकार ऐसे कुशल एवं बृहत उपक्रमो को विदेशी प्रविधि आयात करने की भी अनुमति प्रदान करेगी जिनके पास सुव्यवस्थित स्रोत एवं विकास संगठन है और जिन्होने आधुनिक प्राद्योगिकी को ग्रहण करने, अपनाने, तथा प्रसार करने के सम्बन्ध मे अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी है। इस प्रक्रिया से साधनों का पूर्ण उपयोग, उपभोक्ता की अच्छी सेवा तथा निर्यातो मे वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

(9) **औद्योगिक सम्बन्ध** (Industrial Relations)—इस औद्योगिक नीति मे अर्थव्यवस्था के विकास के लिए मधुर औद्योगिक सम्बन्ध जिसमे श्रम एवं प्रबन्ध उत्तरदायित्व पूर्ण तरीके से सहयोग कर सके पर जोर दिया गया है। इस उद्देश्य को ध्यान मे रखकर ही सरकार ने त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन को फिर से चालू करने का निर्णय लिया है।

(10) **मूल्य नीति** (Price Policy)—इस नीति मे यह घोषणा की गई है कि जहाँ एक ओर सरकार उद्योगो को आवश्यक सुविधाएँ व छूट प्रदान करेगी वही उनसे यह भी अपेक्षा रखेगी कि वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाएँ तथा वे जमाखोरी व सट्टेबाजी को हतोत्साहित कर मूल्यो मे स्थायित्व बनाए रखने मे सहयोग प्रदान करें। सरकार मूल्यो को उपभोक्ता के हित मे बनाए रखने हेतु शीघ्र ही उद्योगपतियो के साथ परामर्श करेगी।

(11) **क्षेत्रीय असन्तुलन** (Regional Imbalances)—देश मे क्षेत्रीय असन्तुलनो को दूर करने के लिए नवीन नीति मे उद्योगो के विकेन्द्रीकरण तथा औद्योगिक रूप से पिछडे क्षेत्रो मे नाभिकीय सयत्रो (Nucleus Plants) की स्थापना पर जोर दिया गया है। पिछड़े क्षेत्रो मे औद्योगिक इकाइयो को विशेष रियायते व सुविधाएँ प्रदान की जाती रहेगी तथा इनका समय-समय पर आकलन भी किया जाएगा कि वे अपने मूल उद्देश्य को प्राप्त करने मे कहाँ तक सफल हो पा रही है।

(12) **लाइसेंस क्रिया विधि** (Licensing Procedure)—यद्यपि सन् 1973 मे लाइसेंस क्रिया विधि को काफी सरल एवं सुप्रवाही बना दिया गया है। फिर भी इसमे अभी सुधार की आवश्यकता है जिनके द्वारा नवीन क्षमता के सृजन, क्षमता के विस्तार तथा नवीन वस्तुओ के उत्पादन की अनुमति के लिए प्राप्त प्रार्थना पत्रो के निपटारे के समय मे कमी की जा सकती है। सरकार प्रार्थनापत्रो की जाँच के कार्य को गति प्रदान करने तथा लाइसेंस क्रिया विधि को सरल एवं विवेकपूर्ण बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय लेगी।

इस नीति मे एक समंक बैंक (Data Bank) स्थापित करने का भी प्रावधान है, जो समय-समय पर लाइससो के क्रियान्वयन के सम्बन्ध मे सूचना प्रेषित करेगा।

औद्योगिक नीति 1980 का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Industrial Policy 1980)—औद्योगिक नीति 1980 के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के पश्चात इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि इसका आलोचनात्मक मूल्याकन किया जाय। वैसे 1977 की औद्योगिक नीति की भाँति यह औद्योगिक नीति भी आर्थिक जगत मे अधिक सफल नही रही है फिर भी जो भी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं वे इस नीति के गुण एवं दोषो को काफी सीमा तक स्पष्ट करने मे समर्थ हैं। इस नीति का आलोचनात्मक अध्ययन हम निम्न बिन्दुओ के अन्तर्गत कर सकते हैं—

(1) **नाभिकीय सयंत्रों की स्थापना** (Establishment of Nucleus Plants)—पिछड़े जिलो के विकास के लिए नाभिकीय सयत्रो के स्थापना के विचार की सफलता भी संदिग्ध है। इस संबंध मे हमें अपने पिछले अनुभव से शिक्षा ग्रहण

करनी चाहिए। आसाम मे तीन तेल शोधनशालाएँ (Refineries) व दो उर्वरक संयंत्र होते हुए वहाँ लघु उद्योगो का विकास नही हो सका है। राउरकेला व भिलाई इस्पात सयन्त्रो का भी हमारा यही अनुभव है। इसके अलावा पिछडे एवं दूरस्त इलाको में वृहत सयन्त्रो की स्थापना उसकी पूँजीगत लागत मे भी काफी वृद्धि कर देती है।

(2) **अतिरिक्त क्षमता का वैधानीकरण** (Regularisation of Additional Capacity)—भारत मे विभिन्न उपक्रमो मे उद्योगपतियो ने लाइसेस क्षमता से अधिक उत्पादन क्षमता स्थापित कर रखी थी। यद्यपि यह लाइसेंसिग नियमो का उल्लघन है फिर भी सरकार ने इस नीति मे साधनो के अपव्यय को रोकने के नाम पर ऐसी अतिरिक्त क्षमता को कानूनी मान्यता प्रदान कर दी है। सरकार यही कदम 1975 मे भी एक बार उठा चुकी है। यद्यपि यह कदम ऊपरी तौर पर लाभप्रद प्रतीत होता है परन्तु इसके दूरगामी प्रभाव अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होगे। यह कदम जहाँ एक ओर उद्योगपतियो को कानून की अवहेलना करने का प्रोत्साहन प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर यह बहु राष्ट्र निगमो, बडे औद्योगिक घरानो तथा वृहत् उपक्रमो को चोर दरवाजे से बिना लाइसेस के प्रतिबन्धित क्षेत्रो मे भी उत्पादन को बढाने की छूट प्रदान करता है।

(3) **राजनीति से प्रेरित**—यह औद्योगिक नीति राजनीति से प्रेरित मालूम पडती है। इस नीति के वक्तव्य मे विभिन्न स्थानो पर जनता के पार्टी शासन काल के तीन वर्षों का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि इस अवधि मे ही अर्थ-व्यवस्था अपग हुई, औद्योगिक सम्बन्ध बिगडे, साधनो का अपव्यय हुआ आदि। यद्यपि इन वक्तव्यो मे वास्तविकता हो सकती है फिर भी औद्योगिक नीति मे इन बातो को कहने का औचित्य प्रतीत नही होता।

(4) **स्वतः विकास**—यद्यपि नई औद्योगिक नीति मे देश का त्वरित विकास करने की आतुरता तो परिलक्षित होती है परन्तु नई नीति स्वत. औद्योगिक वातावरण में सुधार नही कर सकती। केवल निजी क्षेत्र को अधिक महत्त्व दे देने से यह आशा करना व्यर्थ है कि विनियोग मे बहुत अधिक बृद्धि हो जाएगी।

(5) **सैद्धान्तिक**—नई औद्योगिक नीति की प्रमुख बाते —(i) स्थापित क्षमता का अधिकतम उपयोग, (ii) औद्योगिक क्षेत्र मे 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर, (iii) लघु उद्योगो के मामले मे विनियोग की सीमा बढाना और (vi) औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रो के विकास को वरीयता देकर क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करना आदि हैं। परन्तु औद्योगिक नीति वक्तव्य मे इस प्रकार के प्रावधान का सर्वथा अभाव है जो कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति मे प्रभावशाली हो सके।

(6) **विनियोग सीमा**—लघु उद्योग क्षेत्र को बढ़ावा देने के लिए विनियोग की जो सीमा बढाई गई है उसका कोई ठोस प्रभाव लघु उद्योगो के भौतिक आकार पर नही पडेगा क्योकि बढ़ती हुई कीमतो के कारण मशीनों और उपकरणो की लागत अत्यधिक बढ़ गई है फलत रुपए का वास्तविक मूल्य बहुत कम हो गया है। इस

प्रकार विनियोग की सीमा बढने पर भी लघु उद्योग क्षेत्र की इकाइयो के आकार मे वृद्धि नही होगी।

(7) **राष्ट्रीयकरण**—इस नीति में यह घोषित नही किया गया है कि अमुक-अमुक उद्योगो का अमुक-अमुक काल तक राष्ट्रीयकरण नही किया जायगा। ऐसी स्थिति मे जिन उद्योगो पर सरकार का विश्वास शून्य पर आ गया है उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे सरकार पर विश्वास जमाए रहे।

(8) **कीमत नीति**—कीमतो का प्रभाव उद्योगो पर पडता है लेकिन नई औद्योगिक नीति में इसके सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही की गई है कि वस्तुओ की कीमतें घटने से उत्पादन वृद्धि मे क्या योगदान हो सकता है।

(9) **नए क्षेत्र व नए उद्योगो से सम्बन्धित आलोचनाएं**—इस नीति मे यह उल्लेख नही किया गया है कि नए क्षेत्रो मे औद्योगिक इकाइयो को किस प्रकार लाभदायक बनाया जाय और उन्हे परिवहन एव राष्ट्रीयकृत बैंको के द्वारा रिजर्व बैंक की साख सहायता किस प्रकार प्रदान की जाय।

औद्योगिक लाइसेंस व्यवस्था
(Industrial Licensing Policy)

भारत मे प्रमुख उद्योग के लाइसेस एवं नियमन की व्यवस्था देश की औद्योगिक नीति के प्रमुख अग है। औद्योगिक (विकास एव नियमन) अधिनियम 1951 के अन्तर्गत ही भारत मे उद्योगो के लाइसेस नियमन की व्यवस्था की जाती है।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951

औद्योगिक नीति 1948 को व्यावहारिक रूप देने के लिए 1951 मे औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम पारित किया गया, जिसे 8 मई, 1952 से लागू किया गया। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार है: (i) औद्योगिक विकास का नियमन करना एवं योजना प्राथमिकताओ तथा तथ्यो के अनुसार साधनो के प्रवाह को मोड देना (ii) एकाधिकार को दूर रखना एवं धन के केन्द्रीयकरण को रोकना (iii) बृहत-स्तरीय उद्योगो की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा से लघु-स्तरीय उद्योगो को संरक्षण देना (iv) आर्थिक इकाइयो की स्थापना करना एव आधुनिक विधियो के प्रयोग से उद्योगो मे तकनीकी एव आर्थिक सुधार का प्रयत्न करना (v) नये उद्यमियो को उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना (vi) विभिन्न क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास का वितरण अधिक व्यापक रूप से करना।

औद्योगिक (विकास एव नियमन) अधिनियम 1951 की मुख्य बातो को तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं—(1) प्रतिबन्धात्मक (2) सुधारात्मक (3) रचनात्मक।

(1) **प्रतिबन्धात्मक**—पहले इस अधिनियम मे 38 उद्योगो के नाम दिए थे जिनमें 6 उद्योग 30 दिसम्बर 1978 के अध्यादेश से बढ़ा दिए गए है। इन उद्योगो

को बिना केन्द्रीय सरकार से लाइसेस प्राप्त किए स्थापित नही किया जा सकता है और न वर्तमान इकाइयो द्वारा अपना विस्तार किया जा सकता है। लेकिन यदि इकाई की स्थायी सम्पत्तियो (भूमि, मकान एवं सम्पन्न मशीनरी मे विनियोग) का मूल्य 3 करोड रुपये से अधिक नही है तो ऐसी इकाई को लाइसेंस लेने की आवश्यकता नही होगी। केन्द्रीय सरकार लाइसेंस देते समय उद्योग की स्थापना के स्थान एवं निर्माण की जाने वाली वस्तु के आकार आदि के बारे मे शर्ते लगा सकती है।

(2) **सुधारात्मक प्रावधान**—किसी औद्योगिक इकाई का प्रबन्ध यदि असंतोषजनक हो अथवा वह सरकारी निर्देशो का पालन नही करती हो तो सरकार ऐसे उद्योगो का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले सकती है। सन् 1953 के संशोधन के अनुसार सरकार बिना जाँच कराए भी उद्योग की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ मे ले सकती है। सरकार को यह अधिकार है कि वह अनुसूचित उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ की पूर्ति, वितरण एवं मूल्य पर नियंत्रण रखे।

(3) **रचनात्मक प्रावधान**—(अ) विधान द्वारा एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की स्थापना का भी प्रावधान है जो सरकार को अनुसूचित उद्योगो से सम्बन्धित उद्योगो तथा तथ्यो पर परामर्श देगा।

(ब) नए-नए उद्योगो तथा इकाइयो को लाइसेन्स देने के लिए एक लाइसेन्स समिति (Licensing Committee) के निर्माण करने की व्यवस्था की गई।

(स) अनुसूचित उद्योगो तथा सम्बन्धित उद्योगो की उन्नति तथा विकास के लिए पृथक्-पृथक् विकास परिषदे (Developmental Councils) की स्थापना की व्यवस्था की गई।

सरकार की लाइसेन्स नीति पर खुली चर्चा की गई है, तथा इसका सरकारी स्तर पर भी अध्ययन किया गया है। योजना आयोग के द्वारा नियुक्त डा० आर० के० हजारी ने अपने अध्ययन मे बताया है कि बडे एवं मध्यम आकार के व्यावसायिक समूहो को अन्य व्यक्तियो की तुलना मे अधिक लाइसेन्स प्राप्त हुए है और इनके द्वारा निवेश के लिए किए गए आवेदन एव स्वीकृत राशि की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

इस अध्ययन को ध्यान मे रखकर सरकार ने 1967 मे औद्योगिक लाइसेन्स नीति जाँच समिति का गठन किया।

इस समिति के अध्यक्ष दत्त ने अपनी रिपोर्ट के 1969 मे प्रेरित की। दत्त समिति की सिफारिशो को ध्यान में रखकर 1970 तथा 1973 मे लाइसेस व्यवस्था मे कुछ परिवर्तन किए गए।

औद्योगिक लाइसेन्स नीति, 1970

औद्योगिक लाइसेन्स नीति प्रस्ताव 1970 मे औद्योगिक नीति को एक नया रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया। लेकिन इसके लिए औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 को ही आधार बनाया गया। इस प्रकार औद्योगिक लाइसेन्स नीति प्रस्ताव

1970 को औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 का पूरक ही कहा जा सकता है। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **लाइसेंसिंग की छूट सीमा में वृद्धि**—इस नीति के अनुसार लाइसेन्स प्राप्त करने की छूट सीमा जो पहले 25 लाख रुपये थी, अब बढाकर एक करोड रुपये कर दी गई है।

2 **उद्योगों का विभाजन**—इस नीति के अन्तर्गत उद्योगो को निम्न क्षेत्रो मे बाँटा गया—

(अ) **कोर क्षेत्र या प्रमुख क्षेत्र**—इस क्षेत्र मे उन सभी उद्योगो को सम्मिलित किया गया है जिनमे पूंजी का कुल निवेश 35 करोड रुपये से अधिक है। इस क्षेत्र मे 19 उद्योगो को सम्मिलित किया गया है। इस क्षेत्र मे केवल राज्य द्वारा ही उद्योगो की स्थापना की जा सकती है अर्थात् निजी क्षेत्र को इसमे प्रविष्ट नही होने दिया जायेगा।

(ब) **भारी निवेश क्षेत्र**—इस क्षत्र में उन सभी उद्योगो को सम्मिलित किया जाता है जिनमें कुल पूंजी का निवेश 5 करोड रुपये से अधिक किन्तु 35 करोड़ रुपये से कम होता है। इस क्षेत्र मे निजी उद्यमियो को उद्योग स्थापित करने की स्वतंत्रता है। इस क्षेत्र मे विदेशी कम्पनियाँ भी उद्योग की स्थापना कर सकती हैं।

(स) **मध्य क्षेत्र**—इस क्षेत्र मे ऐसे उद्योग शामिल किए जाते है जिनकी पूंजी 1करोड रुपये से अधिक किन्तु 5 करोड रुपये से कम है। इस क्षेत्र मे उद्यमियो को उद्योग स्थापित करने के लिए प्राथमिकता प्रदान की जायेगी।

(द) **लघु उद्योगों का अरक्षित क्षेत्र**—लघु उद्योगों मे उन ओद्योगिक इकाँ-इयो को शामिल किया जाता है जिनमे पूंजी का निवेश 7 5 लाख रुपये से अधिक नही होता। (वर्तमान समय मे यह सीमा 20 लाख रुपये कर दी गई है)।

3 **पूर्व स्थापित उपक्रमो का महत्त्वपूर्ण विस्तार**—लाइसेंस प्राप्त किए या रजिस्टर्ड ऐसे पूर्व स्थापित औद्योगिक उपक्रम जिनकी स्थायी सम्पत्ति 5 करोड रुपये से अधिक नही है बिना लाइसेन्स लिए महत्त्वपूर्ण विस्तार कर सकते है बशर्ते कि ऐसे मूल्य का विस्तार 1 करोड रुपये से अधिक न हो।

4. **उत्पादन का विविधीकरण**---लाइसेंसिंग नीति के अन्तर्गत उत्पादन के विविधीकरण को छूट सुविधा पहली बार 27 अक्टूबर 1966 को प्रदान की गई थी। समय-समय पर किए गए सशोधनो के बाद इस नीति के अनुसार ऐसी इकाइयाँ जो रजिस्टर्ड हैं या जिनको औद्योगिक एव नियमन अधिनियम के अन्तर्गत लाइसेन्स मिला हुआ है भविष्य मे बिना लाइसेन्स लिये अपनी रजिस्टर्ड क्षमता के 35 प्रतिशत तक नयी वस्तुओ के उत्पादन को बढा सकती है। 19 फरवरी, 1972 को जारी किए गए एक नोटीफिकेशन के अनुसार 25 प्रतिशत की सीमा को बढाकर अब 100 प्रति-शत कर दिया गया है।

5. **उद्योगानुसार लाइसेंस मुक्ति व्यवस्था की समाप्ति**—औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम सन् 1951 के अन्तर्गत 41 उद्योगो के लिए लाइसेंसिंग

सम्बन्धी मूल धारणाओ को स्पष्ट किया गया है। इस नीति के मुख्य तत्त्व निम्न-लिखित है .—

(1) **संयुक्त क्षेत्र**—इसमे विकास के एक पक्ष के रूप में संयुक्त क्षेत्र की धारणा को स्वीकार किया गया है। अब तक संयुक्त क्षेत्र के पक्ष और विपक्ष में काफी चर्चाएँ होती रही है। लेकिन इसका आकार-प्रकार क्या होगा, यह स्पष्ट नही था। लेकिन अब औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ ही संयुक्त क्षेत्र की तस्वीर उभर कर सामने आई है। सयुक्त क्षेत्र पर सरकारी नियंत्रण कितना होगा इसे स्पष्ट करते हुए बनाया गया है कि यह भिन्न-भिन्न इकाइयो के सम्बन्ध में यह इस बात पर निर्भर करेगा कि सम्बद्ध इकाई के शेयरो मे सरकार का अंश कितना है।

सयुक्त क्षेत्र ऐसे उद्योगो मे जहाँ राज्य सरकार नये और मध्यम दर्जे के उद्योगो में साझीदार होगी, प्रोत्साहन देने वाला होगा ताकि प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो के विकास मे यह उनका मार्ग दर्शन कर सके।

सयुक्त क्षेत्र के ऐसे उद्योगो मे बडे औद्योगिक घरानो में प्रमुख अधिकरणो और विदेशी कम्पनियो के प्रवेश की अनुमति नही दी जायेगी, जिनमे उनका प्रभुत्व पहले से है।

संयुक्त क्षेत्र की सभी इकाइयो के सचालन, प्रबन्ध-व्यवस्था और नीति निर्धारण में सरकार का प्रमुख हाथ रहेगा। संयुक्त क्षेत्र के इस तरह के कारखानो का, जिनका अस्तित्व भग हो गया है, गठन कुछ खास क्षेत्रो मे उत्पादन के लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए जारी रखा जाएगा। सयुक्त क्षेत्र मे इस तरह की किसी औद्योगिक इकाई का गठन सरकार के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य क सन्दर्भ मे किया जायेगा।

(2) **बड़े घराने**—बडे औद्योगिक घराने की चल अचल सम्पत्ति की सीमा 35 करोड रुपए से घटा कर 20 करोड रुपये कर दी गई है जैसी कि एकाधिकारी और प्रतिबन्धकारी व्यापार अधिनियम, 1970 (Monopolies and Restrictive Trade Practices Act of 1970) मे व्यवस्था है। यह परिवर्तन सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से औद्योगिक लाइसेन्स नीति मे किया गया है।

लाइसेंसिंग की व्यवस्थाओ से एक करोड़ रुपये तक की पूंजी से संगठित किए जाने वाले उद्योगो को मुक्त रखने की व्यवस्था जारी रहेगी परन्तु यह छूट बडे औद्योगिक घरानो, विदेशी कम्पनियो व उनकी साझेदारी की कम्पनियो को नही मिलेगी।

(3) **आधारभूत उद्योगों की सूची का विस्तार**—सरकार ने एक ओर बड़े औद्योगिक गृहो की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाया है, और दूसरी ओर इन गृहो के लिए उपलब्ध उद्योगो की सूची का काफी विस्तार भी किया है। अब इस सूची मे 19 शीर्षको के अन्तर्गत अनेक नए उद्योगो के नाम हैं—

(1) धातु कर्म उद्योग (2) बायलर तथा बाह्य जनित सयन्त्र (3) प्राइम मूवर्स, औद्योगिक टरबाइन, इन्टरनल कमबशन इंजन (4) विद्युतीय उपकरण (5) परिवहन उपकरण—जलयान तथा वाणिज्यिक गाडियाँ (6) मशीन टूल्स (7) औद्योगिक मशीनें (8) अर्थ मूविंग मशीनें (9) कृषि मशीनें, ट्रैक्टर, टिलर आदि (10) औद्यो-

गिक उपकरण (11) वैज्ञानिक उपकरण (12) नाइट्रोजन तथा फास्फेट पर आधारित उर्वरक (13) दवाइयाँ तथा मूल औषधियाँ (14) कागज और लुग्दी (15) रासायनिक पदार्थ (16) मोटर गाडियो के टायर-ट्यूब (17) प्लेट ग्लास (18) सिरैमिक उद्योग तथा (19) सीमेण्ट उत्पादन।

सरकारी नीति के अनुसार बडे औद्योगिक गृहो को भी इन 19 उद्योगो को, यदि इनमे से कोई औद्योगिक नीति के अधीन केवल सार्वजनिक क्षेत्र या छोटे उद्योगो के क्षेत्र के लिए सुरक्षित नही किया जाता है तो अन्य आवेदको की तरह लगाने की अनुमति होगी। बडे औद्योगिक गृह इन उद्योगो के अतिरिक्त वे उद्योग भी लगा सकते है जहाँ उत्पादन प्रधान रूप से निर्यात के लिए किया जाता हो।

(4) **लघु क्षेत्र**—लघु उद्योग क्षेत्र के लिए 1970 की विद्यमान नीति ज्यो की त्यो बनी रहेगी। अतिरिक्त सुविधा के रूप मे यह क्षेत्र किसी भी प्रकार के उद्योग में प्रवेश कर सकता है, यिशेष रूप से इस क्षेत्र की वृहद् उपभोग को वस्तुओ के उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित किया जायगा। इन उद्योगों में अन्य उपक्रमियो को केवल तभी अनुमति दी जायगी जब बडे पैमाने पर उत्पादन करने से कीमतो मे कमी या तकनीकी सुधार की सम्भावना हो, बडे पैमाने पर पूँजी लगानी पडती हो या बडे पैमाने पर निर्यात सभव हो या आधुनीकीकरण के लिए जरूरी हो।

(5) **सहकारी क्षेत्र का विकास**—सरकार कृषि सम्बन्धी उद्योगो मे सहकारी संस्थाओ के विकास के लिए विशेष प्रयत्न करेंगी। कृषि सम्वन्धी उद्योगों मे से उल्लेखनीय उद्योग है—गन्ना, जूट, कपास, के खेतीबारी सम्बन्धी कृषि उपकरण जैसे उर्वरक, ट्रैक्टर आदि का निर्माण। सार्वजनिक उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित उद्योगो के लिए भी सहकारी क्षेत्र अधिक श्रेष्ठ रहता है।

(6) **नए उपक्रमियो को प्रोत्साहन**—इस नीति मे नये उपक्रमियो को प्रोत्साहन देने की बात सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर ली गई है और इन उपक्रमियो को प्रत्येक प्रकार की सहायता उपलब्ध कराने मे राज्य सरकारें विशेष रूप से प्रयास करेंगी ऐसी व्यवस्था भी कर दी गई। नए उपक्रमियो के लिए सार्वजनिक क्षेत्र अर्थात् 1956 की औद्योगिक नीति की अनुसूची 'अ' के उद्योगो को छोडकर शेष सभी क्षेत्र खुले रहेगे।

(7) **महत्त्वपूर्ण विस्तार एवं नये उपक्रम**—सन् 1970 की औद्योगिक नीति मे एक करोड़ रुपये तक की कीमत के बराबर उत्पादन मे महत्त्वपूर्ण विस्तार की जो छूट दी गई थी उसे बनाये रखा जाएगा परन्तु यह छूट बडे औद्योगिक गृहो, विदेशी कम्पनियो, प्रभुत्व वाले उपक्रमो तथा 5 लाख रुपये से अधिक सम्पत्तियाँ रखने वाले विद्यमान पंजीकृत उपक्रमी पर लागू नही होगी।

(8) **उत्पादन का विविधीकरण**—इस नीति के अनुसार ऐसी इकाइयाँ जो पंजीकृत है या जिनको औद्योगीकरण अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत लाइसेंस मिला हुआ है भविष्य में कुछ निश्चित शर्तों सहित बिना लाइसेस लिए अपनी पंजीकृत क्षमता के 25% तक नई वस्तु या वस्तुओ के उत्पादन को बढा सकती है।

(9) **निर्यात प्रधान उद्योगों को प्रोत्साहन**—निर्यात करने वाली वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो को लाइसेंस देने मे प्राथमिकता दी जाएगी। लघु तथा मध्यम आकार वाले उद्योगो की निर्यात क्षमता मे विकास करने मे सहायता दी जाएगी।

(10) **उद्योगानुसार लाइसेंस मुक्ति व्यवस्था की समाप्ति**—औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 की 41 उद्योगो को लाइसेंसिंग व्यवस्था को समाप्त करके 1 करोड से अधिक विनियोग वाली इकाइयो के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार इस नीति मे लाइसेस मुक्ति की व्यवस्था उद्योगो के आधार पर न रहकर पूँजी विनियोग की प्रस्तावित मात्रा के आधार पर रखी गई।

(11) **मध्य क्षेत्र**—जिन उद्योगो मे पूँजी का विनियोग 1 करोड रु० से 5 करोड रु० तक होगा वे मध्य क्षेत्र के उद्योग कहलाएँगे। उस क्षेत्र मे नवीन इकाइयो को लाइसेस उदारतापूर्वक दिए जाएँगे।

(12) **सरल पंजीयन विधि**—जिन औद्योगिक इकाइयो को लाइसेंस लेने की आवश्यकता नही है उनका रजिस्ट्रेशन केन्द्रीय तकनीकी सत्ताओ मे स्वत. ही हो जाया करेगा और उन्हें अब रजिस्ट्रेशन फीस भी नही देनी पड़ेगी।

औद्योगिक लाइसेस नीति 1975

अक्टूबर 1975 मे सरकार ने औद्योगिक लाइसेस नीति को अधिक उदार बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो की घोषणा की। औद्योगिक लाइसेंस नीति 1975 मे 21 उद्योगो को लाइसेंस मुक्त कर दिया गया तथा 30 प्रमुख उद्योगों में विदेशी कम्पनियो एवं बड़े औद्योगिक घरानो को लाइसेंस क्षमता से भी अधिक उत्पादन करने की असीमित छूट प्रदान की गई। विदेशी कम्पनियाँ तथा वडे औद्योगिक घराने केवल उसी अवस्था मे क्षमता का असीमित विस्तार कर सकेंगे जबकि इस अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात किया जायेगा, अथवा सरकारी निर्देशों के अनुसार इसे बेचा जायेगा।

औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1978

31 अक्टूबर 1977 को उद्योग मन्त्रालय द्वारा श्री जी० वी० रामकृष्ण की अध्यक्षता मे एक अध्ययन दल की नियुक्ति की गई जिसका कार्य औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 के कार्यों एवं संबधित नीतियों और कार्य प्रणालियो का अध्ययन करने तथा इसकी कठिनाइयो को दूर करने के लिए सुझाव देने का था।

अध्ययन दल ने फरवरी सन् 1978 मे अपने सुझाव सरकार को दिए जिनमे से प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे —

1. **लाइसेंस से छूट की सीमा में वृद्धि**—अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि लाइसेंस लेने की अनिवार्यता से छूट की सीमा को एक करोड रु० से बढ़ाकर 5 करोड़ रु० कर दिया जाना चाहिए। वर्तमान मे यह सुझाव सरकार द्वारा लागू कर दिया गया है।

2. **पर्याप्त संशोधनों की आवश्यकता**—अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि औद्योगिक (विकास एव नियमन) अधिनियम 25 साल पुराना हो चुका है अत: सरकार को नयी औद्योगिक नीति तथा औद्योगिक जगत् मे नए परिवर्तनो के सम्बन्ध मे अधिनियम मे पर्याप्त संशोधन किए जाने चाहिए ।

3 **क्षेत्रीय कार्यालयो का महत्त्व**—अखिल भारतीय सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओ के क्षेत्रीय कार्यालयो को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाएँ तथा इन संस्थाओ के कार्यों मे पूर्ण समन्वय स्थापित किया जाए ।

4. **मॉनीटरिंग व्यवस्था**—यह जानने के लिए कि आशय-पत्रो (Letters of Intent) की शर्तें पूरी की जा रही है अथवा नही, मॉनीटरिंग सेलो की भी स्थापना की जानी चाहिए ।

5. **विकास परिषद के कार्यों में सुधार**—ऐसी सभी विकास परिषद् जिन्हें औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत स्थापित किया गया है उनके कार्यों मे सुधार कर उन्हे सशक्त बनाना चाहिए ।

6. **प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण**—उद्योगो की स्थापना हेतु आवश्यक अनुमति पत्रो एवं पूँजीगत माल के आयात के लाइसेंसो की स्वीकृतियो तथा विदेशी सहायता के समझौते के अनुमोदनो की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए ।

7 **लघु उद्योग क्षेत्र के लिए संरक्षण**—अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि सरकार को चाहिए कि वह लघु उद्योग क्षेत्र के संरक्षण के लिए उपयुक्त नियमों की व्यवस्था करे ।

8. **नियमन और विकास पहलू पर जोर**—अध्ययन दल द्वारा यह सुझाव दिया गया कि अनधिकृत अथवा अति उत्पादन को रोकने के लिए अधिनियम के नियमन एवं विकास पहलू पर अधिक जोर देना चाहिए ।

9. राज्यो के मुख्यालयो पर औद्योगिक अनुमोदनो के व्यूरो के कार्यालय स्थापित किए जाने चाहिए ।

सरकार ने लगभग इन सभी सुझावो को स्वीकार कर लिया है । 31 मार्च 1978 को नई औद्योगिक लाइसेंसिग नीति की घोषणा की गई । औद्योगिक नीति 1978 में लाइसेंस की सीमा को 1 करोड रुपये से बढाकर 3 करोड रुपये करके लाइसेस प्रणाली को अधिक उदार बना दिया गया ।

औद्योगिक लाइसेंस से छूट केवल उसी अवस्था मे प्रदान की जायगी जबकि प्रस्तावित उत्पादित वस्तुएँ, सार्वजनिक तथा लघुस्तरीय क्षेत्र से सम्बन्धित न हो। इसी के साथ M R T P कम्पनियो, प्रभावशाली कम्पनियो तथा 40 प्रतिशत से अधिक विदेशी हिस्से वाली कम्पनियो को लाइसेस व्यवस्था मे कोई छूट नही दी जायेगी ।

औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1980

23 जुलाई 1980 को नई औद्योगिक लाइसेस नीति की घोषणा की गई। इस नीति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे कुछ चुने हुए उद्योगो के स्वचालित

विकास की अनुमति प्रदान की गई। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लघु पैमाने के उद्योगो के विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए यह निर्णय किया गया है कि इनमे निवेश की सीमा को 10 लाख रुपये से बढ़ाकर 20 लाख रुपये कर दिया जाये इस उपाय के द्वारा विद्यमान लघु उद्योगो मे आधुनिकीकरण की कार्य सरलता से सम्पन्न हो सकेगा।

(ख) श्रमिको की उत्पादिता अथवा तकनीकी विकास के कारण उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए नई नीति मे निम्न सुझाव रखे गए है—

प्रथम—उद्योगो मे बढी हुई उत्पादन क्षमता को स्वीकार करना, तथा दूसरा-प्रतिवर्ष 5 प्रनिवर्ष की दर से स्वचालित विस्तार अथवा 5 वर्ष मे 25% क्षमता के विस्तार को औद्योगिक अधिनियम के परिशिष्ट 1 के सभी उद्योगो पर लागू करना।

परीक्षा-प्रश्न

1 स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की औद्योगिक नीति के क्या उद्देश्य रहे हैं ? औद्योगिक नीति से सार्वजनिक उद्देश्यो का विकास किस प्रकार हुआ है।

(आगरा बी० कॉम० 1976)

2. 1956 के भारत सरकार की औद्योगिक नीति का विवेचन कीजिए और देश के औद्योगीकरण पर उसके प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

(आगरा बी० कॉम० 1974)

3. भारत सरकार की 1956 की औद्योगिक नीति के मुख्य तत्त्वो की विवेचना कीजिए। (पंजाब बी० कॉम० 1974, इन्दौर बी० ए० 1969, मेरठ बी० ए० 1968, कुरुक्षेत्र बी० कॉम० 1965)

4. भारत की 1956 की औद्योगिक नीति मे परिवर्तन की कोई आवश्यकता नही है। क्या आप इस कथन से सहमत है। इस नीति की उपलब्धियो की समीक्षा कीजिए। (जोधपुर बी० ए० आनर्स 1975)

5. 1977 की भारत सरकार की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

6. भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। आपके विचार मे यह नीति इसमे निर्दिष्ट आर्थिक व सामाजिक उद्देश्यो को प्राप्त करने मे कहाँ तक सफल रही है। इस नीति को अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए सुझाव दीजिए।

7. भारत में औद्योगिक लाइसेन्स नीति, 1973 की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। 1980 की औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में क्या परिवर्तन किए गए है।

25

भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

औद्योगिक वित्त से अभिप्राय उस पूंजी से होता है, जिसकी आवश्यकता उद्योगो की उत्पादन क्रियाओ के सचालन हेतु पडती है । सक्षेप मे औद्योगिक वित्त से तात्पर्य उद्योगो की धन या वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओ से है ।

औद्योगिक वित्त व्यवस्था की विशेषताएँ

औद्योगिक वित्त व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(1) औद्योगिक वित्त की प्रकृति स्थायी होती है, क्योकि इसमे दीर्घकालीन विनियोग, भवन, मशीन, सयन्त्र आदि मे किये जाते है ।

(2) औद्योगिक वित्त मे अधिकाश पूंजी का विनियोग उत्पादन कार्यों के लिए किया जाता है ।

(3) नवीन उद्योगो की स्थापना एव स्थापित उद्योगो की वित्त व्यवस्था की समस्या इतनी क्लिष्ट होती है कि उन्हे वित्त प्रदान करने के लिए विशिष्ट सस्थाओ की आवश्यकता पडती है ।

उद्योगो की वित्तीय (पूंजी) सम्बन्धी आवश्यकताएँ

उद्योगो को सामान्यतया दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है—

(1) **स्थायी पूंजी**—यह वह पूंजी है जिसका प्रयोग व्यवसाय मे ऐसी सम्पत्तियो को खरीदने के लिए किया जाता है जिन्हे दीर्घकाल तथा निरन्तर उपयोग किया जा सके ।

सामान्यतया स्थायी पूंजी की आवश्यकता निम्नलिखित जरूरतो के लिए पडती है—

(i) स्थायी सम्पत्तियो जैसे भूमि, भवन, सयन्त्र व मशीनरी, फर्नीचर व फिटिंग आदि को क्रय करने के लिए, (ii) घिसी हुई अप्रचलित स्थायी सम्पत्तियो की प्रतिस्थापना एवं उनका पुनरुद्धार के लिए, (iii) आधुनिकीकरण शोध एव अनुसधान के

लिए, (iv) विविधीकरण विस्तार एव विकास की आवश्यकताओ के लिए, तथा (v) नियमित व स्थायी कार्यशील पूँजी के लिए।

(2) **कार्यशील पूँजी**—प्रत्येक व्यवसाय के दैनिक कारोबार को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस पूँजी की आवश्यकता पडती है उसे कार्यशील पूँजी कहते है। कार्यशील पूँजी का उपयोग सामान्यतया कच्चा माल, निर्मित व अनिर्मित माल का स्टाक, चल सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन व्यय, कर्मचारियो के वेतन, परिवहन व्यय, मजदूरी एव अन्य दैनिक कार्यो मे किया जाता है। कार्यशील पूँजी का कार्यकाल स्थायी पूँजी की अपेक्षा कम होता है, अतएव इसे अल्पकालीन पूँजी भी कहा जाता है।

औद्योगिक वित्त के साधन

भारत मे औद्योगिक वित्त को प्राप्त करने के साधनो मे (i) अशो का निर्गमन, (ii) ऋण-पत्रो का निर्गमन, (iii) जन-निपेक्ष, (iv) लाभो का पुनर्नियोजन, (v) बैंकों द्वारा ऋण, (vi) देशी बैंकर, (vii) वित्तीय सस्थाओ द्वारा ऋण, आते है।

(1) **अशो का निर्गमन**—औद्योगिक सस्थाओ को स्थायी वित्त प्रदान करने का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव सर्वोत्तम साधन है। 'कम्पनीज अधिनियम, 1956' के अनुसार किसी कम्पनी के अश दो प्रकार के हो सकते है। (क) समता अश, (ख) पूर्वाधिकार अश।

समता या साधारण अश—एक कम्पनी की औद्योगिक वित्त व्यवस्था मे समता या साधारण अश बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते है, इसीलिये इनको आधार-स्तम्भ माना जाता है। अधिकाश कम्पनियाँ अपनी पूँजी का बहुत बडा भाग इसी प्रकार के अशो को निर्गमित करके प्राप्त करती है।

विशेषताएँ—समता अश पूँजी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित होती है—

(i) यह पूँजी स्थायी होती है क्योकि इसकी वापसी उद्योग के जीवन-काल मे नही होती है।

(ii) इस प्रकार की अश पूँजी पर लाभाश उसी समय मिलता है जबकि कम्पनी या उद्योग को लाभ होता है।

(iii) साधारण अश पूँजी से उद्योग को प्रारम्भिक पूँजी प्राप्त होती है उसे ही उद्योग का जोखिम वहन करना पडता है।

(iv) इन अशो के धारक ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते है और कम्पनी के सचालन एव प्रबन्ध पर उनका पूर्ण नियन्त्रण होता है।

लाभ—इस अश के कई लाभ होते है—

(क) पूँजी का स्थायित्व रहता है, क्योकि उसके भुगतान की आवश्यकता नही पडती है। (ख) इसके लिए कोई जमानत नही दी जाती है। (ग) लाभाश देना बहुत जरूरी नही होता है क्योकि जब लाभ होगे तभी उनके वितरण का प्रश्न उठता है। इसके अलावा सामान्य अशधारी प्रमण्डल पर पूरा अधिकार रखते है, उनकी अज्ञानता के कारण प्रमण्डल को धोखा हो सकता है।

एक कम्पनी की समता या साधारण अश पूँजी को 'जोखिम पूँजी' या 'साहस पूँजी' भी कहते है। इसी का दूसरा नाम 'स्वामित्व पूँजी' भी है।

(ख) पूर्वाधिकार अंश—पूर्वाधिकार अश वे अश है जिनके धारको को एक निश्चित दर पर लाभाश देने या कम्पनी के समापन की स्थिति मे पूँजी को वापस करने का पूर्वाधिकार दिया जाता है। ये अश अनेको प्रकार के हो सकते है, जैसे—

पूर्वाधिकार अशो के प्रकार—पूर्वाधिकार अश निम्नलिखित प्रकार के हो सकते है—

(i) **सचयी और असचयी पूर्वाधिकार अश**—कम्पनी को लाभ न होने पर यदि लाभाश सचय होता रहे और लाभ होने वाले वर्ष मे पिछले वर्षों का लाभाश भी दिया जाय तो अशो को सचित पूर्वाधिकार अश कहते है। इसके विपरीत असचयी पूर्वाधिकार अश वे होते है जिन पर लाभाश प्राप्त करने का अधिकार सचय नही होता। यदि किसी वर्ष लाभाश दिया जाता है तो उन्हे पहले लाभाश दिया जायेगा और अन्य अश-धारियो के बाद मे।

(ii) **शोध और अशोध पूर्वाधिकार अश**—यदि पूर्वाधिकारी अश जारी करते समय कम्पनी यह घोषित कर दे कि इन अशो का एक निश्चित अवधि की समाप्ति पर भुगतान अथवा शोधन कर दिया जायेगा तो ऐसे अशो को शोध पूर्वाधिकारी अश कहते है। इसके विपरीत अशोध पूर्वाधिकार अश वे होते है जिनका भुगतान कम्पनी के कार्यकाल मे नही लिया जाता।

(iii) **परिवर्तनीय पूर्वाधिकार अश**—ये वे अश होते है जिनको एक निश्चित समयावधि के पश्चात् साधारण अशो मे बदलने की स्वेच्छा दी जाती है।

(iv) **भागीदार पूर्वाधिकार अश**—यदि इन अशधारियो को अपना निश्चित लाभाश प्राप्त कर लेने के उपरान्त साधारण अशधारियो को भी एक निश्चित प्रतिशत लाभाश देने के बाद शेष लाभ मे हिस्सा बाँटने का अधिकार दे दिया जाय तो इन्हे भागीदार पूर्वाधिकार अश कहेगे जिन अशो पर यह अधिकार नही होता उन्हे अभागी-दार पूर्वाधिकार अश कहा जायेगा।

(v) **मताधिकार वाले पूर्वाधिकारी अश**—कम्पनी अपने अन्तर्नियमो मे स्पष्ट व्यवस्था करके पूर्वाधिकारी अशो के स्वामियो को भी कम्पनी की बैठक मे साधारण अशधारियो की भाँति उपस्थित होने तथा मत देने का अधिकार दे सकती है। ऐसे अशो को मताधिकार वाले पूर्वाधिकारी अश कहते है।

इन अंशो को निर्गमित करने का उद्देश्य यह है कि स्थापना के समय अधिक पूँजी प्राप्त की जा सके और जब पूंजी का बाहुल्य हो जाय, अर्थात् कम्पनी सुदृढ हो जाय तो उन्हे वापस कर दिया जाय। ये अश उस दशा मे भी निर्गमित किये जाते हैं जब ऋण-पत्र निर्गमन के लिए पर्याप्त जमानत नही रहती है।

(2) **ऋण-पत्रो का निर्गमन**—औद्योगिक सस्थाओ के लिए वित्त प्राप्त करने का दूसरा साधन ऋण-पत्र या बॉण्ड का निर्गमन है। ऋण-पत्र या बॉण्ड से अर्थ उस

प्रलेख से है जिसके आधार पर उसमे लिखित राशि प्राप्त की जाती है । इसका निर्गमन कम्पनी द्वारा अपने पार्षद सीमा नियम के आधार पर ही किया जाता है ।

ऋण-पत्रों द्वारा एकत्रित की गई पूँजी की विशेषताये निम्नलिखित है—

(i) **दीर्घकालीन पूँजी**—साधारणतया ऋण-पत्रो के माध्यम से दीर्घकालीन ऋण प्राप्त किये जा सकते है ।

(ii) **विक्रय योग्य**—ऋण-पत्र अशो की भाँति अश बाजार मे आसानी से खरीदे और बेचे जाते है ।

(iii) **ऋण पूँजी**—ऋण-पत्र कम्पनी की ऋण पूँजी के अग होते है । अत इन पर ब्याज देना आवश्यक होता है । चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि ।

ऋण-पत्रो के प्रकार—ऋण-पत्र अनेक प्रकार के होते है, जिनमे से प्रमुख इस प्रकार है—

(i) **रक्षित तथा अरक्षित ऋण-पत्र**—यदि ऋण-पत्रो का निर्गमन कम्पनी की सम्पत्ति को बन्धक रखकर किया जाता है तो ऐसे ऋण-पत्रो को रक्षित ऋण-पत्र कहते है । इसके विपरीत यदि ऋण-पत्रो का निर्गमन बिना किसी ऐसी जमानत या प्रतिभूति को किया जाता है तो उनको आरक्षित ऋण-पत्र कहते है ।

(ii) **शोध्य या अशोध्य ऋण-पत्र**—वे ऋण-पत्र जिनकी राशि एक निश्चित अवधि के उपरान्त वापस कर दी जाती है शोध्य, ऋण-पत्र कहलाते है । इसके विपरीत यदि ऋण-पत्र की राशि कम्पनी के जीवन-काल मे कभी वापस नही की जाती तो उन्हे अशोध्य ऋण-पत्र कहते है ।

(iii) **रजिस्टर्ड तथा वाहक ऋण-पत्र**—उन ऋण-पत्रो को जिनके स्वामियो का नाम पता तथा अन्य विवरण कम्पनी के पास रखे गये ऋण-पत्रधारियों के रजिस्टर मे अकित किया जाना आवश्यक होता है, रजिस्टर्ड ऋण-पत्र कहलाते है । इसके विपरीत वाहक ऋण-पत्र वे ऋण-पत्र होते है जिनका धारक ही स्वामी होता है, जिनका स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को केवल हस्तान्तरण करने से ही हस्तान्तरित हो जाता है ।

(iv) **परिवर्तनशील ऋण-पत्र**—ये वे ऋण-पत्र होते है जिनमे ऋण-पत्रधारियो को अशो मे परिवर्तन करने का अधिकार होता है ।

(v) **प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी के ऋण-पत्र**—वे ऋण-पत्र जिनका भुगतान अन्य ऋण-पत्रो से पहले किया जाना अनिवार्य होता है प्रथम श्रेणी के ऋण-पत्र कहलाते है जबकि उन ऋण-पत्रों का जिनका भुगतान पहले ऋण-पत्रो के बाद किया जाता है द्वितीय श्रेणी के ऋण-पत्र कहलाते हैं ।

उपयुक्तता—ऋण-पत्रो का निर्गमन कम्पनियाँ या तो अपनी प्रारम्भिक दीर्घ-कालीन पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए या व्यवसाय के विस्तार व आधु-निकीकरण की योजनाओ के लिए मध्यकालीन ऋण प्राप्त करने के लिए करती है। ऋण-पत्र निर्गमित करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋण-पत्रो पर दिया जाने वाला ब्याज साधारणतया कम्पनी की अनुमानित आय के 20% से अधिक नही होना चाहिए।

तुलनात्मक मूल्यांकन

आधार	असाधारण अश	पूर्वाधिकार अश	ऋण-पत्र
1. वित्त की प्रकृति	इनसे कम्पनी की दीर्घ-कालीन एव स्थायी पूँजी प्राप्त की जाती है।	इनसे दीर्घकालीन और मध्यकालीन दोनो प्रकार की पूँजी एकत्रित की जा सकती है।	इनके निर्गमन से अस्थायी दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋण प्राप्त किये जाते है।
2. लागत	इन पर कम्पनी को सामान्यत' अधिक लाभाश देना पडता है।	इनका लाभाश प्राय. साधारण अश से कम होता है।	इनको दिया जाने वाला ब्याज सबसे कम होता है। यही नही क्योकि ब्याज को एक खर्च माना जाता है इसलिए इस पर आय कर की भी बचत होती है।
3? प्रबन्ध मे हस्तक्षेप	इन्हे कम्पनी के प्रबध मे हस्तक्षेप करने का अधिकार होता हें।	इन्हे कम्पनी के प्रबध मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होता।	इनका भी कपनी के प्रबन्ध मे कोई हस्तक्षेप नही होता।
4. प्रतिफल	इन पर लाभाश उसी समय मिलता है जब कम्पनी को लाभ मिलता है। इनका लाभाश कम्पनी की समृद्धि के अनुसार घटता-बढता रहता है।	लाभाश पूर्व निर्धारित दर से दिया जाता है। लाभाश तभी दिया जायेगा जब लाभ हो लेकिन सचयी पूर्वाधिकार अशो की स्थित मे लाभाश सचित होता रहता है।	इनके ब्याज की दर पूर्व निर्धारित रहती है और इन पर ब्याज देना ही पडेगा चाहे कपनी को लाभ हो या हानि।
5. लचीलापन	पूँजी के अधिकाश भाग को साधारण अशो के रूप मे प्राप्त करने पर पूँजी की सरचना लोचपूर्ण नहीं होती।	पूर्वाधिकार अश पूँजी सरचना मे थोडी लोचता प्रदान करते है। शोध्य पूर्वाधिकार अशो की राशि आवश्यकता न होने पर	ऋण-पत्र चूँकि ऋण-पत्र हैं इन्हे आवश्यकता नुसार घटाया-बढाया जा सकता है। यदि कम्पनी को इतकी

आधार	असाधारण अश	पूर्वाधिकार अश	ऋण-पत्र
		वापस की जा सकती हे तथा परिवर्तनीय पूर्वाधिकार अशो को आवश्यकता पडने पर साधारण अशो मे बदला जा सकता है।	आवश्यकता नही रहती तो कम्पनी स्वय अपने ऋण-पत्र वापस खरीदकर उन्हे निर्धारित तिथि पर रद्द कर सकती है।
6. ऋण लेने की क्षमता का प्रभाव	कम्पनी जितनी अधिक पूंजी साधारण अशो से एकत्र करती है उसकी ऋण लेने की क्षमता उतनी ही अधिक बढ जाती है।	इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव कम्पनी की साख तथा उसके ऋण लेने की क्षमता पर नही पडता।	यदि कम्पनी ऋण-पत्रो के माध्यम से ऋण प्राप्त करती हे तो उसे अपनी सपत्ति ऋण-पत्र-धारियो के पास बन्धक के रूप मे रखनी पडती है इस पूँजी बाजार मे कम्पनी की साख कम हो जाती है।
7. विनि-योजको के लिए आकर्षण	वे विनियोजक जो साहसी होते है और अच्छी आय के साथ-साथ कम्पनी के प्रबन्ध मे सक्रिय भाग लेना चाहते है, उनके लिए साधारण अश सर्व-श्रेष्ठ रहता है।	ये उन विनियोजक के लिए श्रेष्ठ है जो निश्चित तथा अच्छी आय चाहते है और प्रबध की तरफ उदा-सीन होते है लेकिन कुछ जोखिम उठाने के लिए तत्पर रहते है।	निश्चित व स्थायी आय के साथ पूँजी की सुरक्षा चाहने वाले विनियोजको के लिए ऋण-पत्रो मे रुपया विनियोजित करना सर्वश्रेष्ठ होता है।

(3) **जन-निक्षेप**—भारत मे औद्योगिक वित्त के साधनो मे जन-निक्षेप का भी उल्लेखनीय महत्त्व रहा है। जनता द्वारा अपने धन को व्यापारियो या उद्योग-पतियो के पास निश्चित ब्याज के बदले मे इसलिए रखा जाता था कि बैंकिंग विकास की प्रारम्भिक स्थिति मे जनता का विश्वास बैको मे इतना अधिक नही था। प्रारम्भ मे इस जन-निक्षेप का उपयोग केवल अल्पकालीन पूँजी की आव-श्यकताओ को पूरा करने के लिए किया जाता था लेकिन समय बीतने पर बम्बई,

अहमदाबाद और कुछ सीमा तक शोलापुर की सूती मिलो तथा बगाल और आसाम के चाय बगानो मे इनको मध्यकालीन वित्त के लिए भी उपयोग किया जाने लगा है।

जन-निक्षेप से लाभ

(i) पूँजी प्राप्त करने का यह सरल और मितव्ययी साधन है।

(ii) कम्पनी को अपनी सम्पत्तियो को बधक के रूप मे नही रखना पडता।

(iii) निक्षेपो के कारण कम्पनियो का पूँजी कलेवर लोचदार रहता है।

(iv) अशधारियो को ऊँचे लाभाश दिये जाते है।

(v) कम्पनी की ऋण लेने की क्षमता बढ जाती है।

(4) **लाभो का पुर्नविनियोजन**—लाभ का पुर्नविनियोजन कम्पनी की वित्त-व्यवस्था की वह पद्धति है जिनके द्वारा कोई कम्पनी अपनी आय के कुछ भाग को बचाकर उसका प्रयोग भावी विकास योजनाओ मे करती है। वास्तव मे किसी भी पूर्व स्थापित सस्था का भावी विकास उसके आन्तरिक साधनो पर निर्भर करता है। प्राय देखा जाता है कि किसी भी औद्योगिक सस्था को जितना लाभ होता है, उस समस्त लाभ को उस कम्पनी के अशधारियो मे वितरित नही किया जाता वरन् उसका कुछ भाग बचाकर रख लिया जाता है। सस्था को जब अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता होती है तब इस बचत का प्रयोग किया जा सकता है।

लाभ

(i) यदि कोई औद्योगिक सस्था अपनी समस्त आय को अशधारियो मे वितरित न करके कुछ भाग को बचा लेती है तो यह बचत भविष्य मे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(ii) सचित कोष व्यवस्था के आधार पर कम्पनी द्वारा सतुलित लाभाश की नीति अपनायी जा सकती है।

(iii) सचित लाभो मे से कम्पनी के विस्तार व आधुनिकीकरण की योजनाएँ आसानी से कार्यान्वित की जा सकती है।

(iv) एक ऐसी औद्योगिक सस्था को जिसके पास सचित कोष की अच्छी पूंजी है, व्यवसाय मे साहसपूर्ण निर्णय लेने मे सकोच नही होता।

(v) अशधारियों की दृष्टि से आय के पृष्ठ विनियोग की योजना से उनके विनियोग अत्यन्त सुरक्षित रहते है।

(vi) अशधारियो को मिलने वाले लाभाश की दर भी समान बनी रहती है। मदी के दिनो मे भी लाभाश मिलता रहता है।

(5) **बैंकों द्वारा ऋण**—व्यापारिक बैको द्वारा उद्योगो को जो वित्त प्रदान किये जाते थे, वे अब तेजी से बढ रहे है। व्यापारिक बैको के साथ-साथ औद्योगिक बैकों तथा मिश्रित बैको द्वारा भी औद्योगिक साख दिये दिये जाते है। औद्योगिक बैको का मुख्य कार्य दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। भारत मे औद्योगिक विकास बैक

तथा इकाई प्रन्यास इनमे मुख्य है। मिश्रित बेंक वे है जो लघुकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने है।

(6) देशी बकर—देशी बैकरो ने भी उद्योगो के लिए ओर विशेषकर कठिनाई के समय लाभदायक कार्य किया है। बडे पेमाने के उद्योग इन पर निर्भर नही करते किन्तु छोटे तथा मध्यम पैमाने के उद्योग देशी साहूकारो से अपनी अचल एव कार्यकारी पूंजी के लिए काफी हद तक सहायता लेते है।

(7) **वित्तीय संस्थाओ द्वारा ऋण**—भारत मे औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली मुख्य सस्थाएँ इस प्रकार है—(i) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, (ii) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, (iii) राज्य वित्त निगम, (iv) औद्योगिक साख एव विनियोग निगम, (v) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया।

1 भारतीय औद्योगिक विकास बैंक
(Industrial Development Bank of India)

इन बैंक की स्थापना जुलाई, 1964 मे की गई। इसका उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त वित्त प्रदान करने वाली अन्य सस्थाओ की क्रियाओ का समन्वय करना भी है। औद्योगिक ढाँचे की कमियो का पता लगाकर उनका निवारण करना भी इसका उद्देश्य है। यह रिजर्व बैंक की एक मात्र शाखा थी। लेकिन 1975 मे इसको रिजर्व बैंक से पृथक् करने का अधिनियम पारित किया गया और 16 फरवरी, 1976 को इसको एक स्वतन्त्र एव स्वायत्त सस्था के रूप मे पुनः सगठित किया गया है।

विकास बैंक के कार्य—विकास बैको के कार्यों का हम तीन शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है—

(1) **पुनर्वित्त** (Refinance) व्यवस्था—यह वित्तीय सस्थाओ को निम्न कार्यों के लिए पुनर्वित्त प्रदान कर सकता है—

(अ) वित्तीय सस्थाओ को 3 से 25 वर्ष के लिए।

(ब) राज्य सहकारी बैंको तथा अनुसूचित बैको द्वारा उद्योगो को दिये गये ऋणो पर 10 वर्ष के लिए।

(स) बैको अथवा वित्त सस्थाओ द्वारा निर्यात के हेतु दिये गये ऋणो पर 9 माह से 10 वर्ष के लिए।

(2) **प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता**—विकास बैक औद्योगिक उपक्रमो को अकेले ही या अन्य वित्त सस्थाओ के साथ मिलकर प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता करता है। यह सहायता निम्न रूपो मे प्रदान की जाती है—(अ) प्रत्यक्ष ऋण देकर, (ब) अश, बाण्ड्स, ऋण-पत्र खरीदकर एव इनका अभिगोपन कर, (ग) औद्योगिक सस्थानो द्वारा अन्य साधनो से प्राप्त ऋणो के स्थगित भुगतानो की गारण्टी कर, एव (द) व्यापारिक बिलो की कटौती या पुनर्कटौती कर।

(3) **विकास सम्बन्धी कार्य**—(अ) उद्योगो के विकास से सम्बन्धित विनयोग

व तकनीकी आर्थिक अध्ययन के बारे मे अनुसधान कार्य एव सर्वेक्षण करना, (ब) किसी किसी भी उद्योग के प्रवर्त्तन, प्रबन्ध अथवा विस्तार हेतु तकनीकी एव प्रशासकीय सेवाएँ उपलब्ध करना, (स) देश की औद्योगिक सरचना की कमियो को पूरा करने हेतु उद्योगो का नियोजन, प्रवर्त्तन एव विकास करना ।

बैंक के वित्तीय साधन—यह बेंक अपने वित्तीय साधनो की व्यवस्था निम्न प्रकार करेगा—

(1) **अश पूँजी**—बैक की अधिकृत पूँजी 50 करोड रुपये है जिसे आवश्यकता-नुसार बाद मे 100 करोड रुपये तक बढाया जा सकता है । निर्गमित एव प्रदत्त पूँजी 50 करोड रुपये रखी गयी है ।

(2) **भारत सरकार के ऋण**—बैक ने केन्द्रीय सरकार से भी ऋण लिया है ।

(3) **ऋण-पत्रो का निर्गमन**—बैक अपने ऋण-पत्रो अथवा बाण्डो को बेचकर भी अपने कोष को बढा सकता है । ऐसे ऋणो की कोई सीमा निर्धारित नही है ।

(4) **रिजर्व बैंक के ऋण**—औद्योगिक विकास बैक को अपनी प्रतिभूतियो की जमानत पर रिजर्व बैक से 90 दिन तक ऋण लेने का अधिकार होगा ।

(5) **जन-निक्षेप**—विकास बैक जनता से 1 वर्ष से अधिक अवधि के लिए जमा भी स्वीकार कर सकता है ।

(6) **विदेशी मुद्रा में ऋण**—भारत सरकार की पूर्वानुमति लेकर बैक विदेशी बैंको अथवा वित्तीय सस्थाओ अथवा अन्य साधनो से विदेशी मुद्रा मे ऋण ले सकता है ।

(7) **अनुमान एव सहायता**—बैक अनुदान, सहायता, भेट अथवा दानस्वरूप प्राप्त होने वाली सहायता को भी स्वीकार कर सकता है ।

विकास बैंको के कार्यो की प्रगति

जून 1980 मे बैक ने अपने कार्यकाल के 16 वर्ष पूरे कर लिए है । इस अवधि मे बैक द्वारा विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत स्वीकृत कुल सहायता और साथ ही वितरित कुल सहायता मे काफी वृद्धि हुई है, जिसका विवरण निम्नलिखित है—

(i) **ऋण**—31 दिसम्बर 1980 तक बैक कुल 6170 करोड रु० की वित्तीय सहायता (गारण्टी को छोडकर) स्वीकृत कर चुका था जिसमे से 4,068 करोड़ रु० वितरित किये जा चुके थे ।

(ii) **अभिगोपन**—बैक ने जून 1980 तक 1837 करोड रु० की पूँजी का अभिगोपन किया था ।

(iii) **पुर्नवित्त**—बैक द्वारा औद्योगिक ऋणो के लिए वित्तीय सस्थाओ को 1900 करोड़ रु० का पुर्नवित्त दिया गया ।

(iv) **पुनर्कटौती**—बैक द्वारा 1095 करोड़ रु० के ऋणो की पुनर्कटौती की गयी ।

(v) **निर्यात वित्त**—औद्योगिक विकास बैक द्वारा 390 करोड रु० के मूल्य की गारन्टी दी गई ।

(vi) **तकनीकी विकास कोष योजना**—तकनीकी उन्नत और निर्यात विकास तथा क्षमता के पूरे उपयोग को बढावा देने के लिए भारत सरकार ने मार्च 1976 मे एक तकनीकी विकास कोष स्थापित किया । इसके अन्तर्गत बैक सक्रिय भूमिका निभा रहा है ।

(vii) **पिछड़े हुए क्षेत्रो मे रियायती शर्तो पर सहायता**—भारतीय औद्योगिक विकास बैक सरकार द्वारा घोषित पिछडे हुए क्षेत्रो के उपक्रमो को रियायती शर्तों पर वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है ।

(viii) **उद्योगानुसार सहायता**—बैक ने कुल स्वीकृत ऋणो का आधे से अधिक भाग (51·5%) आधारभूत व उपभोक्ता वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो को दिया है । उपभोक्ता माल उद्योग मे भी सर्वाधिक सहायता (15·1%) वस्त्रोद्योग को प्रदान की गयी ।

(ix) **लघु उद्योग और लघु सड़क परिवहन कार्य के लिए ऋण**—भारतीय औद्योगिक विकास बैक लघु उद्योगो और लघु सडक परिवहन कार्यो के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है ।

आलोचनात्मक मूल्याकन—औद्योगिक विकास बैक के कार्यो से स्पष्ट होता है कि इसने देश के औद्योगीकरण के असन्तुलन की स्थिति को सम्भालने के लिए सरकार की ओर से सार्वजनिक क्षेत्र के लिए बहुत से प्रयास किए है । बैक ने निजी क्षेत्र के उद्योगो के लिए कोई खास प्रयास नही किए है ।

बैक ने आधुनिकीकरण के लिए ऋण अल्पतम मात्रा मे वित्तीय सुविधाओ के अभाव के कारण दिए है । सरकारी हस्तक्षेप के कारण बैक अपने व्यापारिक सिद्धान्तो पर कार्य नही कर पाते है ।

2. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation of India)

स्थापना तथा कार्य— निगम की स्थापना औद्योगिक अधिनियम 1948 के अन्तर्गत 1 जुलाई, 1948 मे हुई । निगम को निम्नलिखित कार्य करने के अधिकार दिए गए हैं—

(1) **ऋण की गारन्टी देना**—निगम औद्योगिक सस्थाओ द्वारा लिए जाने वाले ऋणो की गारन्टी देता है, यदि ऐसे ऋण 25 वर्ष के भीतर शोधनीय है ।

(2) **ऋण एवं अग्रिम कार्य**—निगम औद्योगिक सस्थाओ को अधिक से अधिक 25 वर्षों मे चुकता होने वाले ऋण देता है ।

(3) **अभिगोपन कार्य**—औद्योगिक सस्थाओ द्वारा निर्गमित अशो व ऋण-पत्रो का अभिगोपन करना भी निगम का एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो ।

(4) **औद्योगिक संस्थाओ के अंश व ऋण-पत्र खरीदना**—निगम औद्योगिक सस्थाओ के अश व ऋण-पत्र खरीदता है।

(5) **ऋण-पत्र जारी करना तथा विश्व बैंक से ऋण लेना**—निगम अपनी कार्यशील पूंजी प्राप्त करने के लिए ऋण-पत्रो को निर्गमित कर सकता है और विश्व बैंक से ऋण ले सकता है।

(6) **जमा स्वीकार करना**—निगम जनता से जमा स्वीकार करने का भी कार्य करता है, परन्तु जमाओ की कुल राशि 30 करोड रुपये से अधिक नही हो सकती है।

(7) **अन्य कार्य**—निगम के कुछ अन्य कार्य इस प्रकार है—

(i) ऋण लेने वाली कम्पनियो की सचालक सभाओ मे प्रतिनिधि भेजना और देखना कि कम्पनियाँ ऋण राशि का दुरुपयोग तो नही कर रही है।

(ii) ऋण लेने वाली किसी भी औद्योगिक कम्पनी को समय-समय पर प्राविधिक (Technical) परामर्श देना।

(iii) उद्योगो द्वारा विदेशी बैंको आदि से प्राप्त किए गए ऋणो को गारण्टी देना।

(iv) उपरोक्त कार्यों से सम्बन्धित अन्य कार्य करना जो समय-समय पर सामने आएँ।

ऋण देय की शर्तें—निगम किसी सीमित पब्लिक कम्पनी तथा सहकारी समिति को निम्न शर्तों पर ऋण दे सकता है—

(1) ऋण मुख्यत जमीन, मकान, यत्र, औजार आदि स्थायी सम्पत्तियो के प्रथम रेहन (First mortgage) पर दिया जाता है।

(2) ऋण को लौटाने के सम्बन्ध मे कम्पनी के सचालको या प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ से व्यक्तिगत हैसियत से एव सामूहिक रूप से गारण्टी ली जाती है।

(3) निगम ऋण लेने वाली कम्पनी के सचालक बोर्ड मे अपने दो सचालको की नियुक्ति कर सकता है।

(4) ऋण की शर्तों के पालन न करने अथवा अन्य किसी प्रकार की अनुचित कार्यवाही करने पर निगम उस कम्पनी का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले सकता है।

(5) किसी एक सस्था को एक करोड रुपये से अधिक ऋण नही दिया जाता है।

(6) निगम 25 वर्ष की अवधि से अधिक के लिए ऋण नही दे सकता।

(7) जिस सम्पत्ति की जमानत पर ऋण दिया जाता है उसका बीमा करना आवश्यक है।

(8) जब तक कम्पनी ऋण का भुगतान नही कर देती, लाभाश दर 6% प्रतिवर्ष के हिसाब से सीमित रहती है, परन्तु दोनो की सहमति से इस दर में परिवर्तन सम्भव है।

(9) ऋण का भुगतान सामान्यत· समान किस्तो मे किया जाता है, परन्तु किस्तो की राशि दोनो की सहमति से निश्चित होती है।

अगस्त 1970 मे सरकारी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमो को सम्मिलित कर लेने से निगम का कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो गया है। 1973 मे औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम मे हुए सशोधन के आधार पर अब यह नियम प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियो को भी ऋण प्रदान करता है।

ऋण स्वीकृति के मापदण्ड—निगम किसी भी उद्योग को ऋण देने से पूर्व निम्नलिखित बातो पर ध्यान देता है—

(अ) प्रार्थी सस्था की आर्थिक स्थिति। (ब) जिस योजना के लिए ऋण की माँग की गई है उसकी उपयुक्तता। (स) प्रबन्ध-व्यवस्था की कुशलता। (द) लाभ कमाने की शक्ति। (य) ऋण की समय पर अदायगी की सम्भावना।

निगम का प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध दो भागो मे विभक्त है—सचालक मडल (Board of Directer) केन्द्रीय समिति (Central Committee)। सचालक मडल मे 13 सदस्य होते है, जिनमे एक प्रबन्ध सचालक होता है। केन्द्रीय समिति का कार्य दिन प्रतिदिन के कार्यो मे सचालक मडल को सहायता देना है। इसमे पाँच सदस्य होते है। इन दोनो के अतिरिक्त पाँच परामर्शदायी समितियाँ, जिनमे 29 सदस्य है। ये समितियाँ इजीनियरिंग, वस्त्र, रसायन, चीनी तथा विविध उद्योगो के लिए स्थापित की गई है। इन उद्योगो को ऋण देने से पूर्व उससे सबधित व्यक्तियो का परामर्श लिया जाता है।

निगम के आर्थिक साधन—निगम निम्नलिखित साधनो से पूंजी प्राप्त करता है—

(1) **अश पूँजी**—निगम की अधिकृत पूँजी 20 करोड रुपये है जो 5,000 रुपये के 40,000 अशो मे विभक्त है। यह पूँजी रिजर्व बैक, अनुसूचित बैक तथा बीमा कम्पनियो और सहकारी बैको द्वारा खरीदी गयी है। 30 जून, 1973 तक निगम की सम्पूर्ण पूंजी निर्गमित हो चुकी थी।

(2) **ऋण-पत्र द्वारा प्राप्त धन**—निगम अपनी प्रदत्त पूंजी एव सरक्षित कोष के दस गुने तक धन ऋण-पत्र या बाण्ड बेचकर प्राप्त कर सकता है।

(3) **रिजर्व बैंक से ऋण**—रिजर्व बैक से निगम एक बार मे 3 करोड रुपए के बराबर 18 माह के लिए ऋण ले सकता है।

(4) **निक्षेप**—निगम जनता, राज्य सरकार एव स्वायत्त शासन सस्थाओ से कम से कम 5 वर्षो के लिए अधिक से अधिक 10 करोड रुपए की धनराशि तक जमा स्वीकार कर सकता है।

(5) **विदेशी मुद्रा में ऋण**—निगम विश्व बैक के माध्यम से और केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से विदेशी मुद्रा मे भी ऋण ले सकता है।

(6) **केन्द्रीय सरकार से ऋण**—आवश्यकता पडने पर निगम केन्द्रीय सरकार से ऋण ले सकता है।

(7) **संचित कोष**—निगम की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए विशेष सञ्चित कोष बनाया गया है। इस कोष मे रिजर्व बैंक, केन्द्रीय बैंक तथा सरकार द्वारा खरीदे गए अशो का लाभाश जमा किया जाता है।

निगम के कार्यो की प्रगति

(i) अपनी स्थापना से 30 सितम्बर, 1980 तक निगम द्वारा स्वीकृत व वितरित वित्तीय सहायता क्रमशः 1070 करोड रु० और 734 करोड रु० थी।

(ii) **राज्यानुसार स्वीकृत सहायता**—कुल स्वीकृत सहायता का लगभग 40 प्रतिशत तीन राज्यो तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा पश्चिम बगाल को मिला है तथा सहायता पाने वाली 45% प्रायोजनाएँ भी इन्ही राज्यो मे स्थित है। कम विकसित राज्यो को निगम से प्राप्त सहायता अपर्याप्त है।

(iii) **उद्देश्यानुसार सहायता**—राष्ट्र के उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगो जैसे चीनी, सूती कपडा, सीमेट, कागज, उर्वरक तथा अन्य चुने हुए महत्त्वपूर्ण उद्योगो के लिए कुल स्वीकृत सहायता राशि का 76% भाग खर्च किया गया।

(iv) **जोखिम पूँजी प्रतिष्ठान**—इस प्रतिष्ठान का रजिस्ट्रेशन समिति पजीकरण अधिनियम, 1860 के अन्तर्गत कराया गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य नवीन उद्यमकर्त्ताओ विशेष रूप से तकनीकिज्ञो तथा व्यावसायिक व्यक्तियो को मझोले आकार की औद्योगिक परियोजनाओ का प्रवर्तन कराने के लिए ब्याज मुक्त या नाममात्र के सेवा प्रभार पर आवधिक ऋण प्रदान करके सहायता प्रदान करना है।

(v) **प्रबन्ध विकास संस्थान**—निगम ने सहायता दिए जाने वाली औद्योगिक इकाइयो के प्रशासको को प्रबन्धकीय सलाह प्रदान करने के लिए प्रबन्ध विकास सस्थान की स्थापना की है।

(vi) **तकनीकी सहायता सेवा**—सन् 1974 से निगम राज्यो की वित्तीय एव विकासात्मक एजेन्सियो के मध्य स्तरीय एव वरिष्ठ प्रशासको के प्रशिक्षण के लिए तकनीकी महायता सेवा प्रदान कर रहा है।

(vii) **पीठिकाओ की स्थापना**—निगम ने देहली विश्वविद्यालय और भारतीय प्रबन्ध सस्थान अहमदाबाद मे अपनी पीठिकाएँ स्थापित की है। सस्थान द्वारा दो और पीठिकाएँ कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा बम्बई विश्वविद्यालय मे स्थापित की जा रही है। निगम ने चार शोध फेलोशिप प्रदान करने की योजना भी तैयार की है।

(viii) **हिमकोन**—वर्ष के दौरान निगम ने हिमाचल कसलटैसी आरगेनाइजेशन लि० (हिमकोन) नाम की एक नयी तकनीकी परामर्शदात्री सस्था का भी गठन किया। इस सस्था का पजीकृत कार्यालय शिमला मे है। 'हिमकोन' नये उद्यमियो की आवश्यकताओ को पूरा करेगी और परियोजना का पता लगाने, परियोजनाएँ तैयार करने, तकनीकी और प्रबन्ध परामर्श तथा मार्गदर्शन आदि क्षेत्रो मे नियमित आधार पर कार्य करेगी। निगम ने राजस्थान और मध्य प्रदेश राज्यो मे एक-एक सलाहकार संस्था स्थापित करने के लिए भी कदम उठाए हैं।

आलोचना—निगम के गत वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि निगम ने ऋणदाता के साथ-साथ एक विकसित बैंक का भी काम किया है। फिर भी समय-समय पर देश के अर्थशास्त्रियो, राजनीतिज्ञो एवं उद्योग-पतियो ने निगम की कार्य-प्रणाली की निम्न आलोचना की है—

(1) **अविकसित क्षेत्रो की उपेक्षा**—जैसा कि हम ऊपर देख चुके है कि निगम ने विकसित क्षेत्रो की अपेक्षा अविकसित क्षेत्रो को कम सहायता दी है।

(2) **पक्षपातपूर्ण नीति**—निगम केवल उन सस्थाओ की सहायता प्रदान करता है जिसमे उनके सचालक किसी विशेष प्रकार की रुचि रखते है।

(3) **केवल बड़े उद्योगो की सहायता**—निगम केवल बडे-बडे उद्योगो को ही सहायता देता है जिससे पूंजी के केन्द्रीयकरण को बढावा मिलता है।

(4) **अल्प सहायता**—निगम द्वारा वित्त वर्षों मे केवल 406 करोड रुपए की आर्थिक सहायता दी गई, जो देश की औद्योगिक आवश्यकता को देखते हुए कम है।

(5) **ऊँची ब्याज दर**—निगम द्वारा ली गई ब्याज दर काफी ऊँची है, जिसके कारण बहुत ही कम कम्पनियाँ इससे ऋण लेने की इच्छुक रहती है।

(6) **रूढ़िवादी कार्य प्रणाली**—निगम ने अपना कार्य रूढिवादी नीति से चलाया है और ऋण की इच्छुक कम्पनियो के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नही किया है। छोटे-छोटे टेकनिकल कारणो पर आवेदन-पत्र रद्द कर देना उचित नही था।

(7) **फिजूलखर्ची**—निगम के कार्यालय सम्बन्धी खर्च बहुत अधिक है।

(8) निगम ने योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओ के विपरीत उपभोक्ता पदार्थों को अधिक ऋण प्रदान किये है।

3. राज्य वित्त निगम
(State Financial Corporation)

स्थापना—प्रान्तीय स्तर पर छोटे एव मध्यम आकार के उद्योगो की आर्थिक आवश्यकताओ को पूरा करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने 28 सितम्बर 1951 को राज्य अर्थ प्रबन्ध अधिनियम (State Financial Act) पास किया जिसके अनुसार राज्य सरकारो को अपने-अपने राज्य मे अर्थ प्रबन्धन निगम स्थापित करने का अधिकार मिल गया। इस समय हमारे देश मे 18 राज्य वित्त निगम कार्य कर रहे हैं।

निगम के कार्य—यह निगम निम्नलिखित कार्य कर सकता है—

(1) औद्योगिक सस्थाओ के लिए अधिक से अधिक 20 वर्ष के लिए ऋण देना अथवा ऋणपत्रो को खरीदना।

(2) औद्योगिक सस्थाओ के निर्गमित अशो व ऋण-पत्रो का अभिगोपन अधिक से अधिक 20 वर्षों के लिए करना।

(3) औद्योगिक सस्थाओ द्वारा लिए गए ऋणो की गारण्टी देना।

(अ) अंश पूंजी—किसी भी राज्य वित्त निगम को अधिकृत पूंजी 50 लाख

रुपए से कम और 5 करोड रुपए से अधिक नही हो सकती। जनता को निगम से अधिक से अधिक 25% अश बेचे जा सकते है।

(ब) **ऋण-पत्र**—निगम अपनी चुकता पूँजी एव सचित कोष के 5 गुने तक ऋण-पत्रो को निर्गमन कर सकता है।

(स) **रिजर्व बैंक से ऋण**—आवश्यकता पडने पर राज्य वित्त निगम रिजर्व बैंक से 18 माह की अवधि के ऋण ले सकते हैं।

(द) **जन-निक्षेप**—राज्य वित्त निगम जनता मे 1 वर्ष या अधिक के लिए निक्षेप प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार प्राप्त निक्षेपो की कुल राशि निगम की चुकता पूँजी से अधिक नही हो सकती है।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध एक सचालक सभा द्वारा होता है जिसमे 10 सदस्य होते है। सचालक सभा को राज्य सरकार एव रिजर्व बैंक के परामर्श एव निर्देशन के अनुसार कार्य करना पडता है।

राज्य वित्त निगम की कार्य प्रगति

31 मार्च 1980 तक देश के 18 राज्य वित्त निगमो की प्रगति से सबधित मुख्य बाते इस प्रकार है—

(अ) **स्वीकृत एवं वितरित ऋण**—मार्च सन् 1980 तक देश के सभी 18 राज्य वित्त निगमो द्वारा स्वीकृत वित्तीय सहायता की राशि 1571 करोड रुपए थी।

(ब) **उद्योगानुसार वितरण**—उद्योगानुसार वितरण मे सबसे अधिक ऋण खाद्य उत्पाद को मिला। इसके बाद वस्त्रोद्योग व रसायन उद्योग आते है।

(स) **अभिगोपन**—मार्च 1975 के अन्त तक 12 राज्य वित्तीय निगमो ने अशो के अपने अभिगोपन सबधी उत्तरदायित्व की पूर्ति मे तथा ऋण पत्रों के अभिदान मे 12·5 करोड रुपए विनियोजित किए। इसमे अकेले तमिलनाडु औद्योगिक विनियोग निगम का भाग 8 करोड रुपए था।

(द) **लघु उद्योगो को ऋण**—राज्य वित्त निगमो ने लघुस्तरीय क्षेत्र के उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 31 मार्च 1980 तक राज्य वित्त निगमो द्वारा 950 करोड रुपए (63 3%) की सहायता लघुस्तरीय उद्योगो को स्वीकृत की गई।

कार्यकारी दल की रिपोर्ट (Report of Working Group on State Financial Corporation)—सन् 1962 मे रिजर्व बैंक के द्वारा वित्त निगमो की प्रगति की जाँच करने के उद्देश्य से एक कार्यकारी दल की नियुक्ति की गई थी जिसने अपनी रिपोर्ट सन् 1964 के आरम्भ मे दी। इस रिपोर्ट के अनुसार 'राज्य वित्त निगमो का मुख्य उद्देश्य छोटे एव मध्य आकार के उद्योगो के विकास को प्रोत्साहन देना था, जिसे पूरा करने मे वे सफल नही हो सके।' रिपोर्ट मे उल्लिखित दोषो एवं सुझावो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) **केवल ऋण पर अधिक ध्यान**—राज्य वित्त निगमों ने अब तक अपने

कार्यों को ऋण देने तक ही सीमित रखा है। ऋणपत्रो मे पूंजी लगाने तथा ऋणो की गारण्टी देने की दिशा मे बहुत कम प्रगति की है। रिपोर्ट मे यह सुझाव दिया गया है कि इन सभी कार्यों पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

(2) **नये उद्योगो की ओर कम ध्यान**—निगम ने अधिकाशत परम्परागत उद्योगो को ही ऋण प्रदान किए हैं जिनमे जोखिम की मात्रा कम है। अतः राज्य वित्त निगमो को राज्यो के औद्योगिक विकास के लिए नवीन उद्योग को ऋण प्रदान करना चाहिए।

(3) **पूंजी का अभाव**—इन निगमो के समक्ष पूंजी की सबसे बडी समस्या है अत· इन निगमो को अपनी चुकता पूंजी बढानी चाहिए और उसमे निजी सस्थाओ एव व्यक्तियो के सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(4) **ऋण-पत्रों से अधिक निर्गमन का सुझाव**—राज्य वित्त निगम की आवश्यकताओ की तुलना मे उनके द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रो की राशि बहुत कम है। रिपोर्ट ने इसके लिए सुझाव दिया है कि निगमो के उधार लेने की सीमा को चुकता पूंजी के 10 गुना से बढाकर 15 गुना कर देना चाहिए।

(5) **जन निक्षेप**—बैक समझौते के अन्तर्गत निर्धारित ब्याज दर से कुछ अधिक दर पर जन निक्षेप प्राप्त करने की सुविधा राज्य वित्त निगमो को दी जानी चाहिए।

(6) **ऋणो की जमानत के विषय मे उदार दृष्टिकोण**—ऋणो की सुरक्षा के विषय मे निगमो का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर है। रिपोर्ट के अनुसार, "यदि निगम इस बारे मे सन्तुष्ट हो जाये कि प्रस्तावित योजना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है, तकनीकी दृष्टि से सुदृढ है तथा ऋण चाहने वाले व्यक्ति सच्चरित्र एवं निष्ठावान हैं तो जमानत की प्रकृति एवं सीमा के विषय मे कुछ उदार दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है।"

(7) **संचित कोषो का निर्माण**—वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाने के उद्देश्य से दल ने संचित कोषो के निर्माण पर अधिक बल दिया है।

(8) **तकनीकी विशेषज्ञो का अभाव**—निगम के पास तकनीकी विशेषज्ञो का अभाव है। इसके लिए दल ने सुझाव दिया है कि एक अर्थशास्त्री, एक प्रबन्ध विशेषज्ञ एवं चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट की नियुक्ति निगम द्वारा की जानी चाहिए।

(9) **राष्ट्रीय औद्योगिक साख**—(दीर्घकालीन सहायता) कोष—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन सहायता) कोष की भाँति राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन सहायता) कोष की स्थापना का सुझाव दल ने दिया।

(10) **ब्याज की दर में वृद्धि**—कार्यकारी दल ने निगम द्वारा प्रदान किये जाने वाले ऋणो के लिए चक्रवृद्धि ब्याज दरो को लागू करने का सुझाव दिया है।

उपरोक्त सुझावो के अतिरिक्त रिपोर्ट मे यह भी कहा गया है कि यदि राज्य वित्त निगम धीरे-धीरे अपने राज्यो के लिए औद्योगिक निगमो का स्थान ग्रहण कर ले तो अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

4. भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम
(Industrial Credit and Investment Corporation of India)

इस निगम की स्थापना विश्व बैंक के मिशन की सिफारिश पर की गई ताकि निजी क्षेत्र मे लघु व मध्यम आकार के उद्योगो का विकास हो सके। यह निगम जनवरी 1955 मे एक निजी सीमित कम्पनी के रूप मे स्थापित किया गया।

पूँजी तथा अन्य साधन—निगम की अधिकृत पूँजी 25 करोड रुपये है और प्रत्येक शेयर का मूल्य 100 रुपए है। इसमे से केवल 5 करोड रुपये की पूँजी निर्गमित एव प्रदत्त है। निर्गमित पूँजी मे से 2 करोड रुपये के शेयर भारतीय बैंको व बीमा कम्पनियो द्वारा, 1·5 करोड रुपए के शेयर भारतीय जनता द्वारा, 1 करोड़ रुपए के शेयर इग्लैण्ड के पूँजीपतियो द्वारा और 50 लाख रुपए के शेयर अमेरिकी पूँजीपतियो द्वारा खरीदे गये थे। इस प्रकार यह एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्यम है जिसकी स्थापना मे अनेक देशो मे योग दिया है।

अपनी स्वीकृत पूँजी के अतिरिक्त निगम के अन्दर व देश के बाहर से साधन एकत्रित करता रहता है। इसने भारत सरकार, विश्व बैंक व पश्चिम जर्मनी के पुनर्निर्माण ऋण निगम से प्राप्त किए है।

निगम के कार्य—इस निगम के कार्य निम्नलिखित है—

(1) औद्योगिक इकाइयो को मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना।

(2) नवीन कम्पनियो के अश एव प्रतिभूतियो का अभिगोपन करना।

(3) निजी क्षेत्रो से आए हुए ऋणो की फिर से गारण्टी देना।

(4) उद्योगो के विकास और नए आविष्कारो की व्यवस्था करना।

(5) भारतीय उद्योगो को प्रबन्धात्मक, प्राविधिक एव प्रशासनिक सलाह प्रदान करना।

निगम केवल निजी क्षेत्र के उद्योगो को आर्थिक सहयोग प्रदान करता है। निगम मुख्तया बडे उद्योगो को ही आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इसकी न्यूनतम ऋण सीमा 5 लाख रुपए है। ऋण भारत के किसी भाग मे स्थापित किसी भी औद्योगिक इकाई को दिया जा सकता है, परन्तु ऋण स्वीकृत करने से पूर्व प्रार्थी कम्पनी की योजना आदि की पूरी जाँच कर ली जाती है।

निगम के कार्यो की प्रगति

निगम की स्थापना के बाद से लेकर 30 सितम्बर 1980 तक कुल राशि (वास्तविक) जो स्वीकृत हुई और वितरित की गई क्रमश. 1444 करोड रु० और 1013 करोड रु० थी।

1. **उद्योगानुसार सहायता**—निगम ने रसायन उद्योगो को सर्वाधिक सहायता प्रदान की। उसके बाद धातु उत्पादन यन्त्र निर्माण, विद्युत उपकरण आदि का नम्बर आता है।

2. निगम की कुल वित्तीय सहायता 65% चार राज्यो महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु व पश्चिमी बगाल को मिला है जो औद्योगिक क्रियाओ के कुछ राज्यो मे ही केन्द्रित होने का सूचक है।

3. निगम ने पिछडे क्षेत्रो मे विकास सम्भावनाओ का पता लगाने के लिए—(अ) तकनीकी आर्थिक सर्वेक्षण, (ब) योग्य प्रायोजनाओ का सम्भाव्यता अध्ययन, (स) प्रशिक्षण कार्यक्रम सचालित किए हैं। इस कार्य हेतु निगम नें बम्बई कार्यालय मे पृथक् से एक प्रायोजना प्रवर्तन एव विकास विभाग खोला है।

भारतीय औद्योगिक वित्त की वर्तमान विषम परिस्थिति मे हम यह आशा कर सकते है कि सरकार तथा वित्तीय सस्थाओ के सहयोग से यह निगम अपने उद्देश्य मे सफल होगा।

5. यूनिट ट्रस्ट आफ इण्डिया
(Unit Trust of India)

भारत के सामान्य विनियोजको को उद्योगो मे धन लगाने की सुविधा प्रदान करने के लिए, 1 फरवरी सन् 1964 को यूनिट ट्रस्ट आफ इण्डिया की स्थापना की गई।

यूनिट ट्रस्ट की प्रारम्भिक पूंजी 5 करोड रुपये है, जिसमे 25 करोड रुपए रिजर्व बैंक, 75 लाख रुपए जीवन बीमा तथा 75 लाख रुपये स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंक तथा शेष 1 करोड की पूंजी अनुसूचित बैको तथा अन्य वित्तीय संस्थाओ द्वारा खरीदी गई है।

उद्देश्य—यूनिट ट्रस्ट के दो प्राथमिक उद्देश्य हैं—

(1) मध्यम तथा निम्न आय वर्ग की बचत को प्रोत्साहित करना और फिर इन बचतो को एकत्र करना।

(2) देश के तीव्र औद्योगिक विकास के लाभो मे उन्हे भी भाग लेने के योग्य बनाना।

भारतीय यूनिट ट्रस्ट के कार्यो की प्रगति

यूनिटो की बिक्री—भारतीय यूनिट ट्रस्ट अपनी यूनिटे विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत बेचता है। अब तक इसने तीन योजनाओ के अन्तर्गत यूनिट बेचे है। ये है—

(1) **यूनिट योजना 1964**—इस योजना के अन्तर्गत एक यूनिट का अंकित मूल्य 10 रुपए है। प्रत्येक क्रेता को कम से कम 10 यूनिटे खरीदने होते है। इस प्रकार एक क्रेता को न्यूनतन विनियोग 100 रु० का करना होता है। इसी योजना के अन्तर्गत विभिन्न बचत योजनाएँ चलायी गयी है, जैसे—

(अ) 1966 **की पुनर्निवेश योजना**—इस योजना मे यूनिट योजना 1964 के अधीन देय लाभाश की राशि का विनियोग स्वचालित आधार पर नयी यूनिटो मे किए जाने का प्रावधान है जिससे यूनिटो की सख्या व राशि स्वतः बढती रहे।

(ब) 1970 **की बाल-उपहार योजना**—इस योजना मे वयस्क व्यक्ति द्वारा किसी अवयस्क के पक्ष मे यूनिट उपाहारस्वरूप दिए जाने का प्रावधान था। इसके अन्तर्गत बच्चो को उपहार भी दिए जाते थे।

(ii) **यूनिट योजना** 1971—यूनिट योजना 1971 को यूनिट सम्बद्ध बीमा योजना कहते है। इस योजना को अक्टूबर 1971 से लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत बचतकर्ताओ को बचत के विनियोग पर होने वाले लाभ के साथ-साथ जीवन बीमा की सुविधा भी उपलब्ध करायी गयी। यह योजना 18 से 45 वर्ष तक की आयु के व्यक्तियो के लिए ही है। इस योजना के लिए विनियोजित धन की राशि न्यूनतम 3000 रु० से अधिकतम 12000 रु० है जिसे 10 वर्षीय समझौते के अन्तर्गत निश्चित किस्तो मे जमा कराना होता है।

(iii) **यूनिट योजना** 1976—ट्रस्ट की इस योजना को पूँजी यूनिट योजना कहते है। इस योजना के अधीन 1 जनवरी 1976 से जनता को पूँजी यूनिटो की बिक्री शुरू की गयी। 1964 व 1971 की यूनिट योजनाओ का उद्देश्य यूनिट-धारको को नियमित बढती हुई आय दिलाना था। इसके विपरीत 1976 की यूनिट योजना मुख्यत॰ पूँजी वृद्धि के उद्देश्य से प्रेरित थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह निर्णय लिया गया कि प्राप्ति कोषो को अच्छी विकास सभावनाओ से युक्त कम्पनियो की अश पूँजी मे निवेशित किया जाय।

चूँकि इतनी अधिक राशि को उपयुक्त विकास अभिमुख अश पूँजी मे निवेशित करने मे समय लगता है अत॰ ट्रस्ट ने अस्थायी तौर पर 22 अप्रैल 1976 से पूँजी यूनिटो की बिक्री को रोक दिया गया।

ट्रस्ट द्वारा तीनो योजनाओ के अन्तर्गत बेचे गये, पुन॰ खरीदे गए तथा बकाया राशियो का विवरण अलग-अलग निम्नाकित तालिका मे दिया गया है—

यूनिटो का कुल विक्रय (प्रमुख योजनाओ मे)

(धनरसशि करोड रुपयो मे)

वर्ष (जुलाई-जून)	विक्रय-धनराशि (पुस्तक-मूल्य)	लाभाश (प्रतिशत	गत वर्ष की अपेक्षा कमी/वृद्धि विक्रय-राशि (पुस्तक-मूल्य)	गत वर्ष की अपेक्षा कमी/वृद्धि लाभाश (प्रतिशत)
(क) यूनिट योजना, 1964				
1964-65	19·1	6·10	—	—
1970-71	18 0	8·00	— 4·8	+ ·80
1979-80	48 9	10 00	—47·2	+1 00
1980-81	39 7	11·50	— 9 2	+1·50
1981-82	65 0	12 50	+25 3	+1·00
(ख) यूनिट बीमा योजना, 1971				
1975-76	2 7	7 00	—	—
1979-80	39 0	22·50	+ 4·5	+ ·50
1980-81	35 3	8 75	— 3 7	+ 25
1881-82	37 3	9 50	+ 2 0	+ ·75

यूनिट ट्रस्ट के कार्यों का मूल्यांकन—जुलाई सन् 1964 से यूनिक ट्रस्ट द्वारा इकाइयो का विक्रय भारतीय मुद्रा बाजार के विकास मे एक महत्त्वपूर्ण कदम है और लघु बचत कर्त्ताओ को आकर्षित करने मे ट्रस्ट सफल रहा है। ऐसा लगता है कि यूनिट ट्रस्ट ने सुरक्षित आय और अत्यन्त सरल विनियोग का साधन प्रदान कर अपने बहु-सख्यक विनियोजको की आवश्यकताओ की पूर्ति की है। आशा है कि इसकी प्रगति सतोषजनक ही रहेगी। सन् 1971 मे यूनिट बीमा योजना प्रारम्भ की गयी। इस योजना का उद्देश्य छोटे और मध्यम वर्ग के लोगो को निरन्तर बचत की प्रेरणा देना और उसी के साथ बीमा सुविधाएँ प्रदान करना है। परन्तु इसके कार्यकलापो को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु कुछ सुझाव इस प्रकार दिये जा सकते है—

(1) विनियोजको की अभिरुचि के अनुकूल विभिन्न प्रकार की यूनिट योजनाएँ बनानी चाहिए।

(2) सरकार को, ट्रस्ट को ब्याज-मुक्त ऋण विपुल मात्रा मे देना चाहिए, ताकि वह आकस्मिकताओ का लाभ उठा सके।

(3) अन्य वित्त सस्थाओ के सहयोग से ट्रस्ट को जनता की विनियोग सम्बन्धी आदतो का अध्ययन करना चाहिए।

अन्ततोगत्वा ट्रस्ट की भावी सफलता निम्न मध्यमवर्गीय विनियोजको के निरन्तर समर्थन पर ही निर्भर रहेगी।

परीक्षा-प्रश्न

1. आधुनिक उद्योगो की वित्तीय आवश्यक्ताओ को सक्षेप मे समझाइए। भारतीय उद्योगो की वित्तीय सहायता के लिए कौन-सी विभिन्न सस्थाएँ है ?

2 भारत सरकार ने सन् 1974 के पश्चात् जो साख तथा वित्तीय सुविधाएँ भारतीय उद्योगो के लिए खोली है, उनका उल्लेख कीजिए।

अथवा

भारतीय औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम के कार्यों का वर्णन कीजिए।

3. भारत के औद्योगिक वित्त निगम के सविधान तथा उनकी कार्यविधि को समझाइए। इसकी श्रेष्ठ कार्यविधि के लिए सुझाव दीजिए।

[**संकेत**—औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना एव उसकी कार्य-प्रणाली का वर्णन देते हुए सुझाव दीजिए।]

4. भारत मे योजनाकाल मे स्थापित औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली विभिन्न सस्थाओ के नाम बताइए। औद्योगिक विकास बैक के उद्देश्यो एव कार्यों का सक्षिप्त विवरण दीजिए।

[**संकेत**—औद्योगिक वित्त की विभिन्न सस्थाओ के नामो बताते हुए औद्योगिक विकास बैक के उद्देश्य व कार्यों का वर्णन कीजिए।

5. भारत मे उद्योगो के लिए सस्थागत वित्त व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिये।

[**संकेत**—इसमे विभिन्न वित्त सस्थाओ का सक्षिप्त विवरण देना है।]

26

भारत की तट-कर अथवा प्रशुल्क नीति

(India's Tariff or Fiscal Policy)

किसी देश के आयात व निर्यात पर लगाये जाने वाले करो से सम्बन्धित नीति को तट-कर नीति अथवा प्रशुल्क नीति कहते है। प्रशुल्क करो मे प्राय· आयात करो की ही प्रधानता होती है, यद्यपि समय-समय पर निर्यात कर भी लगाये जाते हैं। आयात करो को लगाने के दो उद्देश्य हो सकते है—(क) सरकार के लिए आय प्राप्त करना, (ख) घरेलू उद्योगो की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करना।

ऐतिहासिक विकास

भारत की दूसरे महायुद्ध से पूर्व की तट-कर नीति—भारत सरकार की प्रशुल्क नीति प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक व्यापार मे हस्तक्षेप न करने की थी। अर्थात् व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नही था और स्वतन्त्र व्यापार ही पूर्णरूप से चल रहा था। परन्तु युद्धकाल और युद्धोत्तरकाल मे कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके कारण स्वतन्त्र व्यापार नीति मे परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। ये परिवर्तन इस प्रकार थे—

(1) युद्ध के समय मे भारत सरकार ने अपनी बढती हुई आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आयात-कर मे वृद्धि की, परन्तु उत्पादन-कर मे वृद्धि नही की। इससे भारतीय उद्योगो को कुछ अशो मे प्रोत्साहन मिला, फिर भी पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने से शासको को युद्ध-संचालन मे कई कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं और उन्हे स्वतन्त्र व्यापार-नीति की कमियाँ दिखाई देने लगी।

(2) सन् 1916 के औद्योगिक आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि "भारत के औद्योगिक विकास मे सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म-निर्भर हो सके।"

(3) इन दिनो स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकडा और अग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति की बडी निन्दा होने लगी। भारतीयो ने उन देशों का अनुकरण करना चाहा, जिनकी औद्योगिक प्रगति सरक्षण नीति के द्वारा हुई थी।

उपर्युक्त कारण से भारत मे प्रशुल्क-नीति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे ससद

मे विचार किया जाने लगा। सन् 1917 मे इगलैण्ड की ससद ने यह स्वीकार किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ प्रशुल्क नीति निर्णय मे भी भारत को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। सन् 1919 के राजकोषीय स्वतन्त्रता प्रस्ताव (Fiscal Autonomy Convention) मे भी यह निर्णय हुआ कि भारत के आर्थिक मामलो मे भारत सचिव हस्तक्षेप नही करेगा। यही ऐतिहासिक प्रशुल्क स्वतन्त्रता प्रस्ताव ऐतिहासिक माना जाता है और यही से भारतीय प्रशुल्क नीति की नीव पडती है।

विभेदात्मक सरक्षण की नीति
(The Policy of Discriminating Protection)

प्रशुल्क आयोग, सन् 1921—फरवरी सन् 1921 मे ससद ने प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव पास किया तथा प्रशुल्क नीति पर विचार करने के लिए एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया। इस प्रशुल्क आयोग के अध्यक्ष, इब्राहीम रहमत उल्ला थे। इसके सम्मुख मुख्य रूप मे दो प्रश्न रखे गये—

(अ) भारत सरकार की प्रशुल्क नीति का अध्ययन करे, तथा

(ब) साम्राज्य के पक्षपात (Imperial Preference) सिद्धात के औचित्य पर विचार करे और तदुपरान्त अपने सुझाव दे।

आयोग की सिफारिशे—इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट' सन् 1922 मे प्रस्तुत की, जिसमे भारतीय उद्योगो को विभेदात्मक सरक्षण दिये जाने की नीति की सिफारिश की थी। विभेदात्मक सरक्षण की नीति से अभिप्राय यह था कि सभी उद्योगो को बिना सोचे-समझे सरक्षण नही देना चाहिए, बल्कि सरक्षण केवल उन्ही उद्योगो को दिया जाना चाहिए जो तीन शर्तों को पूरा करते है—

(अ) **नैसर्गिक लाभ**—उद्योग को प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिये, जैसे कच्चे माल की प्राप्ति, सस्ती शक्ति आदि।

(ब) **संरक्षण की अनिवार्यता**—उद्योग ऐसा होना चाहिए कि जिसका विकास बिना सरक्षण के सम्भव नही है, परन्तु जिनका विकास देश के हित मे अत्यन्त आवश्यक है।

(स) **अस्थायी संरक्षण**—उद्योग ऐसा होना चाहिये जो अन्तत· बिना सरक्षण के विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

आयोग की अन्य सिफारिशे—इस आयोग ने उक्त तीनो शर्तों के अलावा, कुछ अन्य शर्तो का भी सुझाव दिया था, जिसमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार है—

(1) आधारभूत उद्योगो तथा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगो को सरक्षण अवश्य मिलना चाहिए।

(2) उद्योग इस प्रकार का हो जो कम कीमत पर अधिक मात्रा मे उत्पादन कर सके।

(3) उद्योग ऐसा होना चाहिए कि वह निश्चित समय मे देश की समूची आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके।

(4) एक प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Board) का सगठन होना चाहिये, जो सरक्षण के लिये प्रार्थी उद्योगो की आवश्यक जाँच कर सरक्षण के सम्बन्ध मे सरकार को आवश्यक सलाह दे सके ।

विभेदात्मक सरक्षण की सफलताएँ—सन् 1923 मे भारत मे सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और सन् 1924 मे प्रथम प्रशुल्क मडल की स्थापना कर दी गई । यद्यपि विभेदात्मक सरक्षण की नीति बहुत लाभदायक नहीं थी, फिर भी विदेशी सरकार द्वारा इस नीति का अपनाया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी । इस नीति की मुख्य-मुख्य उपलब्धियाँ निम्नलिखित है—

(अ) औद्योगिक विकास—इस नीति के परिणामस्वरूप देश के औद्योगिक विकास को काफी प्रोत्साहन मिला । इस नीति के अधीन भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग तथा कृत्रिम रेशा उद्योग को क्रमशः 1924, 1925, 1926, 1932 और 1934 मे सरक्षण दिया गया और इन उद्योगो ने काफी प्रगति की ।

सन् 1922-39 के सत्रह वर्षों की अवधि मे लोहा-इस्पात का उत्पादन आठ गुना व सूती वस्त्रो का ढाई गुना हो गया । दियासलाई का उत्पादन 38% तथा कागज का 180% बढ गया । चीनी का उत्पादन सन् 1922 मे केवल 24,000 टन था जो 1938 मे बढकर 9,31,000 टन हो गया ।

(ब) सहायक उद्योगो का विकास—इस नीति के अन्तर्गत उपर्युक्त सरक्षित उद्योगो पर निर्भर कुछ नये उद्योग स्थापित हुए, जैसे—

(i) लौह एव इस्पात उद्योगो के विकास से टिन-प्लेट, तार एव कृषि औजार उद्योगो को बढावा मिला ।

(ii) सूती-वस्त्र-उद्योग ने केवल स्टार्च उद्योगो को विकसित किया ।

(iii) कागज उद्योग के कारण सैलूलोज (Cellulose) उद्योग उन्नत हुआ ।

(स) रोजगार मे वृद्धि—सरक्षण-नीति के कारण देश मे रोजगार की मात्रा मे वृद्धि हुई । सन् 1923 से 1937 तक सरक्षित उद्योगो मे रोजगार लगभग ड्योढा हो गया ।

(द) मन्दी का कम प्रभाव—जैसा कि विदित है, सन् 1930 मे विश्व-व्यापी मन्दी आयी और इसके परिणामस्वरूप जब अन्य उद्योग, जिन्हे सरक्षण का सौभाग्य नही प्राप्त हुआ था, घोर मन्दी की ज्वाला से झुलसते चले जा रहे थे, तब सरक्षित उद्योग अपना विकास कर रहे थे । मन्दी काल मे भी उत्पादन मे वृद्धि होना, विभेदात्मक सरक्षण नीति की सफलता का पर्याप्त प्रमाण है ।

(य) कच्चे माल का उत्पादन बढा—सूती कपडे तथा चीनी उद्योग को सरक्षण प्राप्त होने के कारण गन्ना और कपास के उत्पादन मे वृद्धि हुई क्योकि कच्चे माल की माँग बढ गई थी । इन दोनो वस्तुओ की किस्म मे भी सुधार हुआ ।

विभेदात्मक संरक्षण-नीति की आलोचना—यद्यपि इस नीति से देश के कुछ

उद्योग-धन्धो को विशेष लाभ हुआ, तथापि यह नीति पूर्णत दोषमुक्त नही थी। इस नीति के मुख्य-मुख्य दोष निम्नलिखित है—

(1) **असन्तुलित विकास** (Lopsıaed development)—सरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का साधन मानकर केवल विशेष उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया गया। इससे देश का औद्योगिक विकास असतुलित रहा।

(2) **कड़ी शर्तें**—त्रिसूत्रीय सिद्धान्त को बहुत कडाई के साथ लागू किया गया, जैसे कच्चे माल की कमी बताकर कॉच उद्योग को सरक्षण नही दिया गया। इस प्रकार केवल विस्तृत घरेलू बाजार पर ही ध्यान दिया गया और निर्यात की सभावनाओ पर ध्यान नही दिया गया। इसीलिए, इजन उद्योग (Locomotıve Industry) को सरक्षण नही मिला।

(3) **नये उद्योगो की उपेक्षा**—विभेदात्मक सरक्षण की नीति केवल चालू उद्योगो पर ही लागू की गई। ऐसे उद्योग जो अभी अकुरित ही हुए थे, वे इससे कुछ भी लाभ नही उठा सके।

(4) **प्रशुल्क बोर्ड का अस्थायी गठन और उसके सीमित अधिकार**—वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार केवल अस्थायी प्रशुल्क बोर्डों की स्थापना की गई, जिससे प्रशुल्क नीति मे नियमितता और समानता नही आ सकी और सचित अनुभव का उपयोग नही हो सका। बोर्ड के अधिकार भी सीमित थे।

(5) **अन्य दोष**—

(ı) सरक्षण-नीति के कार्यान्वित करने मे बहुत समय लगता था।

(ıı) इस नीति के कारण अनावश्यक करो की भरमार हो गई और करदाता पर जितना करभार लद गया उतना उसे लाभ प्राप्त नही हुआ।

(ııı) सिद्धात रूप मे भारत प्रशुल्क नीति मे स्वतन्त्र था, किन्तु व्यवहार मे भारत को पूर्णतः विदेशी शासको पर निर्भर रहना पडता था।

(ıv) औद्योगिक शिक्षा और अनुसधान की ओर ध्यान नही दिया गया।

विभेदात्मक सरक्षण नीति के ये सब दोष देखते हुए कहा गया, "विभेद था, सरक्षण नही था।" (All dıscrımınatıon on protectıon) प्रो० बी० पी० अदारकर के शब्दो मे, "इसमे उद्योगो को बडी ही अनिच्छा और उदासीनता से अपूर्ण सहायता दी और उन्हे प्रायः अपने पैरो पर ही रहना पडा।"

निष्कर्ष—उपर्युक्त दोषो के होते हुए भी विभेदात्मक सरक्षण द्वारा देश के औद्योगिक विकास मे सहायता मिली। सरक्षण नीति की आलोचना करते समय यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिये कि उस समय भारत परतन्त्र था और राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक नियोजन सम्भव नही होता था। अतः विभेदात्मक सरक्षण केवल दो परस्पर विरोधी विचारो का समायोजन था और इसका उद्देश्य केवल यह था कि विदेशी हितो की रक्षा की जा सके तथा भारत को कुछ उत्तरदायित्व एव सम्मान प्राप्त हो सके। अतः विभेदात्मक सरक्षण-नीति का उचित मूल्याकन करने के लिये उपर्युक्त पृष्ठभूमि को सदा ध्यान मे रखना चाहिये।

युद्ध एव युद्धोत्तरकाल मे प्रशुल्क नीति
(War and Post-war Tariff Policy)

विभेदात्मक सरक्षण नीति द्वितीय महायुद्ध तक चलती रही। युद्धकाल मे आयात-नियन्त्रण के कारण सरक्षण देने की आवश्यकता नही हुई, लेकिन युद्ध के पहले जिन उद्योगो को सरक्षण दे दिया गया था, वह चालू रहा। युद्ध से नये उद्योगो की स्थापना की प्रेरणा मिली और सरकार ने सन् 1940 मे पुन घोषणा की कि जो उद्योग दृढ व्यापारिक नीति का पालन करेंगे उन्हे सरक्षण प्रदान किया जायेगा। इससे भारत मे टैरिफ सरक्षण का क्षेत्र विस्तृत हो गया। लेकिन, क्योकि एक दीर्घकालीन टैरिफ नीति का निर्माण तथा एक स्थायी मशीनरी की व्यवस्था करने मे बहुत देर लग जाती है, इसीलिए भारत सरकार ने 3 नवम्बर, सन् 1945 ई० को एक अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड (Interim Tariff Board), युद्धकाल मे स्थापित हुए उद्योगो को सरक्षण देने के दावो की जॉच-पडताल करने के लिए नियुक्त किया।

सरक्षण के लिए चुनाव करते समय अन्तरिम बोर्ड ने निम्न बातो पर विशेष ध्यान दिया—

(अ) उद्योग उचित व्यापारिक ढग पर चलाया जा रहा है या नही।

(ब) उद्योग उचित समय के भीतर पर्याप्त विकास कर सकेगा या नही, जिससे सरक्षण के बिना भी कार्य चल सके।

(स) उद्योग को सहायता देना राष्ट्रीय हित मे होगा या नही।

इस बोर्ड ने मार्च सन् 1949 से अगस्त सन् 1847 तक लगभग 42 उद्योगो के दावों की जॉच की।

पुनर्गठित प्रशुल्क बोर्ड—(1947 ई०) देश के विभाजन के पश्चात् नवम्बर, सन् 1947 मे उपर्युक्त प्रशुल्क बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया। इसका कार्यकाल 3 वर्ष का रखा गया। अन्तरिम प्रशुल्क के कार्यों के अतिरिक्त, इसे निम्न कार्य और दिये गये—

(1) आवश्यकता पडने पर सरकार को यह बताना कि आयात की कई वस्तुओ की अपेक्षा सरक्षण प्राप्त वस्तुओ की लागत क्यो तथा किस समय से बढ रही है?

(2) सरकार को ऐसे उपाय बताना जिनसे आन्तरिक सरक्षण कम से कम व्यय करके दिया जा सके।

(3) सरक्षित उद्योगो की प्रगति पर निरन्तर निगाह रखना।

पुनर्गठित प्रशुल्क बोर्ड के कार्य-कलापो की विशेषताएँ—

(1) बोर्ड ने इस्पात, वस्त्र, कागज, सुपरफासफेट, लोहे की चद्दर इत्यादि उद्योगो की लागत व्यय एव बिक्री मूल्य की छानबीन की।

(2) सरक्षण देने के लिए मूल्यानुसार-कर और परिमाण-कर, दोनो ही का उपयोग किया गया।

(3) इस अवधि मे जिन उद्योगो को सरक्षण दिया गया, उनमे अल्यूमिनियम,

एण्टीमनी, कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर, सोडा, ऐश, साइकिल, सिलाई की मशीन क्लोराइड आदि प्रमुख है।

(4) बोर्ड ने सूती कपडा व सूत, इस्पात, कागज तथा चीनी उद्योग पर से सरक्षण हटाने का सुझाव दिया, फलस्वरूप इन उद्योगो पर से सरक्षण हटा लिया गया।

(5) बोर्ड ने न केवल आयात करो द्वारा, वरन् आर्थिक सहायता तथा अन्य सरकारी मदद के द्वारा सरक्षण देने का सुझाव दिया।

भारत की नवीन तट-कर नीति
अथवा
भारत की वर्तमान तट-कर नीति

भारत की वर्तमान प्रशुल्क-नीति, प्रशुल्क आयोग (1949-50) ने निर्धारित की थी। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद अप्रैल, सन् 1948 मे औद्योगिक नीति का प्रस्ताव रखा गया, जिसमे सरकार की प्रशुल्क नीति के बारे मे कहा गया कि सरकार अनुचित विदेशी प्रतियोगिता रोकेगी और उपभोक्ताओ पर अनुचित बोझ डाले बिना आर्थिक साधनो का उपयोग करने मे मदद देगी। अत:, अप्रैल, सन् 1949 मे एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गई, जिसको बदली हुई परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर सुझाव देने का कार्य सौपा गया। श्री टी० टी० कृष्णमाचारी इस आयोग के अध्यक्ष थे। इसे द्वितीय प्रशुल्क आयोग भी कहते है।

आयोग को निम्नलिखित विषयो पर सिफारिशे प्रस्तुत करनी थी—

(i) सरक्षण के विषय मे सरकार की भावी नीति क्या होगी तथा जिन उद्योगो को सरक्षण दिया जाय उनके क्या उत्तरदायित्व होगे।

(ii) नवीन प्रशुल्क नीति को कार्यान्वित करने के लिए किस प्रकार के सगठन की आवश्यकता होगी।

(iii) इस नीति को प्रभावशाली बनाने वाली कोई अन्य बात।

आयोग ने जुलाई, सन् 1950 मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान मे रखकर यह मान लिया था कि भारत मे योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इस आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशे की है।

प्रशुल्क आयोग की सिफारिशें (नई प्रशुल्क नीति की विशेषताएँ)—प्रशुल्क आयोग ने उद्योगो द्वारा प्रस्तुत आवेदन-पत्रो की जाँच करने तथा उन्हे सरक्षण और सहायता देने के लिए कुछ सिद्धान्त बनाये। इन सिद्धान्तो के अनुसार उद्योगो को तीन भागो मे बाँटा गया—

(1) **सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग**—इस वर्ग के उद्योगो को उनके राष्ट्रीय महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए सरक्षण दिया जाना चाहिये, चाहे इस सरक्षण अथवा सहायता का भार कितना ही हो।

(2) **आधारभूत तथा मूल उद्योग**—इस श्रेणी के उद्योगो को भी सरक्षण

दिया जाना चाहिये। सरक्षण की प्रकृति, मात्रा तथा शर्तों का निश्चय प्रशुल्क बोर्ड द्वारा किया जाना चाहिए।

(3) **अन्य उद्योग**—अन्य उद्योगो को सरक्षण देने के लिए दो बातो पर विचार किया जाना चाहिए—

(अ) वास्तविक व सम्भाव्य लागत का, जिससे उद्योग अपने पैरो पर खडा हो सके।

(ब) समाज पर उनका भार अत्यधिक नही पडना चाहिये।

सरक्षण की शर्तें—आयोग ने सरक्षण के सम्बन्ध मे कुछ महत्त्वपूर्ण बातो पर जोर दिया, जो इस प्रकार है—

(1) **कच्चे माल की उपलब्धि**—सरक्षण देते समय कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता पर जोर नही देना चाहिए। यदि उद्योग को अन्य आर्थिक लाभ, जैसे आतरिक बाजार तथा श्रम की प्राप्ति हो, तो सरक्षण दिया जा सकता है।

(2) **भावी निर्यात की संभावनाएँ**—सरक्षण देते समय भावी निर्यात की सम्भावनाओ पर भी ध्यान देना चाहिए।

(3) **घरेलू माँग-पूर्ति की क्षमता**—किसी भी उद्योग को सरक्षण देते समय यह आशा नही रखनी चाहिये कि वह सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करेगा।

(4) **क्षतिपूरक संरक्षण**—सरक्षित उद्योगो द्वारा तैयार किये गये माल को, कच्चे माल के रूप मे इस्तेमाल करने वाले उद्योगो को क्षतिपूरक सरक्षण (Compensating Protection) दिया जाना चाहिए।

(5) **कृषि संरक्षण**—राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-पदार्थों को भी संरक्षण दिया जाना चाहिए, परन्तु सरक्षण की अवधि 5 वर्ष से अधिक नही होनी चाहिए।

(6) **नये उद्योग को संरक्षण**—ऐसे नये उद्योगो को भी सरक्षण दिया जाय, जिनमे भारी पूंजी लगानी होती है, लेकिन विदेशी प्रतिस्पर्धा का भय बना रहता है।

(7) **उत्पादन कर**—सरक्षित उद्योगो पर यथासम्भव सरकार को उत्पादन कर (Excise duties) नही लगाना चाहिये।

(8) **विकास निधि**—सरक्षण करो से प्राप्त होने वाली आय के कुछ अश को प्रति वर्ष एक विकास-कोष (Development Fund) मे जमा करना चाहिए। इस निधि से उद्योगो को आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

संरक्षित उद्योगों के कर्त्तव्य—उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा की दृष्टि से आयोग ने सरक्षित उद्योगो के लिए कुछ विशेष दायित्वो का भी उल्लेख किया, जो इस प्रकार हैं—

(अ) सरक्षित उद्योगो को अपने उत्पादन का पैमाना निरन्तर बढाते रहना चाहिये।

(ब) वस्तु की किस्म, निश्चित किये गये नमूने के अनुसार होनी चाहिए।

(स) उद्योगों को नवीनतम मशीनों व पद्धतियो का प्रयोग करना चाहिए।

(द) सरक्षण प्राप्त उद्योगो मे शोधकार्य व टेकनीकल शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए ।

(य) जहाँ तक सम्भव हो स्थानीय कच्चे माल का ही प्रयोग करना चाहिए।

(र) सरक्षित उद्योगो द्वारा समाज विरोधी नीतियो को नही अपनाया जाना चाहिए ।

स्थायी प्रशुल्क आयोग—इस आयोग ने एक प्रशुल्क-आयोग (Tariff Commission) की स्थापना की सिफारिश की । प्रशुल्क आयोग एक स्थायी सस्था होगी जो अर्द्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial) आधार पर कार्य करेगी ।

प्रशुल्क आयोग
(Tariff Commission)

भारत सरकार ने तट-कर आयोग की लगभग सभी सिफारिशे स्वीकार कर ली और उन्हे कार्यरूप देने के लिए सन् 1952 मे एक स्थायी प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया गया ।

प्रशुल्क आयोग के कार्य—

(1) किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए सरक्षण मजूर करना ।

(2) आयात-निर्यात कर एव अन्य करो मे परिवर्तन प्रस्तावित करना ।

(3) राशिपातन के विरुद्ध कार्यवाही एव सरक्षित उद्योग द्वारा सरक्षण के दुरुपयोग की जाँच करना ।

(4) जीवन-स्तर तथा सामान्य मूल-स्तर पर सरक्षण का प्रभाव देखना ।

(5) सरक्षण से उत्पन्न होने वाले अन्य प्रश्नो पर विचार करना ।

प्रशुल्क आयोग के कार्यकलापो का विवरण—(नयी सरक्षण नीति की कार्यशीलता)—प्रशुल्क आयोग देश के उद्योग-धन्धो के विकास के लिए प्रशसनीय कार्य कर रहा है । इसने बहुत-सी जाँच-पडताल करके उचित सिफारिशे की है ।

आयोग की सिफारिशो पर जिन उद्योगों को पहली बार संरक्षण मिला है, उनमे निम्न महत्त्वपूर्ण उद्योग सम्मिलित है—आटोमोबाइल्स एव तत्सम्बन्धी पुर्जे, बाल बियरिंग, आटोमोबाइल हैड टायर इन्फ्लेटर्स, शक्ति और वितरण परिवर्तक, टिटेनियम डायोक्साइड, रग, कास्टिक सोडा, रग उडाने का चूर्ण आदि ।

सरकार ने आयोग की यह सिफारिश स्वीकार कर ली है कि अल्युमिनियम और रग सामग्री के उद्योगो का सरक्षण 31 दिसम्बर, सन् 1971 तक बढाया जाय और रग बनाने के काम आने वाली 50 मध्यवर्ती वस्तुओ को भी सरक्षण दिया जाय ।

राव समिति की रिपोर्ट—डॉ० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता मे तट-कर आयोग के काम के बारे मे समीक्षा करने के लिए जो समिति बनाई गई थी, उस समिति की सिफारिशो के बारे मे सरकार ने निर्णय ले लिए हैं । कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय अग्रलिखित प्रकार हैं—

(i) जिन उद्योगो पर से सरक्षण हटा लिया गया है, उसके दो-तीन वर्ष बाद उनकी स्थिति की समीक्षा नियमित रूप से होनी चाहिए ।

(ii) वैधानिक मूल्य नियन्त्रण (Statutory Price Control) लागू करने के लिए मूल्यो की जाँच का काम आमतौर पर प्रशुल्क आयोग को सौपा जाना चाहिए ।

(iii) आयोग को किसी उद्योग की जाँच करते समय यह पता लगाना चाहिए कि उद्योग की लागत अधिक क्यो है और उसे कम करने के लिए क्या उपाय अपनाये जा सकते है ।

प्रशुल्क या तट-कर पुर्नविचार समिति—इस समिति की तीसरी और अन्तिम रिपोर्ट 28 फरवरी, सन् 1978 को प्रस्तुत की गई । इसकी मुख्य सिफारिशे निम्न थी—

(i) आयात व्यापार नियन्त्रण अनुसूची, मुख्य मदो के सशोधित सीमा-शुल्क तट-कर पर आधारित होनी चाहिए ।

(ii) नये उपशीर्षक खोलते समय 'परिशोधित भारतीय व्यापार वर्गीकरण' को ध्यान मे रखना चाहिए ।

(iii) केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, सीमा-शुल्क और तट-कर अनुसूचियाँ यथासम्भव एक-सी होनी चाहिये ।

इस समिति ने अपना ध्यान मुख्यतः इस बात पर दिया कि आयात व्यापार नियन्त्रण की व्यवस्था किस तरह की जाये और आयात लाइसेन्स किस तरह लिखे जायँ, जिससे कस्टम मे माल छुडाते समय कम-से-कम असुविधा हो और समय भी कम लगे ।

प्रशासकीय सुधार आयोग का विश्लेषण

प्रशासकीय सुधार आयोग के द्वारा प्रशुल्क आयोग के बारे मे कुछ उपाय बताये गये है जो निम्नलिखित हैं—

(1) **तट-कर आयोग के स्थान पर नया आयोग**—मूल्य लागत और तट-कर आयोग को गठित करना चाहिये जिसे निम्न कार्य दिया जाना चाहिए—(अ) मूल्य की उचित नीति निर्धारण मे सरकार को मदद करने के लिए औद्योगिक उत्पादनो, कच्चे पदार्थों व मध्यवर्तीय वस्तुओं का मूल्य निश्चित करना, (ब) कुछ औद्योगिक उत्पादनो की लागत का अध्ययन कर लागत मे कमी करने के लिए सुझाव देना तथा (स) तट-कर संरक्षण के बारे मे जाँच करना और सरकार को परामर्श देना ।

(2) नये आयोग मे पूर्णकालिक सदस्यो की संख्या 6 होनी चाहिए और अध्यक्ष के चयन मे गैर अधिकारी, योग्य और सक्षम व्यक्ति को प्राथमिकता देनी चाहिए ।

सरकार ने लागत और मूल्यों की समस्या सुलझाने के लिए 'औद्योगिक लागते और मूल्य ब्यूरो' स्थापित करने का फैसला किया है लेकिन तट-कर आयोग को प्रतिस्थापित करने को मंजूर नही किया ।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत की विभेदात्मक सरक्षण नीति पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए ।

2. भारत की वर्तमान प्रशुल्क नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए ।

3. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की भारत की प्रशुल्क नीति पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए ।

27

भारत का विदेशी व्यापार

(Foreign Trade of India)

सक्षिप्त इतिहास

(1) **सन् 1930 के पहले भारत का विदेशी व्यापार**—अति प्राचीन काल से ही भारत अपने विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारत की बनी हुई वस्तुओ, जैसे सूती कपडे, धातु के बर्तन, सुगन्धित वस्तुएँ, इत्र, गरम मसाला आदि की माँग मिस्र, यूनान, रोम तथा ईरान आदि स्थानो मे बहुत अधिक थी। इसी व्यापार के लिए भारत ने स्याम, जावा, सुमात्रा और मलाया मे अपने उपनिवेश बनाए थे। देश का विदेशी व्यापार उन दिनो जल और स्थल, दोनो ही मार्गों से होता था। भारत मे प्राचीन काल मे आयात से अधिक निर्यात होता था। विदेशी हमारे व्यापार का भुगतान सोना-चाँदी में करते थे। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष हमारे देश मे करोडो रुपए का सोना आ जाता था।

विदेशी व्यापार का परिमाण और विस्तार मुगल शासन काल मे और भी बढा। अंग्रेजी शासन स्थापित होने पर हमारे विदेशी व्यापार मे वृद्धि तो हुई, लेकिन उसका सारा ढाँचा ही बदल गया। विदेशी सरकार ने ऐसी नीति अपनायी कि देश के उद्योग धन्धे शनै शनै नष्ट होने लगे और भारत एक कृषि प्रधान देश बन गया। भारत, इगलैड के निर्मित माल का आयात करने वाला तथा कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया। सक्षेप म, भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ इस प्रकार हो गयी :—

(अ) हम सामान्यत निर्मित वस्तुओ का आयात करते थे और कच्चे माल का निर्यात करते थे।

(ब) भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर इगलैड और कामनवेल्थ देशो (Commonwealth Countries) से होता था।

(स) हमारे निर्यात, सदैव ही आयात से अधिक होते थे जिसके फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन हमेशा ही हमारे पक्ष मे रहता था।

(द) विदेशी व्यापार तेजी से बढ रहा था। इस वृद्धि के प्रमुख कारण थे स्वेज नहर का निर्माण और परिवहन साधनो मे उन्नति।

(2) **विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी** (1929-30) **एवं भारत का विदेशी व्यापार**-भारत के विदेशी व्यापार पर सन् 1929-30 की भयानक आर्थिक मन्दी का बहुत ही विपरीत प्रभाव पडा। निर्यात की मात्रा मे बहुत कमी आ गई। आयात की जाने वाली वस्तुओ मे निर्यात वस्तुओ का प्रतिशत धीरे-धीरे कम होने लगा तथा कच्चे पदार्थों तथा खाद्यान्नों का प्रतिशत बढने लगा। निर्यात की जाने वाली वस्तुओ मे निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा, कच्चे पदार्थों व खाद्यान्नो की प्रधानता बनी रही। नीचे की सारणी के अको से भारत के विदेशी व्यापार की सरचना मे हुए परिवर्तन का स्पष्ट पता चलता है—

वस्तुएँ	कुल आयात के प्रतिशत मे		कुल निर्यात के प्रतिशत मे	
	1920-21	1938-39	1920-21	1938-39
खाद्यान्न, पेय एव तबाकू	11.0	15.7	28 0	27.8
कच्चा माल	5.0	21.7	35.0	34.1
निर्मित माल	84.0	62.6	37.0	38.1
	100.0	100 0	100.0	100.0

भारत के आयात व्यापार म इगलैड का हिस्सा सन् 1913-14 मे 64% था, जो घटकर सन् 1933-34 मे 42% और सन् 1938-39 मे 25% रह गया। निर्यात व्यापार मे भी इगलैड का हिस्सा धीरे-धीरे घट रहा था। मन् 1923-24 के बाद जर्मनी के साथ भारत के व्यापार मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

(3) **द्वितीय विश्वयुद्ध** (1939-45) **मे भारत का विदेशी व्यापार**—सन् 1939 मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इस महायुद्ध ने भारत के विदेशी व्यापार मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन—निर्मित वस्तुओ के निर्यात के परिमाण मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई और हमारे निर्यातो मे कच्चे मालो का प्रतिशत घट गया। अब रुई के स्थान पर सूती वस्त्र, जूट के स्थान पर निर्मित माल, तिलहन के स्थान पर वनस्पति तेल एव खालो के स्थान पर चमडे की बनी हुई वस्तुओ का निर्यात होने लगा। इस प्रकार कच्चे पदार्थों का निर्यात सन् 1924-25 मे जो कुल निर्यात व्यापार का 50% था, घटकर सन् 1941-42 मे केवल 28% ही रह गया।

(ब) विदेशी व्यापार की दिशा मे परिवर्तन—अमेरिका एव ब्रिटिश कामनवेल्थ देशो के साथ हमारा व्यापार पूर्ववत् रहा लेकिन शत्रु राष्ट्रो से व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया। तटस्थ राष्ट्रो के साथ व्यापार मे भी कई तरह की रुकावटे आ गईं। मध्य पूर्वी एशियाई देशो को भारत के निर्यात बहुत बढ गए थे, क्योकि जर्मनी, इगलैंड व जापान से आयात बन्द हो गया था।

(स) व्यापार सन्तुलन की अनुकूलता मे वृद्धि—चूँकि युद्ध-काल मे, निर्यात मे आयात की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई, इसलिए व्यापार सन्तुलन भारत के अनुकूल रहा और पौंड पावने (Sterlin Balances) की राशि बहुत अधिक जमा हुई।

(1) **विदेशी व्यापार का आकार और मूल्य**—व्यापार के आकार से आशय किसी देश द्वारा आयात-निर्यात की गई समस्त वस्तुओं की भौतिक मात्रा से है। जैसे 1981-82 के दौरान भारत ने 2120 लाख किलोग्राम चाय का निर्यात किया अथवा इसी वर्ष 230 लाख टन लोहा चूर्ण का आयात किया गया। विदेशी व्यापार को सामान्यत मूल्य के रूप में ही व्यक्त किया जाता है।

सन् 1950 से भारत के विदेशी व्यापार में मूल्य एव आकार दोनो ही दृष्टियो से वृद्धि हो रही है। इससे भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार के बढते महत्त्व का स्पष्ट बोध होता है। सन् 1950-51 के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार मे वृद्धि को निम्न तालिका मे दर्शाया गया है।

चुने हुए वर्षो मे भारत के विदेशी व्यापार का मूल्य

(करोड रु०)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार शेष
1950-51	650 21	600·64	—48·57
1955-56	678 48	596·32	—82.52
1960-61	1121 62	642·07	—479·55
1965-66	2218·40	1268 90	—649·50
1970-71	1934·20	1535·16	—99·04
1975-76	5265·20	4042·80	—1222·40
1976-77	5073·80	5143·20	—+59 40
1979-80	9021·75	6458·77	—3562·98
1980-81 (अनुमानित)	12434·58	6708·84	—5725·74

विदेशी व्यापार के मूल्य मे वृद्धि होने के प्रमुख कारण इस प्रकार है—

(अ) पचवर्षीय योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए अत्यधिक मात्रा में मशीनो तथा पूँजीगत माल के आयात की आवश्यकता है।

(ब) विभाजन के बाद कपास और जूट के आयात मे वृद्धि।

(स) खाद्यान्नो के आयात मे वृद्धि।

(द) आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि।

आयातो मे वृद्धि—पचवर्षीय योजना काल मे भारत के आयातो मे तीव्र गति से वृद्धि हुई क्योकि विकास कार्यो के लिए भारी मात्रा मे मशीनरी, परिवहन, उपकरण तथा खाद्यान्न आदि वस्तुओ का आयात करना पडा। सन् 1950-51 मे 650 21 करोड रुपये की वस्तुओ का आयात किया गया जो 1980-81 मे 12438 58 करोड रुपये हो गया। इस प्रकार 1980-81 की अवधि मे आयात लगभग बारह गुने से भी अधिक हो गया।

निर्यातो मे वृद्धि—योजनाकाल मे निर्यात सवर्द्धन हेतु सरकार ने अनेक प्रयास किए जिसके फलस्वरूप निर्यातो मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 मे 690·64 करोड रुपये की वस्तुओ का निर्यात किया गया जो बढकर 1980-81 मे 6708·84 करोड रुपये हो गया।

व्यापार सतुलन—उपर्युक्त सारणी के अको से यह भी स्पष्ट होता है कि 1976-77 को छोडकर भारत का व्यापार सतुलन सदैव प्रतिकूल रहा है। सन् 1950-51 मे व्यापार सतुलन मे घाटा 48·57 करोड रुपये था जो 1980-81 मे बढकर 5725 74 करोड रुपये हो गया। प्रतिकूल व्यापार सतुलन के प्रमुख कारण इस प्रकार है—

(i) देश विभाजन के फलस्वरूप जूट कपडा एव खाद्यान्नो का अधिक आयात करना पडा जिससे व्यापार सतुलन प्रतिकूल होता गया।

(ii) देश के आर्थिक विकास हेतु अनेक प्रकार की विकास सामग्री का आयात करना पडता है, जिससे व्यापार सतुलन प्रतिकूल रहने लगा।

(iii) चीन एव पाकिस्तान के युद्ध के कारण बडी मात्रा मे युद्ध सामग्री का आयात करना पडा है।

(iv) खाद्य समस्या के निवारण हेतु प्रति वर्ष बडी मात्रा मे खाद्यान्नो का आयात करना पडा जिससे व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता बढती रही।

(v) भारत के निर्यात विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण अधिक नही बढ पाए।

(vi) देश मे हडताल, तालाबन्दी, अकाल एव बाढ के कारण उत्पादन कम हो जाता है, फलस्वरूप अनेक वस्तुएँ विदेशो स आयात करनी पडती है।

(2) विदेशी व्यापार का स्वरूप या संरचना—विदेशी व्यापार की सरचना से आशय आयात-निर्यात की वस्तुओ से है।

भारत के प्रमुख निर्यात—स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने निर्यात मे वृद्धि करने के लिए हर सभव प्रयत्न किए है। भारत के प्रमुख निर्यात का हम निम्नलिखित दो शीर्षको के अतर्गत अध्ययन कर सकते हे, जैसा कि आगे चार्ट द्वारा दर्शाया गया है।

(अ) **परंपरागत निर्यात**—भारत से निर्यात की जाने वाली प्रमुख परम्परागत वस्तुएँ निम्नलिखित है—

1. **जूट की वस्तुएँ**—(1) **परिचय**—जूट भारत का परम्परागत निर्यात है। विदेशी निर्यातक वस्तुओ मे सबसे अधिक विदेशी मुद्रा चाय से मिलती है और इसके बाद जूट का ही स्थान आता है। (2) **निर्मित वस्तुएँ**—भारत विदेशो को जूट से बने टाट, बोरे, सुतली-रस्से, गलीचे, जूट का कपडा आदि निर्यात करता है। (3) **मुख्य ग्राहक**—भारत से जूट की वस्तुएँ अमेरिका, रूस, कनाडा, अर्जेंटाइना, इग्लैड, आस्ट्रेलिया, मिस्र, न्यूजीलैड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रास, जापान, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशो को भेजा जाता हे। (4) **निष्कर्ष**—जूट की वस्तुओ का स्थान डालर प्राप्त करने वाली वस्तुओ मे सबसे प्रमुख ह। भारत सरकार जूट की वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि करने के लिए बहुत प्रयत्नशील है।

2. **चाय**—(1) **परिचय**—हमारे देश के प्रमुख तीन निर्यातो मे चाय को प्रथम स्थान प्राप्त है। भारत एक गर्म देश है जिससे यहाँ के लोगो मे चाय पीने की आदत कम है। फलतः बहुत अधिक मात्रा मे चाय बच रहती है जिसे विदेशो को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है। कुल चाय उत्पादन का लगभग 75 प्रतिशत भाग निर्यात किया जाता है। (2) **प्रमुख ग्राहक**—भारत की चाय इग्लैड, अमेरिका, कनाडा, ईराक, रूस, पश्चिमी जर्मनी, सूडान, आस्ट्रेलिया आदि देशो को भेजी जाती है। भारत सम्पूर्ण विश्व के कुल चाय के निर्यात का 48 प्रतिशत भाग निर्यात करता है। (3) **निष्कर्ष**—चाय का स्थान डालर प्राप्त करने वाली वस्तुओ मे प्रमुख है। भारत

से काली चाय (Black Tea) निर्यात की जाती है। भारत सरकार चाय के उत्पादन एव व्यापार मे वृद्धि करने के लिए हर सभव प्रयास कर रही है।

3. **सूती वस्त्र** -(1) **परिचय**—भारत के प्रमुख निर्यातो मे सूती वस्त्र का प्रमुख स्थान है। भारतीय निर्यात व्यापार मे इसका तीसरा स्थान है। (2) **प्रमुख ग्राहक**—हमारे देश के सूती वस्त्र के प्रमुख ग्राहक इग्लैड, श्रीलका, आस्ट्रेलिया, मलाया, बर्मा आदि है। (3) **निष्कर्ष**—सूती वस्त्र का स्थान डालर प्राप्त करने वाली वस्तुओ मे प्रमुख है। यद्यपि भारत मे लम्बे व अच्छे किस्म के धागे की कमी है। भारत सरकार उत्तम किस्म के कपास को देश के अन्दर ही पैदा करने की व्यवस्था कर रही है। भारत इसके उत्पादन के लिए बहुत प्रयत्नशील है।

4. **काजू की गिरी**—(1) **परिचय**—यह देश के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने वाली प्रमुख वस्तुओ मे से एक है। भारतीय काजू गिरियो के निर्यात मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई है (2) **निर्यातक** देश—भारतीय काजू सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, सोवियत रूस, पूर्वी जर्मनी, जापान, आस्ट्रेलिया आदि देशो को निर्यात किया जाता है।

5. **खली**—(1) **परिचय**—तेल निकालने के बाद खली बचती है। आज देश की निर्यातक वस्तुओ मे खली का प्रमुख स्थान है। (2) **ग्राहक**—इसके प्रमुख ग्राहक देश इग्लैड, पूर्वी जर्मनी, पोलैड, चेकोस्लोवाकिया तथा जापान आदि है।

6. **मसाले**—(1) **परिचय**—भारत मे बहुत समय से ही मसालो का निर्यात विदेशो को किया जाता हैं। मसालो के निर्यात मे काली मिर्च, अदरक, हल्दी, लौग और बडी इलायची आदि का प्रमुख स्थान है। (2) **ग्राहक देश**—भारत से मसाला अमेरिका, स्वीडेन, ग्रेट ब्रिटेन, पाकिस्तान, अरब आदि देशो को भेजा जाता है।

7. **तबाकू निर्मित**—(1) **परिचय**—भारत के तम्बाकू काउत्पादन क्षेत्र मे सम्पूर्ण विश्व मे दूसरा स्थान है। सपूर्ण उत्पादन का 50 प्रतिशत तम्बाकू का निर्यात विदेशो को किया जाता है। (2) **ग्राहक देश**—भारत से तम्बाकू ब्रिटेन, रूस, जापान, स्वीडन, मलाया, अदन आदि देशो को निर्यात किया जाता है। भारत तम्बाकू का एक प्रधान निर्यातक देश है। इससे भी काफी मात्रा मे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। भारत तम्बाकू की किस्म मे सुधार लाने के लिए प्रयत्नशील है।

(ब) गैर-परम्परागत निर्यात—भारत के निर्यात की प्रमुख अपरस्परागत वस्तुएँ इस प्रकार है—

1. **शक्कर**—(1) **परिचय**—भारत से शक्कर का पर्याप्त मात्रा मे विदेशो को निर्यात किया जाता है। भारत मे गन्ने की पैदावार अधिक होने के कारण शक्कर का अधिकाधिक मात्रा मे उत्पादन किया जाता है। (2) **प्रमुख ग्राहक देश**—इग्लैड, नेपाल, जापान, कनाडा, मलाया, हागकाग आदि देश भारतीय शक्कर के प्रमुख ग्राहक है। (3) **निष्कर्ष**—भारत मे चीनी का निर्यात काफी प्रगति मे है। भारत सरकार गन्ने की किस्म सुधारने व गन्ने के मिलो की उत्पादक्ता बढाने के लिए अधिकाधिक प्रयत्नशील है।

2. **इजीनियरिंग वस्तुएं**—(1) **परिचय**—आज भारत मे अनेक प्रकार के औद्योगिक सयत्र और मशीने, भारी परिवहन उपकरण, पखे, मीटर, साइकिले बनाई जाती है और उन्हे विदेशो को निर्यात किया जाता है। भारत के निर्यात व्यापार मे इजीनियरिंग सामान महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता आ रहा है। (2) **प्रमुख ग्राहक** राष्ट्र- -भारत से इजीनियरी का सामान अफ्रीकी देशों, अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, आदि देशो को किया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—हमारे राष्ट्र का भविष्य इस क्षेत्र मे काफी आशावान है। भारत मे कच्चा माल पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त है और अच्छे इजीनियर व मैकेनिक भी अधिक सख्या मे उपलब्ध हैं। भारत सरकार इजीनियरिंग की वस्तुओ के अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन को प्रोत्साहित कर रही है।

3. **चमड़ा तथा चमड़े से निर्मित वस्तुएँ**—(1) **परिचय**—भारतीय निर्यात व्यापार मे चमडा तथा चमडा निर्मित वस्तुओ को दूसरा स्थान प्राप्त है। भारत के निर्यात व्यापार में करीब 8.9 प्रतिशत भाग चमडो की वस्तुओ का है। यहाँ से गाय, भैस व बकरी के चमडे का निर्यात होता है। (2) **ग्राहक देश**—इग्लैड, रूस, पश्चिमी जर्मनी, फ्रास, पाकिस्तान, सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान आदि देशो को इसका निर्यात किया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—चमडे तथा चमडे से बनी वस्तुओ के निर्यात का भविष्य भी उज्ज्वल है। भारत सरकार इस दिशा मे काफी सुधार लाने का प्रयत्न कर रही है।

4. **मछली तथा मछली से बनी वस्तुएँ**—(1) **परिचय**—भारत के निर्यात व्यापार मे मछली तथा इससे बनी वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती जा रही है। (2) **प्रमुख ग्राहक देश**—भारतीय मछली एव मछली से बनी वस्तुओ के मुख्य ग्राहक सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, लका और आस्ट्रेलिया है। (3) **निष्कर्ष**—भारत सरकार द्वारा मछली और मछली से बनी वस्तुओ के निर्यात को बढाने के लिए हर संभव प्रयास किए जा रहे है।

5. **मोती और हीरे**—भारत से विदशो को मोती-हीरे जैस मूल्यवान पत्थर भी भेजे जाते है। इनका निर्यात अमेरिका, रूस आदि मे किया जाता है।

6. **लोहा एव इस्पात**—(1) **परिचय**—भारत मे कच्चे लोहे का भडार विश्व में सर्वाधिक है। हमारे देश मे लोहा व इस्पात का निर्यात किया जाता है। (2) **ग्राहक** देश—भारत से कच्चा लोहा व इस्पात मुख्यतः ब्रिटेन और जापान को ही निर्यात किया जाता है।

7. रासायनिक पदार्थ—(1) **परिचय**—भारतीय निर्यात मे रसायन तथा रासायनिक पदार्थ **महत्त्वपूर्ण स्थान** लेते जा रहे है। (2) ग्राहक देश—भारत से रासायनिक का निर्यात मुख्यत. सोवियत रूस, चैकोस्लोवाकिया, अरब देश, पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका आदि मे होता है। (3) **निष्कर्ष**—सरकार द्वारा भारतीय रसायन के निर्यात को बढाने के प्रयत्न किए जा रहे है।

भारत के प्रमुख आयात—भारत की आयातित वस्तुओ मे से प्रमुख वस्तुएँ निम्नलिखित है—

1 **खाद्यान्न**—(1) **परिचय**—भारत एक कृषिप्रधान देश है, लेकिन इसके बाद भी जनसख्या-वृद्धि एव प्राकृतिक बाधाओ के कारण भारत को भारी मात्रा मे खाद्यान्नो का आयात करना पडता है। भारत के आयात मे आज खाद्यान्नो का प्रमुख स्थान है। खाद्यान्नो मे गेहूँ व चावल को ही अधिक मात्रा मे आयात किया जाता है तथा कुछ मात्रा मे मक्का का आयात होता है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत मे गेहूँ व चावल का आयात मुख्यत' अमेरिका से पी० एल० 480 के अतर्गत किया जाता है। इसके अलावा कनाडा और आस्ट्रेलिया से भी गेहूँ मँगाया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—भारत सरकार खाद्यान्नो के क्षेत्र मे आत्म-निर्भर होने का प्रयास कर रही है। देश को केवल सकटकाल मे ही खाद्यान्नो का आयात करने को बाध्य होना पडता है। इस प्रकार भविष्य मे खाद्यान्न पदार्थों का आयात बहुत कम हो जाएगा।

2. **मशीनरी**—(1) **परिचय**—स्वतत्रता के बाद देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सरकार ने देश मे अनेक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की, जिन्हे पूरा करने हेतु देश को काफी मात्रा मे मशीनो का आयात करना पडता है। भारत के आयात मे मशीनो का प्रथम स्थान है। भारत मे विभिन्न प्रकार की औद्योगिक मशीने, कृषि सबधी मशीने, परिवहन उपकरण, सामान्य मशीने, बिजली सबधी ओजार व मशीने आदि का आयात किया जाता है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत मशीनो का आयात अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, जापान, रूस तथा फ्रास से करता है। (3) **निष्कर्ष**—देश के द्रुत आर्थिक विकास के साथ-साथ मशीन पर खर्च होने वाली राशि निरतर बढती जा रही है। इसके आयात को कम करने के लिए सरकार हर सभव प्रयास कर रही है। अब देश मे विभिन्न प्रकार की मशीने तैयार करने वाले कारखाने स्थापित हो गए है। अत. आशा है कि भविष्य मे मशीनो के आयात पर होने वाला व्यय कम होगा तथा इसके निर्यात से लाभ होगा।

3. **खनिज तेल**—(1) **परिचय**—हमारे देश मे खनिज तेल अत्यन्त सीमित मात्रा मे पाया जाता है, इसलिए हमे तेल के लिए विदेशो पर आश्रित रहना पडता है। तीव्र औद्योगीकरण के कारण भारत मे खनिज तेल की माँग मे वृद्धि हो रही है। अतः भारत के आयातो मे खनिज तेल का मुख्य स्थान है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत मे खनिज तेल का, जो बिना साफ किया होता है, बडी मात्रा मे ईरान, बर्मा, कुवैत, रूस व अमेरिका से आयात किया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—पिछले कुछ वर्षों से तेल की कीमत मे काफी वृद्धि हुई जिससे भारत की विदेशी विनिमय की स्थिति बिगड गई है। देश मे सरकार ने खनिज तेल के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए व्यापक कार्यक्रम प्रारम्भ किया है, जिससे इसका उत्पादन बढने लगा है।

4. **लोहा एवं इस्पात**—(1) **परिचय**—यद्यपि भारत मे लगभग 6 मिलियन टन लोहे व इस्पात का उत्पादन किया जाता है लेकिन औद्योगीकरण के कारण देश की

आवश्यकता को देखते हुए इसकी मात्रा कम है। अत लोहे व इस्पात की मॉग उत्पादन से अधिक होने के कारण विदेशो से इसका आयात किया जाता है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत लोहे व इस्पात का आयात ब्रिटेन, अमेरिका तथा पश्चिमी जर्मनी से करता है। (3) **निष्कर्ष**—सरकार पचवर्षीय योजना के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रो मे लोहे व इस्पात के कारखाने स्थापित कर रही है ताकि इसका आयात कम से कम करना पडे। आशा है कि निकट भविष्य मे देश इस क्षेत्र मे आत्मनिर्भर हो जायेगा।

5. **कपास—(1) परिचय**—भारत म कपास अधिकाधिक मात्रा मे पेदा की जाती है, लेकिन अच्छे किस्म की लम्बे रेशे वाली कपास बहुत कम होती है। अतः सूती वस्त्र उद्योग को विकसित करने के लिए कपास का आयात करना होता ह। (2) **निर्यात करने वाले देश**—देश मे बढिया किस्म की रुई की गाठी का आयात पाकिस्तान सूडान, मिस्र, व अमेरिका स किया जाता ह। (3) **निष्कर्ष**—भारत सरकार अपने यहाँ भी अच्छे किस्म की कपास उत्पन्न करने का प्रयास कर रही ह। आशा ह कि भविष्य मे देश को कपास की आयात की आवश्यकता नही महसूस होगी।

6. **रासायनिक पदार्थ**—(1) **परिचय**—भारत की अपनी औद्योगिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु काफी मात्रा मे रासायनिक पदार्थो का आयात करना पडता है। भारत मे रासायनिक पदार्थों के आयात मे क्रमश वृद्धि होती जा रही है। (2) **पदार्थ**—आयात किए जाने वाले प्रमुख रासायनिक पदार्थ है—रासायनिक तत्त्व ओर यौगिक, रगने के पदार्थ, औषधि एव भेषजीय पदार्थ, उर्वरक तथा अन्य रासायनिक पदार्थ। (3) **निर्यात करने वाले देश**—भारत रासायनिक पदार्थो का आयात मुख्यतः सयुक्त राज्य अमेरिका, सोवित रूस, कनाडा, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया, ईरान, मैक्सिको, फ्रास, सयुक्त अरब गणराज्य, पोलैण्ड, बल्गारिया आदि देशो से करता है।

7. **खनिज तेल और खनिज तेल पदार्थ—(1) पदार्थ**—औद्योगिक विकास के साथ-साथ भारत मे खनिज तेल और खनिज तेल पदार्थों की माग मे वृद्धि हो रही है। भारत मे खनिज का भडार तथा उत्पादन बहुत ही कम है। अत भारत को अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु काफी मात्रा मे खनिज तेल और खनिज तेल पदार्थों का आयात करना पडता है। (2) **प्रमुख निर्यातक देश**—भारत, कुवैत, ब्रह्मा, ईरान, बोर्नियो, इराक, रूस तथा अमेरिका आदि देशो से भारी मात्रा मे तेल का आयात करता है।

अन्य आयात—हमारे देश मे उपर्युक्त आयातित वस्तुओं के अतिरिक्त घडियाँ, शृङ्गार का सामान, कागज, बिजली का सामान, सूती, ऊनी व रेशमी वस्तु, प्रलौह वस्तुएँ, रेलवे इजनो आदि का भी आयात किया जाता है।

1979-80 मे हमारे प्रमुख आयात-निर्यात के मूल्य नीचे सारणी मे दर्शाया जा रहा है—

प्रमुख आयात		प्रमुख निर्यात	
मद	राशि करोड रु० मे	मद	राशि करोड रु०
		(अ) परम्परागत निर्यात	
1. खाद्यान्न	106	1. जूट की वस्तुएँ	341
2. मशीनरी	1350	2 चाय	355
3. खनिज तेल	3032	3 सूती वस्त्र	284
4. लोहा एव इस्पात	802	4. काजू की गिरी	110
5. कपास	0·1	5. खली	115
6 रासायनिक पदार्थ	312	6. तम्बाकू निर्मित	113
		(ब) गैर परम्परागत निर्यात	
		7. शक्कर	145
		8. इजीनियरिंग वस्तुएँ	629
		9. कच्चा लोहा	289
		10. चमडा व इससे निर्मित वस्तुएँ	556
		11. मछली व इससे बनी वस्तुएँ	249
		12. मोती व हीरे	481
		13. लोहा एव इस्पात	100
		14. रासायनिक	200
		15. चॉदी	200

(13) भारत के विदेशी व्यापार की दिशा—विदेशी व्यापार की दिशा से आशय है कि एक राष्ट्र किन-किन देशो से व्यापार सम्बन्ध रखता है। विभिन्न देशो के साथ भारत के व्यापार की दिशा मे स्वतत्रता के पश्चात उल्लेखनीय परिवर्तन आया है।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

देश	आयात की दिशा			निर्यात की दिशा		
	1950-51	1979-80	1980-81	1950-51	1979-80	1980-81
1. इग्लैण्ड	135	708·81	825·43	140	516·05	427·76
2. स.रा.अमेरिका	119	925·07	1510·88	116	816·99	851·23
3. सोवियत सघ	·2	824·33	955·25	1	638·23	1157·30
4. जापान	10	609·40	643·28	10	646·26	611·57
5. प० जर्मनी	—	644·55	758·45	—	380·10	355·80
6. फ्रान्स	11	207·75	267·50	9	197·32	155·14
7. ईरान	37	620·69	1348·95	—	97 11	121·97
योग (अन्य सहित)	650	9021·75	12434·58	601	6458·77	6708·84

उपर्युक्त सारणी के अकों से निम्नलिखित तथ्य सामने आते है—

(1) **इग्लैंण्ड**—इग्लैण्ड एव भारत के बीच स्वतत्रता के पश्चात व्यापार धीरे-धीरे कम हो रहा है। सन् 1950-51 मे इग्लैण्ड से भारत आयातो का कुल 20·8 प्रतिशत माल आयात करता था जो सन् 1980-81 मे घटकर 6·6 प्रतिशत ही रह गया। इसो प्रकार सन् 1950-51 मे भारत से इग्लैण्ड को 23·3 प्रतिशत निर्यात होता था जो सन् 1980-81 मे घटकर 6·4 प्रतिशत रह गया।

(2) **सयुक्त राज्य अमरीका**—अमरीका से भारत का व्यापार निरतर घट रहा है। सन् 1950-51 मे भारत अमेरिका म कुल आयातो का 18·3 प्रतिशत माल आयात करता था जो सन् 1980-81 मे घटकर 12·1 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार 1950-51 मे भारत से अमेरिका को 19·3 प्रतिशन निर्यात होते थे जो सन् 1980-81 मे घटकर 12·7 प्रतिशत हो गए।

(3) **सोवियत संघ**—साम्यवादी देशो मे भारत का सर्वाधिक व्यापार सोवियत सघ से होता है। भारत और रूस के बीच आर्थिक सहयोग होने से दोनो देशो मे व्यापार तीव्र गति से बढ रहा है। सन् 1950-51 मे रूस से कुल आयातो का केवल 0·03 प्रतिशत माल आयात होता था जो सन् 1980-81 से बढकर 7·7 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि मे भारत से रूस को निर्यात 0·17% से बढकर 17·3% हो गया।

(4) **जापान**—भारत एव जापान के बीच व्यापार निरन्तर बढ रहा है। सन् 1950-51 मे जापान से भारत कुल आयातो का 1·5% माल आयात करता था जो सन् 1980-81 मे बढकर 5·2% हो गया इसी अवधि मे भारत से जापान को निर्यात 1·7% से बढकर 9·1 प्रतिशत हो गए।

(5) **पश्चिम जर्मनी**—यूरोपीय साझा बाजार के देशो मे प० जर्मनी का भारत के विदेशी व्यापार मे महत्वपूर्ण स्थान है। यूरोपीय साझा बाजार के देशो मे से भारत का सबसे अधिक व्यापार इगलैण्ड के पश्चात जर्मनी के साथ ही होता है। सन् 1950-51 मे भारत प० जर्मनी से कुल आयातो का 3·0% माल आयात करता था जो बढ कर सन् 1980-81 मे 6·1% हो गया। इसी प्रकार सन् 1950-51 मे भारत से प० जर्मनी को 1·3% भाग निर्यात होता था जो बढकर सन् 1980-81 मे 5·4% हो गए।

(6) **फ्रान्स**—फ्रास से मुख्यत· मशीनरी, विद्युत मशीनरी, व उपकरण यातायात के उपकरण, रासायनिक खाद व रसायन आदि का आयात किया जाता है। सन् 1980-81 मे भारतीय आयात व्यापार का 2·1 प्रतिशत और निर्यात व्यापार का 2·4% फ्रास के साथ होता है। जबकि सन् 1950-51 में आयात व निर्यात क्रमश· 11 व 9 करोड रुपये थे।

(7) **ईरान**—ईरान के साथ भी भारत का व्यापार निरन्तर बढता जा रहा है। सन् 1950-51 की अपेक्षा आज बहुत अधिक व्यापार होता है। सन् 1980-81 मे भारत ने ईरान मे 10·8% का आयात किया जबकि सन् 1980-81 मे ही 1·8% वस्तुओ का निर्यात किया गया।

(8) **अन्य**—भारत के व्यापारिक सम्बन्ध विश्व के प्राय सभी देशो से है। उपरोक्त देशो के अतिरिक्त भारत के व्यापारिक सम्बन्ध मुख्यतः अरब गणराज्य, कागो, यूगाण्डा, ईराक, जोर्डन, सउदी अरब, कुवैत, अफगानिस्तान, हागकाग, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया, सिंगापुर, मलेशिया, ब्राजील तथा अर्जेण्टाइना आदि देशो से भी है।

विदेशी व्यापार मे सरकार का बढता हुआ योगदान
(Increasing Government Participation in Foreign Trade)

विगत वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि विदेशी व्यापार मे सरकार का हस्तक्षेप बढता जा रहा है। यद्यपि सरकार पहले से ही आयातो पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर व निर्यात प्रोत्साहन के अनेक उपायो को कार्य रूप देकर भारत के विदेशी व्यापार मे हस्तक्षेप करती रही है परन्तु सरकार का व्यापार मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना तथा अपने व्यापारिक कार्यक्षेत्र मे उत्तरोत्तर वृद्धि करने की प्रवृत्ति पिछले कुछ वर्षो से विशेष रूप से देखी जाती है।

प्रत्यक्ष रूप से विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे सरकार का आगमन 1956 मे भारतीय राज्य व्यापार निगम को स्थापना से शुरू हुआ। फिर इस निगम को विभाजित करके खनिज एव धातु व्यापार निगम की स्थापना 1963 मे की गई जो कि खनिज एव धातुओ के व्यापार मे सलग्न है। व्यापार-क्षेत्र मे सलग्न जिन प्रमुख सार्वजनिक निगमो की स्थापना की जा चुकी है, उनके नाम नीचे तालिका मे दर्शाये गये है- -

उपक्रम का नाम	स्थापना का वर्ष
1. भारतीय राज्य व्यापार निगम	1956
2 हस्तकला व हथकरघा निर्यात निगम	1958
3. खनिज एव धातु व्यापार निगम	1963
4. भारतीय चलचित्र निर्यात निगम	1963
5. भारतीय खाद्य निगम	1965
6. केन्द्रीय मत्स्य निगम	1965
7. भारत का काजू निगम	1970
8. भारतीय कपास निगम	1970
9. भारतीय दुग्ध निगम	1970
10. भारतीय जूट निगम	1971
11. परियोजना और उपकरण निगम	1971
12. भारतीय चाय व्यापार निगम	1971
13. धातु अवशिष्ट व्यापार निगम	1972

इस प्रकार भारत सरकार ने सार्वजनिक उपक्रमो के माध्यम से विदेशी व्यापार मे अधिकाधिक सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया है। इस समय देश मे जो कुछ भी आयात किया जाता है उसका अधिकांश भाग सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो अथवा सीधे

सरकार द्वारा ही किया जाता है। राज्य व्यापार निगम ने, थोक माल खरीदने की सुविधाओ की तथा वास्तविक उपभोक्ताओ एव पजीकृत निर्यातको के लिए माल उपलब्ध कराने की सुनिश्चित व्यवस्था करने के उद्देश्य से, आयातो को सारिणीबद्ध करने के साथ-साथ औद्योगिक कच्चा माल सहायता केन्द्र के माध्यम से अपने कार्यकलापो का और अधिक विस्तार किया गया है।

राजकीय व्यापार निगम
(State Trading Corporation)

राजकीय व्यापार निगम की स्थापना एकमात्र राज्य द्वारा शासित सस्था के रूप मे मई 1956 मे 1 करोड रुपये की प्रदत्त पूँजी से की गई। बाद मे इसकी प्रदत्त पूँजी बढकर 2 करोड रुपये को हो गई है।

उद्देश्य—इस निगम के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित प्रकार है—

(1) भारत मे विदेशी व्यापार के ढाँचे मे पाई जाने वाली त्रुटियो को दूर करके व्यापार में वृद्धि करना।

(2) वर्तमान मण्डियो को ज्यादा निर्यात करने और कुछ वस्तुओ का दीर्घावधि के लिए बडी मात्रा मे निर्यात करने की चेष्टा करना।

(3) उचित मूल्य पर जरूरी वस्तुओ का आयात करना।

(4) केन्द्रीय सरकार के निर्देशो पर मूल्य स्थिर रखने तथा कुछ वस्तुओ का बफर-स्टाक बनाने का भी काम करना।

(5) आयातो तथा निर्यातो के अतिरिक्त यह निगम ऐसे घरेलू व्यापार की भी देखभाल करता है जिससे विदेशी व्यापार मे वृद्धि हो।

सक्षेप मे, निगम का मुख्य उद्देश्य निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करके देश के विदेशी व्यापार को अधिक सतुलित बनाना है। निगम निजी व्यापारियो के घनिष्ठ सहयोग से काम करता है और उन्हे वित्तीय तथा सगठनात्मक सहायता देता है।

निगम द्वारा किए गए कार्य

यह निगम भारतीय व्यापार को बहुमुखी बनाने तथा भारत की परम्परागत तथा अपरम्परागत निर्यात वस्तुओ के लिये नए-नए बाजार खोजने के लिए प्रयत्नशील है। मार्च 1980 तक राजकीय व्यापार निगम द्वारा जो कार्य किए गए है उनकी प्रमुख बाते निम्नलिखित है—

(1) **पूर्वी यूरोपीय देशो के साथ व्यापार**—निगम की स्थापना के समय से ही निगम का यह उद्देश्य रहा है कि पूर्वी योरोपीय समाजवादी देशो के साथ देश के व्यापार का विकास हो। ये देश बल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, जर्मन जनतन्त्र गणराज्य, हगरी, पोलैण्ड, रूमानिया, रूस और यूगोस्लाविया हैं। निगम ने इन बाजारो मे न केवल परम्परागत वस्तुओ का ही निर्यात बढाया है बल्कि कई नई मदें भी प्रचलित की हैं।

(ii) **निगम के कुल व्यापार मे वृद्धि**—1956-57 मे राज्य व्यापार निगम ने केवल 5.8 करोड रुपए के निर्यात और 3.4 करोड रुपए के आयात किए जो बढ कर 1979-80 मे क्रमशः 636 करोड और 375 करोड रुपए के हो गये।

(iii) **निर्यात व्यापार**—निगम के निर्यात कार्यक्रमो को निम्न पाँच वर्गों मे बाँटा जा सकता है—(अ) रेल के उपकरण (ब) इजीनियरी के सामान (स) रसायन व औषधियाँ (द) उपभोक्ता की वस्तुएँ, जैसे चमडे के जूते, विग, ऊन की बुनी पोशाके व कपडे (य) मछलियाँ, ताजे केले, फलो का रस, बढिया किस्म के चावल व दाल। निगम के सुप्रयत्नो का ही परिणाम है कि कई देशो मे रेलवे रोलिंग स्टाक निर्यात के लिए अनुबन्ध हुए है तथा इनकी पूर्ति के लिए समुचित व्यवस्थाएँ की जा सकी है। निगम ने विदेशी व्यक्तिगत फर्मों की सुविधा के लिये असेम्बली केन्द्र खोले है। जूते के निर्यात को रूस और पूर्वी यूरोप के देशो के बाद अब पश्चिमी यूरोप, अमेरिका और कनाडा मे भी बढाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। आमो के निर्यात को बढाने के लिए इनकी पैकिंग टेकनीक मे सुधार किया जा रहा है। मद्रास की विग फैक्ट्री ने भी कार्य चालू कर दिया है। इस प्रकार निगम निर्यात बढाने के लिए काफी प्रयत्नशील हैं। राज्य व्यापार निगम के इजीनियरी और रेलो के उपकरण का काम अप्रैल 1971 मे इसके सहायक निगम परियोजना और उपकरण निगम ने अपने हाथ मे ले लिया है।

(iv) **निगम द्वारा आयात**—निगम विदेशो से कुछ प्रकार के पूंजीगत सामान, औद्योगिक कच्चा माल और कुछ दुर्लभ वस्तुएँ भी मँगाता है जो देश की अर्थव्यवस्था और औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है। निगम द्वारा आयात किए जाने वाले पदार्थों में उर्वरक, रुई, इस्पात व औद्योगिक कच्चा माल, कच्चा रेशम, फिल्मे, सोयाबीन का तेल, गन्धक ट्रैक्टर, मुद्रण सामग्री प्रमुख है। सीमेंट के वितरण का कार्य भी निगम के जिम्मे रहा है। यह बहुत ही सराहनीय बात है कि अल्पकालीन सूचना पर भी निगम कठिन विश्व-बाजार परिस्थितियो के बावजूद पूंजीगत सामान, कच्चे मालो एव दुर्लभ सामग्रियो की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो पर व्यवस्था करने में समर्थ हुआ है।

(v) **सम्पर्क, अदल-बदल एवं समानान्तर व्यवहार**—निगम विदेशो मे अच्छी ख्याति वाली फर्मों के साथ सम्पर्क, अदल-बदल तथा समानान्तर व्यवहार भी करता है जिससे निर्यात मे वृद्धि हो। इस तरीके से सीमित विदेशी मुद्रा प्रसाधनो पर भार डाले बिना ही देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वस्तुओ के आयात की व्यवस्था हो गई है।

(vi) **मूल्यों मे स्थायित्व लाने का प्रयास**—निगम ने समय-समय पर मूल्य स्थायित्व एव बफर-स्टॉक सम्बन्धी कार्यकलाप भी हाथ मे ले लिए है। ये कार्यकलाप कच्चा जूट, लाख, तम्बाकू, छोटे रेशे वाली कपास आदि के सम्बन्ध मे थे और उनमे निगम को यथेष्ट सफलता भी मिली है।

(vii) **निगम के दो सहायक संगठन भी है**—वर्तमान समय मे इनके चार सहायक निगम है—भारतीय हस्तकला व हथकरघा निर्यात, निगम, दिल्ली (स्थापित अक्टूबर, 1962), भारतीय चलचित्र निर्यात निगम बम्बई (अप्रैल, 1976), भारतीय

काजू निगम, एर्नाकुलम (अगस्त, 1970), एवं भारतीय परियोजना व उपकरण निगम, दिल्ली (अप्रैल, 1971)। अपनी निर्यात सम्वर्द्धन सम्बन्धी क्रियाओं में तेजी लाने के उद्देश्य से ये बने हैं।

(viii) **लघु एवं मध्यम उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा**—लघु और मध्यम उद्योगों के माल का निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से राज्य व्यापार निगम ने उद्योगों को एक पृथक राज्य विपणन प्रभाग के माध्यम से सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की है। यह प्रभाव अब लघु उद्योगों की कई समस्याओं को विशेष रूप से निर्यात सम्बन्धी समस्याओं को अपने हाथ में लेने लगा है तथा वित्त, किस्म नियन्त्रण, कच्चे माल और बिक्री सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में उनकी सहायता कर रहा है। यह प्रभाग राज्य और केन्द्रीय स्तर पर लघु उद्योग विकास निगमों से सम्पर्क स्थापित करता है।

(ix) **विदेशों में कार्यालय**—निगम ने काहिरा, तेहरान, नैरोबी, प्राग, मास्को, मांट्रियल, राटर्डम, बुडापेस्ट, बैंकाक, बेरूत, पूर्वी बर्लिन, लाओस और श्रीलंका इत्यादि में अपने दफ्तरों का जाल बिछा रखा है ताकि दुनिया के व्यापार की बदलती हुई प्रवृत्तियों से अवगत हो सके।

राजकीय व्यापार निगम का आलोचनात्मक मूल्यांकन

राजकीय व्यापार निगम के कार्यकलापों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि निगम के प्रयासों के फलस्वरूप भारत का विदेशी व्यापार बहुमुखी हुआ है और उसके स्वरूप तथा आकार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसने आवश्यक कच्चे माल को प्राप्त करने और इसके न्यायोचित वितरण में काफी योगदान दिया है। निर्यात करने वालों को आयात करने में प्राथमिकता देकर व्यापारिक आधार को सुदृढ़ किया है। इन सफलताओं के साथ ही साथ निगम की निम्नलिखित दुर्बलताएँ भी सामने आई हैं—

(1) निगम की स्थापना निर्यात बढ़ाने एवं नवीन बाजारों की खोज करने के लिए की गई थी परन्तु निगम ने व्यापारिक दृष्टिकोण का पालन नहीं किया।

(2) निगम उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के अनुसार समय पर न्यायोचित मूल्यों पर और वांछित किस्म का माल आयात करने में असफल रहा है।

(3) निगम ने कई वस्तुओं का निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय मूल्यों से कम दरों पर करके विदेशी मुद्रा अर्जन करने में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की है।

(4) यह संस्था एकाधिकार के दोषों से परिपूर्ण है।

(5) इसने निजी निर्यातकों के कोटों में सदा कटौती की प्रणाली अपनाकर देश के निर्यात व्यापार की उपेक्षा की है।

(6) निगम के क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या न होने से वह लाभकर व्यापार को अपने हाथों में ले लेता है जिससे निजी व्यापारी क्षेत्र में हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है और

(7) उसने विश्व बाजार की पूर्ण जानकारी के अभाव मे ऊँचे मूल्यो पर वस्तुओ का आयात किया है और इस प्रकार देश की उत्पादन लागते बढ गई है।

(8) निगम बाजार को दिशाओ से भिन्न मूल्य नीति का पालन करता है तथा उपभोक्ताओ के हितो की सुरक्षा तथा उत्पादको की तकनीकी समस्याओ पर ध्यान नही दिया जाता।

(9) सरकार का निगम के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार रहता है जिससे निगम प्रगति के कार्य करने मे सफल नही हो पाता।

निर्यात सवर्धन के लिए सरकारी प्रयास

निर्यात सम्वर्धन के लिए सरकार द्वारा जो प्रयास किए गए है वे इस प्रकार है—

(अ) जाँच समितियो की नियुक्ति।

(ब) निर्यात प्रोत्साहन सगठन।

(स) निर्यात प्रोत्साहन एव सहायता योजनाएँ।

(द) निर्यात सवर्द्धन के अन्य कार्य।

(अ) जाँच समितियो की नियुक्ति

निर्यात वृद्धि हेतु निम्न प्रयास किए गए—

(1) **गोरवाला समिति** 1949—सन् 1949 मे श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता मे एक निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की गई।

(2) **निर्यात प्रोत्साहन समिति**—फरवरी 1957 मे डॉ० बी० एल० डिसूजा की अध्यक्षता मे निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की गई। समिति ने अपनी सिफारिश नवम्बर 1957 मे पैश की।

(3) **मुदालियर समिति**—सन् 1961 मे श्री ए० रामस्वामी मुदारिया की अध्यक्षता मे एक आयात-निर्यात नीति की स्थापना की गई।

समिति की राय मे अनिवार्य निर्यात आवश्यक है। इसके अतिरिक्त समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय मेलो मे भाग लेने, विदेशी यात्रियो की सख्या मे वृद्धि करने, वस्तु विनिमय व्यापार, राजकीय व्यापार, किस्म नियन्त्रण तथा निर्यात जोखिम आदि के बारे मे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। सरकार ने इनमे से कुछ सुझावो को कार्यान्वित भी किया है।

(ब) निर्यात प्रोत्साहन सगठन

(1) **व्यापार मडल**—1968 मे इस बोर्ड की स्थापना की गई। इसका कार्य व्यापार तथा वाणिज्य के सभी पहलुओ पर विचार करना तथा इसके सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देना है।

(2) **निर्यात सम्वर्धन निदेशालय**—इसकी स्थापना अगस्त 1957 मे की गयी। इसका मुख्य कार्य निर्यातको को आवश्यक सहायता तथा सूचनाएँ देना तथा व्यापार मडल के आदेशो व सुझावो को लागू करना है। निदेशालय ने चार क्षेत्रीय कार्यालय—दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास मे स्थापित किए है।

(3) **निर्यात सम्वर्द्धन सलाहकार परिषद**—यह परिषद् केन्द्रीय स्तर पर स्थापित की गई है। इसमे व्यापार के प्रतिनिधि होते है। समिति सरकार की निर्यात नीति की समीक्षा करती है तथा सरकार को इस विषय मे सलाह देती है।

(4) **क्षेत्रीय निर्यात सम्वर्द्धन सलाहकार समितियाँ**—देश के प्रत्येक हिस्सो से निर्यात की सम्भावनाओ तथा समस्याओ पर ये समितियाँ विचार करती है। अपने क्षेत्र की निर्यात विषयक ममस्याओ पर ये अपना ध्यान आकर्षित करती है। इस समय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अर्नाकुलम वन्दरगाहो पर ये समितियाँ कार्य कर रही हैं।

(5) **निर्यात सम्वर्द्धन परिषद**—निर्यात की मुख्य वस्तुओ के निर्यात वृद्धि हेतु इस परिषद की स्थापना की गई, जिसका मुख्य कार्य मडियो के बारे में ज्ञान बढाना, माल को मडी मे खपाने के तरीके मे सुधार लाना आदि हे।

(6) **वस्तु मंडल**—वस्तु मडल एक वैज्ञानिक सस्था है, जो अपने कार्य क्षेत्र की विशिष्ट वस्तु के उत्पादन, विकास तथा निर्यात के लिए कार्य करते हैं।

(7) **निर्यात साख तथा गारण्टी निगम**—इस निगम द्वारा राजनीतिक व व्यापारिक जोखिमो का बीमा किया जाता है तथा बैको को निर्यात बिलो पर पुर्नवित्त के रूप मे साख प्रदान किया जाता है।

(8) **राज्य व्यापार निगम**—इस निगम की पृथक से व्याख्या की गई है।

(9) **खनिज व धातु व्यापार निगम**—यह निगम सन् 1963 मे स्थापित किया गया था और वर्तमान मे यह निगम खनिजो के निर्यात विस्तार के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार गृह के रूप मे कार्य कर रहा है। सन् 1974-75 मे इसके माध्यम से 737 करोड रु० का व्यापार किया गया था।

(10) **निर्यात निरीक्षण परिषद**—भारतीय निर्यात निरीक्षक परिषद् की स्थापना निर्यात अधिनियम 1966 के अन्तर्गत की गई। इसमे व्यापार व उद्योगो के प्रतिनिधि तथा तकनीकी विशेषज्ञ है। परिषद् को सरकार के द्वारा अनुदान, ऋण आदि के रूप मे आर्थिक सहायता मिलती हैं।

(11) **व्यापार विकास अधिकरण**—सन् 1971 से व्यापार विकास अधिकरण की स्थापना विदेशी व्यापार मत्रालय के अधीन की गई है। अधिकरण का प्रमुख उद्देश्य निर्यातकर्ताओ और सरकार को विस्तृत प्रबन्ध सेवाएँ उपलब्ध करना है। व्यापार विकास अधिकरण द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रबन्ध-सेवाओ को हम पाँच मुख्य भागो मे विभक्त कर सकते है—(अ) नये बाजार, उत्पाद तथा निर्यातकर्ता के लिये उपलब्ध की जाने वाली सेवाएँ, (ब) निर्यात-वृद्धि के लिए उपलब्ध की जाने वाली सेवाएं, (स) निर्यातकर्ताओ को प्राप्त वर्तमान सुविधाओ व सेवाओ मे तेजी लाना, (द) निर्यात

सम्बन्धी सेवाओ तथा सहायता मे समन्वय स्थापित करना, (य) निर्यातको को प्राप्त निर्यात सुविधाओ व सेवाओ मे उत्तरोत्तर सुधार करना । इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये प्रारम्भिक अवस्था मे तो अधिकरण अपनी क्रियाएँ सीमित ही रखेगा, किन्तु बाद मे धीरे-धीरे अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करता जाएगा ।

(12) **भारतीय निर्यात संगठनों का फैडरेशन**—इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली है । यह निर्यात सगठनो को शीर्षस्थ सस्था के रूप मे कार्य करता है । इसका कार्य विभिन्न सगठनो और सस्थाओ को निर्यात सम्वर्द्धन क्रियाओ मे समन्वय स्थापित कर उसे गति प्रदान करना है ।

(13) **निर्यात गृह**—निर्यात व्यापार मे विशिष्टीकरण प्राप्त के लिए प्रमुख व्यावसायिक फर्मों को निर्यात सदनो के रूप मे मान्यता देने के बारे मे सरकार ने एक योजना तैयार की है । इन निर्यात गृहो को निर्यात व्यापार के सम्बन्ध मे विशेष सुविधाएँ दी जाती है । अब तक मान्यता प्राप्त गृहो की सख्या 224 हो चुकी है ।

(14) **भारतीय पैकेजिंग सस्थान**—इसकी स्थापना मई 1966 मे हुई थी । पैकेजिग के बारे मे यह पाठ्यक्रम और गोष्ठियाँ आयोजित करता है ।

(15) **भारतीय विदेशी व्यापार सस्था**—यह एक स्वशासी सस्था के रूप मे समिति रजिस्ट्रेशन अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किया गया है । इस सस्था का कार्य विदेशी व्यापार से सम्बन्धिन प्रशिक्षण, गवेपणा तथा बाजार का अध्ययन करना हे ।

(16) **भारतीय व्यापार मेला तथा प्रदर्शनी परिषद**—यह परिषद एक स्थायी है जो कि बम्बई मे स्थित है । इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य निर्यात सवर्द्धन हेतु विदेशो में आयोजित ओद्योगिक तथा व्यापारिक मेलो एवं प्रदर्शनियो भाग लेना तथा प्रचार-प्रसार कार्य करना है ।

(स) निर्यात प्रोत्साहन तथा सहायता योजनाएँ

विभिन्न योजनाओ का विवरण इस प्रकार है—

(1) **कच्चे माल व पुर्जों का आयात**—निर्यातित माल का एक निर्धारित प्रतिशत मूल्य उन कच्चे पदार्थो तथा पुर्जों के आयात हेतु उपयोग की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता निर्यात वस्तुओ के उत्पादन मे पडती है ।

(2) **अग्रिम लाइसेंस**—कुछ उद्योगो मे अग्रिम लाइसेस देने की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार निर्यातको द्वारा निर्यात हेतु बनने वाले सामान का कच्चा माल मँगाया जा सके ।

(3) **मशीनों का आयात**—कृषि, खनिज, निर्माण उद्योगो व बागान को उनके कुल निर्यातो के 10 प्रतिशत तक आवश्यक मशीन व पुर्जे आयात करने की अनुमति दी जाती है ।

(4) **आयातित माल का विक्रय**—निर्यात सवर्द्धन योजना मे जो माल आयात किया जाता है वह मुख्य रूप में निर्यातक को अपने कारखाने मे ही काम मे लाना

चाहिए। लेकिन विशेष दशाओ मे वह माल उमी क्षेत्र मे अन्य निर्यातक को बेचा जा सकता है।

(5) **देशी माल की सुविधा**—निर्यात वृद्धि हेतु योजना मे कुछ देशी कच्चे पदार्थों को रियायती कीमत मे दिया जाता है माथ ही इनके वितरण मे प्राथमिकता दी जाती है।

(6) **ऋण सुविधाएँ**—निर्यातो के प्रोत्साहन हेतु तरह-तरह की ऋण सुविधाएँ दी गई है।

(7) **कर सम्बन्धी रियायतें**—परम्परागत वस्तुएँ जैसे—चाय, पटसन आदि के निर्यात पर समय-समय पर कमी की जाती रही हे। 1976 मे ही पटसन के वस्तु पर निर्यात पर शुल्क सर्वथा हटा दिया गया है।

(8) **निर्यात हेतु परिवहन तथा भाड़े की रियातते**—वृद्धि हतु अनेक उपायो मे से परिवहन की पर्याप्त मुविधाओ का प्राप्त होना भी काफी महत्त्वपूर्ण है। निर्यातको को इस बारे मे कई प्रकार की सुविधाएँ दी जानी है।

(9) **निर्यात पर शुल्क वापसी की सुविधा**—शुल्क वापसी स्कीम के अन्तर्गत निर्यातक निर्यात उत्पादो के निर्माण मे प्रयुक्त कच्चे माल तथा सघटको पर दिए गए सीमा शुल्क तथा उत्पादन शुल्क वापस प्राप्त कर सकते है।

(द) निर्यात सम्वर्द्धन के अन्य कार्य

(1) **निर्यात सदन**—निर्यात व्यापार मे विशिष्टीकरण का विकाम करने के उद्देश्य मे विख्यात व्यावसायिक फर्मो को निर्यात सदनो के रूप मे मान्यता देने के बारे मे सरकार ने यह योजना बनायी थी।

(2) **विपणन विकास निधि**—जुलाई सन् 1963 मे भारत सरकार ने विपणन विकास निधि की स्थापना की। इसमे से भारतीय उत्पादको को विदेशी बाजारों का विकास करने के लिए चलाई जाने वाली योजनाओ के बारे मे वित्तीय सहायता दी जाती है।

(3) **निर्यात अधिनियम** 1963—निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की प्रामाणिकता हेतु सन् 1966 मे (Export Quality Control and Inspection Act) पास किया गया। इसमे निर्यात किये जाने वाले माल की किस्म सुधारने के लिए माल के उत्पादन से लगाकर जहाज मे लादने तक निरीक्षण की व्यवस्था की जाती है।

(4) **स्थायी समिति** 1976—अभी हाल ही मे सरकार ने जहाजरानी द्वारा निर्यात बढाने के उद्देश्य से एक स्थायी समिति (Scope Shipping) का गठन किया गया है। यह समिति निर्यात माल से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की जहाजरानी एव बन्दरगाहो से सम्बन्धित समस्याओ का परीक्षण करके उसे दूर करने का प्रयास करेगी।

निर्यात सवर्द्धन के लिए सुझाव

निर्यात को बढाने के लिए हमे अग्रलिखित दिशाओ मे प्रयत्न करने होगे :—

(1) **उत्पादन मे वृद्धि**—निर्यात कार्यक्रम को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि खनिज एव औद्योगिक क्षेत्रो मे उत्पादन बढाया जाए। उत्पादन बढाकर ही निर्यात के योग्य बचत मे वृद्धि की जा सकती है।

(2) **घरेलू उपभोग पर प्रतिबन्ध**—कुछ वस्तुओ को निर्यात के लिए पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध कराने के लिए वित्तीय एव अन्य तरीको **घरेलू उपभोग पर प्रतिबन्ध** लगाना होगा। इसका अर्थ यह नही है कि उसका कुल उपभोग अथवा प्रति व्यक्ति वर्तमान उपभोग कम कर दिया जाएगा बल्कि हमे उन वस्तुओ के घरेलू उपभोग पर आवश्यक रोक लगानी होगी। विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए यह त्याग आवश्यक है।

(3) **परोक्ष करो मे कमी**—सभी प्रकार के परोक्ष करो को जैसे निर्यात कर, बिक्री कर आदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के सबध मे लौटा देना चाहिए। आज-कल ऐसा केवल निर्यात करो के लिए किया जा रहा है। अन्य परोक्ष करो के सबध मे नही, जो कि अभी भी विशाल राशि के हे।

(4) **कच्चे माल का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो पर उपलब्धि**—निर्यात वस्तुओ के मूल्या को प्रतिस्पर्धात्मक स्तर पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि निर्यातित उद्योगो को आयातित कच्चे माल आदि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो पर उपलब्ध कराए जाएँ। अभी कुछ थोडे कच्चे माल ही राजकीय व्यापार निगम द्वारा उपलब्ध कराए जाते है।

(5) **निर्यात मे विविधता**—भारत के लिए निर्यात मे विविधता और नई मण्डियाँ ढूँढना अत्यन्त आवश्यक हे। भारत को विदेशी माँग के अनुसार नए-नए पदार्थों का विकास करना होगा। हमारे पास कई एक ऐसे कच्चे पदार्थ है—कच्चा लोहा, एल्युमिनियम इत्यादि—जिनसे हम अर्द्ध निर्मित अथवा निर्मित वस्तुएँ विदेशो को भेज सकते है। अत इस ओर सरकार को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

निर्यात मे विविधता लाने के लिए भारत से खली, चीनी व डिब्बे मे बन्द-मछलियो का निर्यात बढाया जा सकता है। नई वस्तुओ मे साइकिलो, कपडा सीने की मशीनो, बिजली की मोटर, मशीन टूल्स, दवाएँ, औद्योगिक मशीनरी, प्लास्टिक का सामान व अन्य निर्मित माल का निर्यात बढाया जाना चाहिए। भारत से फल-फूल व सब्जी, कच्चा लोहा, समुद्र से प्राप्त होने वाली वस्तुओ आदि का निर्यात बढाना चाहिए। हमे विदेशी पर्यटको को आकर्षित करना चाहिए क्योकि अपने वन, पहाड, नदियो के ऐतिहासिक स्मारको की वजह से यह देश पर्यटको के लिए स्वर्ग तुल्य बनाया जा सकता है।

नई वस्तुओ के उत्पादन और विकास के साथ हमे नये बाजारो की खोज मे भी सलग्न रहना चाहिए। सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन व पश्चिमी यूरोप के परम्परा-गत बाजारो मे भारत के निर्यातो मे एक महत्त्पूर्ण वृद्धि की आशा करना उचित नही है।

भविष्य मे दक्षिण-पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इन देशो को अपने आर्थिक विकास के लिए पूंजीगत

सामानो व कच्चे माल की काफी आवश्यकता होगी, भारत, जापान व केन्द्रीय नियोजित अर्थ-व्यवस्था वाले देशो से निर्यात व्यापार काफी बढ सकता है। केन्द्रीय नियोजित अर्थ-व्यवस्था वाले देशो मे व्यापार बढाने से हमारे निर्यात व्यापार मे स्थिरता भी आएगी।

(6) **नवीन तकनीक**—कोई देश किन वस्तुओ का निर्यात कर सकता है यह प्राकृतिक साधनो की मात्रा एव प्रकार के साथ-साथ तकनीकी विकास पर निर्भर करता है। पुरानी व रूढिवादी तकनीको के साथ काम करते हुए किसी भी देश के लिए विश्व व्यापार मे अपना स्थान बनाये रखना सम्भव नही है। हम पुरानी व परम्परागत तकनीको का ही उपयोग कर रहे है जिसके कारण आज हमारी ऊँची लागत वाली घटिया किस्म की वस्तुएँ विश्व बाजार मे आधुनिक तकनीको द्वारा उत्पादित श्रेष्ठ किस्म की सस्ती वस्तुओ के साथ मुकाबला नही कर पा रही है। अत यदि हमे विदेशो मे अपनी वस्तुओ के लिए बाजारो का विकास करना है तो यह आवश्यक है कि हम उत्पादन की आधुनिक तकनीको को अपनाएँ। आधुनिक तकनीको को तेजी से अपनाने के कारण ही आज जापान विश्व व्यापार मे अग्रणी हो गया है।

(7) **मूल्यो मे स्थिरता**—निर्यात मे सुव्यवस्थित ढग से वृद्धि करने के लिए मूल्यो मे स्थिरता लाना आवश्यक है। जब तक आन्तरिक लागत मूल्य स्तरो को काफी सीमा तक कम नही किया जाएगा तब तक निर्यातको की वास्तविक प्राप्तियो मे कमी रहेगी और इसका परिणाम यह होगा कि निर्यातको से प्राप्त साधनो का उत्तरोत्तर अधिक उपयोग देश मे बेची जाने वाली वस्तुओ के उत्पादन के लिए किया जाता रहेगा।

(8) **कच्चे माल की निरन्तर उपलब्धि**—निर्यात मे वृद्धि करने के लिए **निर्यात व्यापार सस्थान** ने यह सिफारिश की है कि मुख्य कच्चे मालो की भावी माँग को ध्यान मे रख कर उनकी मात्राओ का अनुमान लगाया जाना चाहिए और उनकी निरन्तर उपलब्धि की व्यवस्था होनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षो से हमारे निर्यात करने वालो की यह एक बडी शिकायत रही है कि उन्हे आवश्यकतानुसार कच्चा माल प्राप्त नही हो पाता। अत· कच्चे माल का ठीक प्रबन्ध करना आवश्यक है।

निर्यात व्यापार सस्थान का एक सुझाव निर्यातो का क्षेत्रीय विभाजन करने, यहाँ तक कि प्रत्येक देश के लिए निर्यात के लिए अलग-अलग लक्ष्य निर्धारित करने के सम्बन्ध मे है। इस सम्बन्ध मे विशेष अध्ययनो द्वारा नये बाजारो की खोज की आवश्यकता है।

(9) जो लोग **निर्यात क्षेत्र मे अच्छे परिणाम** दिखाते है उनकी सराहना की जानी चाहिए। सन् 1967 मे पहली बार सफल निर्यातको को पुरस्कार दिए गए।

(10) निर्यात बढाने के लिए हमारे प्रयत्न तभी सफल हो सकते है जब **विकसित देश उदार आयात नीति अपनाएं** और विकासोन्मुख देशो की बनी हुई वस्तुओ का स्वागत करे। अन्य शब्दो मे, विकासशील देशो का निर्यात सवर्द्धन कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है जब विकसित देश आयात सवर्द्धन कार्यक्रम अपनाएँ।

(11) **अन्य सुझाव**—

(i) कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रो मे निर्यात इकाइयो के विकास को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(ii) हमारा माल विदेशी मण्डियो मे बिके और हमे नयी-नयी विदेशी मडियॉ मिले तो सबसे पहले हमे अपना उत्पादन व्यय घटाना होगा ताकि हमारी वस्तुओ का दाम कम हो सके।

(iii) निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की किस्मो को सुधारा जाए।

(iv) निर्यात के लिए पर्याप्त भण्डार बनाया जाए ताकि निर्यात मॉग की निरन्तर पूर्ति की जा सके।

(v) निर्यात बढाने के लिए आवश्यक है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय नुमाइशो और मेलो मे अधिकाधिक भाग ले जिससे हमारे माल का पर्याप्त विज्ञापन हो सके।

(vi) सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित उद्योगो को निर्यात मे अधिक अशदान करना चाहिए।

(vii) यदि निर्यातकर्ता राष्ट्रीय हितो की अवहेलना करे तो विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1 भारत के आयात और निर्यात की मुख्य वस्तुओ का उल्लेख कीजिये। भारत के आयात और निर्यात व्यापार मे स्वतत्रता प्राप्ति के उपरान्त क्या परिवर्तन हुए है?

अथवा

भारत के आयात व निर्यात व्यापार की कुछ प्रमुख वस्तुआ के नाम लिखिये। हमारे निर्यातो को बढाने के लिए सुझाव दीजिये?

2. भारत के आयात व निर्यात व्यापार की तीन-तीन प्रमुख वस्तुओ के नाम लिखिये। भारत के विदेशी व्यापार की वर्तमान समय मे प्रमुख विशेषताओ का वर्णन कीजिये?

3. भारत के आयात एव निर्यात व्यापार की प्रमुख विशेषताओ का वर्णन कीजिये। भारतीय निर्यात व्यापार मे वृद्धि कैसे की जा सकती है?

28

भारत में रेल यातायात

(Rail Transport in India)

भारतीय अर्थव्यवस्था मे रेलो का महत्त्व—आधुनिक युग मे आर्थिक तथा व्यापारिक विकास एक बडी सीमा तक परिवहन के साधनो, विशेषत रेलो के विकास पर निर्भर है। रेलो ने हमारी अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को निम्न प्रकार से प्रभावित किया है—

(1) आर्थिक

रेलो ने आर्थिक क्षेत्र मे क्रातिकारी परिवर्तन किये है। कृषि, उद्योग, व्यापार, वनसपदा आदि सभी इससे प्रभावित हुए है।

(1) **कृषि मे योगदान**—कृषि की उन्नति करने मे रेलो का पर्याप्त योगदान है। रेलो के विकास के कारण ही (अ) कृषि पदार्थो का बाजार विस्तृत हुआ। (ब) कृषक उत्तम बीज तथा यन्त्र आदि प्राप्त करता है। (स) फल तथा सब्जियो जैसे नाशवान पदार्थो को उत्पन्न करने मे आर्थिक प्रेरणा मिलती है। (द) कृषि वस्तुओ का देश के विभिन्न भागो मे वितरण समान हो गया है। (य) विभिन्न क्षेत्रो मे कृषि पदार्थो के मूल्यो का अन्तर कम हुआ है। (र) भ्रमण से किसानो के ज्ञान मे वृद्धि हुई। (ल) गाँवो की आत्मनिर्भरता और अलगाव समाप्त हो गये है।

(2) **उद्योगो को लाभ**—रेलो ने नए कारखाना की स्थापना एव पुराने उद्योगो के विकास को गति प्रदान करके देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया है। सक्षेप मे रेलो से उद्योगो के विकास मे निम्न लाभ प्राप्त हुए है—

(i) रेले उद्योगो मे बनी हुई वस्तुओ को उपभोग केन्द्र तक ले जाती है।

(ii) उद्योगो के लिए कच्चा माल भी रेलो द्वारा कारखानो तक पहुँचता है।

(iii) रेले उद्योगो मे काम करने वाले श्रमिको को कारखानो तक पहुँचाती है तथा रेलो द्वारा ही देश के एक कोने का व्यक्ति दूसरे कोने तक काम करने हेतु पहुँच जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रेलो द्वारा ही श्रमिको की गतिशीलता मे वृद्धि हो पायी है।

(iv) स्वय रेलवे विभाग भी औद्योगिक माल का बहुत बडा उपभोक्ता है।

(3) **व्यापार की उन्नति**—रेलो के चलने से देश के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार मे आशातीत उन्नति हुई है। देश मे बना माल अब देश के कोने-कोने मे पहुँचने लगा है। विदेशो से आया हुआ माल बन्दरगाहो से नगरो तक पहुँचाने का कार्य भी रेले सुगमतापूर्वक कर देती है। दूध, फल, मछली, सब्जी, अण्डे आदि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ का देशव्यापी व्यापार रेलो के कारण ही सम्भव हो सका है।

(4) **वन उद्योग का विकास**—वन की उपज और उसके उपयोग की मात्रा को बढाने मे रेलो का प्रशसनीय योग रहा है। रेलो के डिब्बे तथा रेल के स्लीपर बनाने के लिये लकडी की आवश्यकता होती है। लकडी की प्राप्ति वनो से होती है, अत वन-उद्योग का विकास हुआ है। यही नही, रेले स्वय वन-लकडी को ढोकर उपभोग केन्द्रो तक पहुँचाती है।

(5) **राजस्व प्राप्ति**—रेले सरकारी राजस्व का एक बडा स्रोत है। 1980-81 मे रेलो से प्राप्त आय 297 5 करोड रु० आँकी गई है। इसके अतिरिक्त परोक्ष रूप से (उक्त विकास-कार्यो के परिणामस्वरूप) भी रेलो द्वारा अधिक राजस्व प्राप्ति मे सहयोग मिलता ह।

(6) **रोजगार की उपलब्धि**—भारतीय रेले आज 17 लाख परिवारो के लगभग 90 लाख व्यक्तियो की रोजो-रोटी का साधन है। इनमे 14 लाख कर्मचारी तो स्थायी है, शेष आकस्मिक श्रम के रूप म है। साथ ही नवशिक्षित बेरोजगारो के लिए चलायी गयी अप्रेंटिसशिप की योजना म भी भारतीय रेलो द्वारा एक वर्ष मे 12 हजार व्यक्तियो की नियुक्ति की जाती हैं।

(7) **अकालो पर नियन्त्रण**—रेल परिवहन के विकास से अकाल पर काफी हद तक नियत्रण किया जा सका है। आज कोई भी अकाल देशव्यापी नही होता। रेले प्रचुर मात्रा के क्षेत्रो से अभावग्रस्त क्षेत्रो मे खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक पदार्थ पहुँचाकर अकालो की कठिनाई को कम कर देती है।

(8) **नगरो मे वृद्धि**—रेल परिवहन के कारण देश मे अनेक नगरो का विकास हुआ है। हावडा, इटारसी, कानपुर, सिकन्दराबाद इत्यादि नगरो का विकास रेलवे जक्शन होने के कारण हुआ है।

(9) **डाक सेवा**—आर्थिक सामाजिक एव राजनैतिक क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियो के सफल सचालन के लिए सस्ती नियमित और कुशल डाक सेवा का श्रेय भी भारतीय रेलो को ही है।

(2) सामाजिक एव धार्मिक महत्त्व

(अ) सामाजिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन—रेलो के विकास के साथ-साथ लोगो के सामाजिक रीति-रिवाजो, विचारो तथा प्रथाओ मे परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया, तथा लोगो का सम्पर्क अन्य क्षेत्रो मे रहने वाले व्यक्तियो से बढना प्रारम्भ हो गया, जिससे लोगो के विचारो रीति-रिवाजो तथा प्रथाओ मे अत्यधिक परिवर्तन हुआ है।

(ब) राष्ट्रीय भावात्मक एकता—रेलो ने भारत जैसे विशाल एव विविधता

सपन्न राष्ट्र को भावात्मक रूप मे एकता के सूत्र मे पिरोने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आज रेल परिवहन के माध्यम मे विभिन्न क्षेत्रो के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते है।

(स) जनसख्या के वितरण मे सहायक---रेले जनसख्या के उचित वितरण मे सहायक होती है। इनके कारण श्रमिको की गतिशीलता बढती है।

(द) शिक्षा-प्रसार मे सहायक--रेले शिक्षा-प्रसार का प्रमुख साधन है। इनके द्वारा पत्र-पत्रिकाएँ तथा अनेक प्रकार की पुस्तके दूर-दूर के ग्रामीण एव शहरी क्षेत्रो मे पहुँचाई जाती है जिससे न केवल विद्यार्थी वर्ग को लाभ होता है वरन् समाज के सभी वर्गो मे शिक्षा का प्रसार होता है।

(3) राजनीतिक एव सामरिक महत्त्व

राजनीतिक विचारधाराओ का विकास परिवहन सेवाओ के माध्यम से ही सभव होता है। अग्रेजी साम्राज्यवाद के विस्तार का प्रमुख कारण उनकी जहाजरानी का विकसित होना था।

परिवहन सेवाओ का सामरिक महत्त्व भी कम नही है। 1948 मे काश्मीर से आक्रामक पाकिस्तानियो को खदेड भगाने का श्रेय वायु परिवहन तथा 1965 मे भारत के पश्चिमी क्षेत्रो मे पाकिस्तान को लाहौर तक पदाक्रात करने का श्रेय सडक परिवहन को है।

(4) प्रशासनिक महत्त्व

प्रशासन के सफल सचालन मे रेल परिवहन का अत्यधिक महत्त्व है। अशान्ति, अकाल प्राकृतिक प्रकोप आदि समस्याओ के निराकरण म रेले महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। डाक सेवाओ का सचालन भी रेलो पर ही निर्भर करता है। अतः जिन क्षेत्रो मे रेलो का विकास नही हो पाया है वहाँ प्रशासन के सचालन मे अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती है।

रेल उद्योग की विशेषताएँ

रेल उद्योग की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है —

1. **एकाधिकार**—एकाधिकार से आशय पूर्ति मे एकमात्र नियत्रण और प्रतियोगिता के अभाव से है। एकाधिकार प्राय. 4 प्रकार के होते है—(i) प्राकृतिक (ii) सामाजिक (iii) कानूनी एव (iv) ऐच्छिक। रेल उद्योग की गणना सामाजिक एकाधिकार के अन्तर्गत की जाती है। देश और समाज के हित म इस एकाधिकार को कायम रखना आवश्यक समझा जाता है। इसीलिये इस एकाधिकार को कानूनी और सरकारी सरक्षण प्रदान किया गया है। रेल उद्योग पूँजी प्रधान उद्योग है तथा इसमे दीर्घकाल के लिए पूँजी विनियोजित की जाती है साथ ही यदि उद्योग मे हानि हो जाय तो पूँजी बिलकुल नष्टप्राय हो जाती है। अतः निजी सस्थाएँ सार्वजनिक रेल

उद्योग से प्रतिस्पर्धा करके जोखिम नही लेना चाहती है। परिणाम स्वरूप इस उद्योग मे प्रतियोगिता के अभाव की स्थिति बनी हुई है।

रेल उद्योग को पूर्ण एकाधिकार प्राप्त नही है क्योकि उन्हे परिवहन के अन्य साधनो जैसे—सडक, जल, तथा वायु परिवहनो मे प्रतियोगिता का सामना करना पडता है जिसके कारण रेल उद्योग के किराये व भाडे अधिक नही बढाये जा सकते है। इस प्रकार रेल उद्योग **आशिक एकाधिकारी** उद्योग है।

2 **लोकोपयोगी सेवा**—लोकोपयोगी सेवाओ का प्रमुख उद्देश्य लाभ प्राप्त करना न होकर लोक कल्याण, आर्थिक विकास तथा समाज की सेवा करना होता है। रेल उद्योग भी लोकोपयोगी सेवा प्रदान करने वाली एक सस्था है। इसका प्रमुख उद्देश्य समाज को न्यूनतम मूल्य पर परिवहन सेवाएँ प्रदान करना है। एकाधिकारी प्रकृति के कारण इस उद्योग को यात्रियो से उनकी भुगतान-क्षमता के अनुसार कम या अधिक मूल्य प्राप्त करने का अधिकार है। इस उद्योग द्वारा समाज कल्याण व आर्थिक विकास हेतु कुछ अनावश्यक वस्तुओ के आवागमन पर प्रतिबध तथा आवश्यक वस्तुओ पर छूट भी प्रदान की जाती है। इस उद्योग को अपना व्यक्तिगत हित समाज और उपभोक्ता के साथ रखना पडता है। इस उद्योग के प्रबन्ध की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। उसे एक प्राइवेट निगम तथा सरकार के प्रतिनिधि, दोनो रूपो मे कार्य करना पडता है।

3 **लोकवाहन**—लोकोपयोगी सेवा प्रदान करने वाली सस्था होने के नाते रेलो को अपने व्यावसायिक हितो की अपेक्षा जनता के सामाजिक हितो पर अधिक ध्यान रखना पडता है। यह विशेषता रेलो को अन्य परिवहन-साधनो से भिन्न करती है। रेल उद्योग की सेवाये सर्व साधारण के लिए सुलभ है। कोई भी नागरिक स्वतन्त्रता-पूर्वक इन सेवाओ को प्राप्त कर सकता है। लोकवाहनो का कार्य यात्रियो तथा माल को सुरक्षित रूप से गन्तव्य स्थल तक पहुँचाना होता है। इस प्रकार उनका व्यक्तिगत हित, लोकहित के साथ जुडा रहता है। चूँकि रेले उक्त कार्यो का निष्पादन सुचारु रूप से करती है अत हम कह सकते है कि ये लोकवाहन है।

4. **अपार स्थायी पूँजी**—रेल उद्योग मे जितनी प्रारम्भिक पूँजी की आवश्यकता होती है उतना अन्य उद्योगो मे नही होती है। इस उद्योग मे एकबार पूँजी विनियोजित कर देने के बाद हम उसे हटाकर अन्य उद्योगो मे नही लगा सकते है। यह पूँजी न केवल उद्योग मे बँध जाती है अपितु उस स्थान विशेष से बँध जाती है जहाँ उसे लगाया जाता है। इस उद्योग मे कुल विनियोजित पूँजी का लगभग 90% भाग स्थायी पूँजी के रूप म लग जाता है। इसमे चालू पूँजी की अपेक्षा बहुत कम होती है।

5. **प्रतियोगी उद्योग**—एकाधिकारी व्यवसाय होते हुए रेल उद्योग एक प्रतियोगी व्यवसाय भी है। रेल उद्योग मे जो विशाल पूँजी लगती है उसे लाभप्रद बनाने के लिए अधिक से अधिक यातायात प्राप्त करना उसके लिये आवश्यक हो जाता है। यातायात-वृद्धि के प्रयासों के कारण प्रत्यक्ष प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है। यह प्रतियोगिता दो या दो से अधिक रेलो के बीच या रेलो तथा अन्य परिवहनो के बीच होती

है । रेलो को उद्योगपतियो की पारस्परिक होड मे उत्पन्न प्रतियोगिता का भी अप्रत्यक्ष रूप से सामना करना पडता है । ये प्रतियोगिताये अत्यन्त हानिप्रद होती हैं ।

6. **सयुक्त व्यय और संयुक्त उत्पादन**—जब किसी वस्तु की उत्पत्ति करने पर उसी लागत मे अन्य कोई वस्तु या वस्तुये उत्पन्न हो जाती है तो इन वस्तुओ को संयुक्त उत्पत्ति या सयुक्त पूर्ति अथवा सयुक्त लागत कहते है इसका मुख्य लक्षण यह है कि दो या अधिक वस्तुएँ एक ही स्रोत से उत्पन्न की जाती है । उदाहरण के लिए गेहूँ के साथ भूसा, शक्कर के साथ शीरा, भेड पालने पर ऊन के साथ मास, और कपास के साथ बिनौला की उत्पत्ति होती हैं । इसमे से कम मूल्यवान वस्तु जो मुख्य वस्तु के साथ उत्पन्न होती है, उपोत्पाद या गौण उत्पाद कहलाती हैं ।

रेल उद्योग मे यह सिद्धान्त लागू होना है क्योकि एक ही रेलवे लाइन पर और उन्ही स्टेशनो मे होकर सवारी गाडियाँ तथा माल गाडियाँ गुजरती हैं । सवारी गाडियो मे भी प्रथम एव द्वितीय श्रेणी के यात्री होने है ओर माल मे भी कई आकार-प्रकारो के कीमती एव सस्ते माल होने है । स्पष्टत रेलवे उद्योग मे भी विभिन्न प्रकार की याता-यात सेवाये प्रदान करने के लिए व्यय एक ही साथ करने पडते हैं । यह सिद्धान्त भी आशिक रूप मे ही लागू होता हैं क्योकि रेलो के व्यय की एक बडी मात्रा स्थायी अवश्य होती है किन्तु फिर भी कुछ व्ययो को प्रत्येक इकाई मे बाँटा जा सकता है । रेल उद्योग मे यातायात विशेष की कमी हो जाने पर तत्सम्बन्धी अस्थायी व्यय अवश्य ही कम हो जाते है ।

सयुक्त व्यय सिद्धान्त **रेलों मे** रिक्त स्थान होने पर पूर्णतया लागू होता है जैसे—A से B स्थान तक यदि इतनी मात्रा मे यातायात प्राप्त होना हैं कि गाडियाँ पूरी भर जाती है किन्तु B से A स्थान तक आने मे उतना यातायात प्राप्त नही होता तो भी रेलवे को पहले के समान ही व्यय करने पडते हैं । इन व्ययो की पूर्ति के लिए रेलवे दूसरी ओर से किराये की दरो मे कमी करके यातायात को अधिक मात्रा मे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है । ऐसा न करने पर A से B जाने वाले याता-यात का भार खाली गाडियो के लौटने के व्यय के बराबर और बढ जायेगा ।

सक्षेप मे रेलो मे सयुक्त व्यय अथवा सयुक्त उत्पादन का नियम केवल आशिक रूप मे लागू होता है । रेलो के लिये इस सिद्धान्त का महत्त्व केवल गौण रूप मे है, मुख्यतय नही ।

7. **बृहत-कार्य व्यवसाय**—आधुनिक युग मे रेले आकार, सगठन, पूँजी, लाभ-हानि आय-व्यय आदि सभी बातो मे अन्य व्यवसायो से आगे है । कोई व्यवसाय कितना बडा है इसका निर्धारण प्राय: उसमे विनियोजित पूंजी के अनुसार किया जाता है । रेलो मे जितनी पूँजी लगी है उतनी किसी अन्य व्यवसाय मे नही लगी है । इस उद्योग मे लगभग 4099 करोड रुपये की पूंजी विनियोजित है । रेलो की आय भी कुल आय का 33% है ।

भारत मे रेलो का विकास
(Railway Development in India)

रेलवे विकास का इतिहास अत्यन्त विस्तृत है। अध्ययन की सुविधा के लिए रेलवे के इतिहास को (काल-विभाजन की दृष्टि से) निम्नलिखित वर्गों मे बाँटा गया है—

(1) **प्रारम्भ काल से 19वी शताब्दी तक**

(i) पुरानी गारण्टी पद्धति (1844-1869)

(ii) सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (1869-1879)

(iii) नयी गारण्टी पद्धति (1879-1900)

(2) **द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त तक समय**

(iv) तीव्र प्रगति और विकास काल (1900-1914)

(v) प्रथम महायुद्ध काल—रेल व्यवस्था का विघटन (1914-1919)

(vi) नई नीति निर्धारण काल (1920-1929)

(vii) आर्थिक मन्दी का समय (1930-1939)

(viii) द्वितीय महायुद्ध काल (1940-1944)

(3) **द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् का काल**

(ix) प्रथम पचवर्षीय योजना के पूर्व का काल (1945-1950)

(x) पचवर्षीय योजनाओ मे भारतीय रेलवे का विकास (1951-82)

(i) **पुरानी गारण्टी पद्धति** (1944-1869) भारत म सर्वप्रथम रेलवे लाइन अप्रैल 1853 मे थाना तथा बम्बई के मध्य निर्मित की गई। वस्तुत भारत मे रेलो का निर्माण 1844 ई० मे ही प्रारम्भ हुआ जब 'ब्रिटिश ईस्ट इडिया कम्पनी' ने इग्लैड मे स्थापित कम्पनियो को एक निश्चित लाभ के आश्वासन पर रेल निर्माण का ठेका दिया। कलकत्ता और बम्बई के समीप दो छोटी रेल लाइनो के निर्माण के लिए अगस्त 1849 मे सरकार ने दो अंग्रेजी कम्पनियो (ईस्ट इडिया रेलवे कम्पनी व ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला रेलवे कम्पनी) के साथ समझौता किया जिसे पुरानी गारण्टी पद्धति कहते है। इस गारण्टी प्रथा की मुख्य शर्ते इस प्रकार थी :—

(क) इस समझौते की अवधि 99 वर्ष होगी।

(ख) रेल कम्पनियो को रेलमार्ग, स्टेशन भवन आदि का निर्माण करने के लिए सरकार भूमि नि शुल्क देगी।

(ग) सरकार ने रेलवे कम्पनियो को उनके द्वारा लगाई गई पूँजी पर 4% से 5% तक ब्याज देने की गारण्टी थी।

(घ) विनिमय की दर 22 पैसे प्रति रुपया निश्चित की गई।

(ङ) ब्याज के पश्चात् जो लाभ शेष बचेगा वह कम्पनियो तथा सरकार के बीच आधा-आधा बाँट दिया जायेगा।

(च) किराये-भाडे के दर निर्धारण, गेज नियत्रण व निरीक्षण आदि मे सरकार का निर्णय माना जायेगा।

(छ) सरकार ने यह अधिकार सुरक्षित रखा कि वह चाहे तो 25 या 50 वर्ष के बाद रेलवे को खरीद सकती है।

यह प्रथा 1869 तक चलन मे रही। इस अवधि मे कुल 4,287 मील लम्बे रेल मार्ग का निर्माण हुआ। रेलो के निर्माण और सचालन पर दोहरा नियत्रण होने तथा सरकार को गारण्टी पूरी करने मे 20 करोड रुपये की हानि होने के कारण 1869 मे गारण्टी प्रथा को त्याग दिया गया। **श्री विलियम थार्टन** ने ससदीय समिति के समक्ष गवाही देते हुए कहा था, "गारण्टी पद्धति से कोई भी लाभ न हुआ जो इसके बगैर नही हो सकता था। मेरी राय मे ये ठेके कलक है चाहे जिस आदमी ने इन्हे मान्यता दी हो।"

(ii) **सरकारी निर्माण और प्रबन्ध** (1869-1879)—1869 म गारण्टी प्रथा को त्याग दिया गया और सरकार ने स्वय ही रेलो के निर्माण एव उनकी व्यवस्था का कार्य सम्भाल लिया। इस काल की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी—(अ) सरकार ने 6 रेलो का निर्माण कराया। (ब) पुरानी गारण्टी प्रथा मे निर्माण व्यय 20,000 पौड प्रति मील पडता था, अब यह निर्माण व्यय घटकर 19,000 पौड प्रति मील हो गया। (स) मुख्य रेलवे मार्गो के लिये चौडी रेलवे लाइने तथा सहायक मार्गो के लिए कम चौडी लाइने बनाई गई। (द) रूस के आक्रमण का मुकाबला करने के लिये सरकार को सामरिक महत्त्व की रेलो का निर्माण करना पडा।

1869-1879 की मध्यावधि मे रेलमार्गो की लम्बाई 9,875 मील हो गई तथा इस अवधि मे सरकार ने कुल 134 करोड रुपये व्यय किये। पूँजी की अपर्याप्तता से विवश होकर सरकार ने 1879 मे कम्पनियो की सहायता पुन ली।

(iii) **नयी गारण्टी पद्धति** (1879-1900)—अत सरकार ने फिर कम्पनियो की सहायता से रेलो का निर्माण किया, किन्तु समझौते की शर्तो मे कुछ परिवर्तन किये गये। अत इस प्रथा को नयी गारण्टी पद्धति कहते है। इस समझौते की मुख्य विशेषताये इस प्रकार थी—

(अ) कम्पनियों को 3% से $3\frac{1}{2}$% ब्याज की गारण्टी दी गयी।

(ब) सरकार रेलवे कम्पनियो का प्रबन्ध 25 वर्ष के पश्चात् या उसके प्रति 10 वर्ष बाद अपने हाथ मे ले सकती थी।

(स) शुद्ध लाभ का 60% भाग सरकार के लिये सुरक्षित किया गया।

सरकार ने रेलो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया—(क) उत्पादक रेले, (ख) अनुत्पादक रेले और (ग) सरक्षणात्मक रेले।

1900 तक रेल मार्गों की कुल लम्बाई 24·752 मील हो गई थी और 98 रेल मार्गो पर 33 रेल कम्पनियाँ कार्य करती रही थी।

(iv) **तीव्र प्रगति और विकास का काल** (1900-1914)—बीसवी सदी के आरम्भ होते ही रेलो के विकास मे बहुत तेजी आई और रेलवे को घाटे के स्थान पर लाभ प्राप्त होने लगे। पूंजी का अभाव समाप्त हो गया और रेलो को इतनी धनराशि मिलने लगी जिसे खर्च करना एक समस्या बन जाती थी। 1901 मे **श्री टामस राब-**

टसन को भारतीय रेलो के प्रबन्ध और सचालन की जॉच करने के लिए नियुक्त किया गया। स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने रेलवे बोर्ड स्थापित करने, रेलवे मे सुधार के लिये सामान्य राजस्व से अलग एक रेल कोष स्थापित करने तथा सरकार और कम्पनियो के दोहरे प्रबन्ध की समाप्ति के लिए सुझाव दिया। सरकार ने इन सुझावो को नही माना। फिर भी 1905 मे रेलो के प्रबन्ध के लिए रेलवे बोर्ड बनाया गया। 1907 से **मैके समिति** की नियुक्ति की गई जिसके अध्यक्ष **सर जेम्स मैके** थे। इस समिति ने तत्कालीन रेल मार्गो को देश की आवश्यकता मे कम बताया।

सन् 1914 तक रेलो की लम्बाई बढकर 35,285 मील हो गयी थी। औसतन प्रतिवर्ष 774 मील लम्बे रेल मार्ग का निर्माण हुआ।

(v) **प्रथम महायुद्ध काल रेल व्यवस्था का विघटन** (1914-1919)—युद्ध-काल मे रेलो की प्रगति रुक गई, क्योकि आवश्यक सामानी (डिब्बे, इजिन आदि) का आयात बन्द हो गया था तथा सरकार के पास धन की कमी थी। साथ ही युद्ध के लिए कुछ रेल मार्गो का उखाड कर पूर्वी अफ्रीका और मेसोपोटामिया भेजना पडा। इस प्रकार युद्ध का प्रभाव रेलवे पर प्रतिकूल पडा।

(vi) **नई नीति निर्धारण काल** (1920-1929)—भारतीय रेलो की बिगडती हुई स्थिति की जॉच के लिए भारत सरकार ने नवम्बर 1920 मे रेलवे विशेषज्ञ **विलियम एजवर्थ** की अध्यक्षता मे एक समिति की नियुक्ति की जिसने निम्न सुझाव दिये—

(अ) रेलवे बोर्ड के सङ्गठन एव कार्य-प्रणाली मे सुधार किया जाए।

(ब) रेल ट्रिब्युनल की स्थापना की जाये जो रेल भाडो को निश्चित करे।

(स) रेलवे अपना बजट पृथक बनाए।

(द) सरकार और कम्पनियो के दोहरे प्रबन्ध की वजाय केवल सरकार द्वारा ही प्रबन्ध किया जाए।

(य) केन्द्रीय एव स्थानीय परामर्शदात्री समितियो की स्थापना द्वारा जन-सहयोग प्राप्त किया जाए।

(र) रेलवे ह्रास कोष (Depreciation Fund) तथा सचित कोष (Reserve Fund) की स्थापना की जाए।

सरकार ने वस्तुत. इस समिति के सभी सुझावो को मान लिया। फरवरी 1923 मे रेलो के प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई, सितम्बर 1924 से रेलवे बजट पृथक् बनने लगा। एक सचित कोष भी स्थापित किया गया तथा ह्रास कोष की भी व्यवस्था की गई। रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन किया गया।

इस अवधि मे रेलवे का विकास तीव्रगति से हुआ, जैसा कि अग्राकित अङ्को से स्पष्ट है—

रेलवे का विकास

वर्ष	रेलो की लम्बाई (मील)	विनियोजित पूंजी (करोड रु०)	आय (करोड रु०)
1919-20	36,735	566 38	89·15
1929-30	41,724	156·75	116·08

(vii) **आर्थिक मन्दी का समय** (1930-39)—सन् 1929-30 की आर्थिक मन्दी का प्रभाव भारतीय रेलो पर भी पडा, रेलो की आय मे कमी और व्यय मे वृद्धि हुई। घाटे की पूर्ति के लिए सचित कोष तथा ह्रास कोष का सहारा लेना पडा। व्यय मे कमी हेतु सुझाव देने के लिये 1932 **में पोप समिति** और 1936 मे रेलो की आर्थिक दशा की जॉच के लिये **वैजवुड समिति** नियुक्ति हुई। वैजवुड समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे—

(i) केन्द्रीय बचत अनुसधान समिति की स्थापना की जाए।

(ii) मितव्ययिता लाने के लिए भविष्य मे रेलो को आठ क्षेत्रों मे बॉट दिया जाए।

(iii) रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को दिया जाने वाला अशदान कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाए।

(iv) अतिरिक्त आय का प्रयोग यात्रियो को सुविधाये देने मे किया जाए।

(v) रेलवे ह्रास **कोष व संचित** कोष की उचित व्यवस्था की जाए।

(vi) रेल सामग्री का सदुपयोग एव रेल सडक प्रतियोगिता को कम या समाप्त किया जाए।

सरकार ने समिति के कुछ सुझावो को मान लिया। सन् 1936-37 के बाद भारतीय रेलों की आर्थिक स्थिति मे सुधार होने लगा तथा इनकी आय मे पुन. वृद्धि होने लगी। सन् 1937 मे बर्मा भारत से पृथक् हो गया, अत 2,000 मील रेलमार्ग बर्मा मे चला गया। सन् 1939-40 मे भारतीय रेलो की लम्बाई 41,156 मील थी।

(viii) **द्वितीय महायुद्ध काल**—(1940-1944)—द्वितीय महायुद्ध काल भारतीय रेलो के लिए आर्थिक दृष्टि से समृद्धि का समय था, क्योकि रेल-सेवाओं के लिए मॉग मे वृद्धि हुई, और इनकी आय बढी। युद्धकाल मे रेलवे का नवीनीकरण कार्य बन्द कर दिया गया, बहुत-सी रेल-सामग्री अन्य देशो को भेज दी गई। सन् 1942 मे युद्ध परिवहन बोर्ड स्थापित हुआ एव रेलो ने अपनी सेवाएँ प्रदान करने मे प्राथमिकता पद्धति अपनाई जिसके अनुसार रेल द्वारा आवश्यक वस्तुएँ भेजने मे प्राथमिकता दी जाने लगी। सन् 1944 में एक सुधार कोष भी स्थापित हुआ।

सन् 1939-40 मे रेलवे की आय 111.5 करोड रुपए थी जो 1944-45 मे बढकर 232·65 करोड रुपए हो गयी।

(ix) **प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व का काल**—(1945-1950)—सन्

1947 मे देश के विभाजन के फलस्वरूप बहुत से रेल-मार्ग पाकिस्तान मे चले गए। विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दगे के कारण भारतीय रेलो को बहुत बडी सख्या मे शरणार्थियो को ढोना पडा। साथ ही देश मे प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव हो गया, क्योकि बहुत से कुशल कर्मचारी पाकिस्तान चले गए। विभाजन के पश्चात् देश मे ड्राइवरो की सख्या पहले की अपेक्षा 18 प्रतिशत घट गई। मुगलपुरा और सैदपुरा के वर्कशाप भी पाकिस्तान मे रह गए। इससे रेलो की कार्यक्षमता बहुत घट गई।

31 मार्च, 1951 को भारतीय रेलवे की लम्बाई 34,079 मील थी तथा उसमे विनियोजित कुल पूंजी 838·17 करोड रुपए थी।

पचवर्षीय योजनाओं मे भारतीय रेलवे

(अ) प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम योजना मे भारतीय रेलो के आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन पर अधिक जोर दिया गया जो द्वितीय महायुद्ध तथा देश के विभाजन के कारण अत्यन्त शोचनीय स्थिति मे थी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य था रेलो के डिब्बो, इजनो, लाइनो तथा अन्य उपकरणो की मरम्मत तथा नवीनीकरण करना, जनता के लिए सुविधाएँ बढाना तथा कुछ नई लाइने बिछाना। इन सब कार्यों पर प्रथम योजना मे 423.73 करोड रुपये व्यय हुआ। इसका अधिकाश अर्थात् 55.7 प्रतिशत इजनो तथा डिब्बो के नवीनीकरण मे व्यय हुआ। प्रथम योजना काल मे 496 रेल इजन 4,351 यात्री डिब्बे तथा 41,192 मालगाडी के डिब्बो का उत्पादन हुआ था। प्रथम योजना के विभिन्न कार्यक्रमो के फलस्वरूप रेलों की माल ढोने की क्षमता 16 प्रतिशत वृद्धि हो गई।

(ब) द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना मे भारतीय रेलो के विकास का एक महत्त्वाकाक्षी कार्यक्रम रखा गया। इस योजना के मुख्य उद्देश्य थे—(1) रेलो की परिवहन क्षमता को बढाना, (2) रेल मार्ग, पुलो तथा इजन और डिब्बो आदि के पुनर्स्थापन के कार्य को पूरा करना, व (3) रेल सम्बन्धी सामग्री का देश मे उत्पादन बढाकर रेलो को आत्मनिर्भर बनाना।

द्वितीय योजना मे लगभग 1,311 किलोमीटर लम्बी लाइने बिछाई गयी। 1,512 किलोमीटर लम्बी लाइनो को दुहरा बनाया गया। सन् 1950-51 से सन् 1960-61 के दस वर्षों मे ढोये जाने वाले माल मे 60 प्रतिशत तथा यात्रियो मे 24 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस योजना मे रेल पर लगभग 1,100 करोड रुपये व्यय किए गए।

(स) तृतीय योजना मे रेल परिवहन के विकास पर 1,685 करोड रुपया व्यय किया गया। इस योजना काल मे 1,801 किलोमीटर नये रेलमार्ग का निर्माण, 3,228 किलोमीटर मार्ग का दोहरीकरण तथा 1,746 किलोमीटर मार्ग का विद्युतीकरण किया गया। इसी अवधि मे डीजल इजनों का निर्माण भी देश मे प्रारम्भ हुआ।

(द) तीन वार्षिक योजनाओं (1966-69) की अवधि मे रेलो मे 763 करोड़

रुपए का विनियोग हुआ। इस अवधि मे 1,061 किलोमीटर नये रेलमार्ग का निर्माण, 1,268 किलोमीटर मार्ग का दोहरीकरण तथा 905 किलोमीटर मार्ग का विद्युतीकरण किया गया।

(य) चौथी पंचवर्षीय योजना मे रेलवे—इस योजना मे रेल विकास के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—(अ) रेल क्षमता को उचित अश मे बढाना, (ब) रेल उपकरणो एव कार्यप्रणाली का यथाशक्ति अधिकतम आधुनिकीकरण करना, (स) अधिक परिवहन सभावना वाले क्षेत्रो मे अधिक सक्षम बडी लाइन का विस्तार करना, (द) दूर सचार चलयान, कारखाना उपकरण, रेलपथ अनुरक्षण और तकनीकी क्षेत्र मे गुणमूलक सुधार पर बल दिया जाना।

चौथी योजना मे रेलो के विकास पर 1,419 करोड रु० व्यय किए गए जिसका विवरण आगे सारणी न० 1 मे दिया गया है।

2. पाँचवी पचवर्षीय योजना (1974-79)

पाँचवी पचवर्षीय योजना मे विस्तृत कार्यक्रमो को ध्यान मे रखकर रेलवे की निम्नलिखित योजना तैयार की गई—

1. रेलवे की लम्बाई के 24 प्रतिशत पर ही सबसे व्यस्त ट्रैफिक 72 प्रतिशत माल की ढुलाई होती है इसकी तरक्की की जानी चाहिए।

2 जनता द्वारा ले जाया जाने वाला माल जैसे—सीमेट, कोयला, उर्वरक, रसद, पेट्रोल जिससे 58 प्रतिशत की आय 1950-51 मे होती थी उसे 1971-72 मे 80 प्रतिशत करने का लक्ष्य बनाया गया।

3. पैसेञ्जर गाडियाँ प्रमुख नगरो एव उद्योगो के स्थानो पर बढाने एव ठहराव करने की वृहत योजना बनायी गयी।

प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार रहे—

1. **माल ट्रैफिक**—पाँचवी पचवर्षीय योजना मे माल ढुलाई का लक्ष्य 1978-79 तक लगभग 300 लाख टन रखा गया।

2 **पैसेन्जर ट्रैफिक**—इस योजना के अन्तर्गत शहरी क्षेत्रो की जनता के लिए लगभग 4 प्रतिशत रेलों से सडको पर यात्रा बढाने के लिए जोर दिया गया ताकि दूर से आने वाली जनता को आसानी से जगह मिल सके। फलतः 6 7 प्रतिशत पैसेन्जर ट्रैफिक जो दूर से आते हैं उन्हे सुविधा प्रदान करने मे आसानी होगी।

3. **विकास योजना**—विदेशी सहायता 330 करोड रुपये के साथ रेलवे पर सम्पूर्ण व्यय 2350 करोड रुपए रखा गया। लगभग 68 प्रतिशत इस रकम का रोलिंग ट्रैक एव लाइन स्टाक पर खर्च करने के लिए रखा गया। कम खर्च मे अधिक वस्तु प्राप्त हो सके की नीति अपनायी गयी इसे अग्राकित सारणी मे प्रदर्शित किया गया है—

सारणी न० 1

चौथी व पाँचवी योजना में रेल विकास पर खर्च (करोड़ रुपये मे)

विवरण	चतुर्थ योजना	पचम योजना
1. रोलिंग स्टाक	609	900
2 वर्कशाप एव शेड	22	120
3 मशीनरी एव प्लान्ट	22	40
4 ट्रैक का नवीनीकरण	161	200
5. पुल का कार्य	30	60
6 लाइन क्षमता	230	500
7. तार एव सुरक्षा	59	110
8. विद्युतीकरण	68	120
9 अन्य विद्युतीकरण कार्य	18	20
10 नई लाइने	32	100
11. कर्मचारी हित	16	20
12 कर्मचारी आवास	65	40
13 उपभोक्ता सुविधा	20	20
14. अन्य विशेष कार्य	11	20
15 राजकीय रोडवेज मे लगाया गया	14	30
16. इन्वेन्टरीज	61	50
17 पोस्ट एव टेलीग्राफ की लाइनो का अधिग्रहण	2	—
योग	1419	2350

योजना काल मे रेलमार्ग, यात्रियो की सख्या व ढोए गए माल सभी मे वृद्धि हुई है, जिसका ब्योरा निम्न है—

वर्ष	रेलमार्ग की लम्बाई (किलोमीटर)	यात्रियो की संख्या (करोडो मे)	ढोया गया माल (करोड टनो मे)
1950-51	53,596	128	9
1955-56	55,011	128	12
1960-61	56,247	159	16
1965-66	58,399	208	20
1973-74	60,234	265	18
1977-78	60,693	350	—
1978-79	60,777	372	22
1979-80	60,933	351	19·3
1980-81	60,966	395	24·0

छठी पचवर्षीय योजना (1980-85)

छठी पचवर्षीय योजना मे रेलो के लिए 5100 करोड रुपये की राशि रखी गयी है। इसमे 2250 करोड पुनर्स्थापन एव नवीनीकरण तथा 165 करोड 'रोड सेवा' कर्मचारी कल्याण तथा कर्मचारी आवास व उपभोक्ता आराम के लिए रखा गया है। छठी पचवर्षीय योजना मे रेल के विकास से सम्बन्धित प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार है :—

1. **चल स्टाक**—इस योजना के अन्तर्गत 780 डीजल-विद्युत इजन 1,00,000 माल डिब्बे 4 पहिया वाले जिसमे लगभग आधे पुनर्स्थापन किये जाने वाले है, के प्राप्त होने का उद्देश्य रखा गया है। अधिक दिनो वाले यात्री यान मे 5,000 यात्री यानो की पुनर्स्थापना कर कुल 5,680 यात्रीयानो को प्राप्त करने का लक्ष्य है।

2. **विद्युतीकरण**—छठी योजना काल मे 2,800 किलोमीटर रेल लाइनो का विद्युतीकरण किया जाता है जिसके लिए 450 करोड रुपये की व्यवस्था है।

3 **यातायात सुविधायें**—छठी योजना के दौरान बढते हुए यातायात को ध्यान मे रखते हुए लगभग 1,675 कि० मी० लाइन को बडी लाइन कर सुविधा प्राप्त करने की योजना बनायी गयी है। 300 कि० मी० लाइन को बडी लाइन मे बदलने की योजना है जो सातवी योजना के प्रथम चरण तक पूरी होगी। इस कार्य के लिये 480 करोड रुपये खर्च होने का अनुमान है।

4. **ट्रैक नवीनीकरण**—इस योजना के अन्तर्गत लगभग 6,000 कि० मी० पूर्ण रूपेण प्राथमिक ट्रैक का नवीनीकरण तथा 2,000 कि० मी० द्वितीयक ट्रैक के नवीनीकरण की आशा की गई है।

5. **नई लाइन**—छठी पचवर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षों मे लगभग 300 कि० मी० लम्बी नई लाइनो का निर्माण हो चुका है। शेष 3 वर्षों मे अतिरिक्त 400 कि० मी० लम्बी नई रेल लाइन बनाने की योजना है।

6 **कर्मचारी आवास**—छठी योजना के अन्तर्गत लगभग 22,000 रेलवे आवास बनाने की योजना है इसके अतिरिक्त अन्य प्रोजेक्टो के लिए भी क्वार्टर बनाने का प्रावधान किया गया है।

7. **यातायात क्षमता**—छठी योजना के अन्त तक योजना आयोग ने यातायात क्षमता के 309 लाख टन होने का अनुमान लगाया है। चूंकि 64 हजार माल डिब्बे तथा 7,800 यात्रीयानो की मरम्मत करना है इसलिए चलयान को सीमित मात्रा मे बनाया जायेगा। ट्रैफिक सुविधाओ के अन्तर्गत 480 करोड रुपया रखा गया है।

वर्तमान स्थिति

योजना के दौरान रेलो की प्रगति का अनुमान निम्न तथ्यो के आधार पर लगाया जा सकता है—

(1) **रेलो की लम्बाई**—भारत मे रेल की लम्बाई जो वर्ष 1950-51 मे

53,596 किलोमीटर थी, 1980-81 के आरम्भ मे बढकर 60,966 किलोमीटर हो गई थी।

(ii) **यात्री परिवहन**—पहली पॉच योजनाओ के दोरान रेलो पर यात्रा करने वाले यात्रियो की सख्या मे दो गुना से अधिक वृद्धि हो गई है। पहली योजना के आरम्भ मे प्रत्येक वर्ष 12,840 लाख यात्री रेलो का प्रयोग करते थे, जबकि 1980 के आरम्भ मे रेल की यात्री सख्या बढकर 39,500 लाख प्रतिवर्ष हो गई थी।

(iii) **माल यातायात**—वर्ष 1950-51 मे रेलो पर 930 लाख टन माल ढोया गया जबकि छठी योजना के प्रारम्भ मे रेलो पर 2,400 लाख टन माल ढोया गया। छठी योजना के अन्त तक इसके 3,000 लाख टन बढ जाने की आशा है।

(iv) **रेल इजन की संख्या**—पहली योजना के आरम्भ मे भारतीय रेलो के पास 9,209 रेल इजन थे जबकि छठी योजना के प्रारम्भ मे यह सख्या बढकर 11,043 हो गई थी। छठी योजना के दौरान 800 नए इजन जोडे जाएँगे।

(v) **माल डिब्बो की सख्या**—रेलो के पास उपलब्ध डिब्बो की सख्या वर्ष 1950-51 मे 2 06 लाख थी जो 1980-81 के आरम्भ मे बढकर 4 28 लाख हो गयी थी।

(vi) **सवारी डिब्बो की सख्या**—रेलो के पास उपलब्ध सवारी डिब्बो की सख्या भी दुगुनी हो गई है। पहली योजना के प्रारम्भ मे भारतीय रेलो के पास 19,628 सवारी डिब्बे उपलब्ध थे जबकि चौथी योजना के अन्त मे इनकी सख्या बढकर 36,426 हो गई थी। पॉचवी योजना मे 76,426 हो गई थी। पॉचवी योजना मे 7,600 सवारी डिब्बे जोडने का प्रस्ताव रखा गया है। छठी योजना मे 3,500 सवारी डिब्बे जोडने का कार्यक्रम है।

(vii) **उत्पादन कारखाने**—भारतीय रेलो के तीनो कारखाने (अ) चितरजन लोकोमोटिव वर्क्स (ब) डीजल लोकोमोटिव वर्क्स और (स) इन्ट्रीगल कोच फैक्ट्री देश की आन्तरिक आवश्यकताओ को पूरा ही नही करते वरन् निर्यात भी करते है।

(viii) **परामर्श सेवा**—भारतीय रेलो की परामर्श सेवा को दुनिया मे इस क्षेत्र की अच्छी सेवाओ मे एक माना जाता है। हाल की अवधि मे भारतीय रेलो ने ईरान, ईराक, श्रीलका, मिस्र, ताइवान, सीरिया, सऊदी अरब, फिलिपाइन्स और जॉर्डन आदि देशो को परामर्श सेवा उपलब्ध की है।

(ix) क्षेत्र—भारतीय रेले 9 क्षेत्रों मे विभाजित है, जिनका विवरण निम्नलिखित है—

(i) **उत्तरी रेलवे**—यह रेलमार्ग पजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, उत्तरी-पश्चिमी राजस्थान एव उत्तरी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे फैला हुआ है। इस रेल मार्ग की कुल लम्बाई 10,688 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली मे है। यह रेलवे भारत को कश्मीर से जोड़ती है, इसलिए इसका सैनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। इस रेलवे द्वारा गेहूँ, गन्ना, चावल, कपास, गुड, तिलहन, चीनी तथा सूती कपड़े आदि पदार्थ ढोये जाते हैं।

इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित है—

(अ) सहारनपुर से मुरादाबाद, बरेली, शाहजहाँपुर, लखनऊ और वाराणसी होती हुई मुगलसराय तक।

(ब) दिल्ली से कानपुर, इलाहाबाद होती हुई मुगलसराय तक।

(स) दिल्ली से भटिण्डा होती हुई फिरोजपुर तक।

(द) दिल्ली से अम्बाला, जालन्धर होती हुई अमृतसर तक।

(ii) **पश्चमी रेलवे**—यह रेलमार्ग दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान, गुजरात, उत्तरी महाराष्ट्र तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश मे फैला हुआ है। इस रेल मार्ग की कुल लम्बाई 10,147 कि० मी० है। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई (चर्च गेट) मे है। इस रेलवे द्वारा सूती कपडा, कपास, तिलहन, नमक, सीमेट आदि पदार्थ ढोये जाते है। इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित है—

1 बम्बई से सूरत, बडौदा, रतलाम होते हुए दिल्ली तक।

2 दिल्ली से आबू रोड होकर अहमदाबाद तक।

3 मथुरा से उज्जैन तक।

4 काँधला से गाँधीधाम तक।

(iii) **मध्य रेलवे**—यह रेल मार्ग मुख्यत: महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश व उत्तर प्रदेश मे फैला हुआ है। इसकी कुल लम्बाई 6,047 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई मे है। इस रेलवे के क्षेत्र मे बम्बई, नागपुर, शोलापुर व हैदराबाद आदि प्रमुख औद्योगिक नगर स्थित है। इस रेलवे द्वारा कपास, सूती कपडा, मैगनीज, सीमेट, तिलहन आदि पदार्थ ढोये जाते है।

(iv) **दक्षिणी रेलवे**—इसका विस्तार दक्षिण भारत मे है। यह तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र, केरल व महाराष्ट्र मे फैला हुआ है। इसकी कुल लम्बाई 7,502 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय मद्रास मे है। इस रेलवे के क्षेत्र मे कई प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र तथा बन्दरगाह है। इस रेलवे द्वारा कपास, चावल, कहवा, तिलहन, गन्ना, रबड आदि पदार्थ ढोये जाते है। इस रेल मार्ग की प्रमुख शाखाएँ निम्नलिखित है—

(अ) मद्रास से विजयवाडा होते हुए वाल्टेयर तक।

(ब) मद्रास से कोयम्बटूर और कालीकट होते हुए मगलौर तक।

(स) मद्रास से त्रिचनापल्ली होते हुए धनुषकोडि तक।

(द) मद्रास से मदुराई होते हुए टिन्नेवली तक।

(v) **पूर्वी रेलवे**—मह रेल मार्ग पश्चिमी बगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश मे फैला हुआ है। इस रेल मार्ग की लम्बाई 4,229 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय कलकत्ता मे है। इसी के क्षेत्र मे कलकत्ता प्रसिद्ध बन्दरगाह के पृष्ठभूमि का भाग भी पडता है। इस रेलवे द्वारा चाय, अभ्रक, लोहा, कोयला, मैगनीज, रासायनिक खाद, जूट, चावल आदि पदार्थ ढोये जाते है। इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ अग्रलिखित है—

(अ) मुगलसराय से पटना होते हुए कलकत्ता तक ।

(ब) मुगलसराय से गया होते हुए कलकत्ता तक ।

(स) कलकत्ता से जमशेदपुर तक ।

(vi) **उत्तरी-पूर्वी रेलवे**—यह रेल मार्ग असम, पश्चिमी बगाल, बिहार व उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग मे फैला हुआ ह। इस रेल मार्ग की लम्बाई 4,977 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय गोरखपुर मे है। इस रेलवे द्वारा चीनी, कोयला, जूट, चाय, पेट्रोल आदि पदार्थ ढोये जाते है। इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित है—

(क) लखनऊ से सीतापुर और बरेली होती हुई मुरादाबाद तक।

(ख) गोरखपुर से सारन और वाराणसी होती हुई इलाहाबाद तक ।

(ग) गोरखपुर से लखनऊ, कानपुर व कासगज होती हुई आगरा तक ।

(घ) गोरखपुर से कटिहार, सिलीगुडी और फकीरग्राम होती हुई असम तक ।

(vii) **उत्तरी-पूर्वी सीमान्त रेलवे**—यह रेलमार्ग पहले उत्तरी-पूर्वी रेलवे का ही भाग था, किन्तु सन् 1958 मे इसको एक अलग रेलव क्षेत्र बना दिया गया है। यह रेल मार्ग नेपाल व बॉगला देश की सीमाओ से मिलता है। इसकी कुल लम्बाई 3,628 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय **मालीगाँव** (गोहाटी) मे है। इस रेलवे का सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है, क्योकि यह उपर्युक्त सीमावर्ती प्रदेशो से होकर गुजरती है। इस रेलवे द्वारा चाय, पट्रोल व चावल आदि पदार्थ ढोए जाते है।

(viii) **दक्षिणी-पूर्वी रेलमार्ग**—यह रेलमार्ग पश्चिमी बगाल, दक्षिणी बिहार, पूर्वी मध्य प्रदेश व उडीसा मे फैला हुआ है। यह रेलमार्ग 6,842 किलोमीटर लम्बा है। इसका प्रधान कार्यालय **कलकत्ता** मे है। राउरकेला तथा भिलाई के लोहे व इस्पात के कारखाने इसी के मार्ग पर स्थित है। **कलकत्ता व विशाखापत्तनम** बन्दरगाहो की पृष्ठभूमि इसी रेलवे के मार्ग मे पडती है। इस रेलवे द्वारा कोयला, लोहा, मैंगनीज, चूना, डोलोमाइट, बाक्साइट, ताँबा आदि महत्त्वपूर्ण खनिज पदार्थ ढोये जाते है। इसकी शाखाएँ निम्नलिखित है—

(क) हावडा से होकर नागपुर तक ।

(ख) रायपुर से विशाखापत्तनम तक ।

(ग) कटनी से बिलासपुर होकर रायपुर तक ।

(घ) वाल्टेयर से कटक होते हुए खडगपुर तक ।

(ix) **दक्षिणी-मध्य रेलवे**—इस रेलवे क्षेत्र का निर्माण सन् 1966 मे हुआ है। यह आन्ध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र के कुछ भाग मे फैला हुआ है। इसकी कुल लम्बाई 6,175 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय **सिकन्दराबाद** (आन्ध्र) मे है। 'अजन्ता' और 'एलोरा' की प्रसिद्ध गुफाएँ इसी रेलवे के मार्ग में स्थित है।

उत्तरी भारत में रेल मार्गों का जाल बिछा है—भारत के सभी भागों मे धरातल एक समान नही पाया जाता इसलिए भारत में सर्वत्र रेल मार्गों का विकास एक समान नही हुआ है। उत्तरी भारत में समतल धरातल होने के कारण रेल की

पटरियाँ बिछाना बहुत सरल है। यही कारण है कि उत्तरी भारत मे रेल मार्गों का जाल-सा बिछा है।

भारतीय रेलो की समस्याएँ

(क) प्रशासनिक समस्याएँ	(ख) आर्थिक समस्याएँ	(ग) जन असहयोग की समस्याएँ	(घ) प्राकृतिक समस्याएँ
1 रेलो मे भीड-भाड	2 रेलो के पुनर्स्थापन की कमी	1 बिना टिकट यात्रा	1 दैवी एव मानवीय आपदाएँ
2 भ्रष्टाचार	2. ईंधन की कमी	2 माल की चोरी	2. दुर्गम स्थानो तक पहुँच असम्भव
3 दुर्घटनाएँ	3. सीमित साधन	3. उदासीनता	
4. अन्तर्माप की समस्याएँ	4. वेतन वृद्धि से भार		
5. बिम्लब से चलना	5. अनुसधान की कमी		
6 प्रतिस्पर्द्धा	6. क्षतिपूर्ति		
7. सुविधाओ का अभाव	7. अलाभप्रद शाखाएँ		
8. दुर्व्यवहार	8. रेल मार्गों की कमी		

(क) प्रशासनिक समस्याएँ—ये वे समस्याएँ है जो रेलवे प्रशासन की कमियो के कारण उत्पन्न होती है। प्रमुखतः ये समस्याएँ निम्नलिखित है—

(1) रेलों में भीड़-भाड़ की समस्या—वर्तमान समय मे रेलो मे अत्यधिक भीड रहती है कि जिससे एक ओर तो जनता को असुविधा रहती है और दूसरी ओर रेलो की कार्यक्षमता मे ह्रास होता है। **श्री डी० पन्त** के शब्दो मे "पूर्ण भरी हुई लम्बी गाडियाँ छत पर, फुटबोर्ड पर लटकते हुए यात्री, भेड-बकरियो की तरह भरे हुए, कुछ बन्दरो की तरह बाहर लटके हुए और दमे के रोगी की तरह साँस भरता हुआ इन्जन, यह देश मे सामान्य दृश्य है।"

इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है—

(i) **जनसंख्या मे वृद्धि**—जनसख्या मे तीव्र गति से हो रही वृद्धि रेलो की भीड-भाड का प्रमुख कारण है।

(ii) **त्योहार एवं पर्व**—भारत पर्वों एव त्यौहारो का देश हे। यहाँ हर महीने देश के किसी न किसी भाग मे कोई न कोई त्यौहार या पर्व होते रहते है। परिणामतः उस पर्व या त्यौहार पर गाडियो मे भीड-भाड अधिक हो जाती है।

(iii) **शिक्षा में वृद्धि**—देश मे शिक्षा के प्रसार के कारण भी रेला मे विद्यार्थियो की संख्या मे अत्यन्त वृद्धि हुई है।

(iv) जो यात्री बिना टिकट यात्रा करते है। उन पर कडी निगरानी रखी जाए।
(v) गाडियों की रफ्तार बढाई जाए।

2. **भारतीय रेलों मे भ्रष्टाचार**—अन्य क्षेत्रो की भाँति भारतीय रेलो मे भ्रष्टाचार की समस्या बहुत अधिक गंभीर है। **डा० डी० पन्त** ने अपनी पुस्तक 'भारत मे यातायात समस्याएँ' मे लिखा "यदि आपको एक वैगन की आवश्यकता है तो इसके आगे बढने से पहले आप स्वय आगे बढिए। सम्बन्धित पक्ष के कर्मचारिया से मिलिए और उनकी शर्ते स्वीकार कीजिए। यदि आपको माल छुडाना है तो या तो पाँच घण्टे बैठकर इन्तजार कीजिए या इनसे समझौता करके शीघ्र माल छुडा लीजिए आर यदि अपने नम्बर से पहले आपको डिब्बा चाहिए तो 100 रुपए का एक नोट खिसकाइए, डिब्बा मालगाडी मे जोड दिया जाएगा चाहे यह अतिरिक्त डिब्बा इजन पर जोर ही क्यो न डाले।" कभी-कभी तो बारात की बारात बिना टिकट के होती है और चेक करने वाला अपना हक लेकर बारात को जाने देता है। जब यात्रियो को टिकट नही मिलते तो रेलवे अधिकारियो को कुछ रुपया देकर यह समस्या हल कर ली जाती है। लगेज अधिक होने पर यात्रियो से पैसा वसूल कर लिया जाता है और बिना रसीद दिए उनको छोड दिया जाता है। स्वतन्त्रता पाने के बाद देश का नैतिक स्तर और भी गिर गया है जिससे भ्रष्टाचार का रोग और भी पनप उठा है।

सन् 1948 मे **कुंजरू समिति** ने यह सुझाव दिया था कि प्रत्यक रेल कर्मचारी से उसकी अचल सम्पत्ति की घोषणा करा लेनी चाहिए। ससद सदस्यो की माँग पर सरकार ने इसके निवारणार्थ सन् 1953 मे भ्रष्टाचार समिति की नियुक्ति की। समिति ने 1955 मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत किया जिसमे भ्रष्टाचार के निम्नलिखित प्रकार बताये गये —(i) माल बुक करते समय (ii) माल उतारते-चढाते समय (iii) मार्ग मे विलम्ब कर (iv) तौल मे कमी-बेशी कर (v) विलम्ब शुल्क और स्थान शुल्क (vi) माल सुपुर्दगी के समय एव (vii) पार्सल यातायात मे।

भ्रष्टाचार निरोधक संगठन की रचना की गयी। इसका कार्य भ्रष्ट अधिकारियो एव कर्मचारियो के विरुद्ध कार्यवाही करना है। चौकसी सगठनो ने व्याप्त भ्रष्टाचार को कम करने के लिए चारो तरफ जाल बिछाये है। प्रत्येक रेल क्षेत्र मे एक मुख्य **सतर्कता अधिकारी** होते है। उनके अधीन सतर्कता निरीक्षक होते है जो हर रेल के विभागो मे भ्रष्टाचारियो को दड दिलाते है। इन निवारक जाँच कार्यों से एक ओर राजस्व प्राप्त करने मे सहायता मिलती है तथा दूसरी ओर भ्रष्ट अधिकारियो का दडित कर प्रशासन स्वच्छ बनाया जाता है।

समय-समय पर रेलो मे व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठती रही है लेकिन समस्या का निदान नही हो सका है।

भ्रष्टाचार जाँच समिति, 1955 ने रेलो मे व्याप्त भ्रष्टाचार का दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए है।

(i) रेलवे विभाग के निर्धारित नियमो तथा निर्देशो का कड़ाई के साथ पालन किया जाना चाहिए।

(ii) निरीक्षको को अपना कार्य न्याय से निष्ठापूर्वक और निडर होकर करना चाहिए।

(iii) पत्र-व्यवहार मे कम से कम समय लगाना चाहिए।

(iv) थोडे-थोडे समय के पश्चात् रेलवे कर्मचारियो का स्थानान्तरण कर देना चाहिए, जिससे ये लोग व्यापारियो से अनुचित लाभ न उठा सके।

(v) रेलवे कर्मचारियो के प्रति बनाए गए नियमो व उपनियमो का कठोरता के साथ पालन होना चाहिए।

(vi) अपराधियो को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए।

(vii) सुयोग्य एव ईमानदार कर्मचारियो को पुरस्कार मिलना चाहिए।

(viii) रेलवे पुलिस मे सुधार होना चाहिए।

(ix) जनता की शिकायते सुनने के लिए जॉच प्रणाली सरल होनी चाहिए।

(x) चलती-फिरती अदालतो द्वारा भ्रष्टाचार के मामले सुने जाने चाहिए।

(xi) सामान्य अनुशासन पर अधिक बल देना चाहिए।

(xii) रेलवे कर्मचारियो के लिए कल्याणकारी कार्यों पर अधिक धन व्यय किया जाना चाहिए।

(xiii) रेलवे कर्मचारियो के वेतन मे वृद्धि की जानी चाहिए।

(xiv) प्रत्येक क्षेत्र मे एक रेलवे न्यायालय स्थापित होना चाहिए, जो भ्रष्टाचार से सम्बन्धित मामलो पर शीघ्र निर्णय दे सके।

(xv) देश की जनता को भी भ्रष्टाचार मिटाने मे सहायता देनी चाहिए। जो रलवे कर्मचारी रिश्वत मॉगता है उसे रिश्वत न देकर उच्च अधिकारियो से तथा पुलिस से उसकी रिपोर्ट कर देनी चाहिए।

(3) **दुर्घटनाओ की अधिकता**—आधुनिक युग मे रेल दुर्घटनाये एक गम्भीर समस्या बन गई है जिससे मानव, पशु और धन की हानि होती है और रेलवे की ख्याति को भी कलक लगता है। भारतीय रेल दुर्घटनाओ से सम्बन्धित आँकडे नीचे सारिणी मे दिये गये है।

वर्ष	टक्कर	गाडी का पटरी से उतर जाना	गाडियो मे आग लग जाना	क्रासिंग पर होने वाली दुर्घटनाएँ	कुल गाडी दुर्घटनाएँ
1	2	3	4	5	6
1962-63	98	1316	55	168	1637
1970-71	59	648	12	121	840
1975-76	64	768	27	105	964
1777-78	54	705	14	93	866
1978-79	55	778	12	86	931
1979-80	72	692	21	115	900
1980-81	69	825	29	90	1013

रेल दुर्घटनाओ के कारणो मे रेल फाटको का खुला रह जाना, विस्फोटक पदार्थो से आग लगना, रेल कर्मचारियो की अकुशलता, यत्र मे खराबी होना आदि मुख्य है। कुछ रेल दुर्घटनाएँ विध्वस कार्यो के कारण भी हुई है, सन् 1978 मे रेल मत्रालय द्वारा प्रकाशित 'दुर्घटनाओ की तथ्यात्मक' समीक्षा के अनुसार अधिकाश दुर्घटनाएँ **रेल कर्मचारियो की असावधानी के कारण** हुई थी।

रेल प्रशासन और सरकार ने रेल दुर्घटनाओ की समस्या की रोकथाम और रेलो मे सुरक्षा बढाने के लिए अनेक प्रयत्न किये है; इस सम्बन्ध मे सन् 1954 मे **शाहनवाज समिति**, सन् 1969 मे **कुजरू समिति** और सन् 1969 मे **बांचू समिति** की नियुक्ति की गयी और इनके सुझावो के आधार पर उचित पग उठाये गये है।

रेल दुर्घटनाओ के सदर्भ मे सरकारी प्रयत्न

रेल दुर्घटनाओ को रोकने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न कदम उठाये गए है। इनके क्रियान्वयन के लिए निदेशको की समिति का गठन किया गया है। रेल कानून मे सशोधन करते समय सरकार रेल यात्रियो के जीवन और उनकी सम्पत्ति का बीमा करने के सुझाव पर विशेष ध्यान देगी।

सरकार निम्नलिखित उपायो को युक्तिसगत बनाने और उन्हे प्रभावकारी ढङ्ग से लागू करने के सम्बन्ध मे विचार रखती है—

1. नियमित अन्तरालो पर गतायु रेल पथ की अल्ट्रासोनिक जाँच।

2. आधान लाइनो के लिए रेल पथ अन्तपार्शन और धूरागणक जैसे तकनीकी उपकरणो का प्रभावी उपयोग।

3. ड्राइवरो की अनिवार्य स्वास विश्लेषण परीक्षा को लागू करना ताकि वे नशे की हालत मे काम पर न आ सके।

4. सभी डीजल और बिजली के रेल इजनो मे शक्तिशाली फ्लैस, फ्लाइट लगाना ताकि निकटवर्ती लाइनो पर ड्राइवरो को गाडी के पटरी से उतर जाने आदि के कारण उत्पन्न किसी सम्भावित बाधा के बारे मे सचेत किया जा सके।

5. परिचालनिक कोटियो मे समस्या-कर्मचारियो का पता लगाने तथा उन्हे परामर्श देने के लिए सुरक्षा परामर्शदाताओ का अधिक उपयोग करके कर्मचारियो मे सरक्षा के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना।

6. महाप्रबन्धको द्वारा सरक्षा पर अधिक बल देते हुए ट्रैक मार्गों पर सर्वाङ्गपूर्ण निरीक्षण को जारी रखना।

इस प्रकार सरकार रेल दुर्घटनाओ को रोकने हेतु अनेकों प्रयास कर रही है, ताकि यात्री निश्चिन्त होकर सुरक्षित यात्रा कर सके। आशा है कि अब रेल दुर्घटनाओ में पर्याप्त कमी आयेगी।

रेल दुर्घटनाओ को रोकने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है—(1) कर्मचारियों मे उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जानी चाहिए। (ii) दोषी कर्मचारियो को शीघ्र और कठोर सजा दी जानी चाहिए (iii) कर्मचारियों के स्वास्थ्य का

पूर्ण ध्यान रखना चाहिए (iv) कर्मचारियो के लिये समय-समय पर 'रिफ्रेशर कोर्स' की व्यवस्था होनी चाहिए। (v) मासिक पत्रिकाओ के माध्यम से उपयोगी सूचनाएँ प्रसारित की जानी चाहिए। (vi) यात्रियो को नियमानुसार और सावधानी पूर्वक रेल यात्रा करनी चाहिए। (vii) अधिक भीड-भाड को हतोत्साहित किया जाना चाहिए। (viii) प्रत्येक रेलवे जिले, क्षेत्र, कर्मशाला तथा मुख्यालय स्तर पर सुरक्षात्मक सगठन शुरू किया जाना चाहिये। रेलवे मत्रालय ने इस सम्बन्ध मे आवश्यक कदम उठाये है।

(4) **अन्तर्माप की समस्याएँ** (Gauge Problem)—भारत मे 4 रेल अन्तर्माप है। बडी लाइन (5 फीट 6 इच) छोटी लाइन (3 फीट $3\frac{3}{4}$ इच) उससे छोटी लाइन (2 फीट 6 इच) और सबसे छोटी लाइन (2 फीट) है। जिसमे बडी लाइन और छोटी लाइन का अधिक प्रचार है।

विविध प्रकार के गेज होने के कारण व्यवसाय एव व्यापार मे असुविधा पैदा होती गई। कई स्थानो पर यानान्तरण यार्ड बनाये गये जिससे किराया भाडा अधिक पडता था फलत: माल अधिक कीमती होता था और जनता को अधिक पैसे चुकाने पडते थे। कभी-कभी यानान्तरण मे कई दिन लग जाते थे जिससे आवागमन रुक जाता था।

उपर्युक्त कठिनाइयो मे छुटकारा पाने के लिए सारे देश मे एक गेज के माप की रेल का होना उचित होगा। इस समय भारत सरकार अन्तर्माप परिवर्तन का कार्य विशेष प्रकार से कर रही है। **प्रथम पंचवर्षीय** योजना मे 46 मील छोटी लाइन बडी लाइन मे बदली गई। **द्वितीय** योजना काल मे 265 मील **तृतीय** मे 350 कि० मी० तथा **चौथी** मे 750 कि० मी० को बडे पथ म परिवर्तित किया गया। रेलवे बोर्ड ने आगामी 10-15 वर्षों मे लगभग 3000 कि० मी० अन्तर्माप परिवर्तन की योजना बनायी है परन्तु भारत की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए 5 फीट 6 इच, 3 फीट $3\frac{3}{4}$ इच, 2 फीट 6 इच तथा 2 फीट के गेजो का रहना उचित है। जहाँ तक हो सके उसे 5 फीट 6 इच मे परिवर्तित होना अधिक लाभकारी होगा।

(5) **रेलो का बिलम्ब से चलना**—रेलो की कार्यक्षमता कम होने के कारण रेले अक्सर बिलम्ब से चला करती है। रेलो के बिलम्ब से चलने से राष्ट्रीय समय की बर्बादी एव उत्पादकता मे कमी हो जाती है जो कि रेलो की प्रमुख प्रशासनिक समस्या है।

(6) **प्रतिस्पर्द्धा**—भारत मे रेलो की समस्याओ का एक कारण सडक से प्रतिस्पर्द्धा का होना भी है। रेल किराये-भाडे मे कोई बढोत्तरी होने पर सड़को से प्रतिस्पर्द्धा हो जाती है। यद्यपि उक्त दोनो परिवहनो मे समन्वयकारी नीति निर्धारित कर ली गई है, फिर भी सडक परिवहन अपनी तीव्र सेवा और व्यापक उपयोगिता के कारण रेलों से टक्कर लिए हुए है।

(7) **सुविधाओं का अभाव**—रेलो में उठने-बैठने की व्यवस्था, प्रसाधन सुविधा,

खाद्य सामग्री विक्रय व्यवस्था इत्यादि अभी तक उचित मानको तक नही पहुँच पायी है, और यह रेल परिवहन की एक समस्या बनी हुई है।

(8) **दुर्व्यवहार**—भारतीय रेलो के प्रशासन तन्त्र मे सामान्य व्यक्ति को हर स्थानो पर दुर्व्यवहार का सामना करना पडता है। लेकिन बडे हर्ष की बात है कि "अच्छा बर्ताव कीजिए, जनता का दिल जीतिए" का नारा अब भारतीय रेलो मे भी गूंजने लगा है।

(ख) आर्थिक समस्याएँ—एक विकासशील राष्ट्र के कारण भारत मे आर्थिक साधनो की सीमितता है। इन सीमित आर्थिक साधनो से वृहत् रेल व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति नही की जा सकती। अतः ऐसी प्रमुख आर्थिक समस्याएँ इस प्रकार है—

(1) **रेलो के पुनर्स्थापन की कमी**—निरन्तर प्रयोग के कारण रेलवे रोलिंग स्टॉक (इजन, डिब्बे) रेलवे ट्रैक, स्टेशन इत्यादि की कार्यक्षमता मे काफी ह्रास हुआ है। अत रेलगाडियाँ चलाने की लागत बढ जाती है जिससे रेलवे को काफी हानि उठानी पडती है। फलत इनके पुनर्स्थापन की समस्या उत्पन्न होती है।

(2) **ईंधन की कमी**—ईंधन की समस्या आधुनिक औद्योगिक युग की प्रमुख समस्या है। भारत मे अधिकाश रेले कोयले से चलायी जाती है, और कोयले के भडारो की भी मात्रा सीमित होने के कारण, समय-समय पर रेलो को ईंधन के अभाव के कारण बन्द करना पडता है। रेलो के विद्युतीकरण एव इजनो को डीजल से चलाकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(3) **सीमित साधन**—हमारे देश म रेलो पर जो व्यय किया जाता है वह आवश्यकता से कम है। सीमित आर्थिक ससाधनो के कारण रेल मार्गों की लम्बाई आवश्यकता से कम है, तथा रोलिंग स्टॉक की मात्रा भी विशेष नही है। इस प्रकार भारतीय रेल सीमित आर्थिक ससाधनो के कुचक्र मे फँसी हुई है।

(4) **अनुसंधान की कमी**—भारत मे रेल समस्याओ का एक प्रमुख कारण अनुसधान की कमी है। **कुंजरू समिति** ने अनुसधान पर बहुत बल दिया है। अनुसधान मे कमी के कारण यात्री सुविधाएँ, गति वृद्धि, लागत कमी, आदि के सम्बन्ध मे नवीन आविष्कार नही हो पाते।

(5) **वेतन वृद्धि से भार**—वेतन आयोग की सिफारिशो पर अमल करने से रेल कर्मचारियो मे हुई वेतन वृद्धि से रेल वित्त पर लगभग 50 करोड रुपये से अधिक का भार पडा है, जो कि रेल विभाग की दिन-प्रतिदिन की एक प्रमुख समस्या बनी हुई है।

(6) **क्षतिपूर्ति समस्या**—रेलो द्वारा भेजा गया माल अगर खो जाये, चोरी हो जाये, या खराब हो जाये तो इसके लिए रेलवे विभाग को क्षतिपूर्ति करनी पडती है। 1978-79 मे लगभग 30 करोड रुपये की क्षतिपूर्ति करनी पडी थी। इससे रेलवे विभाग को भारी वित्तीय समस्या का सामना करना पडता है।

(7) **अलाभप्रद शाखाएँ**—अनेक समस्याओ के कारण रेलवे की अनेक शाखाएँ

घाटे मे चल रही है । इनको बन्द करना भी सम्भव नही है । इन शाखाओ से विभाग को भारी नुकसान हो रहा है । अतः अलाभप्रद शाखाएँ भी रेल विभाग की प्रमुख समस्या है ।

(8) **रेल मार्गों की कमी**— अब भी देश में अनेक ऐसे भाग हैं जिनमे रेलमार्गों की कमी है । भारत मे प्रतिवर्ग कि० मी० क्षेत्र मे केवल 18 मीटर लम्बे रेल मार्ग है और देश के अनेक भाग रेल सेवा से अभी भी वचित है ।

(ग) जन असहयोग की समस्याएँ भारतीय रेलवे में जन असहयोग की समस्या भी गभीर रूप से विद्यमान है । जन असहयोग की प्रमुख समस्याएँ निम्नाकित है—

(1) **बिना टिकट यात्रा**—रेल प्रशासन द्वारा अनेक प्रयास किए जाने के बावजूद बिना टिकट यात्रा रेल परिवहन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बनी हुई है । 'डब्लू टी' शब्द जनता मे साधारण रूप मे प्रयोग किया जाता है । ऐसा अनुमान है कि बिना टिकट यात्रा करने वालो के कारण रेलो को 20 से 25 करोड रुपए तक वार्षिक हानि उठानी पडती है । रेलो को भारी हानि के अतिरिक्त यात्रियो को भी भीड-भाड के कारण बडी असुविधा होती है ।

कुँजरु समिति ने बिना टिकट यात्रा करने वाले यात्रियो को निम्नलिखित श्रेणियो मे विभक्त किया है—

(क) बेईमान तथा कपटी व्यक्ति—ऐसे यात्री जिनके पास रुपया तो है किन्तु देना नही चाहते और रेलो को धोखा देकर पैसा बचाना चाहते है ।

(ख) धनहीन यात्री—टिकट विहीन यात्रियो का वह वर्ग जो अत्यन्त निर्धन होता है, अतः निर्धनता के कारण टिकट प्राप्त नही कर पाता है ।

(ग) विवश यात्री—जिन्हे बुकिंग आफिस समय से न खुला होने अथवा बुकिंग की अपर्याप्त सुविधाओ के कारण प्रयत्न करने पर भी टिकट न मिला हो ।

(घ) विद्यार्थी एवं पुलिस—विद्यार्थी वर्ग केवल बिना टिकट यात्रा ही नही करते है बल्कि रेल कर्मचारियो के प्रति अभद्रता भी करते है । यह वर्ग बिना टिकट यात्रा करना अपना गौरव समझता है ।

पुलिस कर्मचारी अपने वर्दी का लाभ लेते है, और वर्दी पहनकर यात्रा करते समय टिकट नही लेते है ।

रेल प्रशासन द्वारा बिना टिकट यात्रा की समस्या के समाधान के लिये अनेक उपाय किये गये है, जैसे—(i) टिकट निरीक्षकों की सख्या बढाना (ii) अनायास निरीक्षण करना (iii) चलते-फिरते न्यायालयो की योजना चलाना (iv) बिना टिकट यात्रा पर दण्ड बढाने की व्यवस्था करना (v) अतिरिक्त बुकिंग आफिसेज स्थापित करना (vi) स्टेशन क्षेत्र के दोनों और बेडे लगाना और कड़ी देखभाल करना । (vii) बिना टिकट यात्रा के दुष्परिणामों का रेलवे द्वारा व्यापक सचित्र विज्ञापन भी किया जा रहा है ।

समस्या के समाधान के लिये उपर्युक्त प्रयासो के अतिरिक्त कुछ सुझाव इस

प्रकार दिये जा सकते है—(अ) टिकट घर गाडी के समय से बहुत पूर्व खोलने की व्यवस्था की जानी चाहिए। (ब) रेलवे के प्रत्येक विभाग के कर्मचारियो को टिकट देखने का अधिकार होना चाहिए। (स) महिलाओ के लिये टिकट बाँटने की खिडकियाँ अलग होनी चाहिए। (द) 24 घण्टे काम करने वाले टिकट घर खोलने चाहिए। (य) शहरों मे अधिक स्थानीय टिकट घर स्थापित किये जाने चाहिए। (र) मेला या नुमाइश के अवसर पर टिकट खिडकियो और टिकट बाबुओ की सख्या बढा देनी चाहिए। (ल) टिकट परिवर्तन तथा विस्तार के लिये टिकट निरीक्षक सुविधापूर्वक मिलने चाहिए (व) शिक्षा सस्थाओ मे बिना टिकट यात्रा सम्बन्धी वाद-विवाद एव निबन्ध प्रतियोगिताओ का आयोजन करके जनजागृति उत्पन्न करनी चाहिए।

(2) **माल की चोरी**—प्रतिवर्ष करोडो रुपये की रेलवे सम्पत्ति या जनता द्वारा भेजा गया सामान रास्ते मे चुरा लिया जाता है। रेलो मे होने वाली चोरी व उठायीगीरी को 2 वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—(1) लदान के माल की चोरी और (11) रेल सम्पत्ति की चोरी। रेलवे को ऐसे चुराये गये माल के सम्बन्ध मे 1978-79 मे 12 3 करोड रुपये की क्षतिपूर्ति करनी पडी। सरकार ने इसको रोकने के लिये रेल सुरक्षा दल आदि तैनात किये है लेकिन वे अभी पर्याप्त मात्रा मे नही है। अतः उनकी सख्या बढायी जानी चाहिए। इसके साथ ही विभिन्न जन आन्दोलनो, आक्रोशो और हडतालो से रेल विभागो को प्रति वर्ष करोडो रुपयो की हानि उठानी पडती है। रेल प्रशासन ने राज्यो के अधिकारियो एव रेल सेवा के अधिकारियो तथा श्रम सगठनो के प्रतिनिधियो का एक सगठन राज्य एव क्षेत्रीय स्तरो पर अपराध रोकने के लिए बना रखा है। रेला मार्गों की गहन निगरानी आर० पी० एफ० और आर० पी० एस० एफ० के जवानो द्वारा कराई जा रही है। सी० आई० डी० पुलिस की व्यवस्था भी रेल विभाग मे की गई है। इसका कार्यालय कलकत्ता मे रखा गया है। बगाल पुलिस ने रेल सामान के चोरो के खिलाफ आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम का भी प्रयोग किया है।

सुझाव—आवश्यकता इस बात की है कि हमारा रेल प्रशासन इस ओर अविलम्ब ध्यान दे तथा इन अपराधो को रोकने के लिए कारगर कदम उठाये। इसके लिए निम्न सुझाव उपयोगी हो सकते है—

(1) रेल सुरक्षा दल के सगठन मे आमूल परिवर्तन कर उसे मजबूत बनाया जाना चाहिए।

(11) रेल सुरक्षा अधिनियम मे आवश्यक परिवर्तन कर उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(iii) रेल यात्रा को सुरक्षित बनाने के लिए सुरक्षा सेवकों की सख्या मे वृद्धि की जानी चाहिए।

(1v) खुले वैगनो की सख्या मे कमी कर बन्द वैगनो की सख्या बढायी जानी चाहिये।

(v) एक डिब्बे मे दूसरे डिब्बे में सुरक्षा कर्मचारियों के आवागमन की सुविधाओ से युक्त डिब्बो का निर्माण कराया जाना चाहिए।

(vi) रेल वैगनो के निर्माण की तकनीक मे सुधार किया जाना चाहिए जिससे तोड-फोड की सम्भावनाएँ कम हो सके।

(vii) लेबल लगाने के तरीके मे सुधार कर वैगनो को गाडी से तोड लेने या गलत पते पर पहुँचने के अपराध रोके जाने चाहिए।

(viii) घटनाओ की सूचना तत्काल प्रहरी को देने के लिए रेलवे के मुख्य स्टेशनो व जक्शनो पर विद्युत ध्वनि प्रसारक यन्त्र लगाये जाने चाहिए।

(ix) अनिच्छित व्यक्तियो के प्रवेश का रोकने के लिये रेलयार्डों की हदबन्दी की जानी चाहिए।

(3) **उदासीनता**—भारतीय जन मानस रेलो को अपने राष्ट्र की सम्पत्ति नही समझते और उनकी सुरक्षा, देख-रेख आदि के सम्बन्ध मे पूर्णत· उदासीन रहते है। तोड-फोड जैसी अनुचित हरकतो को भी करने मे वे नही झिझकते। फलत इससे रेलो को भारी क्षति होती है।

(4) **प्राकृतिक समस्याएँ** - ये वे समस्याएँ है, जो प्राकृतिक प्रकोप से उत्पन्न होती है। प्रमुख प्राकृतिक समस्याएँ इस प्रकार है- -

(1) **दैवी एवं मानवीय आपदाएँ**— ये आपदाएँ आकस्मिक होती है, अत कभी भी आ सकती है। इन आपदाओं से रेलो को प्रतिवर्ष लाखों रुपयो की हानि उठानी पडती है। दैवी आपदाओ मे मुख्यत· घोर वर्षा, आँधी, ओला, भूकम्प तथा बाढ है।

मानवीय आपदाओ मे हडताल, आन्दोलन, प्रदर्शन उपद्रव आदि प्रमुख है। परिणामत इनसे भी रेलवे को भारी हानि उठानी पडती है।

(2) **दुर्गम स्थानो तक पहुँच असम्भव**- -प्रकृति ने भारत को विभिन्नता एवं विविधता प्रदान की है। देश मे अनेक उच्चावचन है। कही तो पठार है और कही पर्वत है। अत. रेल विकास की दृष्टि से इसका स्वरूप समस्या जनक रहा है। हिमालय पर्वत के उच्च भाग, व अन्य अनेक ऊबड-खाबड प्रदेश आज भी अपनी प्राकृतिक स्थिति के कारण रेल सुविधाओ से वञ्चित है।

रेलों की प्रगति के लिए सुझाव

भारतीय रेलों की स्थिति को सुदृढ एवं प्रगतिशील बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते है—

(1) **प्रमापीकरण**—रेल सामग्री एव उपकरणो का सार्वजनिक उपयोग करने के लिए आवश्यक है कि उनका प्रमापीकरण किया जाए जिससे समरूप माल का आयात किया जा सके।

(2) **सड़क परिवहन उपयोग**—कम मात्रा मे परिवहन और आशिक वैगन-

लदान का व्यय बहुत ही अधिक होता ह अतः उपयुक्त क्षेत्रो मे इसे सडक परिवहन को सौपा जा सकता है।

(3) **आधुनिकीकरण मे सतर्कता**—हमारे यहाँ तेल के भण्डार अत्यन्त ही सीमित मात्रा मे है। अतः डीजल इञ्जिन का उपयोग सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। क्योकि आयात पर निर्भरता उचित नही है।

(4) **सड़क परिवहन का विकास**—नवीन रेल मार्ग के निर्माण की अपेक्षा सडक परिवहन को विकसित किया जाना चाहिए जिससे गैर औद्योगिक उद्देश्यो की पूर्ति हो सके।

(5) **सकरे गेज का अन्त**—जिस स्थान पर सडक परिवहन की सुविधाएँ मौजूद है वहाँ पर सकरे रेल मार्ग को समाप्त कर दूसरे परिवहन साधनो का विकास किया जाना चाहिए।

(6) **मीटर गेज का ब्रॉड गेज मे रूपान्तरण**—मीटर गेज को चलाने मे अधिक खर्च पडता है अत मीटर गेज को धीरे-धीरे ब्रॉड गेज मे बदल देना चाहिए। परिवर्तन के कार्य मे प्रमुख रूप से रेल मार्गो को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(7) **यात्रियों की सुविधाएँ**—यात्रियो के लिए विभिन्न योजनाओ मे सुख-सुविधाओ को ध्यान मे रखा गया, किन्तु अभी भी दूसरे दर्जे की कठिनाइयाँ मौजूद हैं। अत इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(8) **डीजलीकरण एवं विद्युतीकरण**—ऐसे मार्ग जिनका घनत्व अधिक है, उन्हे बिजलीकृत या डीजल युक्त किया जाना चाहिए। तकनीकी आर्थिक अध्ययन कराए जाएँ जिससे विद्युतीकरण एव डीजलीकरण का पुनरीक्षण किया जा सके।

(9) **हवा के ब्रेकों का उपयोग**—गाडियो की चाल मार्ग तय करने की शक्ति एव सवारी गाडियो के भार मे वृद्धि हेतु हवा ब्रेको का उपयोग किया जाना चाहिए।

(10) **अन्य सुझाव**—(i) रेल पथ एव सिगनल व्यवस्था मे सुधार किया जाए। (ii) बिना टिकट यात्रा को निरापद बनाया जाए। (iii) रेल प्रशासन को राजनीतिक दबाव से मुक्त किया जाए। (iv) रेल सामग्रियो की वृद्धि की जाए (v) रेल कर्मचारियो की असावधानी से उत्पन्न होने वाली दुर्घटना पर कठोर नियन्त्रण रखा जाए।

सन् 2000 में रेलों की सम्भावित स्थिति

उपनगरीय (Suburban) रेल यात्री परिवहन 69,000 से 80,000 मिलियन यात्री किलोमीटर के मध्य होने की सभावना है जब कि अउपनगरीय (Non-Suburban) यात्री परिवहन 2,50,000 से 4,20,000 मिलियन यात्री किलोमीटर के मध्य होने की सभावना है।

माल के यातायात की दृष्टि से अनुमान 2,50,000 से 6,00,000 मिलियन टन कि० मी० के मध्य है।

विद्युतीकृत रेल मार्गों की लम्बाई सन् 2000 मे 25,000 कि० मी० होने की सम्भावना है तथा उस समय लगभग 4000 डीजल इजन और 8000 इलेक्ट्रिक इजनो की आवश्यकता होगी। सन् 2000 मे यात्री डिब्बों की सख्या लगभग 75,000 और माल डिब्बो की सख्या लगभग 15,00,000 (चार पहियो के) होने की सभावना है।

परीक्षा-प्रश्न

1 रेलो को 'राष्ट्र की जीवन रेखा' कहा जाता है। विवेचन कीजिये ?

2. कृषि उद्योग एवं व्यापार पर रेलो का जो प्रभाव पडा है, उसकी विवेचना करिये ?

3 "रेल परिवहन एकाधिकार राष्ट्रीयकरण के लिये आदर्श है।" टिप्पणी कीजिये ?

4 योजनावधि मे भारतीय रेलो के विकास के प्रमुख लक्षणो का उल्लेख कीजिये ?

5 पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत रेलवे के विकास का परीक्षण कीजिये ?

6 रेल परिवहन की विभिन्न समस्याओ का वर्णन कीजिये ?

रेल किराया-भाड़ा सिद्धान्त व वस्तुओं का वर्गीकरण

(Principles of Rates and Fares and Classification of Goods)

बाजार मे जब हम कोई वस्तु खरीदते है तो हमे उसका मूल्य चुकाना पडता है। इसी प्रकार यदि हम रेल परिवहन की सेवाओ का उपयोग करते है तो उसका मूल्य हमको देना होगा। किराये-भाडे को रेल-सेवा के मूल्य की सज्ञा दी जाती है। यात्रियो के स्थानान्तरण के लिए जो मूल्य लिया जाता है उसे दर (Rate) और माल के स्थानान्तरण के लिए जो मूल्य लिया जाता है उसे भाडा (Fare) कहते है।

रेल दरो व भाडे के निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है—

1. सेवा लागत सिद्धान्त (Principle of Cost of Service)

2 सेवा की उपयोगिता या सेवा मूल्य का सिद्धान्त (Utility or Value of Service Principle)

3. विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त (Principle of Differential Charging)

4. अन्य सिद्धान्त (Other Principles)

(i) समानान्तर दर या मील भाडा (Flat or Mileage Rate)
(ii) प्रादेशिक भाडा (Zone Rate)
(iii) शुण्डाकार भाडा (Tapering Rate)
(iv) डाक सिद्धान्त (Postal Principle)
(v) सामूहिक भाडा (Group Rate)
(vi) वर्ग भाडा (Block Rate)
(vii) विशेष भाडा (Special Rate)

1. **सेवा लागत सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार रेलवे का भाड़ा (या दरे) उन व्ययों के आधार पर निश्चित की जानी चाहिए जो कि सम्बन्धित सेवाओ को प्रदान करने मे की गई हो। **सक्षेप मे जिस सेवा को प्रदान करने में जितनी लागत लगे उसी के अनुसार भाड़ा निश्चित किया जाना चाहिए।** लागत के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों मे मतभेद है परन्तु लागत से तात्पर्य यहाँ औसत लागत से है। प्रति व्यक्ति या वस्तु जो औसत लागत आती है उसमें एक निश्चित लाभ जोड़कर प्रति व्यक्ति या वस्तु मूल्य

निश्चित कर लिया जाता है। सबसे पहले इस सिद्धान्त का प्रयोग 1867 मे **जर्मनी** मे किया गया था।

सिद्धान्त के प्रयोग करने मे व्यावहारिक कठिनाइयाँ—देखने म सेवा की लागत का सिद्धान्त बहुत सरल प्रतीत होता ह किन्तु जब इसे व्यवहार मे लाने की चेष्टा की जाती है तो अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित है—

(i) **प्रति इकाई लागत व्यय निकालना कठिन है**—प्रतिव्यक्ति और प्रति-वस्तु लागत निश्चित करना सम्भव नही हो पाता क्योकि रेले माल भी ले जाती है और सवारी भी। माल मे भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित है और यात्रियो म भी श्रेणियाँ होती हैं। स्पष्टत प्रति इकाई यातायात का औसत लागत ज्ञात करना कठिन है और जब तक औसत लागत मलूम नही होगा तब तक किस इकाई से कितना वसूल किया जाया यह कहना कठिन है।

(ii) **सेवा से पूर्व ही किराया-भाडा निर्धारण की कठिनाई**—सेवा की लागत सेवा के पश्चात् मालूम हो सकती है जब कि इस सिद्धान्त के अनुसार किराये-भाडे की दरे पहले ही निश्चित करनी पडती है। अतः यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है।

(iii) **रेल लागत व्यय निश्चित धनराशि नही**—रेल उद्योग के लिए लागत व्यय का अर्थ विशेष व्यय, अतिरिक्त व्यय अथवा अस्थिर व्यय से लिया जाता है। परन्तु ये व्यय कोई निश्चित धनराशि नही होते क्योकि परिस्थितियो के अनुसार इनमे परि-वर्तन होता रहता है। अत. यातायात को किसी एक इकाई की लागत मालूम करना कठिन है क्योंकि यह मालूम करना सम्भव नही है कि यातायात की किसी इकाई पर कितनी मात्रा में पूँजी व्यय होती है और कितनी मात्रा मे सचालन व्यय।

(iv) **सेवा प्रदान करने की दशाओ मे भिन्नता**—रेलवे बडी भिन्न दशाओ मे सेवा प्रदान करती है जिनमे उसका व्यय समान नही होता। कोई रेल परिवहन सेवा करती है, कोई माल का सचय एव वितरण करती है, कोई माल स्वयं लाती है आदि। यदि हम परिवहन सेवा की ओर ध्यान दे तो हमारे सामने कई प्रश्न आते है जैसे—माल किस प्रकार की गाडी और किस प्रकार के डिब्बे मे जायेगा, माल किस मार्ग से जाएगा, माल का जोखिम क्या है, माल रेलवे की अपनी जिम्मेदारी पर ले जाया जाएगा अथवा स्वामी के उत्तरदायित्व पर आदि। इस प्रकार की सभी बाते यातायात सम्बन्धी लागत को प्रभावित करती है। अत. स्पष्ट है कि सेवा की लागत जिन दशाओ मे सेवा दी जाती है उसके अनुसार बदलती रहती है। दशा विशेष मे सेवा की लागत क्या होगी यह निश्चित करना बहुत कठिन है।

(v) **केवल पूर्ति पर ध्यान देना**—सेवा के लागत व्यय सिद्धान्त की एक कमी यह भी है कि इसमे पूर्ति को तो बिचार मे लिया गया है किन्तु माँग पक्ष की उपेक्षा की गई है।

(vi) **सयुक्त लागत**—रेलो मे सयुक्त व्यय का सिद्धान्त लागू होता है जिसके

फलस्वरूप प्रत्येक यातायात की इकाई के लिये ठीक-ठीक लागत का अनुमान लगाना सम्भव नही है।

(vii) **एकाधिकारी स्वभाव से सिद्धान्त की असंगति**– केवल प्रतियोगिता की दशाओ मे लागत व्यय कीमतो का नियत्रण करता है किन्तु रेलो को एकाधिकार के ढग पर चलाया जाता है।

महत्त्व – इस सिद्धान्त मे उपर्युक्त कमियो के होते हुए भी इसके महत्त्व को भुलाया नही जा सकता। इस सिद्धान्त की उपयोगिता निम्नलिखित है—

(i) **न्यूनतम दर निर्धारित करने मे सुविधा**—यह सिद्धान्त किराये-भाडे की न्यूनतम दर को बताता है जिससे कम किराया-भाडा निर्धारित नही किया जा सकता। यदि किया जाता है तो रेलो को अपना व्यावसायिक दृष्टिकोण बन्द कर देना पडेगा।

(ii) **तुलनात्मक लागतो को मालूम करना**—यद्यपि सही लागत निर्धारित करना कठिन कार्य है फिर भी विभिन्न वस्तुओ की तुलनात्मक लागत मालूम की जा सकती है और उसी के अनुसार भाडे को समायोजित किया जा सकता है।

(iii) **अधिकारियो की मनमानी पर अकुश**—रेलवे अधिकारियो की मनोवृत्ति, ऊँची दरो को सेवा-मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर उचित ठहराने की होती है। उनकी मनमानी पर सेवा की लागत का सिद्धान्त एक समुचित अकुश का कार्य करता है।

(iv) **देश की आर्थिक उन्नति**—यह सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है कि रेलवे विकास के लिये उनको भाडे से हुई आय सेवा की लागत के लिये पर्याप्त रहे, नही तो रेलवे के विकास के लिये धनराशि नही बचेगी।

2. **सेवा की उपयोगिता या सेवा मूल्य का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार रेल अधिकारियो को चाहिए कि वे रेल का भाडा यात्रियो व माल भेजने वाले ग्राहको को परिवहन की सेवा से मिलने वाली उपयोगिता के आधार पर निर्धारित करे। व्यक्तिगत ग्राहक को जितनी सेवा दी जाती है, उससे उतनी रकम ली जाती है। सेवा के मूल्य की अधिकतम सीमा व्यक्ति के मूल्य देने की क्षमता पर निर्भर होती है। सेवा का मूल्य व्यक्ति को प्राप्त होने वाली उपयोगिता के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार ऊँचे मूल्य वाली वस्तुओ की देय क्षमता अधिक और कम मूल्य वाली वस्तुओ की देय क्षमता कम होती है।

कठिनाइया—इस सिद्धान्त की प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार है—

(i) प्रत्येक व्यक्तियो की सेवाओ की उपयोगिता का मूल्याकन करना सम्भव नही हो पाता है।

(ii) उपयोगिता मे परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है जिसका सही मूल्याकन नही हो पाता है।

(iii) यह अधिकतम मूल्य की ओर विशेष ध्यान देता है।

(iv) यह सिद्धान्त अन्यायपूर्ण है क्योकि इससे समाज को विकसित होने का मौका नही मिलता है।

(v) यह सिद्धान्त सेवा लागत सिद्धान्त की उपेक्षा करता है ।

(vi) यह केवल माँग पक्ष की ओर ही ध्यान देता है ।

महत्त्व

(i) यह सिद्धान्त कुछ व्यावहारिक प्रतीत होता है क्योंकि प्रत्येक यातायात द्वारा उतना ही किराया-भाडा लिया जाता है जितना कि वह वास्तव मे दे सकता है ।

(ii) इस सिद्धान्त मे गरीब और अमीर, कम मूल्यवान व अधिक मूल्यवान वस्तुओ को ध्यान मे रखा जाता है ।

3 **विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त**— जिस सिद्धान्त द्वारा रेल अपनी किराये-भाडे की नीति निर्धारित करती है । उसे विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त कहते है । इस सिद्धान्त के अनुसार रेल अमीर-गरीब मे भेद-भाव करके किराया-भाडा लेती है । इसमे ग्राहक की देय शक्ति का विशेष ध्यान रखा जाता है । अत जितना यातायात सहन कर सकता है (What the Traffic will Bear) नाम से भी इस सिद्धान्त को पुकारा जाता है और प्राय. यही नाम अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हो गया है ।

विभेदात्मक सिद्धान्त का आधार—विभेदात्मक नीति के निम्नलिखित आधार है—

(i) **माँग भेद**—रेल परिवहन से भेजी जाने वाली वस्तुओ मे माँग के अनुसार विभेद किया जाता है । इस माँग विभेद के बहुधा 3 रूप देखने मे आते है—

(अ) वस्तु विभेद

(ब) स्थान विभेद

(स) व्यक्ति विभेद

(अ) **वस्तु विभेद**—परिवहन लागत समान होते हुए भी केवल वस्तु मूल्य के आधार पर भाडे मे भेद-भाव करना वस्तु-विभेद कहलाता है । छोटे आकार के मूल्यवान पदार्थ अधिक परिवहन व्यय सहन कर सकते है किन्तु इसके विपरीत बड़े आकार के सस्ते पदार्थ अधिक परिवहन व्यय सहन नही कर सकते । इसी सिद्धान्त के अनुसार रेले, चाँदी, सोने जैसे मूल्यवान पदार्थों के सम्बन्ध मे अधिक किराया लेती है और कोयला, लकड़ी आदि के सम्बन्ध मे कम किराया लेती है ।

(ब) **स्थान विभेद**—वस्तुओ की भाँति विभिन्न स्थानो मे भी भेदभाव किया जाता है । चक्करदार मार्गों का किराया-भाडा, समुदाय सम्बन्धी किराया-भाडा और कम व अधिक दूरी का किराया-भाड़ा इसके सजीव प्रमाण है ।

(स) **व्यक्ति विभेद**—इसमें माल भेजने वाले या यात्री से उसी सेवा के लिए दूसरे की अपेक्षा ऊँचा किराया-भाड़ा लिया जाता है अथवा उसी किराये-भाडे पर एक को दूसरे की अपेक्षा अच्छी सेवा प्रदान की जाती है ।

(ii) **लागत भेद**—किराया- निर्धारण में लागत (औसत लागत) को आधार मानकर विभेद किये जाते है । जहाँ रेलवे पहाड़ी स्थानों के भारी उतार-चढ़ाओ से

अथवा सुरगो से निकलती है वहाँ उनका प्रारम्भिक पूँजीगत व्यय ही अधिक नही होता बल्कि उनको सचालन व्यय भी अधिक करना पडता है। ऐसे क्षेत्रो वाली रेलो द्वारा लागत व्यय के आधार पर अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक किराया-भाडा लगाया जाता है जो कि न्याय सगत भी है। लागत व्यय के अनुसार ही उन वस्तुओ का भाडा भी अधिक होता है जिन्हे ले जाने मे रेलो को अधिक सावधानी बरतनी पडती है जैसे काँच का सामान अथवा अन्य वस्तुएँ जिनके लिए अधिक गति अपेक्षित है जैसे—ताजे फल इत्यादि।

(iii) **माँग और लागत भेद**—माँग और लागत दोनो के भेद के कारण किराये-भाडे मे अन्तर होने का व्यावहारिक उदाहरण प्रथम और द्वितीय श्रेणी का किराया है। प्रथम श्रेणी के यात्री अधिक सुख-सुविधाएँ चाहते है जिसके लिए रेलो को अधिक व्यय करना पडता है किन्तु साथ ही साथ उनकी माँग तीव्रतर और उनकी आय अधिक होने के कारण ही उनसे अधिक किराया लिया जाता है।

(iv) **भावी हित**—रेल किराये-भ डे की नीति मे भेद-भाव हितो को ध्यान मे रखकर किया जाता है। रेले एकाधिकारी व्यवसाय है। अतः उन्हे इस बात का पूर्ण विश्वास रहता है कि वर्तमान मे किसी उद्योग विशेष को प्रोत्साहित करने के लिए यदि कम भाडा लिया जाता है तो भविष्य मे उसके समुन्नत होने पर अधिक भाडे का लाभ उन्ही को मिलेगा, अन्य किसी को नही।

(v) **सामाजिक या लोक हित**—रेले किराये-भाडे मे लोकहित से प्रेरित होकर भी विभेद करती है। सस्ती वस्तुओ का भाड़ा कम रखा जाता है ताकि ऐसी वस्तुओ का परिवहन प्रोत्साहित किया जा सके। भारत मे कोयले, भूसा व चारे एव जीवित पशुओ के लिए विशेष प्रकार के सस्ते भाडे की दरे रखी गयी है। बाढ और अकाल के समय भी रेल मे कुछ परिवर्तन किये जाते है।

(vi) **राष्ट्रीय विकास**—देश के विकास मे कुछ आधारभूत वस्तुओं का विशेष महत्त्व होता है। उन पर किराये-भाडे की दर कम रखी जाती है।

इस विभेदात्मक नीति मे एक ओर तो रेले यातायात की देय शक्ति का पूरा ध्यान रखती है और दूसरी ओर इस बात पर भी ध्यान रखती है कि यातायात क्या सहन करेगा। यही दोनो इस भेद-भाव की उच्चतम और न्यूनतम सीमाये बाँधती है अतः इन दोनो बातो का अर्थ समझ लेना उपयोगी होगा।

1. **यातायात क्या सहन करेगा** (What the traffic will bear)—यह यातायात की देय शक्ति की ओर सकेत करता है। रेल एक एकाधिकारी व्यवसाय है जिसे विभेदात्मक किराये लगाने की शक्ति प्राप्त है। इस शक्ति का रेले सदुपयोग भी कर सकती है और दुरुपयोग भी। यदि रेले किराया-भाडा इस प्रकार निर्धारित करती है कि यातायात बढता रहे और उसमे कमी न आने पाये तो इस शक्ति का सदुपयोग समझा जायेगा। यह स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब रेल दरे उपभोक्ता की उच्चतम देय शक्ति के अनुसार नही बल्कि उच्चतम लाभ की मात्रा का ध्येय रखकर लगाये इसके विपरीत यदि दरे उपभोक्ता की उच्चतम देय शक्ति के अनुसार ही लगायी जाती

है और यातायात के ऊपर उनके प्रभाव की ओर ध्यान नही दिया जाता तो रेले अपनी एकाधिकारी शक्ति का दुरुपयोग करेंगी। सक्षेप मे, देय शक्ति के अनुसार किराया-भाडा लगाते समय यातायात की नब्ज पर हाथ रख कर रेलो को काम करना चाहिए।

2 **रेल क्या सहन कर सकती है** (What the Railway can bear)—यातायात की देय शक्ति रेल भाडे की उच्चतम सीमा का निर्धारण करती है और रेलो का यातायात ले जाने का विशेष व्यय उसकी न्यूनतम सीमा बाँधता है। यह उल्लेखनीय है कि न्यूनतम सीमा भी सदैव यातायात का ढुलाई व्यय ही नही होता बल्कि रेलो की अपनी सामर्थ्य होती है। खाद, नमक, कोयला इत्यादि ऐसी वस्तुएँ है जिन्हे रेले अपने वास्तविक ढुलाई व्यय से कम भाडे पर ले जाने मे समर्थ है किन्तु औद्योगिक कच्चे पदार्थ इत्यादि वस्तुएँ ऐसी है जिनसे उनका वास्तविक ढुलाई व्यय अवश्य वसूल होना चाहिए। कुछ और वस्तुएँ जिनसे ढुलाई व्यय से ऊँचा मूल्य लेकर ही रेले उन्हे सेवा प्रदान कर सकती है। इस प्रकार भाडे की न्यूनतम सीमा लगाते समय रेले अपनी निजी सहन शक्ति को ध्यान मे रखती है।

कठिनाइयाँ

इस सिद्धान्त की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित है

(i) **सहन क्षमता का निर्धारण**—इस सिद्धान्त मे यातायात की देय शक्ति व रेल की सहन शक्ति आदि ऐसी धारणाएँ है जिनका निर्धारण करना सम्भव नही है। इनको निश्चित करने के लिए कोई उचित आधार नही है।

(ii) **विवाद ग्रस्त**—किराया निर्धारण एक विवाद ग्रस्त विषय है क्योकि इसमे भुगतान क्षमता का निर्धारण नही हो पाता है। उपभोक्ता की भुगतान क्षमता क्या है यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। समाज के हित के मूल्याकन का कोई निश्चित आधार न होने के कारण रेलवे अधिकारी इस सिद्धान्त के अनुसार मनमानी ढग से किराया निश्चित कर सकते है।

महत्त्व

(i) **न्यायपूर्ण**—यह एक न्यायपूर्ण एव नीति सगत सिद्धान्त है क्योकि इसमे कम आय वाले व्यक्तियो से कम किराया और अधिक आय वाले व्यक्तियो से अधिक किराया लिया जाता है। इसी प्रकार कम मूल्य वाली वस्तुओ पर कम भाड़ा और अधिक मूल्य वाली वस्तुओ पर अधिक भाड़ा लेना न्याय सगत है।

(ii) **रेलो का विकास**—यह सिद्धान्त रेलो के विकास के लिए अच्छा है क्योकि रेलो को अधिक मात्रा मे यातायात उपलब्ध होता है और उनके लाभ की मात्रा बनी रहती है।

(iii) **यातायात की निरन्तर माँग**—इस सिद्धान्त के अनुसार यातायात की निरन्तर माँग बनी रहती है क्योकि सभी व्यक्तियो से उनकी क्षमता के अनुसार ही किराया लिया जाता है।

(iv) **प्रतिस्पर्धा को कम करना**—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कम से कम किराया भाडा लिया जाता है जिससे प्रतिस्पर्धा को कम किया जा सकता है। यातायात के दूसरे साधनो से अधिक सुविधा और कम किराया लेकर प्रतिस्पर्धा मे सफलता प्राप्त की जा सकती है।

(v) **संयुक्त लागत की पूर्ति**—सेवा लागत और सेवा मूल्य सिद्धान्त मे लागत और उपयोगिता को सही-सही आँकना असम्भव है अत भुगतान करने की क्षमता के आधार पर किराया निर्धारित करके सम्पूर्ण लागत को निकाला जा सकता है। गरीबो से कम किराया और अमीरो से अधिक किराया लेकर लागत को पूरा किया जा सकता है।

(vi) **सामाजिक कल्याण**—इस सिद्धान्त मे सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए किराया का निर्धारण अलग-अलग किया जाता है। उदाहरण के लिये सुरक्षा सम्बन्धी कार्य के लिए आर्थिक विकास के लिये, क्षेत्रीय तथा सतुलित विकास को प्रोत्साहित करने के लिये अलग-अलग किराया लिया जाता है।

भाडे के प्रकार या अन्य सिद्धान्त
(Kinds of Fares or Other Principles)

उपर्युक्त सिद्धान्तो के आधार पर विभिन्न प्रकार की भाडा-दरे प्रयोग मे आ रही हैं। प्रमुख भाडा-दरे निम्न है—

1. **समानान्तर दर या मील भाडा**—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भाडा अथवा दर दूरी के अनुपात से घटता-बढता है। जैसे 25 मील का भाडा 5 मील के भाडे का ठीक 5 गुना होता है। स्पष्टत जिस अनुपात मे यातायात की दूरी बढती है उसी अनुपात मे उसके किराये म भी वृद्धि होती जाती है। सन् 1948 तक भारतीय रेलो के वर्ग भाडे (Class Rates) इसी सिद्धान्त पर आधारित थे।

लाभ—(i) इस सिद्धान्त का प्रमुख गुण सरलता है। इसी गणना अत्यन्त सरल है।

(ii) यह सिद्धान्त एकाधिकारी की भेद-भाव नीति पर एक स्वाभाविक प्रतिबन्ध है।

(iii) दूरी के अनुसार भाडा वृद्धि न्याय सगत प्रतीत होती है।

(iv) इस सिद्धान्त को अपनाने के लिये मनुष्यो अथवा माल के वर्गीकरण की विशेष आवश्यकता नही रहती है।

दोष—(i) यह सिद्धान्त दूरवर्ती यातायात को हतोत्साहित करता है।

(ii) यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक है क्योकि दूरी बढने के साथ-साथ ढुलाई व्यय उसी अनुपात मे नही बढता, वरन् कम दर से बढता है।

(iii) इसे कठोर, लोचहीन एव अवास्तविक कहा जाता है, क्योकि यह यातायात को सीमित कर देता है।

(iv) यह रेल सचालन की भौगोलिक एव भौतिक परिस्थितियो की उपेक्षा करता है।

(v) यह भाडा सिद्धान्त न्यायोचित नही माना जाता क्योकि औद्योगिक कच्चे माल, कोयला और अन्य बडे आकार किन्तु कम मूल्य की वस्तु मे दूरवर्ती भाडा सहन नही कर सकती।

2 **प्रादेशिक भाड़ा**—इस पद्धति म रेल के प्रदश को समान दूरी के क्षेत्रो मे बाँट दिया जाता है और उस क्षेत्र के अन्तर्गत माल ले आने और ले जाने का भाडा एक ही रहता है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जाने मे भाडा बढता है। दूसरे क्षेत्र मे चाहे यात्रा बहुत थोडी ही क्यो न हो, भाडा पूरा ले लिया जायेगा। उदाहरण के लिए यदि 100 किलो मीटर रेलवे लाइन को 10-10 किलोमीटर के वर्गों मे बाँट दिया जाय तो किसी एक वर्ग म चलने वाले परिवहन से केवल 10 किलोमीटर के लिये निर्धारित औसत भाडा लिया जावेगा जैसे—4,7 या 9 किलोमीटर तक जाने वाले ट्रैफिक के लिये भाडा एक ही होगा।

लाभ—(i) इसका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण सरलता है। एक प्रदेश का भाडा याद रखना सहज सम्भव है।

(ii) यह सिद्धान्त मितव्ययी भी है क्योकि इसमे भाडा दर-पुस्तके रखने तथा जटिल हिसाब प्रणाली अपनाने की आवश्यकता नही रहती है।

(iii) यह सिद्धान्त पर्याप्त व्यावहारिक है, क्योकि कुछ यातायात कम दूरी का होता है तथा कुछ अधिक दूरी का तथा आशा यह रहती है कि दोनो प्रकार का यातायात मिलता रहेगा और एक की हानि दूसरे से पूरी हो सकेगी।

दोष—(i) यह सिद्धान्त कम दूरी के यातायात को हतोत्साहित करता है क्योकि उसे अपने उचित भाग से अधिक भाडा देना पडता है तथा दूरवर्ती यातायात को उचित भाग से कम किराया देना पड़ता है।

(ii) इससे रेलो को हानि होती है, क्योकि यातायात अन्य साधनो की ओर चला जाता है।

(iii) क्षेत्र का भाड़ा दूरी के औसत के अनुसार लगाया जाता है। यदि क्षेत्र अधिक बडे है तो जनता मे असन्तोष उत्पन्न करते है।

(iv) इस पद्धति के अन्तर्गत दरे बार-बार बदलनी पडती है और एक उचित संतुलन नही रह पाता।

(v) रेलो के लिये प्रादेशिक प्रभार पद्धति अनुपयुक्त है क्योंकि न तो रेलो को डाकखाने जैसा एकाधिकार होता और न रेल भाडे उतने हो सकते है जितने कि डाक व्यय।

3. **घुण्डाकार भाडा**—इस पद्धति के अन्तर्गत भाडे की दरो मे दूरी के अनुपात मे परिवर्तन नही होता बल्कि जैसे-जैसे दूरी बढती जाती है, वैसे-वैसे किराये-भाडे की दरो मे कमी होती जाती है।

भारतवर्ष में माल परिवहन पर इस प्रथा के अनुसार ही भाडा वसूल किया

जाता है। इसी पद्धति के आधार पर भारत मे सवारी गाडियो की दरो मे अप्रैल सन् 1955 से परिवर्तन किया गया।

लाभ—(i) समानान्तर भाडे की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक है, क्योकि ठीक दूरी के अनुपात से परिवहन व्यय नही बढता वरन कुछ कम बढता है।

(ii) इस प्रकार की दर से दूरवर्ती यातायात को प्रोत्साहन मिलता है तथा विकेन्द्रीयकरण व औद्योगिक विकास मे सहायता मिलती है।

दोष—(i) यह सिद्धान्त अल्प दूरी के यातायात को हतोत्साहित करता है और उसे सीमित करता है।

(ii) इसका अकेला प्रयोग सम्भव नही है, इसे भेदमूलक सिद्धान्त के साथ अपनाया जाता है।

4. **डाक सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त प्रादेशिक प्रमाण सिद्धान्त के समान है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश को एक प्रदेश माना जाता है। अत. चाहे पत्र इलाहाबाद से बम्बई भेजे या इलाहाबाद से कलकत्ता डाक दर एक ही होगी अर्थात् देश के अन्दर डाक से भेजी जाने वाली वस्तुओ मे दूरी को महत्त्व नही दिया जाता। इस प्रकार इस पद्धति मे एक ही किराया भाडा होता है।

लाभ—(i) इस पद्धति का सबसे बडा लाभ इसकी सरलता है। इसमे हिसाब लगाना अत्यन्त सरल होता है सयुक्त राज्य अमरीका मे ऐसा सिद्धान्त कुछ रेलो ने अपनाया है।

दोष—(i) यह पद्धति बेकार और अन्यायपूर्ण है क्योकि इसमे लागत, सामाजिक हित, आर्थिक विकास, यात्रा की इच्छा आदि पर ध्यान नही दिया जाता है।

(ii) अधिक दूरी की यात्रा को यह पद्धति प्रोत्साहित करती है इससे कम दूरी की यात्रा नही की जाती है क्योकि यात्रियों को यदि कही सस्ता साधन मिल जायेगा तो उसी का प्रयोग करेगे।

(iii) यह पद्धति व्यावसायिक हित को भी ध्यान मे नही रखती है।

5 **सामूहिक भाड़ा**—किसी क्षेत्र विशेष के अनेक स्थानों को एक समुदाय मान लिया जाता है जिसमे सभी स्थान प्रेषण स्थान से समान दूरी पर नही होते। इस केन्द्रीय स्थान से उस सभी स्थानो का भाडा बिना दूरी के विचार के एक ही रखा जाता है। वास्तविक भाडा कम से कम दूरवर्ती स्थान के भाडे के समान रखा जाता है, इस पद्धति का लाभ यह है कि इसमे पुस्तके लिखने-पढने का काम बहुत कम रहता है।

6. **वर्ग भाड़ा**—इसके अन्तर्गत रेलो को छोटे-छोटे वर्गों मे बाँट दिया जाता है। इन वर्गों को स्टेशनों के अनुसार उपवर्गों मे बाँट दिया जाता है और वर्ग से वर्ग तथा उपवर्ग से उपवर्ग के लिए अलग-अलग दरे निश्चित की जाती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका मे इस सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है।

विशेष भाड़ा—विशेष परिस्थितियो में विशेष प्रकार के स्थानीय यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रकार का सस्ता भाडा लिया जाता है। भारतीय रेले स्टेशन से स्टेशन (Station to Station) तक के भाडे इसी सिद्धान्त के अनुसार लगाती हैं।

व्यवहार में रेल भाड़े एव दरे
(Railway Rates and Fares in Practice)

व्यवहार मे रेलवे भाडे किन्ही निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर निर्धारित नही होते बल्कि अनुभव के द्वारा रेल दरो एव भाडा का निर्धारण किया जाता है। रेले थोडे ट्रैफिक से अपना कार्य शुरू करती है इसलिये प्रारम्भ मे रेल दरे एव भाडे भी ऊँचे होते है परन्तु जैसे-जैसे ट्रैफिक बढता है और सेवा लागत कम होती जाती है तथा रेलवे भाडा भी कम होता जाता है। ट्रैफिक बढने के साथ-साथ भाडे घटना तब तक जारी रहता है जब तक कि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर नही हो जाती। अन्य शब्दो मे, जब तक निम्नतम दरवाले ट्रैफिक को ले जाने की लागत उससे प्राप्त आय के बराबर नही हो जाती। यदि रेले इस सीमा मे कम भाडे लेती है तो उन्हे हानि होगी जिसकी क्षति पूर्ति के लिये अन्य वर्ग के ट्रैफिक दर मे रेलवे वृद्धि करेगी।

व्यवहार मे सभी देशो की रेलो ने उक्त नीति का अनुकरण किया है जिसमे उन्हें निम्न आदर्शों से मार्ग-दर्शन मिला है। "(i) ट्रैफिक प्राप्त करो। जितना अधिक ट्रैफिक ले जाया जायेगा, उतनी ही कम कीमत उनके ले जाने मे पडेगी। इसलिये सर्वप्रथम ट्रैफिक प्राप्त करो (ii) भाडा दर इतनी ऊँची मत रखो कि कोई ट्रैफिक हाथ से निकल जाय, किन्तु यह ध्यान रहे कि, (iii) भाडा-दर इतनी कम भी न हो कि उसमे सम्बन्धित ट्रैफिक के लिये व्यय हुई अतिरिक्त लागत भी न निकल पाये।"[1]

वस्तुओ का वर्गीकरण
(Classification of Goods)

विभिन्न प्रकार की वस्तुओ की भुगतान क्षमता पृथक्-पृथक् होती है, परन्तु प्रत्येक वस्तु के लिए, अलग-अलग भाडा निर्धारित करना सम्भव नही है, इसलिए यह आवश्यक है कि वस्तुओ का वर्गीकरण किया जाय और प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् भाडा निर्धारित किया जाय।

वर्गीकरण का आधार जितना उचित और न्यायपूर्ण होगा भाडा-निर्धारण उतना ही उचित और वैज्ञानिक होगा। वस्तुओं के वर्गीकरण के लिए निम्नलिखित 3 आधारो को अपनाते है—

1. **माँग पक्ष**—जिस वस्तु को रेल यातायात की सुविधा की अधिक आवश्यकता होगी उसका भाडा अधिक होगा व कम माँग वाली बस्तुओ का भाडा कम होगा। माँग की तीव्रता के आधार पर भाडा देने की अधिकतम क्षमता निर्धारित होती है। इसका निर्धारण करते समय निम्न तथ्यों को ध्यान मे रखना चाहिए—

(i) **वस्तु का मूल्य**—माँग की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु की भाडा सहन करने की शक्ति का ध्यान रखना आवश्यक है। माँग का अनुमान मूल्य से लगाया जाता है।

1. W.M. Ackworth : Elements of Railway Economics P. 79.

सस्ती वस्तुओ की सहन-शक्ति कम और मूल्यवान वस्तुओ की अधिक होती है। इसी कारण सस्ती वस्तुओ को वर्गीकरण करते समय निम्न श्रेणी मे और मँहगी वस्तुओ को उच्च श्रेणी मे रखते है। निम्न श्रेणी का भाडा कम और उच्च श्रेणी का भाडा अधिक होता है।

(ii) **यात्रा के प्रारम्भिक और अन्तिम स्थानो का मूल्य**—यात्रा के प्रारम्भिक और अन्तिम स्थानो के बीच वस्तु के मूल्य का सीमान्तर (margin) जितना अधिक होगा उतनी ही ऊँची श्रेणी प्रदान कर वस्तु से ऊँचा भाडा लिया जा सकता है और यह मूल्यान्तर जितना कम होगा उतनी ही निम्न श्रेणी मे वस्तु रखी जाएगी तथा भाडा कम लिया जायेगा।

(iii) **प्रतिस्पर्धा**—जिन वस्तुओ के यातायात मे अन्य परिवहन-साधनो से प्रतिस्पर्धा रहती है उन्हे अपेक्षाकृत नीची श्रेणी प्रदान की जाती है जिससे कि वस्तु पर अधिक भाडा न देना पडे और वह अन्य परिवहन प्रसाधनो के प्रति आकर्षित न हो। भारतीय रेल कोयले की ढुलाई लागत से भी कम भाडे पर करती है क्योकि ऊँचा भाडा लेने की स्थिति मे इसका परिवहन समुद्र मार्ग से होने लगेगा।

(iv) **नये उत्पादन केन्द्र**—नये उत्पादन केन्द्रो अथवा नये बाजारो की क्षेत्रीय प्रतिस्पर्धा के बचाव के लिए भी वहाँ निर्मित या विक्रय की जाने वाली वस्तुओ को नीची श्रेणी प्रदान करके नीचा भाडा लिया जाता है।

(v) **समान स्वभाव**—वस्तुएँ यदि समान उपयोग की है तो उन्हे एक ही श्रेणी मे रखा जाएगा जैसे साबुन, सोडा आदि को एक ही श्रेणी मे रखा जाता है और लगभग समान भाडा वसूल किया जाता है।

(vi) **सामाजिक हित**—सामाजिक हित की वस्तुओ को निम्न श्रेणी मे रखा जाता है और उनसे कम भाडा लिया जाता है। अनाज, नमक, हाथकरघा के वस्त्र आदि का विशेष महत्त्व है जिससे उनको निम्न श्रेणी मे रखा जाता है।

2. **पूर्ति पक्ष**—पूर्ति की दृष्टि से परिवहन सेवा की लागत को ध्यान मे रखा जाता है। विभिन्न परिस्थितियो मे प्रदान की गई सेवा का लागत व्यय अलग-अलग होता है। अत॰ वस्तुओ का वर्गीकरण करते समय निम्न परिस्थितियो पर विचार करना आवश्यक है।

(i) **भार और आकार का अनुपात**—भाडा वस्तुओ के भार के अनुसार निर्धारित होता है लेकिन जो वस्तुएँ छोटे आकार की होती है किन्तु जिनका भार अधिक होता है उनको ले जाने मे रेलो को अधिक सुविधा होती है। दूसरी तरफ जो वस्तुएँ अपने भार के अनुपात से आकार मे बडी होती है, उनको ले जाने मे रेलो को असुविधा रहती है क्योकि बडे आकार के कारण एक डिब्बे मे थोडी-सी वस्तुएँ रखी जा सकती है और उनका भाडा भी कम मिलेगा। अत॰ प्रथम श्रेणी की वस्तुओ को उनके मूल्य का विचार छोडकर उच्च श्रेणी मे रखा जाता है (अर्थात् अधिक भाडा लिया जाता है) और द्वितीय श्रेणी की वस्तुओ को निम्न श्रेणी मे।

(ii) **वस्तु का परिमाण अथवा गाँठों का आकार**—साधारणतया कम मात्रा

मे जाने वाले माल को उच्च श्रेणी और एक साथ अधिक मात्रा मे जाने वाले माल को निम्न श्रेणी दी जाती है। कारण यह है कि छोटी गाँठो के सम्बन्ध मे रेल को माल के एकत्र करने, लादने-उतारने इत्यादि की अतिरिक्त सेवाएँ प्रदान करनी पडती हैं जिनके लिये अतिरिक्त व्यय करना पडता है।

(iii) **मार्ग का जोखिम**—जिस वस्तु को ले जाने मे जितनी अधिक जोखिम पडती है उसको उतनी ही ऊँची श्रेणी मे रखा जाता है। चीनी मिट्टी एव काँच के पदार्थ के टूटने का अधिक भय रहता है। जिससे उनको ऊँची श्रेणी मे रखते है और उन पर अधिक भाडा लिया जाता है। पेट्रोल, तेजाब तथा गन्धक के कारण अन्य वस्तुओ के नष्ट होने का भय बना रहता है जिससे उन्हे उच्च श्रेणी मे रखा जाता है।

(iv) **समय**—वस्तुओ के वर्गीकरण मे समय भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। तेज गाडियो से भेजी जाने वाली वस्तुओ की लागत अधिक पडती है जिससे उनको उच्च श्रेणी मे रखते है और भाडे की रकम भी अधिक होती है। अडे, फल, मछली आदि को सुरक्षित भेजने के लिये तेज गाडियो की आवश्यकता पडती है। अतः इनको उच्च श्रेणी मे रखा जाता है।

(v) **पैकिंग**—जिन वस्तुओ की पैकिंग सुदृढ होती है उनको निम्न श्रेणी मे रखा जाता है। इसका कारण यह है कि अच्छी पैकिंग से मार्ग की जोखिमे कुछ कम हो जाती है तथा माल को उतारने-चढाने मे भी सुविधा हो जाती है। इसके विपरीत, जिन वस्तुओ की पैकिंग कमजोर रहती है उनको उच्च श्रेणी मे रखा जाता है तथा भाडा भी अधिक लिया जाता है क्योकि इसमे रेल कर्मचारियो को अधिक सावधानी बरतनी पड़ती है।

(vi) **नियमितता**—यदि रेल अधिकारी इस बात से पूर्ण आश्वस्त हो कि कोई माल अथवा वस्तु अधिक मात्रा मे नियमित रूप से आता रहेगा तो वे ऐसे माल को कुछ कम भाडे पर भी ले जाना स्वीकार कर लेंगे क्योकि ऐसे परिवहन से रेल सेवा का नियमित उपयोग होता रहता है और उसका संचालन व्यय भी कम हो जाता है।

(vii) **डिब्बे का प्रकार**—विशेष प्रकार की वस्तुओं को भेजने के लिये विशेष प्रकार के डिब्बो की आवश्यकता होती है। कुछ पदार्थ खुले डिब्बे मे ले जाये जाते है जैसे—लकडी, कोयला आदि, कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके लिये पूर्णतया बन्द डिब्बो की आवश्यकता पडती है जैसे—अन्न, वस्त्र, बर्तन आदि तथा कुछ पदार्थों के लिये विशेष प्रकार के डिब्बे आवश्यक होते हैं जैसे—पेट्रोल आदि के लिये गोलाकार डिब्बे। जो वस्तुएँ खुले डिब्बे मे जाती है उनको निम्न श्रेणी मे रखा जाता है और जो बन्द डिब्बो मे जाते है अथवा जिनके लिये विशेष प्रकार के डिब्बो की आवश्यकता पडती है उनको उच्च श्रेणी मे रखा जाता है, क्योंकि इन डिब्बो का लागत व्यय अधिक होता है।

(viii) **ढुलाई में रिक्त स्थान**—माल के लादने अथवा ले जाने में डिब्बो मे जितना ही अधिक रिक्त स्थान होगा, उतना ही उसका वर्गीकरण ऊँचा होगा।

(ix) **प्रतियोगिता**—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके लिये विभिन्न वाहनो

जैसे—रेल, मोटर व जलमार्ग मे प्रतियोगिता होती है। ऐसी वस्तुओ को रेल मार्ग की ओर आकर्षित करने के लिये निम्न श्रेणी मे रखा जाता है।

(x) **स्थानापन्न वस्तुएँ**—जो वस्तुएँ अन्य किसी वस्तु की स्थानापन्न होती है उन्हे प्राय एक ही श्रेणी मे रखा जाता है जिससे कि उनमे से एक का परिवहन भाडा बढने से उसका आना-जाना बन्द न हो जाय।

उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि वस्तुओ का वर्गीकरण कोई सरल कार्य नही है।

भारतीय वस्तु वर्गीकरण
(Indian Classification of Goods)

1 अप्रैल 1970 मे वस्तुओ का एक नवीन वर्गीकरण शुरू किया गया। वर्गों मे अ, ब, स, का अन्तर समाप्त कर दिया गया और दो प्रकार के वर्गीकरण की रचना की गयी। एक वर्गीकरण (30 वर्ग सख्याएँ) थोक ढुलाई के निमित्त है जो दस क्विटल अथवा अधिक माल की ढुलाई पर लागू होता है और दूसरी वर्गमाला (17 वर्ग सख्याएँ) वह हैं, जो अल्प ढुलाई (10 क्विटल से कम) पर लागू होती है।

वस्तु वर्गीकरण मे समय-समय पर आवश्यकतानुसार समायोजन एव सशोधन भी होते रहते है। कुछ न कुछ ऐसे हेर-फेर लगभग हर वर्ष होते रहते है जो विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के सूचक है।

परीक्षा-प्रश्न

1 उन सिद्धान्तो की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये जिनके द्वारा रेले अपने किराये भाडे निर्धारित करती है ?

2. रेल दरे निर्धारित करने मे 'सेवा लागत सिद्धान्त' और 'सेवा मूल्य सिद्धांत' मे से किसे उत्तम समझते है और क्यो ?

3 'सेवा का मूल्य' एव 'सेवा की 'लागत' सिद्धान्तो को समझाइये। रेल किराये भाडे के निर्धारण मे इनके योगदान का विवेचन कीजिये। आपकी सम्मति मे दोनो मे से कौन-सा सिद्धान्त रेल दरे निर्धारण मे अधिक उचित एव व्यावहारिक है ?

4. उन सिद्धान्तो को संक्षेप मे बतलाइये जिन पर रेले भाडा दर निर्धारण के लिये माल का वर्गीकरण करती है ?

5. रेल भाडा दर रूपी महल वस्तुओ के वर्गीकरण की नीव पर खडा होता है ?

30

भारत में सड़क यातायात
(Road Transport in India)

सडक यातायात का महत्त्व—भारत जैसे विशाल तथा ग्राम प्रधान देश के लिए सडको का विशेष महत्त्व है। जैसा कि **जरमी बेन्थम** ने ठीक ही कहा है, "सडके किसी देश की रक्तवाहिनी धमनी और शिराएँ है जिनसे होकर प्रत्येक सुधार प्रवाहित होता है।" **रस्किन** ने भी इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण बात कही है—"राष्ट्र की सारी सामाजिक व आर्थिक प्रगति सडकों के निर्माण मे निहित है।" वास्तव मे देश की आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक, व्यापारिक एव राजनैतिक प्रगति अच्छी सडको पर निर्भर करती है। "सडकों को किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास व सभ्यता का माप-यन्त्र माना जा सकता है।" सडकों के महत्त्व का हम निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं।

(1) आर्थिक महत्त्व

(i) **कृषि मे महत्त्व**—सडको का विकास कृषि के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। (अ) बेकार पडी हुई भूमि पर खेती प्रारम्भ करने के लिए सडक परिवहन से सहायता मिलती है। (ब) सडको से उत्तम बीज, खाद तथा औजार शीघ्र पहुँचाने की सुविधा मिलती है। (स) सडको के माध्यम से कृषको को अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त हो जाता है। वे अपना माल मण्डियो मे ले जाकर उचित मूल्य प्राप्त कर सकते है। (द) खाद्यान्न के अभाव को दूसरी जगह से खाद्यान्न लाकर पूरा किया जा सकता है और इस प्रकार सडके अकाल की तीव्रता को कम करती है। (य) सडको के विकास से कृषि-स्वरूप बदला जा सकता है अर्थात् खाद्यान्न फसल के स्थान पर व्यापारिक फसले (चाय, कपास, जूट आदि) उत्पन्न की जा सकती हैं तथा फल व सब्जियों जैसी नाशवान वस्तुओ का उत्पादन तथा बिक्री बढायी जा सकती है। (र) ग्रामीण क्षेत्र के पुनर्निर्माण मे सडको का महत्वपूर्ण योगदान है।

(ii) **उद्योग में महत्त्व**—(अ) सडकों के विकास में कारखानों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों से कच्चा माल प्राप्त होता है तथा बना हुआ माल दूर-दूर तक फैले हुए उपभोक्ताओं तक पहुँचता है। (ब) सडके और सडक परिवहन लघु और कुटीर उद्योगो

के तो प्राण है, क्योकि इनसे बना माल शहरो मे आसानी से पहुँच जाता है। (स) सडक परिवहन के विकास से सभी बडे पैमाने के उद्योगो के विकेन्द्रीकरण मे सहायता मिलती है। (द) सडके माल को रेलो तक पहुँचाकर उनके लिए पोषक का कार्य करती है। (य) जिन क्षेत्रो मे रेल सेवाएँ नही है वहाँ ट्रक द्वारा माल शीघ्रता से पहुँचाया जा सकता है। सक्षेप मे उच्च कोटि का औद्योगिक विकास अच्छी सडको पर निर्भर करता है।

(iii) **व्यापार में महत्त्व**—सडके अन्य साधनो के सहायक के रूप मे कार्य करके आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार की उन्नति करती है, क्योकि अच्छी सडके होने से माल तथा मनुष्य देश के भीतरी भागो से बहुत बडी मात्रा मे आसानी से बन्दरगाहो, रेलवे स्टेशनो तथा हवाई अड्डो पर पहुँचाए जा सकते है। पहाडी व पठारी इलाको मे जहाँ रेल व जल यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध नही है, सडको का विशेष महत्त्व है।

(iv) **अन्य आर्थिक महत्त्व**—(i) सडको से सरकार को विविध करो के रूप मे आय प्राप्त होती है। (ii) अन्य यातायात के साधनो की अपेक्षा सडको का निर्माण-व्यय कम होता है। (iii) सडको से भी रेलो की भाँति रोजगार बढता है, मूल्यो मे समानता लाई जाती है तथा श्रम की गतिशीलता बढती है।

(2) सामाजिक महत्त्व

अच्छी सडको का सामाजिक महत्त्व भी है। (i) सडके देश के विभिन्न क्षेत्रो मे रहने वाले व्यक्तियो को निकट लाती है और उनमे सामाजिक, सास्कृतिक सहयोग व एकता की भावना भरती है। (ii) सडको के द्वारा अनेक सामाजिक सुविधाओ, जैसे योग्य चिकित्सक, वकील, इजीनियर, प्रसूतिगृह इत्यादि की व्यवस्था की जा सकती है। (iii) अच्छी सडको के द्वारा पर्यटक यातायात को बढावा देकर विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। (iv) सडके प्रजातन्त्र का उपकरण है तथा गलतफहमियो व भेद-भाव का शत्रु है। इस प्रकार सडके देश की मानसिक तथा नैतिक उन्नति को तीव्र करती है।

(3) राजनैतिक महत्त्व

देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी सडके महत्त्वपूर्ण है। सेना को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए अच्छो सडके चाहिए। समुचित सडको के विकास के अभाव मे देश के सभी स्थानो पर फौजी चौकियाँ बनाना मुश्किल हो जाता है। सीमाओ की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि फौजी सामान न्यूनतम समय मे पहुँचाया जा सके। चीन-पाक आक्रमणो ने हमे यह सबक सिखाया है कि सीमान्त सडको का विकास देश की सुरक्षा-व्यवस्था का आधार है। **डॉ० एस० एम० अग्रवाल** के शब्दो मे "प्रतिरक्षा की दृष्टि से सडको को 'शान्ति की पूँजी' कहा जा सकता है, जो कि युद्धकाल मे मुनाफा देती है।"

सड़क परिवहन की विशेषताएँ

सड़क परिवहन समाज की एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति करता है। यह यातायात का प्राचीन साधन है। सड़क परिवहन का अपना अलग क्षेत्र व विशेषतायें है जिनके कारण उसका महत्त्व अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक है। ये विशेषतायें निम्न है—

(1) **लोचकता**—सडक परिवहन अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण है। इसकी सेवाएँ कही भी प्राप्त की जा सकती है अर्थात आवश्यकता पड़ने पर बैलगाडी, ताँगे व मोटर को घर या गोदाम के द्वार तक ले जा सकते है। यह सुविधा रेल, जल व वायु परिवहन मे नही प्राप्त हैं। इसी प्रकार माँग के अनुसार इनमे शीघ्रता से कमी व वृद्धि भी की जा सकती हे। अत: लोचकता सडक परिवहन की मूलभूत विशेषता है।

(2) **स्वतंत्रता**—स्वतत्रता से आशय इच्छानुसार मार्ग अथवा सेवा परिवर्तन मे है। यदि कोई मार्ग वर्षा अथवा अन्य कारणो से खराब हो जाता है तो हम दूसरे मार्ग पर गाडी चला सकते है। इसी प्रकार सडक परिवहन मे गाडी को हम सवारियो के लिए प्रयोग कर सकते और माल के लिए भी। सक्षेप मे सडक परिवहन मे मार्ग और सेवा परिवर्तन की पूर्ण स्वतत्रता रहती हे।

(3) **कम पूँजी**—सडक परिवहन मे कम पूँजी की आवश्यकता होती है। जब कि रेल, वायुयान व जहाज परिवहन मे विशाल पूँजी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि सडक परिवहन का सचालन निजी व्यक्तियो द्वारा भी किया जाता है।

(4) **पूर्ण सेवा**—सडक परिवहन पूर्ण सेवा प्रदान करते है अर्थात् इस यातायात के साधन से माल भेजने वाले के गोदाम से माल उठाकर पाने वाले के गोदाम तक पहुँचाया जाता है। इस प्रकार बीच मे माल चढाने या उतारने की आवश्यकता नही पडती है तथा माल शीघ्रता से बिना किसी जोखिम के पहुँच जाता हे।

(5) **बहुमुखी सेवा**—रेल, जल व वायु मार्ग विशेष प्रकार के वाहनो को चलाने के लिए निर्मित किये जाते है किन्तु इसके विपरीत सडको का निर्माण किसी वाहन विशेष के लिए न होकर सार्वजनिक हित के लिये किया जाता है। सडक परिवहन का प्रयोग बैलगाडी, रिक्शा, साइकिल, मोटर, ट्रक आदि किसी भी सेवा मे हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि सडके बहुउद्देशीय भावना से प्रेरित होकर सार्वजनिक हित के लिए बनाई जाती है।

(6) **सस्ती सेवा**—सडक परिवहन मे पूँजी की कम आवश्यकता पडने के कारण सेवा सस्ती पडती है। सडक निर्माण, व मरम्मत तथा गाडी का संचालन व्यय भी अन्य सभी साधनो की अपेक्षा सस्ता पड़ता है। अतः यह सेवा पर्याप्त सस्ती पडती हैं।

(7) **सुरक्षा**—माल की सुरक्षा सड़क परिवहन मे अपेक्षाकृत अधिक होती है क्योकि इसमे माल एक विशेष व्यक्ति के सुपुर्द कर दिया जाता है तथा यात्रा की समाप्ति तक उसी व्यक्ति का उत्तरदायित्व बना रहता है। रास्ते मे माल उतारने व चढाने की आवश्यकता न होने से टूटने-फूटने का भय भी नही रहता है।

(8) **समय की बचत**—यद्यपि वायुयान और रेल की अपेक्षा सड़क परिवहन

की चाल धीमी होती है । परन्तु थोडी दूर के लिए अनेक प्रकार से समय की बचत होती है। माल भेजने अथवा ले जाने वाले के अधिकार मे गाडी के रहने के कारण उसे बीच मे उतारने-चढाने की आवश्यकता नही रहती है । इसके साथ ही थोडे से माल से गाडी भर जाती है और तुरन्त यात्रा प्रारम्भ कर दी जाती है । अत सडक परिवहन मे समय की पर्याप्त बचत हो जाती है ।

(9) **पैकिग**—जहाज अथवा रेल से माल भेजने पर मजबूत पैकिग की आवश्यकता होती है । मजबूत पैकिग के अभाव मे रेल अथवा जहाजी कम्पनियाँ माल स्वीकार नही करती है जबकि सडक परिवहन मे पैकिग मे इतने चातुर्य की आवश्यकता नही होती है । बहुत-सी वस्तुएँ तो बिना पैकिग के भी लाद दी जाती है ।

(10) **अधिकतम सामाजिक हित**—रेल, जहाज तथा वायुयान से वही व्यक्ति लाभ उठा सकते है जिनके पास पर्याप्त धन है । किन्तु सडक परिवहन मे यह समस्या नही होती है क्योकि जिसके पास स्वय की गाडी हे वह सडक से माल ले जा सकता हे अथवा यात्रा कर सकता है । जिसके पास गाडी नही है वह पैदल यात्रा व सिर पर माल आदि ले जा सकता है । सक्षेप, मे सडक परिवहन धनी व गरीब सबके लिए समान रूप से लाभदायक है तथा अधिकतम सामाजिक हित मे वृद्धि करता है ।

भारत मे सड़को का विकास

प्राचीन काल मे भारत मे बडी-बडी सडके थी । मोहनजोदडो की खुदाई मे विस्तृत सडके मिली हे जो यह बताती है कि भारत के निवासी ईसा से 5000 वर्ष पूर्व भी सडक बनाने की कला मे निपुण थे । चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान् और शेरशाह जैसे राजाओ के शासन काल मे सडको का बडे पेमाने पर निर्माण हुआ, किन्तु ब्रिटिश शासन काल के आरम्भ मे सडको पर ध्यान नही दिया ।

भारत मे लार्ड डलहौजी के समय से सडको के निर्माण का एक नया युग प्रारभ हुआ । सन् 1885 मे देश मे प्रथम बार सडको के विकास के लिए केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग खोला गया । उसी वर्ष विभिन्न प्रान्तो मे भी सार्वजनिक निर्माण विभाग खोले गए । इससे देश मे सडक निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला । सन् 1919 मे सडको को प्रान्तीय विषय बना दिया गया । सन् 1927 मे **डा० एम० आर० जयकर** के सभापतित्व मे एक सडक विकास समिति की नियुक्ति हुई जिसके सुझाव के फलस्वरूप सन् 1929 मे केन्द्रीय सडक विकास कोष स्थापित हुआ, जिसमे पेट्रोल पर आयात कर व उत्पादन कर से प्राप्त आय जमा की जाती थी । इस कोष की सहायता से सन् 1939 तक सडको का विकास धीरे-धीरे किया जाता रहा है । द्वितीय विश्व युद्ध मे सड़को का अभाव सरकार को विशेष रूप म खटका । अतः सरकार ने दिसम्बर 1943 मे चीफ आफ इजीनियरो का एक सम्मेलन नागपुर मे बुलाया गया । इसने सडको के विकास की दस-वर्षीय योजना बनाई । यह योजना **नागपुर योजना** के नाम पर विख्यात हुई ।

नागपुर योजना—नागपुर योजना के मुख्य तत्त्व अग्रलिखित थे :—

(i) योजना मे सडकों को पाँच वर्गों मे विभाजित किया गया --

राष्ट्रीय सडके (National Highways), प्रान्तीय सडके (Provincial Highways), बडी जिला सडके (Major District Roads), लघु जिला सडके (Minor District Roads) व ग्रामीण सडकें (Village Roads)।

(ii) योजना का उद्देश्य था कि विकसित कृषि क्षेत्र मे कोई भी गाँव सडक से पाँच मील दूर तथा अविकसित कृषि क्षेत्र मे दस मील से अधिक दूर न हो।

(iii) योजना मे पुरानी सडकों का सुधार एव नयी सडकों का निर्माण, ये दोनों कार्य सम्मिलित थे।

(iv) एक निष्पक्ष सडक बोर्ड की स्थापना पर जोर दिया गया।

(v) सडक अनुसन्धान, सडक-निर्माण सामग्री, इन्जीनियरो के प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करने पर भी बल दिया गया।

(vi) अविभाजित भारत के लिए 448 करोड रुपये के व्यय से 4 लाख मील लम्बी सडक बनाने का लक्ष्य रखा गया था। देश विभाजन के भारतीय सघ मे नागपुर योजना के अनुसार 3,31,000 मील लम्बी सडको का निर्माण करना था, जैसा कि प्रदत्त अको से स्पष्ट है।

नागपुर सडक योजना

सडकें	सडको की लम्बाई (मीलो मे)	व्यय (करोड रुपए मे)
1. राष्ट्रीय सडके (National Highways)	16,600	39.0
राष्ट्रीय अनुयान (National Trail)	4,150	2.5
2. राजकीय सड़के (Provincial Highways)	53,950	100.3
3. जिला की सडके—बडी (Major)	49,800	51.4
जिला की सडके—छोटी (Minor)	83,000	66.5
4. गाँव की सड़के—(Village Roads)	1,23,500	24.7
5. युद्धकाल मे पिछडे हुए कार्य (Arears of war)		8.3
6. पुलो का निर्माण (Bridging)		37.8
7. भूमि प्राप्त करना (Land acquistion)		41.6
	कुल—3,31,000	371.5

भारत सरकार और राज्य सरकारो ने नागपुर योजना को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया। सम्मेलन के सुझाव के अनुसार 1 अप्रैल 1947 से राष्ट्रीय सडक के निर्माण, सुधार और अनुरक्षण का उत्तरदायित्व भारत सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। एक केन्द्रीय सड़क सगठन (Central Road Organisation) की स्थापना की गई परन्तु (1) देश-विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अव्यवस्था, (2) आर्थिक कठिनाइयाँ, (3) सड़क-निर्माण की सामग्री की कमी, (4) भूमि-प्राप्त करने मे विलम्ब

तथा प्रशिक्षित कर्मचारियो के अभाव के कारण इस योजना के अधीन प्रगति बहुत धीमी रही। प्रथम योजना के आरम्भ तक केवल 27.11 करोड रुपये ही व्यय हुए थे। नागपुर योजना की प्रगति का अनुमान निम्न अको से लगा सकते है।

वर्ष	पक्की सडके	कच्ची सडके
1947	88,000 मील	1,32,000 मील
1950-51	98,000 ,,	1,51,000 ,,

1950-51 मे प्रथम योजना के आरम्भ होने पर नागपुर योजना के कार्यक्रमो को योजना कार्यक्रम का अग बना लिया गया।

पचवर्षीय योजनाओ मे सड़को का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम योजना मे सडको के निर्माण पर 147 करोड रुपए व्यय किए गए तथा 26,000 किलोमीटर नई पक्की तथा 72,398 किलोमीटर कच्ची सडके बनाई गई। लगभग 16 हजार किलोमीटर पुरानी सडको की मरम्मत की गई तथा विभिन्न स्थानो को मिलाने के लिए 1,030 किलोमीटर लम्बी शृङ्खला-सडके बनाई गयी।

द्वितीय पचवर्षीय योजना—इस योजना मे सडक यातायात के विकास पर 254 करोड रुपये खर्च किए गए। इस योजना मे पक्की सडको की लम्बाई, 2 लाख 35 हजार किलोमीटर और कच्ची सडको की लम्बाई 4 लाख 73 हजार किलोमीटर हो गई। सन् 1960 मे सीमा क्षेत्रो मे सडको के विकास के लिए एक मडल (Border Road Development Board) स्थापित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य इन क्षेत्रो मे सडको के विकास को तीव्र करके इन तक पहुँचाने के लिए परिवहन का साधन उपलब्ध करना है। **केन्द्रीय सड़क सगठन** के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम इस योजनावधि मे इस प्रकार रहे—जम्बू श्रीनगर मार्ग पर जवाहर सुरग के दोनो ओर छोटी सुरगे बनाई गई। रायगज से दालखोला तक राष्ट्रीय सडक बनाई गई तथा देहली-आगरा राष्ट्रीय मार्ग को चौडा किया गया। इस प्रकार इस योजना काल मे हम नागपुर योजना द्वारा निर्धारित लक्ष्य से भी आगे बढ गये।

हैदराबाद योजना—सन् 1959 मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के मुख्य इजीनियरो का जो हैदराबाद मे सम्मेलन हुआ था, उसमे सडको के विकास के लिए एक 20 वर्षीय योजना तैयार की गई जिसका समय सन् 1961 से 1981 तक रखा गया। इस योजना का लक्ष्य सन् 1980-81 के अन्त तक 4 लाख 5 हजार किलोमीटर पक्की सडक व 6 लाख 51 हजार किलोमीटर कच्ची सडके बनाने का था। इस योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार है—

(क) हर एक विकसित व कृषि क्षेत्र का गाँव पक्की सडक से 6 किलोमीटर व अन्य सड़क से 2.5 किलोमीटर के अन्दर आ जाय।

(ख) अर्द्ध विकसित क्षेत्र का गाव पक्की सडक के 13 किलोमीटर के अन्दर और किसी सडक के 5 किलोमीटर के अन्दर आ जाय।

(ग) अविकसित और अकृषि योग्य क्षेत्र का गाँव पक्की सडक के 19 किलोमीटर के अन्दर और किसी भी तरह की सड़क के 8 किलोमीटर के अन्दर आ जाय।

तृतीय पचवर्षीय योजना—तृतीय योजना मे सडको के विकास का कार्यक्रम हैदराबाद योजना के लक्ष्यो के अनुसार निर्धारित किया गया। इस योजना मे 40 हजार किलोमीटर नयी पक्की सडको के निर्माण का आयोजन था। इस योजना के अत तक पक्की सडको की कुल लम्बाई 2,85,300 किलोमीटर हो गयी। ग्रामो व अविकसित क्षेत्रो तथा सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे सडको के विकास पर विशेष बल दिया गया। साथ ही पुलो का निर्माण, सडको को चौडा करने व सुधारने की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना मे सडको के विकास पर 440 करोड रुपये व्यय किये गये।

तीन वार्षिक योजनाओ (1966-69) मे सडक विकास पर 308 करोड रुपये व्यय किये गये।

चतुर्थ योजना काल मे सड़क विकास—चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सडको की लम्बाई मे 29,000 कि०मी० की वृद्धि हुई जिसमे पक्की सडको की लम्बाई 1,31,000 कि० मी० और कच्ची सडको की लम्बाई 1,02,000 कि० मी० हो गई। इस अवधि मे राष्ट्रीय राजमार्गो मे 4,800 कि० मी० नई सडके जोडी गई। योजनावधि मे 826 94 करोड रुपया व्यय किया गया था।

पाँचवीं योजना में सडक विकास—पाँचवी पचवर्षीय योजना म सडको के विकास पर 1,348 करोड रुपये व्यय किये गये। इस योजना के अन्तर्गत सडको के विकास के जो कार्य किये गये व इस प्रकार है—

(i) प्रमुख औद्योगिक केन्द्रो, खनिजो और विकास योजनाओ सम्बन्धी परियोजनाओ के बीच वाले क्षेत्रो मे सडक का निर्माण किया गया।

(ii) 1,500 या उससे अधिक जनसख्या वाले गाँवो को जोडने वाली सडके बनायी गई।

(iii) पहाडी क्षेत्रो तथा तटीय भागो मे विकास के लिए सडको का निर्माण किया गया।

(iv) बडे नगरो, राजधानियो और उनके निकटवर्ती भागो मे सडको का विकास किया गया।

(v) पटना के निकट गगा पर तथा कलकत्ता के निकट हुगली पर दूसरा पुल बनाया गया।

(vi) चौथी योजना की अधूरी सडको को पूरा किया गया।

(vii) लगभग 1,000 कि० मी० राष्ट्रीय राज्य मार्ग को चौड़ा किया गया।

(viii) योजना के अन्त तक पक्की सडको की लम्बाई 5,50,000 कि० मी० की गई।

योजनाकाल मे सड़को की प्रगति निम्न प्रकार रही है—

सडक निर्माण प्रगति

(हजार किलोमीटर)

वर्ष	पक्की सडके	कच्ची सडके	योग
1950-51	157	243	400
1960-61	263	261	525
1971-72	423	598	1021
1975-76	538	829	1367
1978-79	530	950	1480
1979-80	630	980	1910

छठी योजना मे सडक विकास—छठी योजना मे सडक विकास के लिए प्रस्तावित परिव्यय केन्द्रीय क्षेत्र के लिए 830 करोड रुपये तथा राज्य क्षेत्र के लिये 2,609 करोड रुपये है। इस योजना मे सडक विकास कार्यक्रम मे देश मे सडको के जाल से समन्वित एव सतुलित विकास पर जोर दिया गया है। इनमे ये सडके होगी—

(1) प्रमुख सडके जिनमे राष्ट्रीय राज्य मार्ग आते है।

(ii) गौण और सहायक सडके, जिनमे राज्यीय राजमार्ग और प्रमुख जिले शामिल है। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रो मे सडको के विकास के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था की गई है। इस योजना मे सडक परिवहन के विकास पर जो व्यय किये जायेगे उनका विवरण नीचे सारणी मे दर्शाया गया है---

सडक परिवहन का परिव्यय

(केन्द्रीय क्षेत्र मे परिव्यय)

(करोड रुपये मे)

क्रम	मद	राशि
1	राष्ट्रस्तर की सडके	660 00
2	मशीनरी	18 00
3.	स्ट्रेटिजिक रोड	38 00
4.	आर्थिक एव अन्तर्राज्यीय महत्त्व की सडके	40 00
5	सीमा क्षेत्रो मे सडक सम्बन्ध	50 00
6	सडक विकास अनुसधान एव योजना अध्ययन	4 00
7	रेलवे क्रासिग के ऊपर एव नीचे के पुलो के लिए विशेष प्रावधान	9 00
8	आदिवासी क्षेत्रो मे सडक विकास के लिए विशेष प्रावधान	6 50
9	सडक प्रशिक्षण सस्थान की स्थापना के लिये	1 00
10	केन्द्रीय सडक अनुसधान सस्थान	3 00
	सकल योग	830 00

राज्य क्षेत्र में परिव्यय

(करोड रुपये मे)

1	ग्रामीण सडक न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत	1164 90
2	अन्य सडके	1444 96
	सकल योग	2608 96

सडक का वर्गीकरण

सडको का वर्गीकरण आज भी प्राय वैसा ही ह जैसा नागपुर योजना मे प्रस्तुत किया गया था। अब हमारी राष्ट्रीय सडक प्रणाली मे एक्सप्रेस सडके और अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्ग भी सम्मिलित ह। सक्षेप मे भारत मे सडको का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

1. **राष्ट्रीय सड़कें**—केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय सडको का प्रबन्ध करती हैं। यह सडके भारत के प्रमुख नगरो को जोडती है।

2. **प्रान्तीय सडकें**—इन सडको को बनवाना राज्य सरकारो का उत्तरदायित्व है। ये सडके राज्य के विभिन्न नगरो को जोडती है।

3 **जिले की सड़कें**—जिला बोर्ड या नगरपालिका द्वारा इन सडको को बनवाया जाता हैं। ये सडके अधिकतर कच्ची है और इन सडको पर वर्षा के दिनो मे मोटरगाडियाँ नही चल सकती। ये सडके जिलो के उत्पादन केन्द्रो तथा मंडियो को आपस मे या रेलवे स्टेशनो व राजमार्गों से मिलाती है।

4 **गाँव की सड़कें**—ये सडके ग्राम पचायत और गाँव वालो के सहयोग से बनती है। ये सडके एक गाँव को दूसरे गाँव से मिलाती है या उन्हे राष्ट्रीय, प्रान्तीय व अन्य सडको से मिलाती है।

5. **एक्प्रेस-सड़कें**—ये राजमार्ग तेज मोटरवाहनो के लिए निर्मित किये गये है। इनमे से दो बम्बई नगर के उत्तरी छोर पर है जिन्हे क्रमश पश्चिमी और पूर्वी एक्सप्रेस राजमार्ग कहा जाता है और तीसरा मार्ग कलकत्ते को दमदम हवाई अड्डे से मिलाता है। चौथे व पाँचवे एक्सप्रेस सडको पर काम जारी है।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग**—इकाफे (ECAEF-Economic Commission for Asia and Far East) के सुझाव पर तृतीय योजनावधि से अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्ग बनाने की योजना शुरू हुई है, जिसके अनुसार भारत अपने राष्ट्रीय राजमार्गों को अतर्राष्ट्रीय राजमार्गों से मिला देगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्ग के भाग भारत मे आगरा, बम्बई, दिल्ली, मुल्तान, बङ्गलौर, मद्रास, गोलावाट, लोडो मार्ग है।

7. **सीमावर्ती सड़कें**—मार्च 1960 मे एक सीमावर्ती सडक विकास-मण्डल स्थापित किया गया ताकि पार्श्व मार्गों के विकास के माध्यम से उत्तर और उत्तरी-पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों के लिए सुगम मार्गों का निर्माण कर उनके आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दिया जा सके। मण्डल के तत्काल कार्यक्रम मे लगभग, 7,200 कि० मी० सड़को

का निर्माण, लगभग 6 3०कि० मी० वर्तमान सडको का विकास और लगभग 11,400 कि० मी० सडको का पक्का करना शामिल है ।

भारत की प्रमुख सड़के

भारत की प्रमुख सडके निम्नलिखित है—

1 **ग्राण्ड ट्रंक रोड**—यह भारत की सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण सडक है । इसकी लम्बाई 2400 कि० मी० है । इसकी दो शाखाएँ है—

(i) **उत्तरी ग्राण्ड ट्रक रोड**—यह बम्बई से बडौदा, अहमदाबाद, अजमेर व जयपुर होती हुई दिल्ली को जाती है, जहाँ से यह अमृतसर होती हुई पाकिस्तान की सीमा तक चली जाती है ।

(ii) **पूर्वी ग्राण्ड ट्रक रोड**—यह कलकत्ता से वाराणसी, इलाहाबाद, कानपुर, आगरा, दिल्ली व अम्बाला होती हुई पाकिस्तान की सीमा तक चली जाती है ।

2 **बम्बई-कलकत्ता रोड**—यह सडक बम्बई से प्रारम्भ होकर नागपुर, सम्बलपुर व रायपुर होती हुई कलकत्ता को जाती है ।

3. **बम्बई मद्रास रोड**—यह सडक बम्बई से पूना, कोल्हापुर, बेलगॉव, धार-वार और बङ्गलौर होती हुई मद्रास तक जाती है ।

4 **कलकत्ता-मद्रास रोड**—यह सडक कलकत्ता से प्रारम्भ होकर सम्बलपुर, रायपुर, विजयवाडा व गन्टूर होते हुए मद्रास तक जाती है ।

5. **बम्बई-आगरा रोड**—यह सडक बम्बई से नासिक, इन्दौर, ग्वालियर होती हुई आगरा तक जाती है ।

6. **ग्रेट डेकन रोड**—यह सडक उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर नगर से निकल कर जबलपुर, नागपुर होती हुई बङ्गलौर तक जाती है । दक्षिणी भारत की यह सबसे प्रमुख सडक है ।

7. **गौहाटी चेरापूंजी रोड**—यह सडक गौहाटी से शिलांग होती हुई चेरापूंजी (मेघालय) तक जाती है ।

8. **पठानकोट जम्बू रोड**—यह सडक पठानकोट से जम्मू तक जाती है तथा बाद मे श्रीनगर रोड से मिल जाती है ।

9 **अन्य सड़कें**—उपर्युक्त सडको के अतिरिक्त कुछ अन्य सडके निम्नलिखित है—

(i) दिल्ली-मेरठ-सहारनपुर, देहरादून और मसूरी रोड । (ii) अम्बाला-कालका-शिमला रोड (iii) मद्रास-कालीकट रोड (iv) बरेली-नैनीताल-अल्मोडा रोड (v) पूर्णिया-दार्जिलिङ्ग रोड (vi) मणिपुर-कोहिमा-इम्फाल रोड (vii) पठान-कोट-कुल्लू रोड (viii) जम्मू-श्रीनगर-उरी रोड (ix) मद्रास-ट्रावनकोर रोड (x) गौहाटी-चेरापूंजी रोड (xi) दिल्ली-लखनऊ रोड ।

दक्षिण के पठार पर असमतल धरातल के कारण रेलो की अपेक्षा सडको का अधिक विकास हुआ है । यातायात के प्रमुख मार्ग सडकें ही है ।

सड़क परिवहन का विकास (मोटर परिवहन)

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक—भारत में मोटर परिवहन का विकास प्रथम महायुद्ध के समय मे हुआ। सन् 1914 मे जब युद्ध शुरू हुआ तब रक्षा के हेतु अनेक मोटरों का आयात किया गया और 1918 के पश्चात् जब लडाई समाप्त हुई तब वही मोटरे अन्य व्यक्तियो को बेच दी गई। इस प्रकार 1918-20 में मोटर परिवहन लोकप्रिय होने लगा व धीरे-धीरे मोटरो की सख्या मे वृद्धि होने लगी। सन् 1935-36 तक यह सख्या बढकर 11,500 हो गई।

मोटर परिवहन के नियमन के लिए सर्वप्रथम सन् 1914 मे मोटर वाहन अधिनियम बनाया गया जिसमे ड्राइवरो को लाइसेन्स देने, मोटर गाडियो के रजिस्ट्रेशन कराने और असावधानी की दशा मे दण्ड देने की व्यवस्था थी। स्थानीय सरकारो को मोटरगाडियो के नियम बनाने के अधिकार मिल गए। युद्ध के पश्चात् मोटरो की सख्या मे तेजी से वृद्धि होने लगी परन्तु मन्दी काल मे मोटर परिवहन की स्थिति बिगड गई। मन्दी के समय (1929) से रेल तथा मोटर यातायात मे प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गई। सन् 1932 मे इस प्रतियोगिता की समस्या पर विचार करने के लिए मिचेल किर्कनेस समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने मोटर यातायात के कडे नियमन पर जोर दिया। सन् 1937 मे नियुक्त वेजवुड समिति ने भी मोटर यातायात के नियमन का सुझाव दिया। इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए सन् 1939 मे नया मोटर वाहन अधिनियम बना। इसके अन्तर्गत पहली बार राज्य परिवहन और क्षेत्रीय परिवहन अधिकारियों की स्थापना परमिट देने के हेतु की गई और परमिट देने की शर्तें निर्धारित की गईं। इस अधिनियम मे मोटर यातायात के नियमन तथा नियन्त्रण के लिए विस्तृत नियम बनाए गए। सन् 1955-56 मे इस अधिनियम मे सशोधन किया गया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद मोटर परिवहन—द्वितीय महायुद्ध (1939-45) काल में मोटर यातायात के समक्ष कठिनाइयाँ आयी। यातायात के साधनो की माँग बढी परन्तु मोटरो का यातायात बन्द हो गया। देश मे पेट्रोल की कमी तो थी ही, मोटर के पुर्जे भी कठिनाई से मिलते थे। सन् 1945 तक यही दशा रही। सन् 1945 मे भारत सरकार ने राज्य सरकारो के पथ-प्रदर्शन के लिए एक सिद्धान्त व्यवहार सहिता लागू की जिसका उद्देश्य रेल हितो की रक्षा करनी थी। इसके द्वारा माल ले जाने के लिए मोटर परिवहन पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाए गए। मोटरगाडियो के क्षेत्र को 75 मील तक ही सीमित कर दिया गया। मोटर पर करो मे भी भारी वृद्धि की गई। इन प्रतिबन्धो की कडी आलोचना की जाने लगी। अतः 1950 मे मोटर वाहन कर जाँच समिति नियुक्ति की गई। समिति ने करो मे कमी करने, सिद्धान्त व्यवहार सहिता को 3 वर्षों तक स्थगित करने आदि के सम्बन्ध मे सुझाव दिया परन्तु सरकार इन सुझावों को कार्यान्वित न कर सकी।

योजनाकाल मे विकास—सन् 1953 मे नियुक्त परिवहन अध्ययन दल ने मोटर यातायात की समस्याओ का अध्ययन किया तथा मोटरो के सेवा-क्षेत्र को 75 से

150 मील कर देने व करो मे कमी करने का सुझाव दिया। सन् 1956 मे मोटर परिवहन अधिनियम मे आवश्यक सशोधन किए गए। सन् 1958 मे केन्द्रीय सरकार ने श्री मसानी की अध्यक्षता मे सडक परिवहन पुनर्गठन समिति नियुक्ति की। इसने सडक परिवहन को रेलवे से आवश्यक बताया और मोटर यातायात की प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। सन् 1959 मे श्री नियोगी की अध्यक्षता मे परिवहन नीति एव समन्वय समिति नियुक्ति की गई। समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि सडक परिवहन का विकास इस प्रकार किया जाय कि इसके द्वारा निश्चित योजनाओ तथा क्षेत्रो मे उचित लागत पर सेवाएँ प्रदान की जा सके।

स्वतन्त्रता के पश्चात सडक परिवहन मे उल्लेखनीय प्रगति हुई हैं जिसका अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत कर सकते है—

1. **सडक परिवहन मोटर गाडियॉ**—31 मार्च 1979 को सडक पर मोटर गाडियो की सख्या 36·96 लाख थी जो 1947 की सख्या से 16 गुनी अधिक थी।

2. **सडक परिवहन का राष्ट्रीयकरण**—अधिकतर राज्यो और केन्द्र शासित क्षेत्रो ने पूर्णत अथवा अशत यात्री परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। 31 मार्च, 1979 को सारे देश मे अनुमानत. 55 5 प्रतिशत बसे सरकारी क्षेत्र द्वारा चलायी जा रही थी। सडक परिवहन निगम अधिनियम 1950 के अन्तर्गत अनेक राज्यो मे सम्बन्धित निगम स्थापित किये जा चुके है।

3 **राष्ट्रीय परमिट योजना**—सडक परिवहन गाडियो द्वारा माल ले जाने मे आने वाली कठिनाइयॉ दूर करने के लिए 1975 मे एक राष्ट्रीय योजना लागू की गई, जिसके अन्तर्गत केन्द्र सरकार ने प्रत्येक राज्य या सघीय क्षेत्र द्वारा जारी किए जाने वाले परमिटो की सख्या निश्चित कर दी।

4 **यात्री वाहन**—पिछले 10 वर्षों मे सरकारी क्षेत्र मे यात्री वाहनो का बेडा 1970 के 35,193 के बढकर 1980 मे 69,478 हो गया तथा इनकी मॉग विशेषकर महानगरो मे निरन्तर बढ रही है।

5. **परिवहन निकाय**—केन्द्र और राज्यो की नीतियो और विभिन्न तरीको से परिवहन व सचालन मे समन्वय सुनिश्चित करने के लिए भारत सरकार ने एक परिवहन विकास परिषद स्थापित की है। अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग अन्तर्राज्यीय मार्गों पर सडक परिवहन सेवाओ के विकास, समन्वय और नियमन का जिम्मेदार है।

मोटर परिवहन की प्रगति के लिये सुझाव

(Suggestions foi Improvement in Motar Transport)

भारतीय अर्थव्यवस्था मे मोटर परिवहन का सर्वाधिक महत्त्व है। अत. इसका द्रुत एव समुचित विकास होना परम आवश्यक है। मोटर परिवहन को स्वस्थ्य बनाने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये गये है—

(1) **आधुनिक सड़कों का निर्माण**—ऐसी सडको का निर्माण किया जाना चाहिये जो कम से कम 20 फीट चौडी हो। जिस पर नवीन गाडियाँ चलाई जा सके।

(2) **कर के भार मे कमी**--विभिन्न राज्यो मे लगाये जाने वाले करो मे समरूपता होनी चाहिये । करो मे कम से कम 20% की कमी की जानी चाहिये ।

(3) **सब राज्यों मे भार की समरूपता**—ऐसी सीमा का निर्धारण करने मे पुल-पुलियो की दशा और जन सुरक्षा को दृष्टिगत रखना चाहिये । प्रतिगाडी सीमा लगाने के बजाय प्रति धुरी भार सीमा बाँधना अधिक वैज्ञानिक है ।

(4) **प्रशासकीय संगठनो मे सुधार**—प्रत्येक राज्य मे परिवहन मन्त्रालय विशेष रूप से होने चाहिये जिसका एक कक्ष सडको से तथा दूसरा कक्ष सडक परिवहन से सम्बन्धित हो । प्रत्येक कार्य को ठीक ढग से चलाने के लिये परिवहन आयुक्त के अधीन तीन उपायुक्त होने चाहिये । राज्य परिवहन प्राधिकारो का सभापति उस व्यक्ति को बनाया जाय जो अनुभवी हो । प्रादेशिक परिवहन प्राधिकार के सदस्यो की सख्या जनता की सुविधा को ध्यान मे रखते हुए निश्चित करना चाहिये । जहाँ प्राधिकार बडे हो वहाँ प्रत्येक जिले मे उनकी शाखा या कार्यालय होना चाहिये ।

(5) **वित्तीय सुविधाये प्रदान करना**—श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता मे नियुक्त अध्ययन दल ने सडक परिवहन के लिये वित्त व्यवस्था का अध्ययन करने के उपरम्त एक रिपोर्ट दी जिसमे निम्न सुझाव दिये गये है—

(i) विकास छूट को पुन प्रारम्भ किया जाना चाहिए ।

(ii) सडक परिवहन उद्योग को प्राथमिकता वाले उद्योगो की श्रेणी मे रखा जाना चाहिए ।

(iii) आयकर में 80% की अतिरिक्त छूट और भी दी जानी चाहिए ।

(iv) विशेष सुविधाएँ प्रदान करने वाली परिवहन साख समितियो एव सहकारी किराया क्रय समितियो का गठन किया जाना चाहिए ।

(v) सरकारी सडक परिवहन निगमो को राज्य विद्युत मण्डलों की भाँति खुले बाजार मे ऋण लेने का अधिकार दिया जाना चाहिए ।

(6) **राष्ट्रीयकरण का क्रमबद्ध कार्यक्रम**—यात्रा सेवा सम्बन्धी मोटर व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के क्रमबद्ध कार्यक्रम को राज्य सरकारो को लागू करना चाहिए । माल यातायात के राष्ट्रीयकरण को चौथी योजना तक स्थगित करने का सुझाव दिया गया है । जिन क्षेत्रो मे परिवहन सुविधाओ की कमी है वहाँ मोटर मालिको को दीर्घकालीन परमिट स्वतन्त्रतापूर्वक दिए जाने चाहिए । विस्थापित होने वाले सचालको को अन्य मार्गों पर मोटरें चलाने का परमिट देना चाहिए ।

(7) **राज्य में सहयोग-समझौते**--जिस प्रकार व्यक्तिगत पर्यटको को बिना किसी बाधा के एक राज्य से दूसरे राज्य मे जाने की स्वतन्त्रता होती है उसी भाँति माल व यात्री सेवा प्रदान करने वाली बसो को भी जाने देना चाहिए । कुछ राज्यों ने पडोसी राज्यो की मोटरो पर कर लगाने की पारस्परिक सहयोगी व्यवस्था की । दूसरे राज्यो को भी इसी प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए ।

(8) **प्रतियोगी इकाइयों का निर्माण करना**—योजना आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि मोटर संचालन की इतनी वृहद होनी चाहिए कि वर्कशाप और अन्य

प्रबन्धको का प्रबन्ध कर सकें । तभी कम व्यय पर कुशल सेवा दी जा सकती है । अतः वर्तमान निजी मोटर सञ्चालन इकाइयो की परस्पर मिल कर आर्थिक इकाई बना लेनी चाहिए ।

(9) **नियमन विधि मे सुधार**—मोटर वाहन अधिनियम की अस्पष्ट धाराओ को स्पष्ट किया जाना चाहिए तथा परमिट प्रदान करने की कार्य विधि मे सुधार किया जाना चाहिए ।

(10) **समन्वय व्यवस्था**—परिवहन के विभिन्न साधनो मे समन्वय चाहिए जिससे पूर्ण विकास हो सके । समन्वय की स्थापना करने के लिए परिवहन विकास परिषद् अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग और राज्य परिवहन सडक सस्था कार्य कर रही है ।

अन्य देशो की तुलना मे भारत मे प्रति मील सडक के अनुसार गाडियो की सख्या बहुत थोडी है । हमारे यहाँ प्रति मील सडक पर 0.5 ट्रक है जबकि अन्य देशो मे 5 से 10 तक ट्रक पाये जाते है । प्रति मोटर वाहन व्यक्तियो की सख्या इगलैण्ड मे 6 3, कनाडा मे 3·2, अमेरिका मे 2.4, श्रीलका मे 85, ईरान मे 156 और भारत मे 695 है ।

सडक परिवहन की समस्याएँ

उपर्युक्त तथ्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे सडक परिवहन के विकास करने की आवश्यकता है लेकिन इसके विकास मे निम्नलिखित बाधाएँ है—

(1) **अपर्याप्त एव बुरी सड़कें**—सडक परिवहन की महत्त्वपूर्ण समस्या अपर्याप्त एव बुरी सडकें हैं । प्रति 10 वर्ग कि० मी० मे जापान मे 272 कि० मी०, पश्चिमी जर्मनी मे 167 वर्ग कि० मी० तथा फ्रास मे 143 कि० मी० सडकें है जबकि भारत मे प्रति 100 वर्ग कि० मी० मे केवल 36 कि० मी० सडकें है । इसके अतिरिक्त भारत मे दो-तिहाई सडके कच्ची है, रास्तो मे पक्के पुलो का अभाव है और सडको की चौडाई कम है ।

(2) **अपर्याप्त मोटरगाडियाँ**—यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् मोटरगाडियो की सख्या मे काफी वृद्धि हुई है लेकिन फिर भी अन्य देशो की तुलना मे भारत मे मोटरगाडियो की सख्या बहुत कम है । इस दिशा मे अभी बहुत कुछ करना है ।

(3) **अत्यधिक कर भार**—मोटर परिवहन के विकास मे अत्यधिक कर भार बहुत बाधक है । मोटरगाडियो पर इतना अधिक कर भार भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश मे नही है । सडक यातायात कर जाँच समिति के अनुसार भारत मे एक मोटरगाडी पर कर का भार 3500 रुपया है जबकि अमरीका मे यह कर भार केवल 862 रुपया तथा ब्रिटेन मे 472 रुपया है ।

(4) **राष्ट्रीयकरण का भय**—सन् 1947 से अनेक राज्यो मे सडक यात्रा और माल परिवहन का राष्ट्रीयकरण किया गया है । कभी-कभी तो राष्ट्रीयकरण करते समय मोटर मालिको को बहुत कम समय पूर्व सूचना दी जाती है, उन्हे उचित क्षति-

सडक परिवहन के विकास के लिए सुझाव

सडक परिवहन को अधिक सुविधाजनक बनाने की दृष्टि से निम्न सुझाव दिए जा सकते है :—

(1) सडक कर को समाप्त करके सडक परिवहन को अधिक द्रुतगामी बनाया जा सकता है ।

(2) राष्ट्रीय मार्गों पर प्रत्येक 50 किलोमीटर के अन्तर से ऐसे पेट्रोल स्टेशनो की व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ सर्विस एव मरम्मत का प्रबन्ध हो ।

(3) प्रमुख शहरो मे औद्योगिक केन्द्रो एव पर्यटन स्थलो पर रात्रि विश्राम-गृह बनाए जाने चाहिए ।

(4) विभिन्न क्षेत्रो मे समानता लाने की दृष्टि से पिछडे एव पर्वतीय क्षेत्रो मे सडको का तीव्र गति से विकास किया जाना चाहिए ।

(5) पेट्रोल स्टेशनो पर चिकित्सा एव पुलिस की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए ।

नई सरकार ने ग्रामीण विकास का जो नया रास्ता अपनाने का निश्चय किया है उसके लिए अच्छी सडके पहली आवश्यकता है । जब तक हम गाँवो को सडको से अच्छी तरह जोड नहीं पाते तब तक ग्रामीण विकास कार्यक्रम अधूरा ही रह जाएगा ।

भारत में सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत मे अनेक राज्यो मे सडक परिवहन (बस) का या तो पूर्ण अथवा आशिक राष्ट्रीयकरण हो गया है । किन्तु सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण के विषय मे आज भी वाद-विवाद चलता है ।

हमारे देश मे सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष मे निम्न तर्क दिए जाते है—

राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे तर्क—

(1) सडक परिवहन सार्वजनिक उपयोगिता सेवा है, इसीलिए इस पर सरकार का नियन्त्रण होना चाहिए ।

(2) यह समाजवादी समाज की व्यवस्था की दिशा मे सहायक होगा ।

(3) राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे के समय महत्त्वपूर्ण सेवाएँ उपलब्ध हो सकेगी ।

(4) अलाभकारी मार्गों मे भी परिवहन की सुविधा प्राप्त हो सकेगी ।

(5) इससे सरकार को पर्याप्त अतिरिक्त आय प्राप्त होगी जिसे देश के आर्थिक विकास मे लगाया जा सकता है ।

(6) यातायात के विभिन्न साधनो मे समन्वय की सम्भावना बढ जाएगी ।

(7) कर्मचारियों की दशा मे सुधार एव उनके कल्याण मे वृद्धि होगी ।

(8) सड़कों के राष्ट्रीयकरण से यात्रियो को भी लाभ होगा क्योंकि (अ) राष्ट्रीय

कृत मोटर सेवा अपेक्षाकृत अधिक सस्ती होती है। (ब) किराये भाडे पूर्णत निश्चित होते है। (स) भीड-भाड की समस्या से मुक्ति मिलती है। (द) समय की नियमितता का लाभ भी हो जाता है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क—

(i) सरकारी परिवहन सेवाओ में लोच का अभाव रहता है, क्योकि वह निर्धारित स्थानो पर ही सवारी लेते है और माल की बुकिंग इत्यादि भी नियमानुसार करते हैं।

(ii) व्यक्तिगत मोटर-वाहन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लग जाने के उपरात राष्ट्रीयकरण अनावश्यक हो गया है।

(iii) सरकारी कर्मचारियो मे लगन, सेवा-भाव व व्यावसायिक योग्यता का सामान्यत अभाव पाया जाता है।

(iv) सडक परिवहन का राष्ट्रीयकरण राजनैतिक दलबन्दी के लिए एक नया क्षेत्र खोलता है।

(v) राज्य सरकारो के पास राष्ट्रीयकरण करने के लिए पर्याप्त धन का अभाव है।

(vi) सरकार और कर्मचारियो मे सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नही रहते है।

(vii) प्रतिस्पर्धा के अभाव मे हो सकता है कि सरकारी बसो मे वे सुविधाये उपलब्ध न हो जो निजी चालको द्वारा प्रदान की जाती है।

निष्कर्ष—वर्तमान परिस्थितियो मे देश मे समाजवादी समाज की स्थापना करने, रेलवे तथा सडक के बीच प्रतियोगिता को समाप्त करने तथा सडक यातायात के आयोजित विकास के लिए सडक परिवहन का राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है। राष्ट्रीयकृत सडक पर परिवहन सेवा के महत्त्व को अधिक बल देने के लिए सरकार को निम्न चार बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए -(i) सस्तापन, (ii) नियमितता, (iii) सुरक्षा तथा (iv) सुविधाएँ। वास्तव मे भारत मे मोटर सेवा मे शनै.-शनैः राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई है।

सन् 2000 मे सडक परिवहन की सम्भावित स्थिति

सन् 2000 मे माल परिवहन की दृष्टि से माँग 5,00,000 मिलियन टन कि०मी० होगी जो रेल परिवहन से 1,00,000 मिलियन टन कि०मी० अधिक होगी। पक्की सडको की लम्बाई 13,25,000 कि०मी० और कच्ची सडको की लम्बाई 32,00,000 से 6,75,000 कि०मी० के मध्य होगी। राष्ट्रीय व राज्य मार्गों की लम्बाई पक्की सडको की लगभग 30% होगी।

सडक यात्री परिवहन 4,00,000 से 8,00,000 मिलियन यात्री कि०मी० होने की सम्भावना है। (5% आय मे वृद्धि पर) और इसे उचित रूप से 6,00,000 मिलियन कि०मी० माना जा सकता है। यदि रेल यात्री परिवहन सन् 2000 में

3,00,000 मिलियन यात्री कि॰मी॰ हो तो सडको का कुल भाग कुल यात्री परिवहन में लगभग दो तिहाई ($\frac{2}{3}$) हो जायेगा।

बसो द्वारा एक वर्ष मे औसतन रूप से 1 50 मिलियन यात्री कि॰मी॰ ढोने की सम्भावना है। अत· सन् 2000 मे 4,00,000 बसो की आवश्यकता होगी। सन् 1951 मे यह औसत 6 7 लाख यात्री कि॰मी॰ तथा 1968-69 मे 1 13 मिलियन टन यात्री कि॰मी॰ था।

परीक्षा-प्रश्न

1 भारत मे सडक यातायात के महत्त्व व विकास का सक्षिप्त विवरण दीजिए। मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण से क्या लाभ है ?

2 विगत वर्षों मे सरकार ने सडक यातायात के विकास के लिये क्या कदम उठाए है ?

31

परिवहन समन्वय
(Transport Co-ordination)

अर्थ—परिवहन समन्वय से आशय प्रत्येक परिवहन सेवा को केवल यह कार्य सुपुर्द करना है, जिसे वह दूसरो की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक करने मे समर्थ हो और जिसे करने से उसका उस क्षेत्र मे अधिकतम विकास सम्भव हो। समन्वय से विविध परिवहन सेवाओं का पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाता है और प्रत्येक पक्ष के उसी यातायात को ले जाने मे हाथ डालता है जिसके ले जाने मे वह निम्नतम भाडे ले सकता है।

रेल सड़क प्रतियोगिता के कारण
(Causes Competition Between Rail Road)

भारत की रेल एव सडक परिवहन के मध्य प्रतियोगिता के प्रमुख कारण निम्न है :—

(i) **रेल परिवहन में असुविधाएँ**—रेल द्वारा माल के यातायात मे अनेक शिकायते रहती हैं। इनमे माल बुक करने में देरी, परिवहन मे अधिक समय, चोरी से माल का नुकसान इत्यादि शामिल है। इसके विपरीत सडक परिवहन मे माल का यातायात तेजी से होता है। और सामान्यतः माल की चोरी का डर नही रहता।

(ii) **समय सारणी में लोच**—सडकों की समय सारणी मे रेलो की तुलना मे अधिक लोच पायी जाती है जिससे सडक परिवहन की प्रतियोगिता शक्ति अधिक रहती है।

(iii) **सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति**—रेलों के सामाजिक उद्देश्यो के अधीन प्ररिवहन सुविधाओ मे अनेक रियायते देनी होती है जैसे खाद्यान्नो को रियायती दर पर ले जाना जब कि सडक परिवहन द्वारा ऐसी सुविधाएँ न देने से उसकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक रहती है।

(iv) **द्वार-द्वार सेवा**—सडक परिवहन द्वारा माल तथा यात्रियो को द्वार से द्वार सेवा की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं किन्तु रेल परिवहन मे इस प्रकार की सुविधाओ का अभाव होता है। रेल परिवहन मे माल को रेलवे स्टेशन तक पहुँचाना होता

है और वही से प्राप्त भी किया जाता है। इस कारण सडक परिवहन रेलो की प्रतियोगिता मे सफल हो जाता है।

(v) **मार्ग परिवर्तन की सुविधा**—सडक परिवहन मे मार्ग का परिवहन आसानी से किया जाता है किन्तु रेले निश्चित मार्ग पर ही चलती है। अगर रेलों के मार्ग को परिवर्तन करना पडे तो भारी पूंजीगति हानि सहन करनी पडती है।

(vi) **सडक परिवहन की कम लागत**—रेलो की अपेक्षा सडक परिवहन की कम लागत आती है, जिससे उसकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक रहती है साथ ही रैलवे को रेल मार्गों की सुरक्षा और मरम्मत पर भी व्यय करना पडता है जबकि सडक परिवहन मे यह व्यय मोटर-मालिको को व्यय नही करना पडता है।

रेल एवं सड़क परिवहन में माल ढोने की लागत (प्रति टन)

(रुपयो मे)

दूरी किलोमीटर	रेल परिवहन		सडक परिवहन
	स्टीम इजन	डीजल इजन	
50	21·35	20·72	10 35
100	23 67	22·35	15 75
200	65 28	32·65	26 50
500	59.53	63·95	49 23
1000	102·86	92 85	87 58

समन्वय की आवश्यकता
(Need of Co-ordination)

निम्नलिखित बिन्दुओ के आधार पर सडक और रेल परिवहन मे समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता का समर्थन किया जाता है।

(i) समन्वय का प्रमुख लाभ अस्वस्थ प्रतियोगिता को दूर करना है। इससे विभिन्न साधनो के सम्बन्ध अच्छे हो जाते है और सभी को विकास के समान अवसर मिलते है।

(ii) देश मे सुनियोजित परिवहन व्यवस्था को स्थापित करने के लिए परिवहन के दोनो साधनो मे नियोजित समन्वय आवश्यक है।

(iii) रेल और सडक परिवहन मे प्रभावशाली समन्वय के बिना व्यर्थ का दोहरा परिवहन स्थापित होगा।

(iv) रेलो द्वारा आर्थिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु परिवहन सुविधाओ मे अनेक रियायते देनी होती है।

(v) यातायात का चालन छोटे-छोटे मार्ग से होने लगता है जिससे माल शीघ्रता से निर्दिष्ट स्थान पर समय से पहुँच जाता है, जिससे समय और लागत की बचत होती है।

भारत में परिवहन के लिए किए गए प्रयास

देश में रेल और सडक परिवहन के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए जो प्रयास किए गए है, उन्हे हम मोटे तौर पर दो शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है—

1 स्वतन्त्रता के पूर्व किए गए प्रयास।
2 स्वतन्त्रता के पश्चात् किए गए प्रयास।

स्वतन्त्रता के पूर्व किए गए प्रयास

(1) **मिचेल किर्कनेस समिति** (Mitchel Kirkness Commitee)—सर्वप्रथम सन् 1932 मे मिचेल किर्कनेस समिति नियुक्ति की गई। इस समिति से प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे—(i) मोटर यातायात पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय, (ii) मोटर सेवा के लिए 50 मील का क्षेत्र नियत किया जाय, (iii) रेलवे को सडको पर अपनी मोटरे चलाने का अधिकार दिया जाए, (iv) परिवहन के प्रबन्ध प्रशासन हेतु एक केन्द्रीय यातायात मण्डल स्थापित किया जाए व (v) मोटर-स्वामियो के लिए कर देना और भाडे व समय की सारणियाँ रखना अनिवार्य बनाया जाए।

(2) **रेलवे-सडक सम्मेलन शिमला**, 1933 (Rail-Road Conference)—सन् 1933 मे शिमला मे रेल-सडक सम्मेलन हुआ, जिसमे अनुचित प्रतियोगिता को दूर करने और उनके बीच समन्वय स्थापित करने के लिए कुछ प्रस्ताव पास किए गए। —सम्मेलन का यह मत था कि समन्वय की योजना प्रान्तो तथा केन्द्रो की सहमति से लागू की जाए और रेल एव सडक अधिकारियो में अधिक सहयोग एव विवेकपूर्ण समन्वय होना चाहिए, ताकि अलाभकारी प्रतियोगिता समाप्त हो सके।

(3) **रेलवे अधिनियम** 1933—भारत सरकार ने रेलवे सडक सम्मेलन के सुझावो को व्यावहारिक रूप देने के लिए रेलवे अधिनियम सन् 1933 पारित किया, जिसके अनुसार रेल कम्पनियो को सामानान्तर सडको पर अपनी मोटरे चलाने का अधिकार दिया गया।

(4) **केन्द्रीय परिवहन परामर्शदात्री परिषद्** 1935—सन् 1935 मे परिवहन मत्री की अध्यक्षता मे एक केन्द्रीय यातायात परामर्शदात्री परिषद् की स्थापना की गई, जिसका प्रमुख कार्य परिवहन के समस्त साधनो को सयोजित करके ऐसी नीति प्रस्तुत करनी थी, जो प्रान्तों द्वारा अपनाई जा सके।

(5) सन् 1937 मे एक **यातायात एव सवहन-विभाग** की स्थापना की गई, जिसको रेलवे, डाक-तार विभाग तथा सड़क आदि का काम मिला। इससे समन्वय कार्य में कुछ सुविधा हुई।

इतने प्रयास के पश्चात् भी रेल-सड़क प्रतियोगिता गम्भीर होती ही चली गई।

(6) **वेजउड समिति** (Wedgewood Committee 1937)—यह समिति सन् 1936 मे रेल-सडक परिवहन के समन्वय हेतु व्यावहारिक नीति का सुझाव देने के लिए नियुक्त की गई थी। इस समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे—(i) मोटर

परिवहन पर कठिन नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। (ii) मोटर-गाडियाँ चलाने से पूर्व लाइसेन्स लेना अनिवार्य बनाया जाए। (iii) टाइम-टेबुल और किराये निश्चित होने चाहिए। (iv) मोटर वाहनो का एक क्षेत्र सीमित किया जाना चाहिए। (v) सभी प्रान्तो की मोटरगाडियो की दर सम्बन्धी नीति मे समता रहनी चाहिए। (vi) सार्वजनिक और प्राइवेट दोनो प्रकार की मोटरो पर एक से नियम लागू करने चाहिए। (vii) सामानान्तर सडको पर रेल कम्पनियो की मोटरे अधिक सख्या मे चलानी चाहिए।

(7) **मोटरगाड़ी अधिनियम** (Motor Vehicles Act 1939)—सन् 1939 मे वेजउड समिति की सिफारिशो के अनुसार मोटरगाडी अधिनियम पारित हुआ जिसमे सडक परिवहन पर नियन्त्रण स्थापित करने की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है—

(i) प्रादेशिक राज्यो की मोटरगाडियो के पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया।

(ii) प्रादेशिक एव क्षेत्रीय अधिकारियो की नियुक्ति की गई।

(iii) मोटरगाडियो के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य बना दिया।

(iv) प्रत्येक मोटरगाडी का तीसरे पक्ष के प्रति नुकसान के लिए बीमा कराना अनिवार्य कर दिया गया।

(v) मोटर-ड्राइवरो के लिए काम के 9 घण्टे प्रतिदिन तथा 45 घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किए गए।

(vi) मोटर वाहनो का सचालन क्षेत्र भी सीमित कर दिया गया।

इस अधिनियम द्वारा मोटर-परिवहन पर सरकार का कडा नियन्त्रण हो गया। द्वितीय महायुद्ध काल मे परिवहन के साधनो की अधिक माँग के कारण रेलसडक प्रतियोगिता समाप्त हो गई।

(8) **परिवहन समन्वय की युद्धोत्तर योजना**— सन् 1945 मे सरकार ने राज्य सरकारो को मोटर परिवहन के नियन्त्रण के लिए सिद्धान्त और व्यवहार सहित (Code of principle and practices) लागू की, जिसके अनुसार मोटर व्यवस्था का क्षेत्र 75 मील तक सीमित कर दिया गया। 75 मील से अधिक दूर तक मोटरे द्वारा माल ले जाने की अनुमति उसी प्रकार दी जाती है जब रेले माल ले जाने मे असमर्थ हो।

(2) स्वतन्त्रता के पश्चात् किए गए प्रयास

(1) 1950 मे मोटर वाहन कराधान जाँच समिति की नियुक्ति की गई जिसने रेल-सडक समन्वय की समस्या पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि जब तक मोटर परिवहन पर कर भार अधिक है, तब तक रेल-सड़क प्रतियोगिता की कोई सम्भावना नही है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उपभोक्ता को किसी भी साधन के प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(2) सन् 1953 मे परिवहन आयोग अध्ययन दल की नियुक्ति की गई। इस

अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि "परिवहन के समस्त साधनों के अनुपूरक और समुचित विकास के लिए एक दीर्घकालीन परिवहन नीति निश्चित की जानी चाहिए।"

(3) सन् 1958 में सड़क परिवहन की जाँच के लिए मसानी समिति की नियुक्ति की गई। सड़क परिवहन के उचित विकास के लिए इस समिति ने सिफारिश की कि (i) प्रत्येक राज्य में एक परिवहन मन्त्रालय की स्थापना होनी चाहिए। (ii) अन्तर्राज्यीय सड़क परिवहन को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए (iii) अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग के पास यथेष्ट कर्मचारी होना चाहिए और लाइसेन्स देने की उसे अधिक शक्तियाँ मिलनी चाहिए। (iv) यातायात के ऐसे साधन को सहायता देना जो कार्यक्रम में नहीं है, राष्ट्र-हित के विरुद्ध है।

(4) इन सुझावों के अनुसार सन् 1958 में अन्तर्राज्य मार्गों पर सड़क परिवहन सेवाओं के विकास, समन्वय एवं नियमन के लिए भारत सरकार द्वारा अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग की स्थापना की गई।

राष्ट्रीय परिवहन समन्वय नीति, 1966
(National Transport Co-ordination policy, 1966)

1. सन् 1959 में सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में रेल सड़क समन्वय समिति नियुक्त की, जिसने सन् 1966 में अपनी अन्तरिम रिपोर्ट पेश की। समिति के विचार तथा सुझाव निम्नलिखित थे -

(क) राष्ट्रीय स्तर पर संगठन- समिति के विचार केन्द्र में किसी स्थायी संगठन की आवश्यकता है जो स्वतन्त्र रूप में समन्वय समस्याओं का अध्ययन कर सके, लागत सम्बन्धी आँकड़े संकलित कर सके तथा महत्त्वपूर्ण निर्णय ले सके और उस निर्णय के अनुसार काम कर सके।

(ख) राज्य स्तरीय संगठन--राज्यों के अन्तर्गत परिवहन समन्वय की समस्याओं पर विचार करने का काम वर्तमान राज्य परिवहन अधिकारी (State Transport Authority) के सुपुर्द किया जाना चाहिए। अन्तर्राज्य परिवहन आयोग द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार यह अधिकारी कार्य करेंगे।

(ग) सलाहकार परिवहन बोर्ड—प्रत्येक राज्य में विशेष योजनाएँ बनाने के लिए राज्य सलाहकार परिवहन बोर्ड (State Advisory Transport Board) होना चाहिए।

(घ) समन्वय के उचित मापदण्डों का निर्धारण—परिवहन के समन्वय के लिए परिवहन साधनों के मध्य ट्राफिक का बँटवारा किए जाने के लिए ऐसे मापदण्डों का निर्धारण किया जाना चाहिए, जिससे यह बँटवारा उचित रूप से हो सके।

(च) परिवहन के विभिन्न साधनों का समन्वित विकास— यदि परिवहन प्रणाली को एक माना जाता है तो परिवहन के विभिन्न साधनों का एक दूसरे के पूरक के रूप में इस अनुपात में विकास करना चाहिए कि समाज की परिवहन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति न्यूनतम लागत पर हो सके।

(छ) **परिवहन समन्वय परिषद् की स्थापना** —परिवहन के विभिन्न साधनों मे समन्वय के लिए 'परिवहन समन्वय परिषद्, (Council for Transport Co-ordination) का गठन किया जाना चाहिए।

(ज) **परिवहन साधनो का समक एकत्रण**—परिवहन के अनेक साधनो के सम्बन्ध मे आवश्यक सूचनाओ और समको के एकत्रीकरण तथा विश्लेषण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, जिससे परिवहन के विभिन्न साधनो की माँग इत्यादि बातो पर नियमित ध्यान रखा जा सके।

(झ) **सडक परिवहन के विकास सम्बन्धी सुझाव** —(1) सडक यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए इन्हे लाइसेन्स प्रदान करने मे अधिक उदारता से काम लेना चाहिए और इन्हे सम्पूर्ण राज्य के लिए लाइसेन्स प्रदान करना चाहिए।

(2) सड़क परिवहन का विकास एक सुसंगठित उद्योग के रूप मे किया जाना चाहिए।

(3) सडक परिवहन के नियमो को सरल किया जाना चाहिए तथा उनमे एकरूपता लानी चाहिए।

पचवर्षीय योजनाओ मे रेल-सड़क समन्वय

योजना आयोग ने भी यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता तथा महत्व का अनुभव करते हुए प्रथम योजना मे कहा था, "यातायात के विभिन्न साधनो के विकास को, अन्य योजनाओ से पृथक् करके नही सोचा जा सकता। उन्हे विभिन्न कृषि तथा औद्योगिक योजनाओ की आवश्यकता के अनुकूल ही बनाना चाहिए और उनको इस प्रकार निर्मित करना चाहिए कि एक प्रकार के परिवहन का सम्बन्ध दूसरे से हो और प्रत्येक का विकास उसके क्षेत्र मे प्रभावपूर्ण सेवा के लिए हो।" अत प्रथम योजना मे परिवहन सुविधाओ के विकास के लिए वर्गीकृत कार्यक्रम बनाए गए।

द्वितीय योजना मे भी विभिन्न प्रकार के परिवहन साधनो मे समन्वय की नीति को और अधिक आगे बढाया गया। इसका लक्ष्य, विभिन्न परिवहन साधनों का सन्तुलित तथा एक साथ विकास करना था और प्रत्येक का क्षेत्र निर्धारित करके उन्हे सगठित करना था।

तीसरी योजना मे परिवहन नीति एव समन्वय समिति ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट मे समन्वय सम्बन्धी उपयोगी सुझाव दिए।

चौथी एवं पाँचवीं योजना मे सर्वाधिक राशि रेल परिवहन के लिए नियत की गई। तत्पश्चात् सडक परिवहन का नम्बर है। ग्राम मार्गों के लिए राज्य सरकारों ने जिम्मेदारी ग्रहण की है। स्पष्ट है कि योजनावधि मे माल व यात्री ट्रैफिक बहुत बढ जाएगा। आन्तरिक एव तटीय जल-परिवहन तथा वायु-परिवहन से इस दिशा मे अधिक सहायता न मिल सकेगी। अत मुख्य जिम्मेदारी रेल एवं सडक परिवहन पर ही आ गई है।

छठी योजना म परिवहन-साधनो की प्रबन्ध व्यवस्था में सुधार किया जाएगा उनकी कार्यक्षमता बढायी जाएगी एव लागत व्ययों को घटाने का प्रयास किया जाएगा।

समन्वय से लिए व्यावहारिक योजना

आजकल हमारे देश में निम्नलिखित संस्थाएँ परिवहन समन्वय का कार्य करती है

(1) **अन्तर राज्य परिवहन आयोग**– यह सस्था अन्तर्राज्यीय मार्गों मे सामजस्य स्थापित करती है तथा उन्हे नियन्त्रित करने के लिए कानून बनाती है तथा सड़क परिवहन सेवाओ का विकास करती है। इस आयोग ने पडोसी राज्यो के बीच समझौते कराके जोनल परमिट योजना प्रारम्भ की है।

(2) **राष्ट्रीय अनुज्ञा योजना**– इस योजना को जुलाई 1975 से शुरू किया गया है जिसके अन्तर्गत मोटर ट्रक को लाइसेन्स दिए जाने लगे है। अब एक जोन से दूसरे जोन के बीच माल का यातायात बेरोक-टोक होने लगा है।

(3) **परिवहन विकास परिषद्**—यह परिषद केन्द्रीय सरकार की सडको, सडक परिवहन एव जल मार्गों के विकास एव समन्वय के सम्बन्ध म नीतियाँ बनाती है। परिषद् में एक स्थायी समिति भी है, जो समन्वय एव विकास सम्बन्धी समस्याओ को विचार-विमर्श करके उसे उचित सलाह देती हैं।

(4) **राज्य सड़क परिवहन उपक्रम परिषद्**— इसका गठन 1973 मे हुआ। इसका उद्देश्य राज्यो की सरकारी सडक सेवाओ के बीच विचार-विमर्श के अवसर प्रदान करना है। परिषद् के तत्त्वावधान मे विविध परिवहन आयुक्त वर्ष में एक बार मिलते है तथा समान हित की समस्याओ पर विचार-विमर्श करते है।

समन्वय हेतु व्यावहारिक योजना

देश मे परिवहन समन्वय के लिये एक व्यावहारिक योजना के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते है : (1) जहाँ जनसख्या का 80% भाग रहता है, वहाँ विशेष रूप से सडको के विकास को और बडे उद्योगों के क्षेत्रो मे रेल परिवहन को प्रधानता दी जानी चाहिये। (2) यद्यपि रेले आधुनिक परिवहन व्यवस्था का आधार हैं परन्तु ऐसा होते हुए भी अन्य साधनो का विकास किया जाना चाहिये। (3) यात्री परिवहन रेलो से मोटरो की ओर हटने के कारण रेलो द्वारा माल ढुलाई की क्षमता मे पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिये। (4) किराये-भाड़े की दरे उचित सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिये और इनमे समन्वय रखने की जिम्मेदारी कोई राष्ट्रीय सस्था उठाए। (5) 200 किलोमीटर तक के परिवहन के लिये सडक को प्रोत्साहित करना चाहिये। (6) परिवहन समन्वय की योजना बनाते और लागू करते समय उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखना चाहिये। (7) रेल-सडक समन्वय स्थापित करने के लिये विशिष्ट यातायात के प्रवाहों (Specific flow of traffic) की लागत का अध्ययन किया जाना चाहिये। (8) योजनाओ मे विनियोग की नीतियो के जरिये समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

(9) पिछडे हुए क्षेत्रो व देहातो के आर्थिक विकास के लिये सडका के निर्माण व सडक-परिवहन के विकास पर विशेष ध्यान देना उचित होगा। (10) एकीकरण की प्रक्रिया तीन दिशाओं मे फैलायी जा सकती है—(अ) जहाँ परिवहन का काम विभागीय तौर पर चलाया जाता है, वहाँ इसे निगम या कपनियो मे परिवर्तित कर देना चाहिए जिससे यह पूर्णतया व्यापारिक दिशाओ मे चलायी जा सके। (ब) केन्द्रीय व राज्य निगमों के कार्यों को भारतीय रेलवे के सहयोग से इतना विकसित कर लेना चाहिये कि उनको यातायात मे महत्वपूर्ण अश मिल सके। (स) भारतीय रेलवे व राज्य सडक-परिवहन निगमो व अन्तर्राज्यीय मार्गो के लिये बनाये गये केन्द्रीय निगम के सहयोग से यात्री व माल के सयुक्त रेल-सडक परिवहन की व्यवस्था की जानी चाहिये।

भारत जैसे विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के लिये परिवहन समन्वय अत्यन्त महत्वे-पूर्ण है, ताकि परिवहन सुविधाओ के विस्तार के साथ-साथ एक स्थान पर दोहरी परिवहन सुविधाओ का विस्तार न हो और सीमित साधनो का दुरुपयोग भी न हो। परिवहन के आयोजित, समन्वित व एकीकृत विकास से आर्थिक विकास के कार्यक्रमो को तेज करने मे आसानी होगी। अत भारत मे परिवहन विकास समन्वित एव पूर्व नियोजित योजना के अनुसार किया जाना चाहिये और उसका सचालन जनता के सामान्य हित मे होना चाहिये।

राष्ट्रीय परिवहन समिति
(National Transport Policy)

छठवी पचवर्षीय योजना मे जो प्राथमिकताएँ निश्चित की गयी है उनको किस प्रकार से प्राप्त किया जा सके इस उद्देश्य मे योजना आयोग ने 28 अप्रैल 1978 को भूतपूर्व मत्रिमडल सचिव श्री बी० डी० पाण्डेय की अध्यक्षता मे एक समिति गठित की है जिससे कि राष्ट्रीय परिवहन नीति बनायी जा सके। इस समिति के अन्य सदस्य थे—श्री पी० सी० लाल, श्री जी० पी० वारियर, डा० एफ० पी० [illegible]ता, डा० एम० क्यू० डालवी व परिवहन सलाहकार योजना आयोग।

समिति द्वारा दिये गये सुझाव इस प्रकार है—(i) चुगी कर समाप्त किया जाय जिससे कि समय की बचत हो (ii) राष्ट्रीय व क्षेत्रीय परमिटो वालो से कर उनके राज्य मे ही लिया जाय तथा इनके करो मे भी विभिन्नता होनी चाहिए (iii) परिवहन के लिए योजनाओ मे अधिक राशि दी जाय (iv) एक राष्ट्रीय परिवहन योजना बनायी जाय (v) एक राष्ट्रीय परिवहन आयोग बनाया जाय जिससे कि परिवहन के सभी साधनो, राज्यो व केन्द्र मे समन्वय स्थापित किया जा सके। (vi) उत्तरी पूर्वी दोनो क्षेत्रो मे परिवहन के लिए सहायता दी जाय। (vii) राष्ट्रीय व क्षेत्रीय परमिटो की सख्या बढायी जाय।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत मे परिवहन के समन्वय तथा नियोजन मे उठनेवाली कठिनाइया की

संक्षिप्त विवेचना कीजिये तथा परिवहन के भिन्न-भिन्न साधनों के मध्य उत्तम समन्वय करने हेतु सुझाव दीजिये।

2. भारत में रेल-सड़क स्पर्द्धा तथा समन्वय पर एक निबन्ध लिखिये।

3. भारत में रेल-सड़क समन्वय की स्थापना के लिए क्या प्रयत्न किए गए हैं और उनमें क्या सफलता मिली है? इस दिशा में अपने व्यावहारिक सुझाव दीजिए।

32

भारत में जल परिवहन

(Water Transport ın India)

परिवहन के विभिन्न साधनो मे जल परिवहन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन समय मे जब रेल और मोटर विकास नही हुआ था, उस समय जल यातायात ही प्रमुख साधन था। भारत मे प्राचीन काल से ही जल मार्गों का प्रयोग होता रहा है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से जल परिवहन को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) आतरिक जलमार्ग (2) समुद्री जलमार्ग।

1. **आंतरिक जलमार्ग**—आतरिक जलमार्ग मे देश के आतरिक भागो मे नदियाँ एव नहरो द्वारा किए जाने वाले परिवहन को सम्मिलित किया जाता है। प्राचीन भारत मे देशी व्यापार के लिए आतरिक जलमार्गों का विशेष महत्त्व था। जब रेले नही थी तब अधिकाश व्यापार और मनुष्यो का आवागमन नदियो द्वारा ही होता था। किन्तु आधुनिक युग मे रेल मार्गों और सडको का विकास हो जाने के कारण आंतरिक जल मार्गों का महत्त्व घट गया है।

भारत मे प्रधान आतरिक जलमार्गों को निम्न दो भागो मे बाँटा जा सकता है (1) नदी परिवहन और (2) नहर परिवहन।

1 **नदी परिवहन**—उत्तरी भारत की नदियाँ अधिकाश रूप से वर्ष भर जल से परिपूर्ण रहती है जिससे इनमे नावे चलाई जा सकती है। इसके विपरीत दक्षिण भारत की नदियाँ पठारी भूमि पर बहने के कारण नाव चलाने योग्य नही है। भारत मे इस समय निम्नलिखित नदियो मे स्टीमर चलाए जा सकते है—

(i) **ब्रह्मपुत्र नदी**—ब्रह्मपुत्र नदी मे मुहाने से लेकर डिब्रूगढ तक 1300 कि० मी० तक जहाज चलते है। बगाल और असम मे यातायात की दृष्टि से इस नदी का बहुत ही महत्त्व है। इसके द्वारा जूट, चावल, वनो की लकडी, चाय आदि ढोयी जाती है।

(ii) **गंगा नदी**—गङ्गा नदी मे पटना तक स्टीमर चला करते है। गङ्गा की सहायक नदी घाघरा मे भी फ़ैजाबाद तक स्टीमर चलाए जाते है।

(iii) **यमुना नदी**—यमुना नदी मे आगरा तक नावे चला करती थी किन्तु बर्तमान मे इसका महत्त्व नही रह गया है।

(iv) **हुगली नदी**—हुगली नदी परिवहन का महत्त्वपूर्ण साधन है। इस नदी मे अब भी नदिया नामक स्थान तक नावे चलायी जा सकती है। वर्षा ऋतु मे स्टीमर भी चल सकते है।

(v) **भागीरथी नदी**—वर्षा ऋतु मे गङ्गा नदी मे कलकत्ता से केवल 288 कि० मी० तक स्टीमर चलाये जा सकते है।

2 **नहर परिवहन**—भारत मे नाव चलाने योग्य नहरो का बहुत ही अभाव है। हमारे देश मे अधिकाश नहरे सिंचाई के लिए बनायी गयी है जो नगरो से दूर खेतो म होकर जाती है। भारत मे नाव चलाने योग्य नहरो की लम्बाई 24140 कि० मी० है। जल परिवहन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहरे इस प्रकार है—

(i) गङ्गा की ऊपरी और निचली नहरें (उत्तर प्रदेश)
(ii) उडीसा तट की नहरे (उडीसा)
(iii) कर्नूल कडप्पा नहर (तमिलनाडु)
(iv) बकिंघम नहर (तमिलनाडु)
(v) सरहिन्द नहर (पजाब व हरियाणा)
(vi) सर्कुलर नहर (पश्चिमी बगाल)
(vii) गोदावरी व कृष्णा डेल्टा की नहरे
(viii) पूर्वी नहर (पश्चिमी बगाल)

योजनाकाल में आन्तरिक जल परिवहन की प्रगति

प्रथम योजना काल—(1952) मे गङ्गा एव ब्रह्मपुत्र नदियो मे अन्तर्देशीय जलमार्ग के विकास का पता लगाने के लिए गङ्गा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड की स्थापना की गई जो केन्द्रीय सरकार बिहार उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल व असम की सरकारो द्वारा मिलकर बनाया गया था।

द्वितीय योजना काल मे केरल वाडगरा से माही तक नहर का विस्तार व दामोदर घाटी मे नौ-परिवहन सम्बन्धी कार्यों को शामिल किया गया।

तृतीय योजना काल मे भारत सरकार ने अन्तर्देशीय जल परिवहन निदेशालय (Inland water transport directorate) की स्थापना की। 1967 मे गङ्गा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड इस निदेशालय में मिला दिया गया तथा इसी वर्ष केन्द्रीय अन्तर्देशीय जल परिवहन निगम (Central Inland water transport corporation) की स्थापना की गयी।

चतुर्थ योजना काल मे आन्तरिक जल परिवहन समिति (Inland water transport committee) नियुक्त की गयी जिसने आन्तरिक जल परिवहन के विकास पर 27 3 करोड रुपये व्यय करने की सिफारिश की। इस समिति की सिफारिशो के आधार पर अब तक केन्द्रीय सरकार द्वारा 6 करोड रुपये की 20 योजनाएँ स्वीकार की जा चुकी है।

प्रथम व द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे एक-एक करोड रुपये, तृतीय योजना मे 2 52 करोड रुपये, चतुर्थ योजना मे 11 करोड रुपये व पाँचवी योजना में 10.8 करोड रुपये आन्तरिक जल परिवहन विकास पर व्यय हुए है।

भारत मे आतरिक जलपरिवहन की अवनति के कारण

(i) **नदियो में जल की मात्रा का कम होना**—प्राचीन काल मे गङ्गा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियाँ नाव चलाने के लिए प्रसिद्ध थी। किन्तु इनके किनारे पर जगलो को नष्ट कर दिये जाने के कारण भू-सरक्षण के प्रभाव से इन नदियों मे कही-कही पर रेत के टीले बन गये जिसके कारण जल स्तर मे भारी कमी आयी है।

(ii) **शासन की एकपक्षीय नीति**—आतरिल जल परिवहन की अपेक्षा रेलो से अधिक लाभ है इसलिए जल परिवहन रेलो से कभी भी प्रतियोगिता नही कर सकता। भारत मे ब्रिटिश काल मे रेलो का काफी पक्ष लिया गया जिसके कारण भारत के आंतरिक जलमार्गो की अवनति होती चली गई।

(iii) **सिचाई के लिए जल का उपयोग**—नदियो और नहरो का पानी अब सिंचाई के लिए बहुत अधिक मात्रा मे निकाल लिया जाता है जिसके कारण जल-स्तर अपर्याप्त रहता हे और नावे सरलतापूर्वक नही चलाई जा सकती।

(iv) **संगठन का अभाव**—रेल व सडक परिवहन की तरह देश के आतरिक जल परिवहन का कोई सगठन नही है जिसके कारण इस परिवहन का विकास नही हो सका।

आतरिक जलपरिवहन के विकास के लिए सुझाव

भीतरी जल परिवहन के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हे—

(i) **शक्ति चालित नौकाएँ**—शक्ति-चालित नौकाओ के प्रयोग में वृद्धि से परिवहन की गति मे वृद्धि हो जायेगी।

(ii) **सहकारी सङ्गठनो का निर्माण**—नाविको के सहकारी सगठन बनाये जाने चाहिए, जिससे जनता मे इनके प्रति विश्वास की भावना जागृत हो सके।

(iii) **घाट व बन्दरगाहो का निर्माण**—राज्य सरकारो को पक्के घाट व बन्दरगाह बनवाना चाहिए और इन्हे सडको द्वारा शहरो और नगरो से जोडा जाना चाहिए।

(iv) **किराये का निर्धारण**—राज्य सरकारो को जल यातायात के किराये का निर्धारण करना चाहिए।

(v) **प्रशिक्षण**—ऐसे नाविक जिन्हे नाव चलाने का अच्छा ज्ञान न हो उन्हें ही नाव चलाने का अधिकार प्रदान करना चाहिए।

(vi) **निश्चित समय सारिणी**—जिन क्षेत्रो मे जल परिवहन अधिकांश रूप मे

सम्भव है वहाँ रेल-मोटर परिवहन सारिणी के अनुसार नौका चालको को भी समय-सारिणी निश्चित करना चाहिए ।

भारत में जहाजरानी
(Shipping in India)

संक्षिप्त इतिहास—प्राचीन काल मे भारत का समुद्री यातायात उन्नति के चरम शिखर पर था और उसे 'पूर्वी सागरो की रानी' का पद प्राप्त था । डॉ० राधा कमल मुखर्जी की दृष्टि मे 'पूरी तीस शताब्दी तक भारत की स्थिति पुरानी दुनिया के मध्य मे उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण रही, जैसे मनुष्य के शरीर मे हृदय की' भारत ससार के सामुद्रिक राष्ट्रो मे अग्रणी देश और महान् सामुद्रिक शक्ति बना रहा । अपनी जहाजरानी के कारण भारत का सम्बन्ध रोम, मिस्र, यूनान जैसी प्राचीन सभ्यताओ के साथ था । मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे जहाजरानी की विषद चर्चा मिलती है । भोज नरपति नाम के सस्कृत विद्वान् की पुस्तक 'युक्ति कल्पतरु' मे भारत के जहाज-निर्माण उद्योग के बारे मे पर्याप्त उदाहरण मिलने है । मुगल काल मे 'आईने-अकबरी' से पता चलता है कि केवल सिन्धु नदी के व्यापार मे ही 40,000 जहाज लगे हुए थे । सदियो तक समुद्री मार्गों पर भारत का प्रभुत्व बना रहा, परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से इस प्रसिद्ध भारतीय उद्योग का पतन प्रारम्भ हुआ ।

भारतीय जहाजरानी का पतन—भारतीय जहाजरानी के पतन का प्रमुख कारण विदेशी प्रतियोगिता तथा ब्रिटिश सरकार की अन्यायपूर्ण नीति थी । महात्मा गाधी के शब्दों मे, "भारतीय जहाजरानी को इसलिए नष्ट होना पडा कि ब्रिटिश जहाजरानी पनप सके ।" भारत मे अग्रेजों के आने पर स्टीमशिप और जहाज-निर्माण मे इस्पात का प्रयोग होने के कारण भारतीय जहाजरानी उद्योग को बहुत धक्का लगा। विदेशी शासन द्वारा भारतीय जहाजरानी पर लगाए गए प्रतिबन्धक कानून ने तो इस उद्योग का गला ही घोट दिया । संक्षेप मे, भारतीय जहाजरानी के पतन के कारण इस प्रकार थे—(i) इस्पात के जहाजो का प्रचलन । (ii) विदेशी सरकार की विद्वेषपूर्ण नीति । (iii) अग्रेजी व्यापारियो की ईर्ष्या । (iv) अग्रेजी जहाज कम्पनियो द्वारा भाडे मे रियायत, भुगतान की सरल प्रणाली तथा अन्य सुविधाओ द्वारा प्रतियोगिता करना । (v) किराए भाडे की लडाई । (vi) भारतीय जहाज की धीमी गति । अत विदेशी सरकार की उदासीनता तथा विदेशी कम्पनियो की प्रतियोगिता के कारण भारतीय जहाजरानी का विकास न हो सका । भारतीय जहाज-व्यवसाय का पतन इस सीमा तक हुआ कि वर्तमान समय मे भारत की कुल जहाजरानी शक्ति समस्त विश्व की जहाजरानी शक्ति का केवल 2% भाग है ।

भारत मे आधुनिक जहाजरानी का प्रारम्भ—भारत मे आधुनिक जहाजरानी का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1920 में हुआ; जबकि ब्रिटिश जहाजी एकाधिकार का मुकाबला करने के लिए **सिंधिया स्टीम नेवीगेशन** कम्पनी की स्थापना की गई । परन्तु इस कम्पनी की स्थापना के पूर्व भी इस दिशा में कुछ प्रयत्न किए गए थे, जैसे सन्

1893 मे टाटा ने चीन और जापान मे सूत और रुई का व्यापार करने के लिए जहाज कम्पनी प्रारम्भ की थी। सन् 1906 मे चिदम्बरम् पिल्ले ने तूतीकोरन मे स्वदेशी जहाजी कम्पनी की स्थापना की, सन् 1905 मे बङ्गाल स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ने चटगॉव-रगून मार्ग पर अपनी जहाजी-सेवा प्रारम्भ की। सन् 1927 तक 33 भारतीय जहाजी कम्पनियाँ बनी थी, परन्तु केवल चार ही शेष रही।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत मे राष्ट्रीय भावनाएँ उभरने लगी फलत भारतीय जहाजी व्यवसाय का भारतीयकरण करने को जनता की माँग काफी तीव्र हो गई। बढते हुए विरोध के कारण सन् 1923 मे सरकार ने हेडलाम की अध्यक्षता मे **भारतीय व्यापारिक जहाजी बेडा समिति** (Indian Mercantile Marine Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट मार्च सन् 1924 मे प्रस्तुत की, जिसमे निम्नलिखित मुख्य सिफारिशे थी—

(1) भारतीय जहाजो के लिए तटीय व्यापार लाइसेन्स प्रणाली द्वारा सुरक्षित किया जाए।

(2) सरकार किसी एक ब्रिटिश मार्ग को खरीदकर उसे किसी मान्यता प्राप्त भारतीय कम्पनी को सौप दे।

(3) भारतीयो को प्रशिक्षण देने के लिए एक प्रशिक्षण-पोत (Training Ship) की स्थापना की जाय।

(4) विदेशी जहाजो पर भी प्रशिक्षित भारतीयो को नौकरी दी जाए।

यद्यपि समिति की सिफारिशे महत्त्वपूर्ण थी, परन्तु सरकार ने इन्हे कार्यान्वित करने के लिए कोई सक्रिय कदम नही उठाया। दो वर्ष पश्चात् केवल प्रशिक्षण सम्बन्धी सुझाव को स्वीकार किया। तदनुरूप सन् 1927 मे भारतीय व्यापारिक प्रशिक्षण पोत 'डफरिन' का सङ्गठन किया गया।

सन् 1928 मे **श्री साराभाई नेमीचन्द हाजी** ने विधान सभा मे भारतीय तटीय व्यापार को भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित करने के लिए एक बिल पेश किया। इस पर असेम्बली के अन्दर तीव्र संघर्ष हुआ। फलत इस बिल पर कोई कार्यवाही नही की जा सकी।

वायसराय लार्ड इरविन ने जनवरी सन् 1930 मे **शिपिंग कान्फ्रेंस** का आयोजन किया परन्तु ब्रिटिश कम्पनियो से असहयोग के कारण यह सम्मेलन असफल रहा।

सन् 1935 मे भारत सरकार अधिनियम ने भारतीय असेम्बली से भारतीय जहाजरानी के विकास की शक्ति छीन ली।

सन् 1937 मे **सर अब्दुल हलीम गजनवी** ने जहाजी क्षेत्र मे अनुचित प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए बिल प्रस्तुत किया। इस बिल को जनता का अत्यधिक समर्थन प्राप्त हुआ। सरकार ने भारतीय व्यापारिक जहाजी व्यवसाय को विकसित करने के इरादे की घोषणा की और उसके लिए एक अलग विभाग बनाया।

द्वितीय महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल—द्वितीय विश्वयुद्ध मे सरकार को यह आभास हुआ कि भारतीय कम्पनी को परिवहन के क्षेत्र मे समुचित भाग प्रदान किया

जाना चाहिए। अतः सन् 1941 मे सिंधिया कम्पनी को विशाखापट्टनम मे जहाज निर्माण करने का कारखाना स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया गया और जहाजी परिवहन की समस्या पर विचार करने के लिए नवम्बर सन् 1945 मे **सर सी० पी० राजास्वामी अय्यर** के सभापतित्व मे **पोतचालन पुनर्निर्माण नीति उपसमिति** (Reconstruction Policy Sub-committee on Shipping) की नियुक्ति की गई। इस समिति ने सन् 1947 मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने सरकार की भूतपूर्व नीति की निन्दा करते हुए कहा, 'भारतीय जहाजरानी का इतिहास वचन-भग अपूर्ण आश्वासनो और अवसरो की उपेक्षा की दुखद कहानी है।' समिति के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे —

(1) भारतीय जहाजरानी की परिभाषा मे परिवर्तन किया जाए तथा केवल भारत के नागरिको के स्वामित्व, नियन्त्रण और प्रबन्ध-प्रणाली वाली जहाजी कम्पनी को भारतीय माना जाए।

(2) भारत को सब मिलाकर 20 लाख टन वजन के जहाजो की आवश्यकता है। आगामी 5-7 वर्षों मे इस लक्ष्य की पूर्ति की जानी चाहिए।

(3) देश के विदेशी व्यापार मे भाग लेने वाली जहाजी कम्पनियों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

(4) आँकडो के प्रकाशन सम्बन्धी दोष को दूर किया जाए।

(5) पोर्ट ट्रस्ट का प्रबन्ध वाणिज्य विभाग के अधीन होना चाहिए।

(6) उपर्युक्त सुझावो को कार्यान्वित करने के लिए व्यापारियो, जहाजी कम्पनियो के प्रतिनिधियो तथा सरकार द्वारा एक जहाजी बोर्ड स्थापित किया जाना चाहिए, जिसे लाइसेन्स देने, आर्थिक सहायता के सम्बन्ध मे सुझाव देने तथा एकाधिकार से उत्पन्न होने वाले दोषो को दूर करने का अधिकार होना चाहिए।

भारत सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया। 3 नवम्बर सन् 1947 को बम्बई मे श्री **सी० एच० भाभा** के सभापति मे एक **जहाजी-सम्मेलन** आयोजित किया गया। इस सम्मेलन मे यह निर्णय किया गया कि सरकार जहाजी उद्योगो की समस्याओ के समाधान के कार्य मे पूर्ण सहयोग तथा यथाशक्ति आर्थिक सहायता देगी। इसमे यह भी निश्चित किया गया कि तीन जहाजी निगम स्थापित किए जाएँ, जिनमे से प्रत्येक की पूंजी 10 करोड रुपए हो।

सर्वप्रथम मार्च सन् 1950 मे **पूर्वी जहाजी निगम** (Eastern Shipping Corporation) स्थापित किया गया। इसका प्रबन्ध सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी करती थी। 15 अगस्त सन् 1956 को भारत सरकार ने इस निगम का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लिया। दूसरे निगम, **पश्चिमी जहाजी निगम** (Western Shipping Corporation) की स्थापना जून सन् 1956 मे की गई। 2 अक्टूबर, सन् 1961 को इन दोनो निगमो को मिलाकर एक भारतीय जहाजी निगम (Shipping Corporation of India) की स्थापना की गई, जिसकी अधिकृत पूंजी 35 करोड रुपए थी। इसके पास 63 जहाज है। इसके माल जहाज भारत-आस्ट्रेलिया, भारत-सुदूर

पूर्व-जापान, भारत-काला सागर, भारत का पश्चिमी तट-पाकिस्तान-जापान, भारत-पाकिस्तान-ब्रिटेन यूरोप, भारत-पोलैण्ड, भारत सयुक्त अरब गणराज्य और भारत-अमेरिका-कनाडा जलमार्गों पर चलते है। सवारी और माल जहाज बम्बई-पूर्वी अफ्रीका, मद्रास-सिंगापुर जलमार्गो पर चलते है। इस निगम की सहायक कम्पनी मुगल लाइन लि० है।

पंचवर्षीय योजनाओ मे जहाजरानी

(1) **प्रथम पचवर्षीय योजना**—इस योजना के प्रारम्भ (अर्थात् 1950-51) मे देश के पास 3 91 लाख टन के जहाज थे। प्रथम योजना काल के अन्त मे जहाजो का कुल वजन 4 80 लाख टन था। इस काल मे 18 7 करोड रुपए जहाजो के विकास पर व्यय किए गए। बन्दरगाहो के विकास पर 27 6 करोड रुपए व्यय किए गए। जिससे कादला का नया बन्दरगाह बना तथा बम्बई, कलकत्ता व अन्य बन्दरगाहो का विकास किया गया। इस योजना मे प्रकाश-स्तम्भो के विस्तार और विकास पर 2 करोड रुपए खर्च किए गए। जहाजी कर्मचारियो के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढाई गईं।

(2) **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—द्वितीत योजना मे जहाजी सेवा पर 52 7 करोड रुपए खर्च किए गए। इस योजना अवधि मे निर्धारित लक्ष्य प्राप्त हो गए तथा भारत के कुल सामुद्रिक व्यापार का 8 से 9 प्रतिशत भाग भारतीय जहाजी कम्पनियो द्वारा किया जाने लगा। योजनाकाल मे जहाजी क्षमता 8 6 लाख टन हो गई।

द्वितीय योजनाकाल मे कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए, जैसे—(1) जहाजी **विकास कोष** की स्थापना की गई, जिससे जहाजी कम्पनियो को अतिरिक्त जहाज क्रय करने हेतु दिए जाते है। (2) जून सन् 1956 मे **पश्चिम पोत निगम** की स्थापना की गई। (3) सन् 1959 मे **मर्चेन्ट नेवी ट्रेनिग बोर्ड** की स्थापना, सरकार को जहाजी प्रशिक्षण के विषय मे परामर्श देने के लिए तथा प्रशिक्षण की योजनाओ की देखरेख करने के लिए की गई। (4) बडे-बडे बन्दरगाहो के पुनर्स्थापना तथा आधुनिकीकरण की व्यवस्था की गई।

(3) **तृतीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजनावधि मे जहाजी क्षमता 15 4 लाख टन हो गई, जबकि लक्ष्य 104 लाख टन का ही था। इस योजना मे कलकत्ता के बन्दरगाह मे भीड-भाड कम करने के उद्देश्य से **हल्दिया** मे सहायक बन्दरगाह बनाने तथा फरक्का मे गगा पर एक बाँध बनाने का कार्यक्रम रखा गया। बम्बई बन्दरगाह के सुधार की व्यवस्था की गई। बडे बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता 5 7 करोड टन और मध्यम तथा छोटे बन्दरगाहो की क्षमता 90 लाख टन हो गई। इस योजनावधि मे जहाजी सेवा पर 40 करोड रुपए व्यय हुए तथा प्रकाश-गृहो के विकास तथा विस्तार के लिए 4 करोड रुपए व्यय किए गए।

तीन वार्षिक योजनाओ—(1966-69) मे जहाजरानी के विकास पर 25 4 करोड रुपए और बन्दरगाहो के विकास पर 55 3 करोड रुपए व्यय किये गये। इन

योजनाओ के अन्त तक भारतीय जहाजरानी की क्षमता 21 लाख टन से ऊपर पहुँच चुकी थी ।

चतुर्थ योजना मे जहाजी क्षमता का लक्ष्य 35 लाख टन निर्धारित किया गया । जहाजो को खरीदने के लिए 135 करोड रुपए की व्यवस्था की गई । इस योजना मे हल्दिया गोदी योजना, बम्बई मे गोदी विस्तार योजना, मद्रास के बाहरी बन्दरगाह मे तेल गोदी योजना तथा मगलोर और तूतीकोरन बन्दरगाह परियोजनाओ को पूरा किया गया ।

पाँचवी योजना—पाँचवी योजना मे जहाजरानी की क्षमता बढाकर 96 लाख टन करना था तथा बन्दरगाहो और शिपयार्ड की क्षमता बढाने का भी उद्देश्य था । भारतीय पोत परिवहन का स्थान एशिया महाद्वीप मे प्रथम है तथा विश्व मे 16वाँ है । 1978 तक 58 6 लाख टन क्षमता के 375 जहाज थे । 1977 मे पहली बार 2 रेफ्रीजरेटेड जहाज चलाये गये ।

छठवी योजना—छठवी योजना मे जहाजरानी की क्षमता 1984-85 तक 83 लाख टन तक पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया है तथा उद्योग के विकास के लिए 2,196 करोड रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया है । योजनावधि मे भारतीय जहाजरानी ने भारत से माल ले जाने मे भी अच्छी उन्नति की है । 1955-56 मे विदेशी व्यापार मे भारतीय जहाजो का हिस्सा 6 5 प्रतिशत था यह 1979-80 मे बढकर 32 प्रतिशत हो गया ।

योजना काल मे जहाजरानी का विकास निम्न प्रकार हुआ है -

जहाजरानी की क्षमता का विकास

वर्ष	क्षमता (लाख GRT)	जहाजो की सख्या
1950-51 (प्रथम वर्ष प्रथम पचवर्षीय योजना)	3 7	94
1955-56 (अन्तिम ,, ,, ,,)	4 8	126
1960-61 (,, ,, द्वितीय ,, ,,)	8 6	172
1965-66 (,, ,, तृतीय ,, ,,)	15 1	220
1973-74 (,, ,, चतुर्थ ,, ,,)	30 9	274
1975-76 (द्वितीय ,, पचम ,, ,,)	47 2	336
1978-79 (— — ,, ,,)	56 0	381
1980-81 (— — ,, ,,)	56·8	383

जहाजरानी की वर्तमान स्थिति—विकासशील क्षेत्रो मे भारत का व्यापारिक जहाजी बेडा सबसे बडा है और जहाजी टन भार मे विश्व मे उसका स्थान पन्द्रहवाँ है ।

जहाजरानी की वर्तमान स्थिति का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत कर सकते है—

(1) **क्षमता**—31 मार्च 1980 को भारत का चालू टन भार 56 77 लाख

जी० आर० टी० (सकल टन) था जबकि स्वतत्रता के समय 1.92 लाख जी० आर० टी० ही था ।

(2) **जहाजरानी निकाय**—राष्ट्रीय जहाजरानी मण्डल जिसका पुनर्गठन 25 जुलाई 1977 को हुआ था, जहाजरानी सम्बन्धी मामलो पर सरकार को सलाह देता है ।

(3) **जहाजरानी कम्पनियाँ**—इस समय देश मे 63 जहाजरानी कम्पनियाँ है जिनमे 19 पूर्णतया तटीय व्यापार मे रत हे, 35 वैदेशिक, शेष दोनो प्रकार के व्यापार मे रत है ।

(4) **जहाज निर्माण**—भारत के 4 बडे जहाज निर्माण घाट है—कोचीन शिपयार्ड (कोचीन), हिन्दुस्तान शिपयार्ड, (विशाखापट्टनम), गार्डन रीच शिप बिल्डर्स एण्ड इजीनियर्स (कलकत्ता) और मझगॉव गोदी (बम्बई) । सभी शिपयार्ड सरकारी क्षेत्र मे है ।

(5) **बन्दरगाह या पत्तन**—भारत मे 10 बडे और 160 से अधिम मध्यम और छोटे बन्दरगाह है जो 6,000 किलोमीटर लम्बे तट पर फैले हुए है

सन् 2000 में आन्तरिक जल परिवहन की सम्भावित स्थिति

यह मानते हुए कि आन्तरिक जल परिवहन और तटीय जहाज परिवहन का कुल यात्री परिवहन मे (वायु परिवहन को सम्मलित करते हुए) भाग सन् 2000 मे 10% होगा तो कुल यात्री परिवहन (सब साधनो का) 10,00,000 यात्री कि० मी० हो जायगा ।

समस्याएँ एव उपचार—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय जहाजरानी ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है, तथापि इसके विकास के मार्ग मे निम्न कठिनाइयाँ व समस्याएँ है—

(1) **विदेशी जहाजो से प्रतियोगिता**—भारतीय जहाजो की आज भी अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी तथा इटली के जहाजो से प्रतियोगिता करनी पड रही है, जिससे स्वदेशी जहाजी कम्पनियो को नुकसान पहुँच रहा है । अतः उन्हे इस प्रतियोगिता से बचाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए । भारतीय जहाजो द्वारा तटीय व्यापार का शत-प्रतिशत तथा विदेशी व्यापार का कम से कम 50 प्रतिशत भाग किया जाना चाहिए ।

(2) **जहाजी क्षमता का अभाव**—भारत मे जहाजी क्षमता का अभाव है । भारत की जहाजी क्षमता विश्व क्षमता का केवल 1 प्रतिशत है । अतः भारतीय जहाजी क्षमता बढाने की आवश्यकता हे, ताकि विदेशी व्यापार से लाभ कमाया जा सके ।

(3) **रेल से प्रतियोगिता**—सामान्यत जहाजो द्वारा माल ढोने का व्यय रेला की अपेक्षा कम होती है परन्तु रेले कम दर पर ही वस्तुओ की एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है । रेलो की इस प्रतियोगिता के कारण तटीय जहाजरानी को कठिनाई होती है । **रेल समुद्र समन्वय समिति** (1955) मे इस प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए सुझाव दिया था कि (1) रेल-भाडे लागत-व्यय के अनुसार निश्चित

किए जाएँ तथा (ii) कोयले का भाग रेलो से हटाकर समुद्र मार्ग को दे दिया जाय। परन्तु रेलो की प्रतियोगिता अब भी जारी है। रेलो की प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध चाहिए।

(4) **जहाजो की कीमत मे वृद्धि**—वर्तमान समय मे जहाजो की कीमत बहुत अधिक बढ गये है। ब्रिटेन मे नए जहाजों का मूल्य सन् 1945 की अपेक्षा इस समय लगभग 175% अधिक है। भारत मे जहाजा की कीमत ब्रिटेन से भी अधिक है। जहाजो की अधिक माँग के कारण ही उनकी कीमत मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अत सरकार को जहाज-निर्माण कार्य मे अधिक आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

(5) **ध्वजा भेद**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अनेक जहाजी सम्मेलन है जिनमे विदेशी जहाजी कम्पनियो का प्रभुत्व है, इन सम्मेलनो मे भारतीय जहाजरानी को सदस्यता नही दी जाती है, जिससे वे सम्मेलनो के मार्ग पर अपना व्यापार नही कर पाती।

(6) **उपयुक्त बन्दरगाहो के लिए सुविधाओ का अभाव**—भारतीय समुद्र-तट 6083 कि० मी० लम्बा होने के बावजूद भी उपयुक्त बन्दरगाहो का अभाव है क्योकि किनारे सपाट है, कटे-फटे नही।

(7) **जहाजो की मरम्मत**—वर्तमान समय मे हमारे देश मे 8 ऐसे कारखाने है जिनमे जहाजो की मरम्मत होती है। परन्तु टन क्षमता विस्तार की दृष्टि से यह सुविधाएँ जहाजी बेडे को समुचित दशा म रखने के लिए कम है।

(8) **सचालन व्यय बढाना**—भारतीय जहाजो का सचालन व्यय बहुत ही ज्यादा है और प्रतिदिन बढ रहा है। इसका कारण यह है कि कोयला, तेल की कीमते, लदाई व्यय, सामुद्रिक कर, नहर कर, मजदूरी वेतन आदि बढ गए है।

(9) **अकुशल व छोटी कम्पनियाँ**—इस समय भारतीय समुद्र-तट पर छोटी-बडी 27 कम्पनियाँ व्यवसाय करती है, उनके कार्य का स्तर बहुत ही निम्न है।

(10) **प्रशिक्षण सुविधाओ की अपर्याप्तता**—भारतीय जहाजरानी की टनभार क्षमता तो तीव्र गति से बढ रही है किन्तु कर्मचारियो को प्रशिक्षण देने की सुविधाओ मे वृद्धि असगति से नही हो रही है।

(11) **प्राविधिक ज्ञान मे कमी**—देश के जहाजो के डिजायन ओर अन्य जहाज सम्बन्धी प्राविधिक ज्ञान की कमी है।

(12) **अन्य समस्याएँ**—(1) स्वदेशी जहाजी कम्पनियो के पास पूँजी का अभाव। (2) भारतीय बन्दरगाहा पर काम करने वाले श्रमिको द्वारा आए दिन हड-ताल और अन्य अवरोधात्मक क्रियाएँ। (3) अधिक पूँजी लगने से इस उद्योग पर भी मोनोपोली का नियन्त्रण लागू है। विकास छूट, विदेशी और देशी ऋण अत्यधिक ब्याज चुकाने की समस्याओ से भी वह त्रस्त है।

भारतीय जहाजरानी के तीव्र विकास के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त समस्याओ का समाधान किया जाए।

परीक्षा-प्रश्न

1 भारत मे जहाजरानी के विकास का विवेचन कीजिए तथा इसकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए ।

2. देश मे जहाजरानी के विकास की समस्याओ पर प्रकाश डालते हुए उन्हे सुलझाने के लिए सुझाव दीजिए ।

33

भारत में वायु परिवहन
(Air Transport in India)

महत्त्व, विशेषताएँ एव सीमाएँ—**श्री फेचर एवं विलियम्स** के शब्दो मे "मनुष्य को उपलब्ध परिवहन के साधनो मे वायु परिवहन सबसे नवीनतम, सबसे अधिक विकासोन्मुख, सबसे अधिक चुनोती देने वाला और हमारे आर्थिक तथा सास्कृतिक जीवन म सबसे अधिक क्राति लाने वाला ह।" वस्तुत वर्तमान युग मे आर्थिक, सामाजिक व राजनतिक सभी दृष्टियो मे वायु परिवहन का महत्त्वपूर्ण स्थान हे, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट हो जाएगा

(i) **व्यापारिक क्षेत्र मे महत्त्व**--वायु परिवहन व्यापारिक क्षेत्रो के विस्तार करने मे काफी सहयोग देते है, जैसे (अ) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ यथा अण्डा, मछली, दूध आदि वायुयान द्वारा अल्प समय म विश्व के कोने-कोने मे पहुँच जाती है। (ब) बहुमूल्य वस्तुएँ, जसे हीरा, जवाहरात आदि वायु परिवहन द्वारा भेजना सुविधाजनक व सुरक्षापूर्ण रहता ह। (स) तार द्वारा आदेश प्राप्त करके थोडी ही अवधि मे माल भेज दिया जाता ह। (द) समाचारपत्र-पत्रिकाएँ भी वायु यातायात के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान भेजी जा सकती हैं। (य) एक उद्योगपति वायुयान द्वारा प्रधान कार्यालय पर से शाखा कार्यालय पर पहुँच कर उनका उचित प्रबन्ध कर सकता ह।

(ii) **कृषि क्षेत्र मे महत्त्व**—कृषि-विकास के क्षेत्र मे भी वायु परिवहन का योगदान प्रशसनीय है। (अ) वायुयानो द्वारा कीटनाशक पाउडर फसलो पर छिडक कर उसकी रक्षा की जाती है। (ब) हवाई जहाजा द्वारा टिड्डियो के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया जाता है। (स) वायुयान खेता के बोने मे सहायता करते हैं तथा इनका प्रयोग खेतो म खाद डालने के हेतु भी किया जाता ह।

(iii) **देश की सुरक्षा मे महत्त्व**--(अ) देश के अन्दर साम्प्रदायिक झगडे व राजनैतिक उपद्रव आदि की स्थितिया को वायुयान द्वारा पुलिस या सेना को घटनास्थल पर शीघ्रातिशीघ्र भेजकर नियन्त्रित कर लिया जाता है। (ब) विदेशी आक्रमणो से देश की रक्षा करने मे वायु परिवहन का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया ह, क्योकि इनके माध्यम से सैनिक क्षेत्र के अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन पदार्थ इत्यादि बहुत कम समय मे

भेजा जाता है। घायल सैनिको को औषधिया व चिकित्सा-सहायता समय पर पहुचाने और खतरे के समय उनकी प्राणरक्षा करने मे भी वायु परिवहन का अद्वितीय योग रहता है। वायु फोटोग्राफी द्वारा शत्रु सेना तथा उनके गुप्त सैनिक अड्डो का पता लगाया जाता है। वायुयान को आधुनिक युग का विजय दूत कहे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

(iv) **राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास**—आज वायुयानो के फलस्वरूप एक देश के विभिन्न भाग निकट आ चुके है। विदेशो मे सम्बन्ध घनिष्ठ हुए है एव विश्व सरकार की स्थापना के आसार बढे है। अत वायु परिवहन सास्कृतिक एकता व सम्पर्क बढाने मे योगदान देता है।

(v) **आपत्ति के समय महत्त्व**— आपत्ति काल मे जैसे बाढ, भूकम्प और युद्ध मे वायु परिवहन का महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है। जब लाखो व्यक्ति बाढ मे फँस जाते है तब उनको सुरक्षित स्थानो पर पहुँचाने का कार्य वायुयान ही करते है। भारत मे आसाम के अकाल के समय अकाल पीडित जनता की रक्षा वायुयान द्वारा यथासमय खाद्यान्न पहुँचा कर की गई थी।

(vi) **अन्य महत्त्व**—(i) वनो मे लगी आग को बुझाने मे वायुयानो से बडी सहायता ली जाती है। (ii) वायु फोटोग्राफी से विविध कार्यों के लिए विस्तृत क्षेत्रो का सर्वेक्षण सुविधाजनक हो गया। (iii) विमानो द्वारा मच्छरो को मारकर मलेरिया से छुटकारा पाया जा सकता है। (iv) इससे ऋतु-विज्ञान को सहायता मिलती है। (v) वायु परिवहन मे अन्य मार्गों की भाँति मार्ग-निर्माण मे व्यय नही करना पडता।

विशेषताएँ

वायु परिवहन की कुछ अपनी विशेषताएँ है जो परिवहन के अन्य साधनो मे नही है—

(i) **द्रुतगति**—वायु परिवहन सबसे अधिक तीव्रगामी है। इसकी औसत गति 500 किलोमीटर प्रति घण्टे तक हो गई है। आजकल इनकी गति ध्वनि की गति से भी दुगुनी होती जा रही है।

(ii) **भौगोलिक बाधाओ से मुक्ति**—वायुयान, स्थल और जल दोनो के ऊपर बिना किसी विशेष बाधा के उड जाता है। ऊँची-नीची भूमि, घने वन, मरुस्थल, बर्फीले प्रदेश, समुद्र आदि भौगोलिक बाधाएँ उसके मार्ग मे बाधक नही होती।

(iii) **मार्ग व्यय मे बचत**—वायु परिवहन मे सडको, रेलो अथवा अन्य मार्गो की भाँति मार्ग-निर्माण मे व्यय नही लगता, क्योकि आकाश प्रकृति की नि.शुल्क देन है।

सीमाएँ

उपर्युक्त गुणो के होते हुए भी वायु परिवहन की कुछ अग्रलिखित सीमाएँ है—

(i) प्रतिकूल मौसम, जैसे कुहरा, तेज हवा, बादल, अधिक बर्फ आदि वायु परिवहन की सेवा की अनिश्चितता को बढाता है।

(ii) रेलो और जलयानो की दुर्घटना की अपेक्षा विमान दुर्घटनाओ की सख्या अधिक रहती है। प्रत्येक दुर्घटना के पश्चात् यातायात की प्रवृत्ति घटने की हो जाती है।

(iii) वायुयानो के निर्माण ओर उनकी मरम्मत, कल-पुर्जों, तेल आदि पर खर्च अधिक बैठता है, इसलिए वायुयान का किराया बहुत अधिक होता है अतः केवल धनी व्यक्ति एव मूल्यवान पदार्थ ही, जो अधिक किराया सहन कर सकते है, वायुयान का उपयोग कर पाते है।

(iv) तीव्रगति से तकनीकी विकास होने के कारण वायुयान आदि अपेक्षाकृत कम समय म अप्रचलित हो जाते है।

(v) वायुयान के चलने पर तीव्र ध्वनि होती है जो कानो को अच्छी नही लगती।

(vi) वायुयान अपने देश के वायुमण्डल मे ही उड सकते है। दूसरे देश की वायु सीमाओं मे उडने के लिए उस देश की सरकार से हवाई समझौता करके आज्ञा लेनी पडती है। फलत वायु परिवहन कम्पनियाँ विभिन्न सरकारो की दया पर निर्भर है। दो देशो मे युद्ध होने पर भी वायु सेवा स्थगित करनी पडती है।

भारत मे वायु परिवहन का विकास

भारत मे वायु परिवहन अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा। रामायण मे श्री रामचन्द्र जी के लका म पुष्पक विमान द्वारा लोटने का वर्णन मिलता है। आधुनिक युग मे, भारत मे सन् 1911 से प्रयोगात्मक उडान प्रारम्भ हुई थी, जबकि बम्बई व कराची के बीच प्रथम बार उडान की व्यवस्था की गई थी। परन्तु भारत मे वायु परिवहन का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1927 से हुआ, जबकि **नागरिक उड्डयन विभाग** (Civil Aviation Department) की स्थापना की गई और कई उड्डयन क्लब (Flying Clubs) स्थापित किए गए। सन् 1929 मे ब्रिटेन, फ्रास व हालैण्ड की साम्राज्य वायु सेवा (Empire Air Services) के विमान भारत मे भी आने-जाने लगे।

भारतीय प्रयास—भारत मे वायु परिवहन आरम्भ करने के लिए टाटा बन्धुओ ने सबसे पहला कदम उठाया। टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड ने सन् 1932 मे टाटा **एयरवेज कम्पनी** की स्थापना की, जिसने प्रति सप्ताह एक बार कराची और मद्रास के बीच वायु उडान सगठित की। धीरे-धीरे टाटा एण्ड सन्स ने इलाहाबाद, कलकत्ता और कोलम्बो के बीच वायु परिवहन सेवा शुरू कर दी। सन् 1933 मे एक दूसरी भारतीय वायु कम्पनी **इण्डियन नेशनल एयरवेज** स्थापित की गई। इसके वायुयान कराची-लाहौर तक चलाए गए। इन्ही दो कम्पनियो ने हमारे देश मे वायु परिवहन

की नीव डाली। सन् 1936 मे **एयर सर्विस आफ इण्डिया** (Air Service of India) की स्थापना की गई और इनके वायुयान बम्बई काठियावाड मार्ग पर चलाए गए। किन्तु मितव्ययिता की कमी के कारण इस कम्पनी को अधिक हानि होने से इसे सन् 1940 मे बन्द कर दिया गया।

साम्राज्य हवाई डाक योजना (Empire Air-Mail Scheme)—भारत मे वायु परिवहन के विकास के लिए एक नया प्रशसनीय कदम सन् 1938 मे साम्राज्य हवाई डाक योजना शुरू करना था। इस सेवा के अन्तर्गत साम्राज्य के सभी देशो मे वायुयान द्वारा डाक पहुँचाने का निश्चय किया गया। इसके अन्तर्गत टाटा एयरवेज लिमिटेड तथा इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड के साथ 15 वर्ष के लिए समझौता किया गया। सरकार ने टाटा सन्स लिमिटेड को 15 लाख रुपए वार्षिक देने की गारण्टी दी और इस कम्पनी ने नियमित मार्गो पर 5,00,000 पौड भार की डाक ले जाने का वचन दिया। इण्डियन नेशनल एयरवेज को लाहौर-कराची मार्ग पर 1,30,000 पौड वार्षिक डाक ले जाने के लिए 3·25 लाख रुपए देने का वचन दिया गया। इस हवाई डाक योजना से भारत मे वायु परिवहन के विकास को काफी प्रोत्साहन मिला। द्वितीय महायुद्ध-काल मे साम्राज्य वायु सेवा बन्द कर दी गयी। सन् 1942 मे इन दोनो कम्पनियो को War Transport Command के अधीन कर दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध—द्वितीय महायुद्ध काल मे वायु परिवहन को अधिक प्रोत्साहन मिला। इस युद्ध मे समस्त वायु सेवाएँ सरकार तथा सुरक्षा के कार्यों मे लग गयी। भारत की प्रमुख दो कम्पनियाँ 16 मार्गों पर जहाज चला रही थी। युद्ध ने फ्लाइग क्लबो की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त योग्य छात्रो को एयरफोर्स मे भर्ती होने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। सन् 1940 मे **श्री बालचन्द हीराचन्द** ने मैसूर राज्य के सहयोग से बगलौर मे हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी की स्थापना की। सन् 1942 मे भारत सरकार ने बालचन्द हीराचन्द का हिस्सा खरीद लिया। सक्षेप मे युद्धकाल मे देश के हवाई अड्डो, हवाई स्थलो और पायलटो की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् 1944 मे सन् 1938 की अपेक्षा यात्रियो की सख्या तथा ढोए गए माल की मात्रा मे क्रमशः 8 गुनी तथा 3 गुनी वृद्धि हुई।

युद्धोत्तर पुनर्संगठन नीति—युद्ध समाप्त होने पर वायु यातायात के विकास के लिए Reconstruction Policy Sub-Committee on post-war Aviation 1946 नियुक्त की गई, जिसने वायु यातायात के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। भारत सरकार ने इन सुझावो को मानकर और उनके आधार पर परिवहन की उन्नति एव विकास के सम्बन्ध मे अपनी नीति की घोषणा की। समिति के सुझाव इस प्रकार थे :—

(i) व्यक्तिगत कम्पनियो द्वारा देश की वायु सेवा सचालित की जानी चाहिए।

(ii) किसी भी कम्पनी को बिना लाइसेन्स लिए इस क्षेत्र मे काम न करने दिया जाना चाहिए।

(iii) कम्पनिया पर ही हानि-लाभ का सम्पूर्ण दायित्व होना चाहिए।

(iv) आवश्यकता पडने पर विशेष अवस्थाओ मे सरकार द्वारा कम्पनिया को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

(v) विशेष परिस्थितियो मे सरकार को कम्पनिया के सचालन मे भाग लेने का अधिकार होना चाहिए।

सन् 1946 मे **वायु परिवहन लाइसेसिग बोर्ड** स्थापित किया गया जो लाइसेन्स देने का कार्य करता था। उस बोर्ड की स्थापना के बाद वायु-परिवहन ने काफी उन्नति की। इस बोर्ड के स्थापित होने के दो वर्ष के अन्दर ही 11 नई कम्पनियो को लाइसेन्स दिए गए।

अब सन् 1947 मे भारत विभाजित हुआ तो ओरिएन्ट एयरवेज अपना हेड-आफिस कराची ले गई। एक अन्तर्राष्ट्रीय एयरपोर्ट, एक बडा हवाई अड्डा एव छ मध्यम व लघु हवाई अड्डे भी पाकिस्तान मे चले गए। विभाजन के पश्चात् भारतीय वायु परिवहन न आशातीत उन्नति की। सन् 1947 से 1950 तक वायु परिवहन के विकास पर 6·6 करोड रुपया खर्च किया गया।

वायु परिवहन जाँच समिति (Air Transport Inquiry Committee)—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत मे वायु परिवहन का विकास बहुत ही अव्यवस्थित था। अत फरवरी सन् 1950 मे वायु परिवहन जाच समिति की नियुक्ति की गई। उसने अपनी रिपोर्ट मे वायु परिवहन की अवस्था को सुधारने के लिए निम्न सुझाव दिए -

(i) तत्कालीन आवश्यकता को देखते हुए कवल 4 वायु परिवहन कम्पनियाँ होनी चाहिए, जिनके मुख्य कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा हेदराबाद मे स्थापित हो।

(ii) अस्थायी लाइसेन्सो की अवधि खत्म होने पर उनका नवीनीकरण नही किया जाना चाहिए।

(iii) कम्पनियो के भाड़ का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि कम्पनियो को अपनी पूँजीगत स्थायी सम्पत्ति का 10 प्रतिशत लाभ प्राप्त हो सके।

(iv) वायुयान कम्पनियो के लाभ पर केन्द्रीय सरकार द्वारा अपना नियन्त्रण जारी रखी जाय।

(v) कम्पनियो को सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता सन् 1952 तक जारी रखी जाय।

(vi) लाइसेन्स-बोर्ड का पुनर्गठन होना चाहिए।

(vii) वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण अगले 5 वर्षों तक स्थगित रखा जाय।

वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण—उपर्युक्त रिपोर्ट के पश्चात् भी कम्पनियों की आर्थिक स्थित खराब हो गई, और निजी कम्पनियाँ स्वेच्छा से एकीकृत नही हुईं, इसलिए सरकार को वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा।

सन् 1953 मे वायु निगम अधिनियम पास किया गया, जिसके द्वारा वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण के कार्य को सम्पन्न करने के लिए दो वायु निगम स्थापित किए गए --

(अ) एयर इण्डिया इन्टरनेशनल कारपोरेशन (Air India International Corporation)—अब इसका नाम एयर इण्डिया (Air India) है। इसके वायुयान विश्व के समस्त मुख्य वायु मार्गो पर चलाए जाते है।

(ब) इण्डिया एयर लाइन्स कारपोरेशन (Indian Airlines Corporation) —इस निगम की स्थापना 8 वायुयान कम्पनियो को मिलाकर की गई। यह देश के अधिकाश प्रमुख केन्द्रो को मिलाता है तथा बर्मा, श्रीलका, अफगानिस्तान और नेपाल जैसे पडोसी देशो को भी सेवा प्रदान करता है।

योजनाकाल मे वायु परिवहन का विकास

(1) **प्रथम पचवर्षीय योजना**—सन् 1947 से प्रथम योजनाकाल के प्रारम्भ तक वायु परिवहन विकास के लिए 6·6 करोड रुपए व्यय किए गए। प्रथम योजना मे वायु परिवहन पर 7·2 करोड रुपए व्यय किए गए। योजनाकाल मे हवाई अड्डे सचार सुविधाओ और यन्त्र-उपकरण आदि की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया। सन् 1947 से प्रथम योजना के अन्त तक यात्रियो की सख्या मे 34 प्रतिशत और माल के परिवहन मे 1,700 प्रतिशत वृद्धि हुई।

(2) **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** –इस योजना मे वायु परिवहन पर 15.9 करोड रुपए व्यय किए गए। वायुयान के विकास को काफी महत्त्व दिया गया, ताकि बढती हुई माँग की पूर्ति हो सके। बम्बई (शान्ताक्रुज), कलकत्ता (दमदम) और दिल्ली (पालम) के हवाई अड्डो पर विस्तृत कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए तथा उन्हे जेट वायुयानो की सेवा के योग्य बनाया गया। इसके अतिरिक्त, वायु सेवा सम्बन्धी प्रशिक्षण व्यवस्था का केन्द्रीयकरण इलाहाबाद मे किया गया।

(3) **तृतीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजना मे वायु परिवहन पर 49 करोड रुपए व्यय किए गए। तीसरी योजना मे विद्यमान धावन-पथो (Runways) का प्रसार करने, टैक्सी पथ, एपरान (Apron) अड्डो के सीमान्त भवन एव अन्य तकनीकी इमारते बनाने और धावन-पथो पर प्रकाश का स्थायी प्रबन्ध करने के कार्यक्रमो को प्राथमिकता दी गई। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों मे एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की उपलब्ध क्षमता मे 61 प्रतिशत की तथा इसके द्वारा ढोये जाने वाले माल के 46 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इण्डियन एयरलाइन्स के ये आँकडे क्रमश 20% तथा 18% है।

(4) **वार्षिक योजनाये** (Annual Plans 1966-69)—इन योजनाओ मे वायु परिवहन पर 70 करोड रुपए व्यय किए गए।

(5) **चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे वायु परिवहन**—इस योजना मे 202 करोड रुपए वायु परिवहन पर व्यय किए गए है जिसमे से 72 करोड रुपए नागरिक उड्डयन विभाग पर, 55 करोड रु० इडियन एयर लाइन्स पर, 60 करोड रु० एयर इण्डिया

पर तथा 15 करोड़ रु० भारतीय ऋतु सूचना विभाग पर व्यय किए गए। योजनावधि में बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास के चार अन्तर्राष्ट्रीय विमान स्थलों पर विमानों के अवतरण पथ, सीमान्त भवन एवं संचार सुविधाओं को उन्नत किया गया। आन्तरिक वायु सेवाओं के लिए विभिन्न विमान घाटों के विकास के लिए भी प्रयास किया गया।

पाँचवीं योजना--इस योजनावधि में दिल्ली और बम्बई के हवाई अड्डों पर अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र और उसी स्तर की सुविधाएँ बढ़ाई गई। कलकत्ता और मद्रास के वर्तमान हवाई अड्डों की इमारतों का विस्तार किया गया। सुदूर पूर्व मार्ग पर नई जम्बूजेट-सेवायें प्रारम्भ की गईं। इस योजना में विशाल वायुयानों के खरीदने का कार्य भी किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात वायु परिवहन ने काफी प्रगति की है जिसे निम्न सारणी में प्रदर्शित किया गया है—

वायु परिवहन की अनुसूचित सेवाएँ

वर्ष	उड़ान (करोड़ कि० मी०	यात्री (लाखों में)	माल एवं डाक सेवा (टनों में)
1947	2·2	3·1	4,560
1971	6·3	26·3	52,000
1973	6·4	33·7	61,300
1974	5·[illegible]	28·4	52,200
1977	-	43·4	---
1978	—	47·0	—
1980	6·[illegible]	72·0	

छठवीं योजना---इस योजना में 850 करोड़ रुपये के व्यय का प्रावधान रखा गया है।

नागरिक परिवहन की वर्तमान स्थिति

31 दिसम्बर, 1980 को आवश्यक पंजीकरण प्रमाणपत्र प्राप्त 671 हवाई जहाज थे तथा उड़ान योग्यता के आवश्यक प्रमाण पत्र प्राप्त 266 हवाई जहाज थे।

(1) हवाई सेवाएं - सार्वजनिक क्षेत्र के दो निगमों---इण्डियन एयर लाइन्स और एयर इण्डिया द्वारा परिचालित है। दोनों ही निगमों का गठन 1953 में किया गया था।

(अ) इण्डियन एयरलाइन्स---देश के भीतर हवाई सेवाएँ उपलब्ध कराता है, जो अधिकांशतः औद्योगिक तथा पर्यटन केन्द्रों को जोड़ती है।

(ब) एयर इण्डिया---34 देशों को हवाई सेवाओं की व्यवस्था करता है।